---

1. The State and Education. 2. Democracy and Education.
3. Religion and Education.

विषय पृष्ठ

अध्याय १६

अध्याय २०

अध्याय २१

1. Education and Internationalism. 2. Education : Motion Picture and Radio. 3. Culture and Education.

---

1. Minority group and Inter-group Education. 2. Social change and Education. 3. Principles of Teaching 4. Teacher.

विषय पृष्ठ

अध्याय २५

अध्याय २६

1. Organization of curriculum. 2. The Problem of Discipline.

1. Some Types of Lessons. 2. Some Maxims and Methods of Teaching. 3. Questions and Answers.

1. Some other aids to Teaching. 2. Correlation of studies. 3. Class Teaching, and Individual Teaching.

1. Examination. 2. Some Systems of Teaching. 3. Project Method.

---

1. Dalton Plan. 2. Playway in Education. 3. Kindergarten system.

1. Montessori System. 2. Basic Education.

प्रथम खण्ड

शिक्षा का दार्शनिक आधार

१

शिक्षा दर्शन-शास्त्र पर आधारित[1]

मनुष्य प्रकृति का केवल एक जीव ही नहीं है, वरन् वह अविरल गति से चलने और बढ़ने वाली सभ्यता और परम्परा का प्राणी भी है। अतः मानव जाति का 'विकास' तथा 'उसकी संरक्षता' सभ्यता के विकास पर ही निर्भर कहा जा सकता है। पृथ्वी के विभिन्न स्थलों पर मानव ने विविध प्रकार की संस्कृति की कल्पना की है, परन्तु ये विभिन्न संस्कृतियाँ एक ही मानव सभ्यता की सृजन करती हैं। इस सभ्यता के स्वरूप को ठीक-ठीक समझे बिना मनुष्य का पूर्ण विकास सम्भव नहीं। इसे समझने के लिये मनुष्य को प्रकृति ने एक शक्ति दी है। परन्तु इस शक्ति का सदुपयोग वह स्वतः ठीक-ठीक नहीं कर सकता। इसके सदुपयोग के लिए उसे एक विनये अथवा अनुशासन[2] के अन्तर्गत रहते हुए समाज की सहायता की आवश्यकता है। समाज की सहायता का 'तात्पर्य यहाँ शिक्षा[3]' से है। बालक अपने विकास में जो कुछ समाज से सहायता प्राप्त करता है उसमें 'शिक्षा' को भी एक प्रकार की सहायता का नाम दिया जा सकता है। इस शिक्षा का रूप निर्धारित करने के लिए एक दर्शन-शास्त्र[4] की आवश्यकता होती है। अपने-अपने राजनैतिक विश्वासों[5] के अनुसार विभिन्न देश भिन्न-भिन्न दर्शन-शास्त्रों पर अपनी शिक्षा को निर्धारित करने का प्रयत्न करते हैं। इन विभिन्न दर्शन-शास्त्रों की विशद व्याख्या करना यहाँ हमारा उद्देश्य नहीं। परन्तु उनकी ओर अति संक्षेप में थोड़ा संकेत अवश्य किया जायगा।

1. Education based on Philosophy 2. Discipline . Education 4. Philosophy 5. Political faiths.

किस शिक्षा-दर्शन को पर्याप्त समझा जा सकता है ? उसी शिक्षा दर्शन को पर्याप्त कहा जा सकता है जो इन तीन प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर देता है:— १—शिक्षा क्या है ? २—क्या प्राप्त करना इसका उद्देश्य है ? और ३—इस उद्देश्य की पूर्ति कैसे की जा सकती है? इसका अर्थ यह हुआ कि शिक्षा-दर्शन शिक्षा के सम्बन्ध में 'क्या', 'क्यों' और 'कैसे' प्रश्नों का उत्तर देता है। शिक्षा के उद्देश्य मानव की आवश्यकताओं पर उसी प्रकार आधारित समझे जा सकते हैं जैसे जीवन के अन्य उद्देश्य आवश्यकताओं पर निर्भर रहते हैं। जीवन की आवश्यकताओं को समझने के लिए मानव स्वभाव[1], जीवन[2] का तात्पर्य, मनुष्य का मुख्य उद्देश्य[3] तथा अच्छे जीवन के स्वरूप[4] को जानना आवश्यक है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य का जीवन में उद्देश्य चाहे जो हो परन्तु वह यह अवश्य चाहता है कि संसार में एक ऐसे सामाजिक संगठन का निर्माण हो जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी सम्भावनाओं[5] का अधिकतम विकास कर सके। ऐसे सामाजिक संगठन की उपस्थिति मानव[6] व्यक्तित्व के पूर्ण विकास बिना सम्भव नहीं। यदि यह विचार सत्य है तो यह कहा जा सकता है कि शिक्षा का उद्देश्य बालक और बालिकाओं के विकास-क्रम को इस प्रकार संचालित करना है कि वे अपने व्यक्तित्व का अधिकतम विकास करते हुए उत्तम सामाजिक संगठन के निर्माण में अपना योग दे सकें। स्पष्ट है कि संसार में इससे बड़ा कोई दूसरा कार्य नहीं हो सकता। इसका यह भी अर्थ है कि बालक के शिक्षा-क्रम में सभी व्यक्तियों और सामाजिक संगठनों का योग देना उनका परम कर्तव्य है, अर्थात् राज्य[7], माता-पिता,[8] धार्मिक संगठनों,[9] पुस्तकालय,[10] रेडियो,[11] प्रेस,[12] तथा अन्य संस्थाओं का यह कर्त्तव्य है कि बालक की शिक्षा में वे समुचित योग दें। परन्तु इस शिक्षा-क्रम में स्कूल का विशेष हाथ है, क्योंकि स्कूल की स्थापना इसी ध्येय से की जाती है।

---

1. Human nature 2. Meaning of life. 3. Chief ends of man. 4. The nature of good life. 5. Potentialities. 6. Human personality. 7. State. 8. Parents. 9. Religious Organizations. 10. Library. 11. Radio. 12. Press.

शिक्षक को क्या जानना चाहिए ?

प्रत्येक शिक्षक को यह जानना चाहिए कि स्कूल की स्थापना क्यों की गई है और उसे किन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कार्य करना है। जब तक वह यह नहीं जानता तब तक वह यह नहीं समझ सकता कि बालक का शिक्षा-क्रम कैसे चलाया जाय। प्रति दिन शिक्षक को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है; अर्थात् बालकों के शिक्षा-क्रम में उसे नित्य कुछ निर्णय करने होते हैं; जैसे, "क्या नेता जी के जन्म दिवस के दिन छुट्टी दे दी जाय ? अंकगणित की शिक्षा मोहन के लिए रोचक कैसे बनाई जाय ? श्याम बड़ा ऊधमी लड़का है—उसे ठीक पथ पर कैसे लाया जाय ?" इन सब समस्याओं के सुलझाव में उसे किस सिद्धान्त का अनुसरण करना चाहिए ?

शिक्षक को बालक की रुचियों[1], विकास-क्रम,[2] कुटुम्ब तथा वातावरण[3] का पूरा ज्ञान होना चाहिए। उसे अपनी सामाजिक संस्कृति तथा इस संसार का ठीक-ठीक ज्ञान होना आवश्यक है। शिक्षक को विषय के ज्ञान के साथ-साथ यह भी जानना चाहिए कि बच्चे कैसे सीखते हैं तथा उनके पढ़ाने के लिए सबसे उत्तम विधि क्या है। उनके लिए यह भी जानना आवश्यक है कि पढ़ाने के लिए किस विषय-वस्तु का चुनाव किया जाय, विकास के प्रमाण को कैसे समझा जाय तथा बालकों के दोषों को दूर करने के लिए किन उपायों का अवलम्बन लिया जाय। परन्तु ये सब बातें शिक्षा के साधन के अन्तर्गत आती हैं। ये सब साधन किस उद्देश्य-पूर्ति की ओर नियोजित किये जायँ—इसका उत्तर शिक्षा के उद्देश्य में ही हमें मिल सकता है। यह उद्देश्य ही हमें बतलायेगा कि किस विशिष्ट परिस्थिति में किस नीति का सहारा लेना चाहिए। तो इस उद्देश्य का निर्धारण कैसे किया जाय ?

विभिन्न दर्शन-शास्त्रों से हमें कई उद्देश्य मिलते हैं। जैसे; भौतिकवाद[4], प्रकृतिवाद[5], आदर्शवाद[6], यथार्थवाद[7], तथा प्रयोगवाद[8] शिक्षा के सम्बन्ध

1. Interests. 2. Developmental process. 3 Environment. 4. Materialism. 5. Naturalism. 6. Idealism. 7. Realism. 8. Pragmatism.

में अपने अलग-अलग दृष्टिकोण रखते हैं। इनके कुछ सिद्धान्तों में तो कभी-कभी कुछ समझौता किया जा सकता है और कुछ तो एक दूसरे के एकदम विरोधी दिखलाई पड़ते हैं। प्रत्येक शिक्षक को इन सभी सिद्धान्तों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करना चाहिए और यह अध्ययन उस दर्शन-शास्त्र के संदर्भ में करना चाहिए जिससे वे निकले हों। इस अध्ययन के आधार पर ही शिक्षक अपने कार्य के सम्बन्ध में समय-समय पर आवश्यक निर्णय कर सकेंगे और शिक्षा-सम्बन्धी दूसरों की बातों को आँक सकेंगे।

भौतिकवाद और शिक्षा

भौतिकवाद से कभी किसी शिक्षा-सिद्धान्त को विशेष प्रेरणा नहीं मिल सकी है। व्यवहारवाद[1] नामक मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय में भौतिकवाद का आधार मिलता है। व्यवहारवाद से कुछ अच्छे शिक्षा-विचारों का निर्माण किया गया है। उदाहरणार्थ, सीखने के क्रम में अभिसन्धान व्यवहारवाद[2] की ही देन है। यदि सीखने के पूरे क्रम की अभिसन्धान के आधार पर ही व्याख्या न की जाय तो अभिसन्धान से एक उपयोगी शिक्षा-नियम निकलता है। परन्तु एक मनोविज्ञान तथा दर्शन-शास्त्र के दृष्टिकोण से भौतिकवाद अपर्याप्त सिद्ध हुआ है। इससे नैतिक आदर्श तथा आध्यात्मिक मान्यताओं का निकलना असम्भव है। इसकी सहायता से मानव स्वभाव को पूर्णरूपेण नहीं समझा जा सकता। स्पष्ट है कि भौतिकवाद से शिक्षा को विशेष सहायता नहीं मिल सकती।

आपने ऊपर क्या पढ़ा?

शिक्षा का उद्देश्य दर्शन-शास्त्र पर आधारित

मनुष्य सभ्यता और परम्परा का प्राणी। सभ्यता और संस्कृति को समझने के लिए 'समाज की सहायता' की आवश्यकता। यह सहायता शिक्षा के रूप में। शिक्षा के रूप-निर्धारण में एक दर्शन-शास्त्र की आवश्य-

---

1. Behaviourism. 2. Learning by conditioning (लेखक की "प्रयोगात्मक मनोविज्ञान", अध्याय १५, आगरा बुक स्टोर, आगरा, १९५४।)

कता। राजनैतिक विश्वासों के अनुसार विभिन्न दर्शन-शास्त्रों पर विविध देशों की शिक्षा आधारित।

दर्शन-शास्त्र को शिक्षा के सम्बन्ध में 'क्या', 'क्यों' और 'कैसे' का उत्तर देना। शिक्षा के उद्देश्य मानव आवयकताओं पर आधारित।

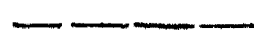
शिक्षक को क्या जानना चाहिये ?

स्कूल का उद्देश्य; बालक की रुचि, विकास-क्रम, कुटुम्ब तथा वातावरण, सामाजिक संस्कृति, विषय-ज्ञान, बच्चे कैसे सीखते हैं ? पढ़ाने की उत्तम विधि। विकास के प्रमाण को कैसे समझा जाय ? बालकों के दोषों को दूर करने के उपाय।

शिक्षक को विभिन्न दर्शन-शास्त्रों का ज्ञान। इस ज्ञान के सहारे वे समय-समय पर आवश्यक निर्णय ले सकते हैं।

भौतिकवाद और शिक्षा

भौतिकवाद से शिक्षा-सिद्धान्त को विशेष प्रेरणा नहीं। व्यवहारवाद में भौतिकवाद का आधार। भौतिकवाद मनोविज्ञान और दर्शन-शास्त्र की दृष्टि से अपर्याप्त।



२

रूसो (१७१२-१७७८)[1]

शिक्षा में प्रकृतिवाद के विचारधारा का प्रतिपादन कई लेखकों ने किया है, परन्तु उनमें रूसो का नाम प्रमुख है। अतः शिक्षा-सम्बन्धी प्रकृतिवाद के विचारधारा का विवेचन करने के पूर्व हम रूसो के ही विचारों का यहाँ पहले संक्षेप में विवरण देंगे, क्योंकि प्रकृतिवाद को समझने के लिए रूसो के विचारों से अवगत होना आवश्यक है।

रूसो (१७१२-१७७८)

रूसो का जन्म जिनेवा में सन् १७१२ ई में हुआ था। उसका प्रारम्भिक जीवन बड़ा ही कष्टमय था। उसके जन्म के बाद ही उसकी माँ की मृत्यु हो गई थी और उसका पिता उसका पालन-पोषण उचित ढङ्ग पर न कर सका। फलतः रूसो अनेक कुटेब का शिकार हो चला। स्कूल में उस पर बड़ी मार पड़ती थी। फलतः स्वभाव से ही वह स्कूल का विरोधी हो चला। प्रथम २१ वर्ष तक उसका जीवन बड़ा ही अव्यवस्थित था। इसके बाद अपने जीवन में कुछ व्यवस्था लाने की उसमें चिन्ता हो चली। सन् १७५० ई० से उसकी रचनाओं का प्रकाशन होने लगा। इनमें 'दी प्रोग्रेस ऑव आर्ट्स[2] ऐन्ड साइन्सेज़,' 'सोशल[3] कॉन्ट्रैक्ट', न्यू हेलवायस[4], तथा 'एमील'[5] प्रधान मानी जा सकती हैं। एमील के कारण रूसो एक श्रेष्ठ शिक्षा सुधारक तथा स्वतन्त्र विचारक माना जाता है। रूसो ने एमील में यह दिखलाने की चेष्टा की है कि शिक्षा से समाज की

1. Rousseau, Jean Jacques. 2. The Progress of Arts and Sciences. 3. Social Contract. 4. The New Heloise. 5. Emile.

कुरीतियों को कैसे दूर किया जा सकता है। रू
सामाजिक कुरीतियों की कड़ी आलोचना करता है
कृत्रिम उपायों को फेंक कर मानव को प्रकृति के निकट

रूसो बालक की शिक्षा को स्वाभाविक रूप में ले चल
रूसो व्यक्ति के विकास-काल में चार अवस्थाओं को प्रमुख स्था
शैशव,[1] बचपन,[2] कैशोर[3] और युवावस्था[4]। इन अवस्थाओं
का विवरण वह एमील के प्रथम चार खण्डों में देता है। पाँचवें रू
वह स्त्री-शिक्षा-सम्बन्धी अपने विचारों का प्रतिपादन करता है। रूस
बहुत से बिचार हमें परस्पर-विरोधी जान पड़ते हैं और वे सामाजिक पर
म्परा के विरुद्ध जान पड़ते हैं। परन्तु उन्हें समझने के लिए हमें रूसो के समाज की प्रगति पर ध्यान देना चाहिए और उस समाज के संदर्भ मे उन्हें समझने का प्रयत्न करता है जिनके लिए उसने उनका प्रतिपादन किया है।

रूसो का प्रकृतिवाद

रूसो का कथन है कि "प्रकृति के नियन्ता के यहाँ से सभी वस्तुएँ अच्छे रूप में आती हैं। केवल मनुष्य के सम्पर्क से ही वे दूषित हो जाती हैं।"[5] रूसो का विश्वास था कि मनुष्य का सुधार प्राकृतिक अवस्था में लौट चलने पर ही सम्भव है। कलायें तथा विभिन्न संस्थायें उसके जीवन को कृत्रिम बना देती हैं। रूसो के अनुसार सभ्यता के आदि काल में मनुष्य बड़ा ही सुखी था। सभ्यता के कारण अब वह दुखी हो गया है। अतः मनुष्य को सुखी बनाने के लिए वह सब नष्ट कर देना चाहिए जिसे उसने सभ्यता के फलस्वरूप सीखा है। रूसो हमें प्रकृति की ओर लौटने के लिए कहता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि रूसो हमें असभ्य हो जाने के लिए कहता है। 'प्रकृति' की ओर लौटा कर वह बालक को विभिन्न स्वाभाविक शक्तियों के विकास के लिए पूर्ण अवसर देना चाहता है।

---

1. Infancy. 2. Childhood. 3. Adolescence. 4. Youth.
5. Everything is good as it comes from the hands of the author of nature, everything degenerates in the hands of man—Emile, book 1.

...तिवाद ही शिक्षा का आधार हो सकता है।
...क ढंग पर नहीं चलाना चाहता। स्कूलों का प्रचलित
... है। रूसो शिक्षा की नींव को मानव स्वभाव के सच्चे
चाहता है। रूसो के अनुसार बालक[1] एक ऐसा पुस्तक है
... को बड़े ध्यानपूर्वक पढ़नी चाहिए।

आन्तरिक भावनाओं और स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुसार
और निर्णय करने का पक्षपाती है। वह मनुष्य के कार्यों को सामा-
नियमों के अनुसार नहीं चलना चाहता। फलतः रूसो किसी आदत
डालने के विरुद्ध है। वह कहता है कि 'बच्चे[2] को आदत न डालने' की
ही आदत पड़नी चाहिए। बच्चों को आदतों का दास नहीं होना है।

रूसो प्रकृति का प्रेमी था। वह चाहता था कि सभी लोग प्राकृतिक सौन्दर्य को समझें और उसके अनुसार आचरण करें। उसका विश्वास था कि शिक्षा में सभी प्रकार की बुराइयाँ मनुष्य के सम्पर्क से आती हैं। अतः बालक को वह सभी प्रकार की प्राकृतिक वस्तुओं, पौधों तथा जानवरों आदि के सम्पर्क में यथासम्भव लाना चाहता है। उसका विश्वास है कि ऐसा करने से बालक में सामाजिक कुरीतियाँ नहीं आ सकेंगी।

अब नीचे हम देखेंगे कि रूसो अपने प्रकृतिवाद का शिक्षा से कैसे सम्बन्ध जोड़ता है।

रूसो का प्रकृतिवाद और शिक्षा

रूसो बालक की प्रवृत्तियों को प्रौढ़ व्यक्ति की प्रवृत्तियों से एकदम भिन्न मानता है। "बालक[3] को बालक समझना चाहिए, उसे प्रौढ व्यक्तियों के कर्त्तव्यों में शिक्षा देना भूल है।" जो वस्तु प्रौढ़ के लिए उपयोगी है वह बालक के लिये हानिकर हो सकती है। अतः बालक को उपयोगी वस्तुएँ पढ़ाने के लिए सर्व प्रथम हमें उसके स्वभाव का गहन अध्ययन करना

1. The child is a book which the teacher must read from page to page 2 The child should form the habit of not forming any habit at all. 3. Let the child be a child first. Do not educate him in the duties of adults.

चाहिए। उसके स्वभाव को समझे बिना उसे ज्ञान देने का प्रयत्न करना गलत है, क्योंकि बालक इससे पूरे शिक्षा-क्रम से डरने लगता है। रूसो के अनुसार शिक्षा का तात्पर्य विभिन्न अंगों और शक्तियों के स्वाभाविक विकास से है। यह स्वाभाविक विकास बालक की स्वाभाविक आवश्यकताओं को समझे बिना नहीं हो सकता। उसकी स्वाभाविक आवश्यकताओं को समझने के लिए हमें उसके स्वभाव को समझना चाहिए। रूसो का यह विचार कि "बालक को शिक्षा देने के पूर्व सर्व प्रथम उसके स्वभाव को समझना चाहिए" शिक्षा-क्षेत्र में उसकी सबसे बड़ी देन है।

नास्त्यात्मक शिक्षा[1]

अपने शिक्षा-सिद्धान्तों के प्रतिपादन में रूसो ने एक ऐसी विचारधारा का सृजन किया है जिसे नास्त्यात्मक शिक्षा की संज्ञा दी गई है। रूसो के अनुसार पहली शिक्षा नास्त्यात्मक होनी चाहिए। नास्त्यात्मक शिक्षा का तात्पर्य यह है कि सबसे पहले हमें 'गुण[2]' और 'सत्य[3]' के सिद्धान्त नहीं पढ़ाने चाहिए, वरन् हृदय की पाप से और मस्तिष्क की भ्रम से रक्षा करनी चाहिए। सर्व प्रथम बालक के विविध अंगों, ज्ञानेन्द्रियों तथा विभिन्न शक्तियों को उपयोग में लाना चाहिए। उसके मस्तिष्क को तब तक निष्क्रिय रखना चाहिए जब तक सम्भव हो। जब तक उसमें निर्णय-शक्ति का प्रादुर्भाव न हो जाय तब तक उसकी भावनाओं पर विश्वास नहीं करना चाहिए। बाहरी दूषित प्रभावों से बालक को बचाने की चेष्टा करनी चाहिए। उसे पाप[4] से बचाने के लिए गुण देने में शीघ्रता न करनी चाहिए, क्योंकि जब तक उसमें विवेक का विकास न होगा तब तक वह गुण को 'गुण' नहीं समझ पायेगा। इस प्रकार के विलम्ब को रूसो लाभप्रद समझता है। वह कहता है कि यदि हम निर्दिष्ट स्थान की ओर बिना किसी हानि के बढ़ते जाते हैं तो उसे लाभ ही समझना चाहिए। इस प्रकार रूसो प्रचलित प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाता है। रूसो कहता है कि "मैं आस्त्यात्मक शिक्षा[5] उसे कहता हूँ जो समय के पहले ही मस्तिष्क को प्रौढ़ बनाना

1. Negative Education. 2. Virtue. 3. Truth. 4. Evil. 5. Positive Education.

चाहती है और बालक को युवा पुरुषों के कर्त्तव्य में शिक्षा देती है। मैं नास्त्यात्मक शिक्षा उसे कहता हूँ जो ज्ञान देने के पूर्व ज्ञान के ग्रहण करने वाले अंगों को दृढ़ बनाने का प्रयत्न करती है, और जो ज्ञानेन्द्रियों के समुचित उपयोग से 'विवेक-शक्ति' को बढाती है। नास्त्यात्मक शिक्षा गुण नहीं देती, वह पाप से बचाती है, वह सत्य का ज्ञान नहीं देती, वरन् वह त्रुटि और भ्रम से बचाती है। नास्त्यात्मक शिक्षा बालक को गुण और सत्य की ओर जाने, तथा समझने और अपनाने के लिए तैयार कर देती है। रूसो फिर कहता है कि "इस प्रकार प्रारम्भ में बालक को शिक्षा न देने से डरो नहीं। जो मनुष्य समय बचाने के लिए सोने नहीं जाता उसे तुम क्या कहोगे ? तुम कहोगे कि वह पागल है, समय का अनन्द नहीं ले रहा है, और अपने को इससे वञ्चित कर रहा है। नींद का त्यागकर मृत्यु की ओर अग्रसर हो रहा है। वही बात यहाँ भी सोचो। बचपन 'विवेक' के सोने का समय है।" अतः इस समय बचपन में विवेक को जागृत करने का प्रयास करना बालक के भावी विकास की हत्या करना है।

रूसो के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य[1]

रूसो कहता है कि "हम निर्बल पैदा हुये हैं, हम बल चाहते हैं; हम दीन हैं, हमें सहायता की आवश्यकता है; हम मूर्ख हैं, हमें बुद्धि चाहिए;—जो हमारे पास नहीं है वह शिक्षा द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। यह शिक्षा हम 'प्रकृति'[2], 'मनुष्य'[3] और वस्तुओं[4] द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। 'प्रकृति' की शिक्षा से हम आन्तरिक अंगों और शक्तियों का विकास करते हैं। 'मनुष्यों' से इस विकास से लाभ उठाने की हमें शिक्षा मिलती है। जो अनुभव हम अपने वातावरण के सम्पर्क से प्राप्त करते हैं वह वस्तुओं से दी हुई शिक्षा है। पूर्णता के लिए इन तीनों में सामञ्जस्य का होना आवश्यक है। 'मनुष्य' और 'वस्तु' पर तो हमारा कुछ अधिकार भी है। अतः हमारी शिक्षा 'प्रकृति' के अनुसार होनी चाहिए। बालक को अपने अंगों, ज्ञानेन्द्रियों तथा शक्तियों के संचालन में

1. The Aim of Education according to Rousseau 2. Nature.
3. Man. 4. Things.

आनन्द आता है। अतः शिक्षा का उद्देश्य बालक को पढ़ने-लिखने पर बलि नहीं कर देना है। वरन् उसके सभी स्वाभाविक क्रियाओं में योग देकर उसकी विभिन्न शक्तियों का विकास करना है।

रूसो के अनुसार स्व-शिक्षा[1] का महत्व— Self teaching

रूसो उपदेशात्मक पाठन-विधि का विरोध करता है। रूसो कहता है, "हम लोग शब्दों को अधिक महत्व देते हैं, बकवादी[2] शिक्षा से हम बकवादी ही उत्पन्न कर सकते हैं।" सदा आगे शिक्षा देते रहने से बालक मूर्ख बन जाता है। अध्यापकों में व्याख्यान देने की प्रवृत्ति होती है। वे अपने ज्ञान को बालक के ऊपर उड़ेल देना चाहते हैं। इस भय से कि बताई बात कदाचित् बालक की समझ में न आई हो अध्यापक लम्बी-लम्बी व्याख्यायें दे डालता है। पर अध्यापक को याद रखना चाहिए कि बालक लम्बी बातों से अरुचि रखता है। उसमें स्वाभाविक क्रियाशीलता कूट-कूट कर भरी होती है। रूसो कहता है कि शिक्षा शाब्दिक नहीं होनी चाहिए। बालकों को पुस्तकों के सहारे नहीं पढ़ाना चाहिए। रूसो बड़ी ही मनोवैज्ञानिक बात की ओर संकेत करता है जब वह कहता है कि 'बालक की विवेक-शक्ति का विकास करो, स्मरण-शक्ति का नहीं।' "बालक कोई विषय इसलिए न जाने क्योंकि अध्यापक ने उसके सम्बन्ध में उससे कहा है, वरन् इसलिए कि उसने उसे स्वयं सीखा है......" "बालक को सत्य पढ़ाना नहीं है, अपितु उसे यह बतलाना है कि वह उसका कैसे पता लगाये।" इस प्रकार स्पष्ट है कि रूसो स्व-शिक्षा को भारी महत्व देता है।

रूसो के अनुसार विकास की चार अवस्थायें और शिक्षा—

ऊपर यह संकेत किया जा चुका है कि रूसो मानव जीवन को चार भागों में विभाजित करता है:—जन्म से पाँच वर्ष तक शैशव, ५ से १२ तक बचपन, १२ से १५ तक कैशोर तथा १५ से २० वर्ष तक युवावस्था।

1. The Importance of Self-teaching according to Rousseau.
2. With a Chattering Education we make nothing but chatterers.

रूसो ने प्रत्येक अवस्था के लिए विकासानुसार शिक्षा के रूप का निर्धारण किया है। रूसो के समय में आधुनिक मनोविज्ञान का जन्म नहीं हुआ था। इसलिए मानव जीवन को वह इस प्रकार विभाजित कर देता है। परन्तु रूसो का यह कहना ठीक है कि एक विकासावस्था की आवश्यकता दूसरे से भिन्न होती है और तदनुसार प्रत्येक अवस्था के लिए अलग-अलग शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। इस वास्तविकता की ओर संकेत करके रूसो ने शिक्षा की बड़ी सेवा की है। अब हम नीचे देखेंगे कि प्रत्येक अवस्था के लिए रूसो ने कैसी शिक्षा-व्यवस्था की ओर संकेत किया है।

शैशव : शैशव में बालक बड़ा ही क्रियाशील रहता है। अतः उसे ऐसे वातावरण में रखना चाहिए कि उसकी क्रियाशीलता में किसी प्रकार की बाधा न हो। बालक के पहनावे ऐसे ढाले हों कि वह सरलता से जैसा चाहे वैसा इधर-उधर घूम तथा दौड़ सके। बच्चों को दाइयों को नहीं सौंपना चाहिए, क्योंकि वे माता के समान प्यार नहीं दिखला सकतीं भावनाओं और मस्तिष्क के पूर्ण विकास के लिये यह आवश्यक है कि बालक माँ का प्यार पूर्णतः पा सके। अतः माँ को ही उसका पालन-पोषण करना चाहिए। बच्चे में कोई आदत डालने का प्रयास न करना चाहिए। उससे कोई कार्य हठात् नहीं कराना चाहिए। बच्चों के खिलौने बहुत ही साधारण होने चाहिए। "सोने-चाँदी की घण्टियाँ, शीशे और लकड़ी के भाँति-भाँति के खिलौने न हों। उसे छोटी-छोटी टहनियाँ, फूल तथा फल खेलने को देना चाहिए। उसके साथ सरल भाषा में बात करना चाहिए। प्रारम्भ में उसे ऐसे सरल शब्द सिखलाने चाहिए जो उसके स्वाभाविक विचार के अनुकूल हों। बालक को स्वाभाविक क्रियाओं को पूरी स्वतंत्रता देना ही इस समय के लिए सबसे बड़ी शिक्षा है।"

बचपन : इस समय ज्ञानेन्द्रियों को शिक्षित करने का प्रयत्न करना चाहिए। बच्चा जब कुछ छूना चाहता है, अथवा उठाना चाहता है तो हमें उसे रोकना न चाहिए, क्योंकि इसी क्रम में उसे गर्म, ठण्डा, , नरम, कड़ा तथा आकार और रूप का ज्ञान होगा। इस क्रिया में वह अपनी स्पर्श और दृष्टि-सम्बन्धी ज्ञानेन्द्रियों का प्रयोग करता है। हमारी सभी मानसिक

क्रियायें ज्ञानेद्रियों द्वारा होती हैं। रूसो कहता है कि 'हमारे पैर, आँख तथा हाथ ही हमें दर्शन-शास्त्र का पहला पाठ पढ़ाते हैं। यदि उनके स्थान पर पुस्तकें रख दी जाँय तो विवेक का विकास न होगा। पुस्तकों के आधार पर सीखना दूसरे के विवेक का प्रयोग करना होगा—अपना नहीं। पुस्तक के आधार पर हम सब कुछ विश्वास के आधार पर ही मान लेने को तैयार हो जाते हैं और तब वास्तव में हम कुछ नहीं सीखते। यदि हम 'सोचना' और सीखना चाहते हैं तो हमें ज्ञानेन्द्रियों और अंगों को शिक्षा देनी होगी, क्योंकि ज्ञानेन्द्रियाँ ही विवेक के अस्त्र हैं। इन अस्त्रों के सदुपयोग के लिए शरीर को पूर्णरूपेण स्वस्थ बनाना आवश्यक है। इस प्रकार स्वस्थ शरीर पर सारी मानसिक क्रिया निर्भर करती है। अतः बचपन में रूसो बालक को कठिनाई सहने के योग्य बनाना चाहता है। इस काल में बालक को तैरना, कूदना और फाँदना सीखना आवश्यक है। ऊँचाई, दूरी तथा तौल आदि के माप से आँख को शिक्षा देनी चाहिए। संगीत से कान को शिक्षा देनी चाहिए।

इस अवस्था में बालक को सामाजिक प्राणी बनाने के लिये रूसो उसे 'सम्पत्ति' तथा 'आचार' का भी कुछ ज्ञान देना चाहता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि रूसो बालक को किसी प्रकार की नैतिक शिक्षा देना चाहता है। जब तक बालक को नैतिक विचारों का स्वयं ज्ञान नहीं हो जाता तब तक उसे अपने स्वाभाविक कार्यों के फल से ही सीखना चाहिए। स्वाभाविक कार्यों के फल के अनुसार सीखने का सिद्धान्त कुछ अतिरंजित जान पड़ता है, क्योंकि इसके लिए बालक को यदि हम सदा स्वतन्त्र छोड़ रक्खें तो कदाचित् वह आग में हाथ डाल दे अथवा चाकू से अपना हाथ काट बैठे—इसका फल बड़ा ही दुखद हो सकता है। परन्तु रूसो के इस कथन का हम यह सारांश निकाल सकते हैं कि यथासम्भव सत्य की खोज के लिए बालक को स्वयं अनुभव करना चाहिए।

कैशोर : इस काल में बालक की जिज्ञासा-प्रवृत्ति का बड़ा विकास होता है और वह अन्वेषक बनना चाहता है। अतः इस समय प्राकृतिक विज्ञानों में उसे शिक्षा दी जा सकती है। अब बालक को मनुष्यों की परस्पर-

निर्भरता का ज्ञान करा देना चाहिए। इसके लिए उसे कुछ औद्योगिक अनुभव देना आवश्यक होगा।

कैशोर में भी रूसो पाठ्य-पुस्तकों द्वारा शिक्षा देने का विरोधी है। रूसो कहता है, "बालक को सोचने दो। भूगोल तथा खगोल को मानचित्रों द्वारा मत पढ़ाओ, क्योंकि इससे बालक को वास्तविकता का ज्ञान नहीं होता। प्राकृतिक वस्तुओं में उसकी जिज्ञासा स्वतः उसे प्राकृतिक वातावरण का पूरा ज्ञान देती रहेगी"।

युवावस्था : इस समय बालक में काम-सम्बन्धी भावनायें उत्पन्न होती है और तत्सम्बन्धी उसके मन में नाना प्रकार की भावनायें उठा करती हैं। अतः ऐसे ही समय में उसे सामाजिक तथा नैतिक कर्त्तव्यों का ज्ञान दिया जा सकता है। बालक को सामाजिक गुणों और अवगुणों को समझना चाहिए। समाज में आकर अपने अनुभव से उसे ईमानदार और बेईमान आदमियों की पहचान करनी चाहिए। रूसो चाहता है कि अब बालक अस्पताल, अनाथालय तथा जेलखाना को देखकर समाज की बुराइयों को समझने का प्रयत्न करे। अध्यापक के शिक्षण के आधार पर वह बालकों को यह सब नहीं सिखलाना चाहता। वह बालकों के निजी अनुभव को ही अब भी प्रधानता देना चाहता है।

रूसो के अनुसार स्त्री-शिक्षा[1]

एमील के पाँचवें खण्ड में रूसो स्त्री-शिक्षा-सम्बन्धी अपने विचार हमें देता है। रूसो स्त्री और पुरुष के उत्तरदायित्वों और कर्त्तव्यों में बड़ा विभेद देखता है और स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में उसके विचार हमें बड़े ही अनुदार लगते हैं। वस्तुतः रूसो स्त्रियों के स्वभाव को समझने में समर्थ नहीं हुआ है। उसके अनुसार स्त्रियों का अपना कोई व्यक्तित्व नहीं। अतः पुरुषों के सुख और सुविधा के दृष्टिकोण से ही स्त्रियों को शिक्षा देनी चाहिये। रूसो कहता है कि स्त्री के जीवन का एकमात्र उद्देश्य पुरुष को सुखी रखना है। अतः उसे उन कलाओं को सीखना चाहिए जिनसे वह

1. The Women Education according to Rousseau.

पुरुष के जीवन को सुखी बना सके। स्त्री को तर्क और चिन्तन करने में शिक्षा नहीं देनी चाहिए, क्योंकि स्त्री के लिये पुरुष तर्क करेगा। स्त्री का कोई अपना धर्म नहीं है, वरन् पुरुष का ही धर्म उसका धर्म है। स्त्री का एकमात्र उद्देश्य बच्चों का जनना और उनका पालन-पोषण करना है। उन्हें अपने गृहकार्य में भी खूब निपुण होना चाहिये। पुरुषों के मनोरंजन के लिए उन्हें संगीत तथा नृत्य-कला आदि सीखना चाहिए। रूसो कहता है कि "प्रत्येक लड़की को अपनी माँ का धर्म मानना चाहिए और प्रत्येक स्त्री को अपने पति का।" स्त्री दर्शन-शास्त्र तथा कलाओं का अध्ययन नहीं भी कर सकती, परन्तु 'पुरुष' का अध्ययन तो उसे करना ही है।"

रूसो का कार्य[1]

रूसो ने अपने समय की प्रचलित विनयन[2] प्रणाली तथा उपदेशात्मक[3] विधियों की आलोचना करके शिक्षकों का ध्यान बालक के स्वभाव के अध्ययन की ओर आकर्षित किया। बालक की शिक्षा के क्रम में उसने ज्ञानेन्द्रियों के महत्व को हमारे सामने बड़े जोरदार शब्दों में रक्खा है। रूसो ने हमें प्रकृति के अध्ययन और शारीरिक शिक्षा के महत्व का समझाया है। हाँ, यह सत्य है कि रूसो की 'एमील' पुस्तक में हमें कहीं-कहीं परस्पर-विरोधी विचार मिलते हैं और उसकी स्त्री-शिक्षा-सम्बन्धी ऊपरी बातें बड़ी अनुदार हैं। परन्तु इतना मानना पड़ेगा कि 'एमील' का प्रभाव शिक्षा पर बड़ा ही स्थाई पड़ा है। १८वीं शताब्दी में शिक्षा-प्रणाली बड़ी दोषमय हो गई थी। अपनी अतिशयोक्तियों के सहारे रूसो ने लोगों का ध्यान शिक्षा के सुधार की आवश्यकता की ओर आकर्षित किया और शिक्षा में भावी सुधार के बीज बोया। आजकल शिक्षा-क्षेत्र में हम जितने सुधार देखते हैं उन सब के बीज हमें 'एमील' में दिखलाई पड़ते हैं।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

रूसो एक श्रेष्ठ शिक्षा सुधारक तथा स्वतन्त्र विचारक। कृत्रिमता को फेंककर मानव को प्रकृति के निकट आना।

1. The Work of Rousseau. 2. Disciplinary Conception of Education. 3. Didactic Methods.

बालक की शिक्षा स्वाभाविक रूप में। विकास काल की चार अवस्थाओं के अनुसार शिक्षा का संगठन। रूसो के परस्पर-विरोधी विचार। उन्हें समझने के लिए रूसो के समय के समाज पर ध्यान देना आवश्यक।

रूसो का प्रकृतिवाद

प्रकृति से अच्छी वस्तुएँ, केवल मनुष्य के सम्पर्क से वे दूषित। प्रकृति की ओर बालक को लौटाकर उसके विकास के लिए पूर्ण अवसर देना।

प्रकृतिवाद शिक्षा का आधार। शिक्षा की नींव मानव स्वभाव पर। आदत डालना बुरा। शिक्षा में बुराइयाँ मनुष्य के सम्पर्क से। बालक को प्राकृतिक वस्तुओं के सम्पर्क में लाना।

रूसो का प्रकृतिवाद और शिक्षा

बालक को बालक समझना। उसे प्रौढ़ व्यक्तियों के कर्त्तव्यों में शिक्षा देना भूल। शिक्षा का तात्पर्य विभिन्न शक्तियों के स्वाभाविक विकास से।

नास्त्यात्मक शिक्षा—

सबसे पहले 'गुण और सत्य' के सिद्धान्त को नहीं पढ़ाना, वरन्, हृदय को पाप से और मस्तिष्क को भ्रम से बचाना। बाहरी दूषित प्रभाव से बालक को बचाना। 'पाप' से बचाने के लिए 'गुण' देने में शीघ्रता न करनी चाहिए। ज्ञान को देने के पूर्व ज्ञानेंद्रियों को दृढ़ करना।

रूसो के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य—

बालक की स्वाभाविक क्रियाओं में योग देकर उसकी विभिन्न शक्तियों का विकास करना।

स्व-शिक्षा का महत्व—

शिक्षा शाब्दिक न हो। पुस्तकों के सहारे नहीं पढ़ाना। विवेक-शक्ति का विकास करना। बालक को सत्य की खोज स्वयं करना।

विकास की चार अवस्थायें और शिक्षा—

एक अवस्था की आवश्यकता दूसरे से भिन्न।

शैशव : अत्यधिक क्रियाशील । इसमें किसी प्रकार की बाधा न डालना । इसे प्रोत्साहित करते रहना । माँ का उत्तरदायित्व । आदत डालने का प्रयास न करना । साधारण खिलौने । फूल, फल व पत्तों आदि से खेलना ।

बचपन : ज्ञानेन्द्रियों को शिक्षित करना । शरीर पर ध्यान । बालक को कठिनाई सहने योग्य बनाना । सामाजिक प्राणी बनाने के लिए सम्पत्ति और आचार का ज्ञान । अपने स्वाभाविक कार्यों के फल के अनुसार सीखना ।

किशोर : जिज्ञासा जाग्रत । प्राकृतिक विज्ञानों में शिक्षा । परस्पर-निर्भरता के ज्ञान के लिए आद्योगिक अनुभव देना ।

युवावस्था : काम-सम्बन्धी भावनाएँ । सामाजिक तथा नैतिक कर्तव्यों का ज्ञान देना । समाज की बुराइयों को समझाना । निजी अनुभव को प्रधानता ।

स्त्री-शिक्षा—

रूसो के विचार अनुसार । पुरुषों के सुख और सुविधा के ही दृष्टिकोण से स्त्रियों को शिक्षा देना । तर्क और चिन्तन के लिए स्त्री को शिक्षा न देना । पुरुष का धर्म स्त्री का धर्म होगा । गृहकार्य में निपुणता, पुरुष का अध्ययन करना ।

रूसो का कार्य—

शिक्षकों का ध्यान बालक के स्वभाव के अध्ययन की ओर आकर्षित किया । शिक्षा-क्रम में ज्ञानेन्द्रियों के महत्व को समझाया । शिक्षा-सुधार की आवश्यकता की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया ।

३

प्रकृतिवाद और शिक्षा

रूसो के उपर्युक्त विवेचन के बाद अब प्रकृतिवाद का विवेचन सरल होगा। अतः नीचे हम इसी पर आ रहे हैं।

दर्शनशास्त्र के रूप में : दर्शनशास्त्र के रूप में हमें प्रकृतिवाद के तीन रूप दिखलाई पड़ते हैं :—

१—भौतिक विज्ञान के अनुसार[1]

२—यन्त्रवाद के अनुसार[2]

३—प्राणिशास्त्र के अनुसार[3]

१—भौतिक विज्ञान के अनुसार प्रकृतिवाद का तात्पर्य यह हुआ कि अनुभव की जाने वाली वस्तुओं का विवेचन प्राकृतिक नियमों अथवा वाह्य प्रकृति के नियमों के अनुसार करना चाहिये।

२—यन्त्रवादी प्रकृतिवाद मनुष्य को केवल एक यन्त्र के रूप में देखता है।

३—प्राणिशास्त्रीय प्रकृतिवाद मनुष्य को विकास[4] का फल मानता है। इसके अनुसार 'मानव' विकास-प्रक्रिया का सर्वोच्च प्राणी है और उसके अन्दर कुछ स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ[5] जैसे "काम-प्रेरणा, जिज्ञासा, आत्म-रक्षा आदि" उपस्थित रहती हैं। इस दृष्टिकोण ने मानव को उसकी आध्यात्मिक विभूतियों से वञ्चित कर दिया है। परन्तु हम देखते हैं कि आध्यात्मिक क्षेत्र में मनुष्य ने बड़ी उन्नति की है। तो उसने ऐसी उन्नति क्यों और

1. Natauralism of Physical Science. 2. Mechanistic Naturalism. 3. Biological Naturalism. 4. Prcduct of Evolution. 5. Innate Impulses.

कैसे की ? इसका उत्तर प्राणिशास्त्रीय प्रकृतिवाद देने में असमर्थ है। स्पष्ट है कि इसके अनुसार सभ्यता के विकास तथा उसकी गुत्थियों को हम नहीं समझ सकते; क्योंकि यह मानव की विविध क्रियाशीलताओं का कारण उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को ही मानता है। इस मत के अनुसार मानव को प्रेरणा प्रदान करने में समाज के सहयोग से प्राप्त विचार और अनुभवों का कोई स्थान नहीं है; क्योंकि व्यक्ति के सभी कार्यों की प्रेरणा उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों से उठती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रकृतिवाद के अनुसार नैतिक प्रवृत्तियाँ, अन्तःकरण, परलोक, अमानवीय चमत्कार, प्रार्थना की शक्ति, तथा इच्छा की स्वतन्त्रता आदि का कोई महत्व नहीं। प्रकृतिवाद के अनुसार संसार में न कोई वस्तु पूर्णतया शुभ है और न पूर्णतया अशुभ। इस मत के मानने वालों में अरस्तू, कोंत, बेकन, लेमार्क, रूसो, हक्सले, हरबर्ट स्पेन्सर, सेमुअल बटलर तथा बर्नार्ड शॉ के नाम लिये जा सकते हैं।

शिक्षा में प्रकृतिवाद

अठारहवीं शताब्दी में 'प्रकृतिवाद' शिक्षा के क्षेत्र में अत्यन्त प्रभावशाली आन्दोलन रहा है। जीवन की प्रचलित कृत्रिमता के विरुद्ध प्रकृतिवाद ने आवाज उठाई। प्रकृतिवाद ने विशेषकर उच्च कोटि के कुटुम्बों की कड़ी आलोचना की। उनमें बच्चों को कृत्रिमता तथा वाक्‌चातुरी आदि में शिक्षित करने की प्रथा चल पड़ी थी। बालकों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अवदमन का प्रकृतिवाद ने घोर विरोध किया। प्रकृतिवाद बालकों के लिये स्वाभाविक वातावरण का पुनर्स्थापन करना चाहता था, जिससे बच्चों के पालन-पोषण का भार माता-पिता स्वयं अपने ऊपर लें और अपना उत्तरदायित्व दाइयों पर न ढकेलें।

प्रकृतिवाद ने बौद्धिक[1] ढोंग तथा निरंकुशता[2] का घोर विरोध किया और बालक की शिक्षा में उसकी स्वाभाविक रुचि तथा आवश्यकता पर विशेष बल दिया। गत पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि रूसो शिक्षा में प्रकृतिवाद का प्रमुख प्रवर्तक रहा है।

1. Intellectual pretension. 2. Autocracy.

प्रकृतिवाद और शिक्षा के उद्देश्य[1]

प्रकृतिवाद व्यक्ति के स्वाभाविक गुणों की रक्षा करना चाहता है। यह एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहता है जिसमें व्यक्ति के स्वाभाविक[1] अधिकार सदैव सुरक्षित रहें। शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य एक ऐसे समाज की स्थापना करना है, जिसमें समानता[2], भ्रातृत्व[3], सरलता[4] तथा स्वतन्त्रता[5] के स्वाभाविक गुण समाज के सदस्यों में वर्तमान रहें। इस प्रकार प्रकृतिवाद के शिक्षा उद्देश्य में हमें वैयक्तिकता की झलक मिलती है। गत पृष्ठों में रूसो के विवेचन से यह स्पष्ट है। रूसो एक ऐसी शिक्षा-व्यवस्था की कामना करता है जो कि कृत्रिम समाज की झंझटों तथा अधिकार वाद के बन्धनों से मानव की रक्षा करेगा। प्रकृतिवाद के अनुसार शिक्षा[6] किसी भावी जीवन के तैयारी के लिए नहीं है, प्रत्युत शिक्षा स्वयं जीवन है। शिक्षा[7] कोई ऐसी प्रक्रिया नहीं है जो बाहर से बालक पर लादी जायगी, वरन् शिक्षा तो स्वयं बालक के विकास की एक प्रक्रिया है। शिक्षा का प्रधान उद्देश्य एक ऐसे स्वाभाविक राज्य की स्थापना करना है जिसमें व्यक्ति के स्वाभाविक अधिकारों की रक्षा होती है, जिसमें साधारण जनता की स्वाभाविक रुचियों का प्राधान्य रहता है, जहाँ व्यक्ति की स्वाभाविक इच्छाओं और रुचियों का अवदमन नहीं किया जाता और जहाँ कृत्रिम समाज के कृत्रिम कलाओं और विज्ञान को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है।

प्रकृतिवाद और शिक्षा के प्रकार[8]

प्रकृतिवादी शिक्षा प्रधानतः विशेषित न[9] होकर उदार[10] है। अपने समय की उस प्रचलित शिक्षा का जो विभिन्न प्रकार के व्यवसायियों को शिक्षित करने के लिए दी जाती थी रूसो विरोधी है। रूसो का विश्वास था कि विशिष्ट क्षेत्र में ही शिक्षा पाने से व्यक्ति दूसरे के आधिपत्य में

---

1. Natural Rights of the Individual. 2. Equality. 3. Fraternity. 4 Simplicity. 5. Liberty. 6. Education is not to be a preparation for life; it is lifei tself. 7. Education is not a procedure to be imposed from without; it is a process of natural individual development or growth. 8. Naturalism and Types of Education. 9. Specialized. 10. Liberal.

आ जाता है। अतः रूसो बालक के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए उसकी सभी स्वाभाविक शक्तियों के विकास हित में शिक्षा का आयोजन करना चाहता है। स्पष्ट है कि प्रकृतिवाद के अनुसार व्यक्ति की शिक्षा एक विशिष्ट व्यवसाय अथवा क्षेत्र के लिए न होकर उसके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए होगी जिससे वह अपने को समाज के परिवर्तनशील वातावरण के उपयुक्त सदा पा सके।

प्रकृतिवाद शारीरिक शिक्षा पर भी बल देता है जिससे व्यक्ति का शरीर सदा स्वस्थ रहे। गत पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि इसके लिए रूसो कई नियमों का नास्त्यात्मक रूप में उल्लेख करता है।

प्रकृतिवाद नैतिक शिक्षा की आवश्यकता अनुभव करता है, परन्तु यह भी स्वाभाविक रूप में ही होनी चाहिए। अतः नैतिक[1] शिक्षा व्यक्ति के निजी अनुभव का फल होना चाहिए, न कि शिक्षण का फल।

पन्द्रह वर्ष के पूर्व बालक को किसी भी प्रकार की धार्मिक शिक्षा नहीं देनी चाहिए; क्योंकि इस समय के पहले उसे दैवीशक्ति का कुछ भी बोध नहीं रहता। रूसो के अनुसार बालक को दैवीशक्ति को प्राकृतिक वस्तुओं में पहचानने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार रूसो एक स्वाभाविक धर्म में विश्वास करता है। दूसरों द्वारा पाये हुए धर्म में उसका विश्वास नहीं। अतः उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म को विकसित करने का पूरा अधिकार होना चाहिए। धर्म हृदय की वस्तु होनी चाहिए, न कि मस्तिष्क की। धर्म की अनुभूति करनी चाहिए, न कि तर्क द्वारा उसे प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए।

प्रकृतिवाद बौद्धिक[2] शिक्षा को प्रधानतः ज्ञानेन्द्रियों की अविधिक[3] शिक्षण तक सीमित करना चाहता है। ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति का विकास, बालक के विचारों का स्वतन्त्र प्रकाशन, स्वाभाविक जिज्ञासा तथा रुचि के आधार पर ज्ञानार्जन, वैज्ञानिक निरीक्षण, अन्वेषण तथा निष्कर्ष में शिक्षा पाने के अवसर प्रकृतिवाद के अनुसार बौद्धिक शिक्षा के अन्तर्गत आते हैं।

---

1. Moral Education is to be a matter of experience rather than of instruction. 2. Intellectual Education. 3. Informal Training

प्रकृतिवाद शिक्षा में पुस्तक, वाक्‌चातुनरी तथा निरर्थक शब्दों को कोई स्थान नहीं देना चाहता।

प्रकृतिवाद और पाठ्यक्रम[1]

प्रकृतिवादी शिक्षा प्रधानतः नास्त्यात्मक है। अतः प्रचलित विषयों को पाठ्यक्रम में स्थान देने का प्रकृतिवाद विरोध करता है। पाठ्यक्रम के अन्तर्गत् प्रधानतः प्रकृति के उन विभिन्न व्यापारों तथा अनुलक्षणों को रक्खा जायगा जिनकी किसी न किसी प्रकार बालक अनुभूति करता है। अतः पाठ्यक्रम में कृत्रिम समाज की आदतों और विचारों को स्थान न देकर बालक की विकसित होती हुई क्रियाशीलताओं को स्थान दिया जायगा। शताब्दियों के श्रम स्वरूप मानव ने जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया है उसे पाठ्यक्रम में स्थान नहीं दिया जायगा। शिक्षा के कार्यक्रम का तात्पर्य बालक की स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये बालक की स्वाभाविक शक्तियों का स्वाभाविक विकास होगा। अतः पाठ्यक्रम में उन क्रियाशीलताओं का समावेश किया जायगा जो कि जीवन की आवश्यकताओं से विकसित होती है। गत पृष्ठों में हमने देखा है कि पुस्तकों के स्थान पर रूसो ने ज्ञानेन्द्रियों, मांसपेशियों तथा तथा वाक्‌शक्ति के अविधिक अभ्यास पर बल दिया है।

प्रकृतिवाद और शिक्षा का संगठन[2]

रूसो के अनुसार बालक का स्वाभाविक अध्यापक उसका पिता है और बालिका की उसकी माता है। बालक के माता-पिता विहीन होने पर रूसो उसके लिये एक अध्यापक की व्यवस्था की बात कहता है। अतः अपने काल्पनिक बालक ऐमील की शिक्षा का उत्तरदायित्व वह एक अध्यापक (ट्यूटर) पर छोड़ता है। रूसो के अनुसार अध्यापक को बालक के साथ कम से कम २५ वर्ष तक रहना चाहिए। अध्यापक अपने बालक के लिये एक दाई की व्यवस्था कुछ काल के लिए कर सकता है। प्रकृति के

---

1. Naturalism and Curriculum. 2 Naturalism and Organization of Education

नियमों के पालन में अध्यापक और दाई में मतैक्य का होना अत्यन्त आवश्यक है। अध्यापक को यह याद रखना है कि बालक अपने जन्म से ही प्रकृति का शिष्य है, न कि उसका। अध्यापक[1] को इस प्रथम शिक्षक के पदचिन्हों का अनुसरण करना है, जिससे उसका (प्रकृति का) श्रम विफल न जाय। अतः प्रकृतिवाद के अनुसार प्रकृति शिक्षा का प्रधान स्रोत है; और अन्य लोगों को प्रकृति के उद्देश्यों को केवल कार्यान्वित करना है, और शिक्षा का संगठन इन्हीं उद्देश्यों के आधार पर करना है।

रूसो यद्यपि किसी स्कूल का अध्यापक नहीं था; परन्तु गत पृष्ठों में हमने देखा है कि वह शिक्षा-प्रणाली का संगठन विधिवत् करना चाहता है। मानव की चार प्रधान विकासावस्थानुसार—शैशव, बचपन, कैशोर तथा युवावस्था—वह शिक्षा का संगठन करना चाहता है। शिक्षा का संचालन प्रत्येक अवस्था की आवश्यकतानुसार करने का वह पक्षपाती है। उसका विश्वास है कि प्रत्येक विकासावस्था की आवश्यकता दूसरे से भिन्न होती है, अतः प्रत्येक अवस्था के लिए विभिन्न शिक्षा-प्रणाली का संगठन आवश्यक है। गत पृष्ठों में इस पर पर्याप्त प्रकाश डाल दिया गया है। उन्हें यहाँ दोहराना आवश्यक नहीं।

प्रकृतिवाद और शिक्षण[2]-विधि

गत पृष्ठों में हम यह कह चुके हैं कि शिक्षा के लिए प्रकृतिवाद की सबसे बड़ी देन यह है कि वह बालक को सारी शिक्षा-प्रक्रिया का केन्द्र बनाना चाहता है। रूसो का नारा है कि "प्रकृति[3] का अध्ययन करो और उसी पथ का अनुसरण करो जिसकी ओर वह संकेत करती है।"

बालक का स्वभाव और उसका विकास ही अध्ययन-विधियों के निर्धारक हैं। प्रकृतिवाद उन शिक्षण-विधियों का पक्षपाती है जिनसे बालक की

---

1. "The child at birth is already the pupil not of the tutor, but of Nature. The tutor merely studies under this first teacher and prevents her efforts from being balked". 2. Naturalism and Methods of Education. 3. Observe nature and follow the route which she traces for you.

नैसर्गिक शक्तियों का स्वतन्त्र विकास सम्भव होता है। अतः प्रकृतिवाद[1] के अनुसार शिक्षण-विधि की कुञ्जी प्रकृति है, न कि वातावरण।

प्रकृतिवाद ने तीन महान् शिक्षण-विधियों का निर्माण किया है :—

१—विकास का सिद्धान्त[2]

२—बालक की क्रियाशीलता का सिद्धान्त[3]

३—व्यक्तित्व का सिद्धान्त[4]

शिक्षक का काम सीखने की क्रिया को अनुप्रेरित नहीं करना है, वरन् इस क्रिया का ऐसा पथ-प्रदर्शन करना है कि वह प्राकृतिक विकास के सिद्धान्त के अनुसार चलती रहे। जिसे बालक स्वयं कर सकता है उसे करने के लिए बालक को स्वतन्त्र रखना चाहिए। उसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप करना हानिकर होगा। बालक की क्रियाशीलता का यह बड़ा भारी सिद्धान्त है। प्रत्येक बालक को अपने स्वभाव के अनुसार विकसित होने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये। बालक के व्यक्तित्व का विकास सभी बातों से ऊपर रखना चाहिये। बालक का व्यवस्थापन शिक्षा-क्रम के अनुसार नहीं होना चाहिये, वरन् शिक्षा-क्रम का आयोजन बालक की आवश्यकतानुसार होना चाहिये।

प्रकृतिवाद और विनय की समस्या[5]

प्रकृतिवाद विनय की समस्या का समाधान एक नये ही आधार पर करना चाहता है। प्रकृतिवाद के अनुसार प्रचलित स्कूलों में जिस तरह से विनय-स्थापन की चेष्टा की जाती है उससे बालक की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का अवदमन हो जाता है; फलतः उससे मानव स्वभाव का अधःपतन हो जाता है। विनय-स्थापन के लिए प्रकृतिवाद किसी प्रकार के शारीरिक दण्ड अथवा झुड़की तथा कठोर शब्दों के प्रयोग के विरुद्ध है। प्रकृतिवाद बालक को अपने कार्यों और अनुभवों के फल को भोगने के लिए स्वतन्त्र

1. Nature rather than Nurture is the keynote of educational method according to Naturalism. 2. The Princip'e of Growth. 3. The Principle of Pupleactivity. 4. The Principle of Individualization. 5. Naturalism and the Problem of Discipline.

छोड़ देना चाहता है। प्रकृतिवाद का विश्वास है कि इस प्रकार बालक स्वतः धीरे-धीरे विनयी हो जायगा। प्रकृतिवाद प्राकृतिक[1] परिणामों द्वारा विनय-स्थापन का अनुयायी है। इसका तात्पर्य यह है कि अपनी क्रियाओं के परिणाम-स्वरूप जिस प्रकार की विनय बालक सीखता है उसे वही सीखने के लिए स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिये। परन्तु इस प्रकार के विनय-स्थापन में बड़ा खतरा है। यदि बालक को अपनी क्रियाओं के परिणामों के अनुसार विनय सीखने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तो सम्भव है कि वह खुले हुए चाकू से अपनी ऊँगली काट ले अथवा तेजाब में हाथ डाल ले। इस प्रकार प्रकृति द्वारा प्राप्त दण्ड अपराध की तुलना में बड़ा ही कटु और कठोर होगा। इस सम्बन्ध में यह भी याद रखना चाहिये कि इस प्रकार दण्ड पाने में बालक को नैतिकता का कोई आभास नहीं मिलता। विनय-स्थापन के क्रम में नैतिकता के भाव का समावेश बड़ा ही आवश्यक है।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

दर्शनशास्त्र के रूप में प्रकृतिवाद के तीन रूप।

शिक्षा में प्रकृतिवाद

कृत्रिमता के विरुद्ध। बालकों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अवदमन का विरोध। बालक का उत्तरदायित्व माता-पिता पर, दाइयों पर नहीं। बौद्धिक ढोंग और निरंकुशता का विरोध। शिक्षा में बालक की स्वाभाविक रुचि और आवश्यकता पर ध्यान।

शिक्षा का उद्देश्य

स्वाभाविक गुणों और अधिकार की रक्षा का उद्देश्य। वैयक्तिकता की झलक, शिक्षा किसी भावी जीवन की तैयारी के लिए नहीं। शिक्षा स्वयं जीवन है। शिक्षा बालक के विकास की एक प्रक्रिया।

1. Discipline by Natural Consequences.

प्रकृतिवाद और शिक्षा के प्रकार

उदार, विशेषित नहीं। शिक्षा बालक के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए। शारीरिक शिक्षा पर बल। नैतिक शिक्षा निर्जी अनुभव का फल, न कि शिक्षण का फल। प्राकृतिक वस्तुओं मे दैवी शक्ति को पहचानने का प्रयत्न करना। प्रत्येक व्यक्ति को अपना धर्म विकसित करना। धर्म हृदय की वस्तु, न कि मस्तिष्क की।

बौद्धिक शिक्षा ज्ञानेन्द्रियोंकी अविधिक शिक्षा तक सीमित। पुस्तक तथा वाक्चातुरी को कोई स्थान नहीं।

प्रकृतिवाद और पाठ्यक्रम

नास्त्यात्मक। प्रचलित विषयों को पाठ्यक्रम में स्थान नहीं। बालक के अनुभव को स्थान देना। कृत्रिम समाज की आदतों और विचारों को स्थान नहीं। उन क्रियाशीलताओं का समावेश जो जीवन की आवश्यकताओं से विकसित होती हैं।

प्रकृतिवाद और शिक्षा का सगठन

माता-पिता स्वाभाविक अध्यापक। अनाथ बालकों के लिये ट्यूटर। बालक के साथ ट्यूटर का २५ वर्ष तक रहना। एक दाई की भी व्यवस्था। बालक प्रकृति का शिष्य, न कि अध्यापक का। अध्यापक को प्रकृति का अनुसरण करना। 'प्रकृति' शिक्षा का प्रधान स्रोत।

चार विकासावस्थाओं द्वारा शिक्षा का संगठन। शिक्षा का संचालन प्रत्येक अवस्था की आवश्यकतानुसार।

प्रकृतिवाद और शिक्षण-विधि

बालक सारी शिक्षा-प्रक्रिया का केन्द्र। बालक का स्वभाव और विकास शिक्षण-विधि का निर्धारक। शिक्षण-विधि की कुञ्जी प्रकृति। विकास,

क्रियाशीलता और व्यक्तित्व के सिद्धान्त। बालक को स्वतन्त्र छोड़ना। शिक्षा-क्रम का आयोजन बालक की आवश्यकतानुसार।

प्रकृतिवाद और विनय की समस्या

शारीरिक दण्ड अथवा कठोर नियन्त्रण हानिकर। अपने अनुभवों के फल के अनुसार बालक को सीखना। प्राकृतिक परिणामों द्वारा विनय का स्थापन।

४

आदर्शवाद और शिक्षा

प्लैतो,[1] कमेनियस[2], पौस्तालॉजी[3] तथा फ्रोबेल[4] आदि शिक्षा में आदर्शवाद के प्रमुख प्रवर्त्तक कहे जाते हैं। शिक्षा के उपकरणों तथा विधियों पर इन्होंने उतना बल नहीं दिया है जितना कि उनके सिद्धान्तों के प्रतिपादन पर दिया है। यहाँ पर हम प्रत्येक की संक्षेप में व्याख्या करेंगे।[5]

प्लैतो

सिद्धान्तों के रूप में प्लैतो ने हमें अपने शिक्षा-सम्बन्धी विचार दिये हैं। प्लैतो उच्चकोटि का आदर्शवादी था। वह 'साध्य' को 'साधन' से सदा ऊँचा समझता था। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति में सौन्दर्य-उपासना की शक्ति का प्रादुर्भाव करना है। मनुष्य को यदि शिक्षा न दी जाय तो वह कुप्रवृत्तियों का दास बन जायगा। शिक्षा द्वारा व्यक्ति को 'सत्य, शिवं और सुन्दरम्' का उपासक बनाना चाहिए। शिक्षक का कर्तव्य बालक के व्यक्तित्व के विविध अंगों में एक सामञ्जस्य लाना है। व्यक्ति की कुवृत्तियों और सद्वृत्तियां तथा उसके शरीर और मस्तिष्क में एक सामञ्जस्य लाना शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। यदि शिक्षा यह सामञ्जस्य न ला सकी तो उसे सच्ची शिक्षा नहीं कहा जा सकता। "सच्ची शिक्षा लोगों में सौहार्द ला देगी। मनुष्य सबसे अधिक सभ्य प्राणी है। तथापि उसे उचित

---

1. Plato (417-347 B. C.). 2. Comenius, John Amos (1592-1670). 3. Pestalozzi, Johann Heinrich (1746-1827). 4. Froebel, Friedrich William August (1782-1852). 5. इनकी विस्तृत व्याख्या क लिए लेखक की 'पाश्चात्य शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास', द्वितीय संस्करण पढ़िये।

शिक्षा की आवश्यकता है। यदि उसे उचित शिक्षा न दी गई तो वह पृथ्वी का सबसे अधिक असभ्य जीव हो जायगा[1] ।"

कमेनियस

कमेनियस बड़ा ही धार्मिक था। उसका विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति में 'ज्ञान'[2], 'गुण'[3] और 'ईश्वर के लिए भक्ति'[4] के बीज स्वभावतः उपस्थित रहते हैं। इन तीनों को बढ़ाना ही शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। सभी वस्तुओं के बारे में ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है। उसे अपने वातावरण तथा अपने ऊपर पूरा नियन्त्रण प्राप्त करना चाहिये। उसे सभी वस्तुओं को ईश्वर से सम्बन्धित समझनी चाहिये। यदि व्यक्ति ईश्वर का ध्यान रक्खेगा तो उसका ध्यान बुरी बातों पर जायगा ही नहीं। कमेनियस के शिक्षा-सिद्धान्त इन्हीं विचारों से विकसित हुये हैं। उसके अनुसार 'ज्ञानेन्द्रिय[5]', 'विवेक[6]' और 'दैवी प्रकाशन[7]' की सहायता से ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इन तीनों में सामञ्जस्य रहने से व्यक्ति त्रुटि नहीं कर सकता। यदि ऐसा सम्भव हो सका तो व्यक्ति ज्ञानवान होकर सदैव कर्त्तव्य-पथ पर डटा रहेगा। कमेनियस के अनुसार शिक्षा के तीन उद्देश्य हैं :—

१—जीवन में सफलता के लिए व्यक्ति को आवश्यक ज्ञान देना।

२—नैतिक तथा चरित्र-विकास के लिए आवश्यक विवेक देना।

३—ईश्वर-भक्ति उत्पन्न करना।

पेस्तालॉजी

पेस्तालाजी स्कूलों को शिक्षा का सच्चा स्थान बनाना चाहता था। उसका विश्वास था कि अभ्यास से मनुष्य की प्रकृतिदत्त शक्तियों को विकसित किया जा सकता है। शिक्षा को वह इस विकास का साधन बनाना चाहता था। उसका विश्वास था कि शिक्षा द्वारा ईश्वरप्रदत्त नैतिक, बौद्धिक और शारीरिक शक्तियों का विकास किया जा सकता है। अतः शिक्षा-क्षेत्र में

1. Laws, § 766. 2. Truth. 3. Virtue. 4. Faith in God. 5. Senses 6. Reason. 7. Divine Revelation.

सारा श्रम इसी ओर नियोजित होना चाहिए। पेस्तालॉज़ी मानव स्वभाव में पूरा विश्वास करता था। वह प्रत्येक व्यक्ति में मानवता का अंश देखता था। अच्छे बनने की प्रवृत्ति उसे सबमें दिखलाई पड़ती थी। उसकी समझ में केवल मार्ग-प्रदर्शन की ही आवश्यकता थी। उसके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य 'सभी शक्तियों का अनुरूप विकास करना[1]' है। पेस्तालॉज़ी ने बतलाया है कि शिक्षा का उद्देश्य पढ़ाना नहीं, वरन् 'विकास करना' है। इस विकास-क्रम में पेस्तालॉजी बालकों की स्वाभाविक रुचियों पर विशेष ध्यान देना चाहता है। बालकों की स्वाभाविक रुचियों पर बल देने के कारण पेस्तालॉज़ी शिक्षा को एक मनोवैज्ञानिक आधार देने में सफल हुआ।

फ़्रोबेल

फ़्रोबेल की धारणा है कि सब का विकास एक सार्वलौकिक नियम के अनुसार होता है। उसका विश्वास है कि व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास क्रमबद्ध न हो तो उसकी शिक्षा असम्भव हो जाय। फ़्रोबेल के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य शरीर और आत्मा को बन्धन से मुक्त करना है। उसके अनुसार सभी बालकों में वांछित दशायें निहित रहती हैं। शिक्षा द्वारा केवल उनके लिए समुचित वाह्य वातावरण ही उपस्थित करना है। प्रकृति का उद्देश्य विकास है, आध्यात्मिक संसार का उद्देश्य सभ्यता का विकास करना है। इस संसार की समस्या शिक्षा है, जिसका समाधान निश्चित दैवी नियमानुसार ही होता है। फ़्रोबेल के अनुसार सच्ची शिक्षा की नींव धर्म पर ही डाली जा सकती है। शिक्षा ऐसी हो कि उसकी सहायता से व्यक्ति अपने को तथा प्रकृति, मानव जाति तथा ईश्वर को पहचान सके। इन सभी वस्तुओं में व्यक्ति को एक एकता का भान होना चाहिए। अतः फ़्रोबेल के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य पवित्र, शुद्ध तथा श्रद्धापूर्ण जीवन की प्राप्ति करना है। उसकी धारणा है कि जगत की सभी वस्तुएँ ईश्वर की दी हुई हैं। "सभी वस्तुओं का अस्तित्व दैवी एकता में ही है। प्रकृति तथा उसकी सभी वस्तुएँ दैवी प्रकाशन के रूप[2] हैं।" फ़्रोबेल, काण्ट, फिश,

1. Harmonious Develpment of all Powers. 2. Froebel—The Edudcation of Man.

तथा हीगेल के आदर्शों से बड़ा प्रभावित हुआ था। ये लोग प्रकृति और मनुष्य की सारभूत एकता में वास्तविकता और जीवन का कारण समझना चाहते थे। फ्रोबेल मनुष्य और प्रकृति का उद्गम स्थान स्वयंभू परमात्मा में समझता है। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को ऐसा बनाना है कि वह ईश्वर मे स्थित सब की एकता पहचान ले। फ्रोबेल का विश्वास है कि यदि व्यक्ति वस्तुओं में निहित आन्तरिक अविच्छिन्नता को समझ ले तो शिक्षा का उद्देश्य सफल है, अन्यथा नहीं।

फ्रोबेल के अनुसार एक 'दैवी शक्ति' हमारे कार्यों को सदा नियमित बनाने का प्रयत्न करती रहती है। इस 'दैवी शक्ति' के प्रतिकूल चलने से हमारी अवनति होती है। जिस वस्तु का विकास अपेक्षित है उसके रूप को समझने से हम उसमें निहित 'दैवी शक्ति' को पहचान सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का विकास अपनी क्रियाशीलता के अनुसार भीतर से बाहर की ओर होता है। शिक्षा को समस्या इस विकास को समझना है और शिक्षा का उद्देश्य इस विकास को और आगे बढ़ाना है।

सृष्टि में, प्रकृति और संसार के क्रम में तथा मानव जाति की उन्नति में ईश्वर ने शिक्षा के सच्चे रूप की ओर संकेत किया है। सृष्टि और प्रकृति में हमें हर जगह क्रियाशीलता दिखलाई पड़ती है। इस क्रियाशीलता की ओर ईश्वर ने संकेत किया है। अतः शिक्षा का सच्चा रूप क्रियाशीलता ही हो सकती है। 'चैतन्य रहना' 'क्रियाशील रहना' और 'चिन्तन करना' हमारे विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। व्यक्ति में इन गुणों का लाना ही शिक्षा का परम उद्देश्य है। फ्रोबेल हमें ईश्वर से सीखने के लिए कहता है :—"ईश्वर हमें उत्पन्न करता है, वह निरन्तर कार्य करता रहता है" परिश्रम और अध्यवसाय में हमें ईश्वर के सदृश होना है[1]।

आदर्शवाद : शिक्षा के उद्देश्य

कुछ आदर्शवादी शिक्षकों के उपर्युक्त विवेचन के बाद अब आदर्शवाद के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य की रूप रेखा खींची जा सकती है।

1. Education of Man § 23.

भौतिकवाद के विरुद्ध आदर्शवाद भौतिक जगत की अपेक्षा भाव[1] और अनुभव[2] जगत को अधिक महत्वपूर्ण समझता है। आदर्शवादी वास्तविकता को आध्यात्मिक[3] मानता है। आदर्शवादी भौतिक विज्ञान की शिक्षा को उतना महत्व नहीं देता जितना कि वह मानवीय विषयों[4] की शिक्षा को देता है। आदर्शवादी के अनुसार मनुष्य ही अध्ययन का सबसे अधिक महत्वपूर्ण विषय है। अतः शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य मानव के व्यक्तित्व का निर्माण और पूर्ण विकास करना है। आदर्शवादियों के अनुसार मनुष्य ईश्वर की सर्वोत्तम कृति है। अतः मनुष्य की उन्नति करना ही शिक्षा का सर्वप्रथम लक्ष्य होना चाहिए।

व्यक्ति तथा जाति की आध्यात्मिक और सांस्कृतिक सम्पत्ति आदर्शवाद के लिये बड़ी महत्वपूर्ण है। अतः आदर्शवादी इस सम्पत्ति की रक्षा करना तथा उसकी और वृद्धि करना शिक्षा का परम उद्देश्य मानता है। शिक्षा की सहायता से व्यक्ति को ऐसा बनाना है कि वह आध्यात्मिक क्षेत्र में भली-भाँति प्रविष्ट हो सके और उसके क्षेत्र को और आगे विस्तृत कर सके। सत्य[5], शिव[6] तथा सुन्दर[7] तत्वों से आध्यात्मिक क्षेत्र का निर्माण होता है। शिक्षा इस प्रकार संचालित की जाय कि प्रत्येक बालक इन गूढ़ तत्वों को अपना सके।

आदर्शवाद : अध्यापक

प्रकृतिवाद के विवेचन में हम देख चुके हैं कि प्रकृतिवादी शिक्षा में अध्यापक का स्थान विशेष महत्वपूर्ण नहीं। प्रकृतिवाद के अनुसार बालक के विकास में अध्यापक का हस्तक्षेप हानिकर समझा जाता है। किन्तु आदर्शवाद अपनी शिक्षा-क्रम में अध्यापक को एक महत्वपूर्ण स्थान देता है। आदर्शवाद के अनुसार अध्यापक बालक की सहायता करने में स्वयं अपना आध्यात्मिक-विकास[8] करता है। अध्यापक को अपने विकास के लिए विद्यार्थी की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि विद्यार्थी को अध्यापक को, परन्तु हाँ, दोनों को एक दूसरे की आवश्यकता विभिन्न रूप में होती

---

1. Feeling. 2. Experience. 3. Spiritual. 4. Study of Humanities. 5. Truth 6. Good. 7. Beauty. 8. Spiritual Growth.

है। आदर्शवादी अध्यापक हर समय यह सोचा करता है कि विभिन्न विषयों के पढ़ाने के अतिरिक्त किन साधनों का वह सहारा ले जिससे वह अपने विद्यार्थियों का अधिकतम विकास कर सके। इस प्रकार अध्यापक पूर्णता की प्राप्ति में बालक की पूरी सहायता करता है। शिक्षक को यह देखना है कि बालक अपनी कुवृत्तियों पर विजय प्राप्त करके अपने व्यक्तित्व का पूरा विकास करे। तभी वह प्लैतो के शब्दों में "सत्यं शिवं और सुन्दरम्" का उपासक हो सकेगा। अध्यापक को बालक की शिक्षा का आयोजन इस प्रकार करना है कि बालक अपने वातावरण पर पूरा नियन्त्रण प्राप्त कर ले। कमेनियस के शब्दों में अध्यापक का कर्तव्य स्पष्ट है—अध्यापक को बालक में आवश्यक ज्ञान, उसके चरित्र का विकास तथा उसमें ईश्वर-भक्ति उत्पन्न करना है। पेस्तालॉज़ी अध्यापक का उत्तर-दायित्व बालक के व्यक्तित्व के अनुरूप विकास से समझता है और फ्रोबेल के अनुसार अध्यापक का यह कर्तव्य है कि वह बालक को विभिन्न वस्तुओं में निहित अविच्छिन्नता अथवा एकता का बोध करावे। इस प्रकार हम देखते हैं कि आदर्शवाद के अनुसार शिक्षा-क्रम में अध्यापक का स्थान बड़ा ही महत्वपूर्ण है।

आदर्शवाद : पाठ्यक्रम[1]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह सारांश निकाल सकते हैं कि आदर्शवाद व्यक्तित्व अथवा आत्म के विकास पर विशेष बल देता है, परन्तु उसके अनुसार यह व्यक्तित्व अथवा आत्म रचनात्मक[2] हो। अतः जो भी विषय इस 'रचनात्मक आत्म' के विकास का अवसर देता है उसका अध्ययन करना आदर्शवाद को मान्य होगा। परन्तु अध्ययन का यह विषय केवल व्यक्ति की ही रुचि का न हो। उसका कुछ सामाजिक मूल्य भी होना आवश्यक है। पाठ्यक्रम के निरूपण में आदर्शवादी भावों[3] और आदर्शों[4] पर विशेष ध्यान देता है। आदर्शवादी के अनुसार पाठ्यक्रम में मानव जाति के सारे अनुभवों को स्थान मिलना चाहिए। पाठ्यक्रम में

1. Idealism : Curriculum. 2 Creative. 3. Feelings. 4 Ideals.

सभ्यता के उत्कर्ष की झलक होनी चाहिए। इस दृष्टिकोण से आदर्शवादी पाठ्यक्रम में मानवीय विषयों और विज्ञान दोनों को स्थान दिया जायगा।

पाठ्यक्रम में उन तत्वों का समावेश करना चाहिए जिनसे बालक 'सत्यं, शिवं तथा सुन्दरम्' के आदर्श को अपने जीवन में अपना सके। प्लैतो का यही कहना है। सत्यं, शिवं और सुन्दरम् मनुष्य की बौद्धिक कलात्मक अथवा सौन्दर्यात्मक और नैतिक क्रियाओं के प्रतिनिधि माने जा सकते हैं। अतः पाठ्यक्रम में इन सभी क्रियाओं का समावेश करना चाहिए। भाषा और साहित्य, इतिहास, भूगोल, गणित तथा विज्ञान से बौद्धिक क्रियाओं को प्रेरणा मिलेगी। कला तथा कविता से सौन्दर्यात्मक अथवा कलात्मक क्रियाओं को प्रेरणा मिलेगी। धर्म तथा आचरण-शास्त्र आदि के अध्ययन से नैतिक क्रियाओं का आयोजन किया जा सकता है।

पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में नन[1] के विचारों में आदर्शवाद की झलक मिलती है। नन के अनुसार पाठ्यक्रम में उन्हीं विषयों को स्थान देना चाहिए जो व्यक्ति के लिए सबसे अधिक मूल्यवान् और संसार के लिए विशेष महत्व रखते हों। पाठ्यक्रम में नन दो प्रकार की क्रियाओं को प्रधानता देना चाहता है:—१—पहले प्रकार की वे क्रियायें हैं जिनसे व्यक्ति और समाज के अस्तित्व की रक्षा होती हैं; जैसे स्वास्थ्य, आचरण, नैतिकता तथा धर्म-सम्बन्धी क्रियायें। अतः नन बालक के लिए शारीरिक व्यायाम, नीतिशास्त्र तथा धर्म की शिक्षा अनिवार्य मानता है। २—दूसरे प्रकार की वे क्रियायें हैं जिनसे सभ्यता का निर्माण होता है—ये क्रियायें साहित्यिक तथा कलात्मक होती हैं। इन क्रियाओं के लिए पाठ्यक्रम में साहित्य, हस्तकला, संगीत, गणित, विज्ञान, भूगोल तथा इतिहास आदि का समावेश करना चाहिए।

आदर्शवाद : विनय की समस्या[2]

गत पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि प्रकृतिवाद स्वतन्त्रता का नारा लगाता है। परन्तु आदर्शवाद विनय पर विशेष बल देता है। वह बालक को

1. T. Percy Nunn. 2 Idealism and the Problem of Discipline.

एकदम मुक्त नहीं छोड़ना चाहता। आदर्शवादी का विश्वास है कि विनय के अभाव में बालक 'सत्यं शिवं और सुन्दरम्' का उपासक नहीं बन सकता। अतः उसके लिए अध्यापक के नियन्त्रण में पथ-प्रदर्शन प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। अध्यापक बालक के सामने उच्चतम आदर्शों को रखता है और उसके लिए एक ऐसे वातावरण का आयोजन करता है कि वह अपनी आध्यात्मिक शक्तियों का विकास कर सके। ऐसी स्थिति में स्वतन्त्रता के आधार पर शिक्षा के लिए आवश्यक वातावरण के नियोजन में आदर्शवादी का विश्वास नहीं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह बालक की स्वाभाविक क्रियाओं के दमन का पक्षपाती है। फ्रोबेल के विचार इसके प्रमाण हैं कि आदर्शवादी बालक की स्वाभाविक इच्छाओं का दमन नहीं करना चाहता।

आपने ऊपर क्या पढ़ा?

प्लैतो, कमेनियस, पेस्तालॉज़ी तथा फ्रोबेल प्रमुख प्रवर्तक।

प्लैतो

'साध्य' साधन से ऊँचा। शिक्षा का उद्देश्य सौंदर्योपासन-शक्ति का प्रादुर्भाव करना। शिक्षा द्वारा व्यक्ति को 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का उपासक बनाना। व्यक्तित्व के विविध अंगों में सामञ्जस्य लाना। उचित शिक्षा की आवश्यकता।

कमेनियस

प्रत्येक व्यक्ति में ज्ञान, गुण और भक्ति के बीज वर्तमान। इन तीनों को बढ़ाना शिक्षा का उद्देश्य। सभी वस्तुएँ ईश्वर से सम्बन्धित। ज्ञानेन्द्रिय, विवेक और दैवी प्रकाशन से ज्ञान आना। इन तीनों में सामञ्जस्य आवश्यक।

पेस्तालॉज़ी

शिक्षा प्रकृतिदत्त शक्तियों के अनुरूप विकास का साधन। मानव स्वभाव में विश्वास। शिक्षा का उद्देश्य पढ़ाना नहीं, वरन् विकास करना है। बालक की स्वाभाविक रुचियों पर विशेष ध्यान।

फ्रोबेल

सबका विकास एक सार्वलौकिक नियमानुसार। शिक्षा का उद्देश्य शरीर और आत्मा को बन्धन से मुक्त करना। सभी स्वस्थ बालकों में वांछित दशायें निहित। शिक्षा का उद्देश्य इनके विकास के लिए वांछित वाह्य वातावरण का उपस्थित करना। ईश्वर में स्थित सबकी एकता को समझना।

एक दैवी शक्ति हमारे कार्यों को नियमित बनाती रहती है। प्रत्येक व्यक्ति का विकास भीतर से बाहर की ओर। शिक्षा का उद्देश्य इस विकास को आगे बढ़ाना है।

आदर्शवाद : शिक्षा के उद्देश्य

भाव और अनुभव का जगत अधिक महत्वपूर्ण। वास्तविकता आध्यात्मिक, मानवीय विषयों को शिक्षा को अधिक महत्व। मनुष्य ही अध्यापन का सबसे अधिक महत्वपूर्ण विषय। मानव के व्यक्तित्व का निर्माण करना शिक्षा का उद्देश्य। सांस्कृतिक सम्पत्ति की और वृद्धि करना। आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवृष्ट करना।

आदर्शवाद : अध्यापक

अध्यापक का स्थान महत्वपूर्ण। अध्यापक पूर्णता की प्राप्ति में बालक की सहायता करता है। वातावरण पर पूरा नियन्त्रण प्राप्त करने में बालक की सहायता करना।

आदर्शवाद : पाठ्यक्रम

भावों और आदर्शों पर विशेष ध्यान। पाठ्यक्रम में मानव जाति के सारे अनुभवों को स्थान। मानवीय विषयों और विज्ञान को स्थान। बौद्धिक, कलात्मक और नैतिक क्रियाओं का समावेश करना।

आदर्शवाद : विनय की समस्या

विनय पर विशेष बल। बालक की शिक्षा अध्यापक के नियन्त्रण में।

५

यथार्थवाद और शिक्षा

यथार्थवाद आदर्शवाद का विरोधी दिखलाई पड़ता है। वह आदर्शवाद की तरह आध्यात्मिकता का पक्षपाती नहीं। यथार्थवाद अपना ध्यान विशेषकर दैनिक जीवन की वास्तविकता की ओर केंद्रित करता है। यथार्थवाद के अनुसार मस्तिष्क विश्व के विकास क्रम में विकसित हुआ है। मस्तिष्क उतना ही सत्य अथवा असत्य है जितना कि इस जगत की कोई अन्य वस्तु हो सकती है। यथार्थवाद एक दर्शनशास्त्र के दृष्टिकोण से विज्ञान की देन है। इसके अनुसार जीवन की सभी समस्याओं की ओर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखना चाहिए। अतः यथार्थवाद किसी वस्तु के अस्तित्व को तभी स्वीकार करेगा जब वह निरीक्षण तथा परीक्षण की कसौटी पर कसा जा सके। यही कारण है कि यथार्थवादी का शिक्षा-उद्देश्य वास्तविकता की ओर संकेत करते हुए सामाजिक परिस्थितियों से अपना सीधा सम्बन्ध रखता है। यथार्थवादी का कहना है कि शिक्षा देने के क्रम में बालकों की विभिन्न रुचियों का विश्लेषण कर यह जानने का प्रयत्न करना चाहिए कि उसके तथा समाज के हित में उनमें कौनसी सबसे अच्छी है। इसका पता लग जाने पर उनका अधिकतम विकास करना ही शिक्षा का परम उद्देश्य है। यथार्थवाद सर्वप्रथम जीवन के विभिन्न पक्षों को समझ लेना चाहता है, तत्पश्चात् उन पक्षों के हित में व्यक्ति को शिक्षा देना चाहता है। यथार्थवाद का उद्देश्य व्यक्ति को इस प्रकार की शिक्षा देना है कि व्यक्ति सभी भाँति सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते हुए सुखद समाज के निर्माण में अपना योग दे सके।

जॉन फ्रेडरिक हरबार्ट (१७७६–१८४१)[1]

जॉन फ्रेडरिक हरबार्ट पहला शिक्षा दार्शनिक हुआ जिसने शिक्षा को यथार्थवाद के सिद्धान्तों के अनुसार संगठित करने का प्रयास किया है। यद्यपि आदर्शवादियों की तरह उसने भी शिक्षा में नैतिक तथा चरित्र-विकास पर बल दिया है, परन्तु वह शिक्षा के उद्देश्य को पर्याप्त रूप से वास्तविक बनाना चाहता है—अतः उसने बालक में बहुरुचि[2] के विकास की बात कही है। हरबार्ट के अनुसार शिक्षकों को बालकों की रुचियों का विश्लेषण करके यह समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि उनमें कौन सी वैयक्तिक तथा सामाजिक हित के लिए सबसे अधिक उपयोगी हैं। ऐसा समझ लेने के बाद शिक्षा द्वारा इन रुचियों का जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के संदर्भ विकास करना चाहिए। उपदेश द्वारा नैतिकता का पाठ पढ़ाना उसे पसन्द नहीं था। वह नैतिकता की समस्या को यथार्थवादी दृष्टिकोण से देखता है।

हरबर्ट स्पेन्सर (१८२०–१९०३)[3]

हरबर्ट स्पेन्सर ने शिक्षा को यथार्थवाद पर आधारित करने के लिए हरबार्ट की अपेक्षा और आगे कदम उठाया। स्पेन्सर के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य युवक को पूर्णरूपेण सुख से[4] रहना सिखाना है। पूर्णरूपेण सुख से रहने के लिए स्पेन्सर ने व्यक्ति के कार्यों को निम्नलिखित पाँच भागों में विभाजित किया है:—

१—आत्म रक्षा, अर्थात् स्वास्थ्य[5]।

२—जीविकोपार्जन करना[6]।

३—माता-पिता का कर्त्तव्य पालन कर सकना, अर्थात् बच्चों का जनना और उनका पालन-पोषण करना[7]।

४—नागरिकता[8]।

---

1. Johann Friedrick Herbart. 2. Development of many-sided interests. 3. Herbert Spencer 4. The aim of education is to prepare youth for complete living. 5. Direct Self-preservation—Health. 6. Indirect self-preservation—earning a livelihood. 7. Rearing offspring—parenthood. 8. Citizenship.

५—अवकाश का सदुपयोग[1]।

प्रत्येक अवस्था के लिए स्पेन्सर के मत में विज्ञान का अध्ययन अधिक श्रेयस्कर होगा। स्वास्थ्य-रक्षा के लिए बालकों को वह शरीर-विज्ञान पढ़ाना चाहता है। गणित, तर्कशास्त्र, भौतिकशास्त्र तथा जीव-विज्ञान का पढ़ाया जाना व्यावहारिकता के लिए अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में हमें इनकी आवश्यकता होती है। स्कूल में बालकों और बालिकाओं को बच्चों के पालन-पोषण में शिक्षा देनी चाहिए। राजनैतिक उत्तरदायित्व की जागृति बालकों में बहुत प्रारम्भ से ही लाने का प्रयत्न करना चाहिए, जिससे बाद में चलकर वे झूठे विज्ञापनों के फेर में न फँस जाँय। इसके लिए स्पेन्सर बालकों को इतिहास तथा महापुरुषों के जीवन-चरित्र पढ़ाना चाहेगा। स्पेन्सर का जीवन दृष्टिकोण बड़ा ही विस्तृत और उदार जान पड़ता है। तभी तो उसने अवकाश के सदुपयोग की भी बात कही है। अतः वह बालकों और बालिकाओं को वही शिक्षा देना चाहता है जिससे वे अपने अवकाश-काल में सुखद और हितकर मनोरंजन के साधनों को अपना सकें। इस प्रकार स्पेन्सर के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को ऐसा बनाना है कि वह संसार में सफल और सन्तोषजनक जीवन बिता सके। अतः शिक्षा के सभी ध्येयों की परीक्षा वैयक्तिक तथा सामाजिक हित की कसौटी पर ही करना चाहिए।

यथार्थवाद के अनुसार शिक्षा के कई उद्देश्य

शिक्षा-समस्याओं के सुलझाव में यथार्थवाद की सहायता लेने के क्रम में शिक्षा के कई उद्देश्य विकसित किये गये हैं। ये सभी उद्देश्य प्रौढ़ व्यक्ति की विभिन्न क्रियाओं के विश्लेषण पर आधारित हैं और उनका प्रयोजन व्यक्ति को जीवन की वास्तविकता में शिक्षा देना है। यथार्थवाद के प्रभाव में शिक्षा-दार्शनिक शिक्षा के उद्देश्यों का स्पष्टतः नामकरण करता है। सन् १९१८ ई० में अमेरिका के एडूकेशन एसोसियेशन ने देश की सामाजिक वास्तविकता के आधार पर शिक्षा के सात[2] प्रधान सिद्धान्त की चर्चा

1. Worthy use of leisure. 2. Seven Cardinal Principles of Education.

की। अमेरिका के वर्तमान शिक्षा दार्शनिक फ्रैन्कलिन बाबिट[1] ने पूर्णरूपेण सुखद जीवन बिताने के लिये मानव के उत्तरदायित्वों और कर्तव्यों के दस विभाग के अनुसार शिक्षा के आयोजन की बात कही है। ये दस विभाग इस प्रकार हैं :—

१—भाषा-सम्बन्धी क्रियायें[2]।
२—स्वास्थ्य-सम्बन्धी क्रियायें[3]।
३—नागरिकता-सम्बन्धी क्रियायें[4]।
४—साधारण सामाजिक क्रियायें[5]।
५—अवकाश-काल की क्रियायें[6]।
६—मानसिक स्वास्थ्य के लिए क्रियायें[7]।
७—धार्मिक क्रियायें[8]।
८—माता-पिता के कर्तव्य-सम्बन्धी क्रियायें[9]।
९—उप-व्यावसायिक व्यावहारिक क्रियायें[10]।
१०—व्यावसायिक क्रियायें[11]।

उपर्युक्त दस विभागों के पुनः सैकड़ों उपविभाग किये गये हैं। ये उपविभाग इतने विस्तृत बनाये गये हैं उनसे एक सुव्यवस्थित पाठ्यक्रम की झाँकी मिलती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यथार्थवाद की विशेष रुचि जीवन की वास्तविक परिस्थितियों से है और यथार्थवादी शिक्षक बालक को जीवन की परिस्थितियों से सफलतापूर्वक मुठभेड़ लेने योग्य बनाना चाहता है, और इस उद्देश्य के अनुसार ही शिक्षा-क्रम में विभिन्न विषयों का वह चुनाव करेगा।

---

1. Franklin Bobbit. 2. Language activities. 3. Health activities 4. Citizenship activities. 5. General Social activities. 6. Leisure time activities. 7. Activities for mental fitness. 8. Religious activities. 9. Parental activities. 10. Non-vocational practical activities. 11. Vocational activities.

आप ने ऊपर क्या पढ़ा ?

यथार्थवाद और शिक्षा

यथार्थवाद आदर्शवाद का विरोधी। आध्यात्मिकता का पक्षपाती नहीं। दैनिक जीवन की आवश्यकताओं पर ध्यान। यथार्थवाद विज्ञान की देन है। समस्याओं के सुलझाव में वैज्ञानिक दृष्टिकोण आवश्यक। जीवन के विभिन्न पक्षों को समझना तब इन पक्षों के हित में शिक्षा देना। सुखपूर्वक जीवन बिताने के लिए व्यक्ति को तैयार करना शिक्षा का उद्देश्य।

हरबार्ट

शिक्षा को वास्तविक बनाना। बहुरुचि के विकास का सिद्धान्त। बालक की रुचियों का व्यक्तिगत और सामाजिक हित के लिए विकास करना।

स्पेन्सर

व्यक्ति को पूर्णरूपेण सुख से रहना सिखाना। व्यक्ति के कार्यों के पाँच विभाजन—आत्म-रक्षा, माता-पिता का कर्तव्य, बच्चों का जनना और पालन-पोषण, नागरिकता और अवकाश का सदुपयोग। प्रत्येक के लिए विज्ञान का अध्ययन श्रेयस्कर।

———

६

प्रयोगवाद और शिक्षा

प्रयोगवादी विचारधारा

प्रयोगवाद चिरन्तन[1], पूर्वनिश्चित[2] तथा प्रचलित[3] आदर्शों में विश्वास नहीं करता। प्रयोगवाद अपना सम्बन्ध केवल मनुष्य तथा उसके जीवन से ही नहीं रखता। इसके अनुसार किसी पूर्व-निर्धारित मान्यता[4] के अनुसार चलना व्यक्ति के विकास के लिए घातक है। व्यक्ति को तो स्वयं नई-नई मान्यताओं का निर्धारण करना है। अभी पूर्णरूपेण वास्तविकता का निर्धारण नहीं हो सका है, क्योंकि अपनी पूर्णता के लिए व्यक्ति को भविष्य से भी आवश्यक उपकरणों को लेना ही होगा। यदि हमारे निष्कर्ष और निश्चय सुखद और सन्तोषजनक फल देते हैं तो वे सत्य हैं, अन्यथा न वे सत्य और न असत्य। समस्त विचारों तथा भावों में सामयिक परिस्थितियों तथा परिणामों के अनुसार परिवर्तन किये जा सकते हैं। प्रयोगवादियों का विश्वास है कि मनुष्य में एक ऐसी क्षमता है जिससे वह वातावरण को अपने अनुकूल बना सकता है। उनकी धारणा है कि अपनी समस्याओं के सुलझाव के क्रम में मनुष्य एक उच्चतर तथा श्रेष्ठतर वातावरण का निर्माण कर सकता है, और सदा करता रहता है। अतः सभी मान्यतायें मनुष्य द्वारा ही निर्मित की गई हैं।

प्रयोगवादी का व्यक्तिवाद[5] में दृढ़ विश्वास है। अतः शिक्षा के क्रम में वह बालक तथा उसकी प्रकृति के अध्ययन पर विशेष बल देता है। प्रयोग-

1. Eternal. 2. Prefixed. 3. Traditional. 4. Predetermined value. 5. Individualism.

वादी अपने आदर्श की धुन में व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए शिक्षा के उद्देश्य और स्वरूप को प्रत्येक व्यक्ति के अनुसार परिवर्तित करने की भी माँग करने में संकोच नहीं करता। इस अर्थ में प्रयोगवादी अपने 'आदर्श' में आदर्शवादी से बाजी मार ले जाता है।

शिक्षा में प्रयोगवाद

शिक्षा में प्रयोगवाद के प्रमुख प्रवर्तक विलियम जेम्स और डीवी माने जाते हैं। उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञान के लिए ज्ञान का अर्जन करना नहीं है। बौद्धिक, धार्मिक तथा सौन्दर्यानुभूति-सम्बन्धी शिक्षा के विविध उपकरण बालक की ऐसी क्रियाओं से सम्बन्धित हों कि वह उनसे मान्यताओं की अनुभूति स्वयं कर सके। ये क्रियायें ऐसी हों कि उनसे बालक अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके और वे उसके जीवन के लिए उपयोगी हों। साधारणतः 'शिक्षा' दर्शन का क्रियात्मक रूप है, परन्तु प्रयोगवादी के अनुसार 'शिक्षा-क्रिया' से दर्शन का निर्माण होना चाहिए। शिक्षा उन मान्यताओं और भावों का निर्माण करती है जिससे दर्शन अपना रूप प्राप्त कर सकता है।

प्रयोगवाद और शिक्षा के उद्देश्य

ऊपर यह संकेत किया जा चुका है कि प्रयोगवादी किसी पूर्व-निर्धारित मान्यताओं[1] को लेकर नहीं चलना चाहता। अतः शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण किसी पूर्व-निर्धारित मान्यता के आधार पर न होकर मनुष्य के अनुभवों के आधार पर[2] होगा। अतः प्रयोगवादी के लिए शिक्षा के उद्देश्यों की समस्या का समाधान कोई कठिन नहीं। प्रयोगवादी बालक को ऐसी परिस्थितियों में रखना चाहता है कि बालक उत्तम आदर्शों की रचना स्वयं कर ले। बालक पर बाह्य प्रभुत्व अथवा प्रतिमानों को लादना प्रयोगवाद को मान्य नहीं। वह बालक की प्रवृत्तियों तथा अभिरुचियों को उसकी आवश्यकतानुसार नई-नई मान्यताओं के निर्माण के हेतु उचित

---

1. Predetermined values. 2. On the basis of man's own experiences.

दिशा में मोड़ना चाहता है। इस क्रम में बालक पर वह किसी प्रकार का दबाव नहीं डालना चाहेगा। प्रयोगवादी बालक में एक उपक्रमणशील[1] तथा गत्यात्मक[2] मस्तिष्क की रचना करना चाहता है। प्रयोगवादी के अनुसार ऐसा मस्तिष्क ही अज्ञात भविष्य में भी नई-नई मान्यताओं के निर्धारण की क्षमता रखेगा। उसके अनुसार ऐसे मनुष्य ही ऐसे समाज का पुनर्निर्माण कर सकते हैं जहाँ मनुष्य की समस्त आकांक्षाओं की पूर्ति हो सकती है।

प्रयोगवाद के अनुसार पाठ्यक्रम का सिद्धान्त[3]

प्रयोग के अनुसार पाठ्यक्रम की रचना के निम्नलिखित सिद्धान्त निकलते हैं :—

१—उपयोगिता का आधार[4]।

२—बालक की स्वाभाविक रुचि के आधार[5] का सिद्धान्त।

३—बालक की क्रियाओं और अनुभवों को आधार।

४—संघटन का आधार[6]।

नीचे हम इन चारों पर अति संक्षेप में प्रकाश डालेंगे।

१—उपयोगिता का आधार—

इस सिद्धान्त के अनुसार बालक को केवल उपयोगी अनुभव ही देना चाहिए। जिसका कोई उपयोग न जान पड़े वैसा अनुभव बालक को देना व्यर्थ है। बालक को ऐसे अनुभव देने चाहिए जिनसे वह अपनी वर्तमान और भावी आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु आवश्यक ज्ञान[7] और कौशल[8] प्राप्त कर सके।

इस धारणा के अनुसार प्रयोगवादी पाठ्यक्रम में साहित्य, भाषा, स्वास्थ्य-विज्ञान, व्यायाम-शिक्षा, भूगोल, इतिहास तथा गणित को स्थान दिया जायगा तथा बालिकाओं की शिक्षा में गृह-विज्ञान को स्थान देना होगा। इन विविध विषयों में शिक्षा का उद्देश्य ज्ञानार्जन न होकर जीवन

---

1. The one which can take an initiative. 2. Dynamic. 3. The Principle of Curriculum & Pragmatism. 4. The Basis of Utilitarianism. 5. The Basis of Child's Natural interests. 6. The Basis of organisation. 7. Knowledge. 8. Skill.

की वास्तविकताओं[1] का सामना करने के हेतु सामर्थ्य उत्पन्न करना है। प्रयोगवादी व्यावसायिक शिक्षा को भी शिक्षा क्रम में समुचित स्थान देने का पक्षपाती है। हमें यह ध्यान रखना है कि उपयोगितावाद की बात करके प्रयोगवादी शिक्षा-क्षेत्र में संकीर्णता नहीं लाना चाहता। उपयोगितावाद का उसका एकमात्र उद्देश्य मानव[2] की उन्नति करना है।

२—बालक की स्वाभाविक रुचि का आधार :—

प्रयोगवादी के अनुसार पाठ्यक्रम का यह दूसरा सिद्धान्त माना जा-सकता है। इसके अनुसार पाठ्यक्रम की रचना बालक की विभिन्न विकासावस्था तथा अभिरुचियों के अनुसार करना चाहिए। उदाहरणार्थ; प्रारम्भ में बालक बातचीत, रचना तथा कलात्मक क्रियाओं में अधिक रुचि दिखलाता है। अतः प्रारम्भिक कक्षाओं में सम्वाद, पठन, लेखन, गणना, प्रकृति-अध्ययन, हस्तकार्य तथा चित्रकला को स्थान देना चाहिए।

३—बालक की क्रियाओं और अनुभवों का आधार :—

इस सिद्धान्त के अनुसार शिक्षण एक क्रियाशील प्रक्रिया है, न कि केवल विभिन्न विषयों का सीखना। अतः पाठ्यक्रम में प्रयोगवादी साधारण विषयों के अतिरिक्त सामाजिक, स्वतन्त्र तथा साभिप्राय क्रियाओं को भी स्थान देना चाहता है। स्कूल में उन क्रियाओं का भी चलना आवश्यक है जो समाज में विविध आवश्यकताओं के अनुसार चला करती हैं। यदि पाठ्यक्रम का आयोजन इस उद्देश्य के अनुसार किया जा सका तो बालक में निश्चय ही नैतिक तत्वों और आत्मनिर्भरता का विकास होगा और उसे नागरिकता की उत्तम शिक्षा मिलेगी।

४—संघटन का आधार :—

इस सिद्धान्त के अनुसार प्रयोगवादी ज्ञान तथा कौशल में एक संघटन स्थापित करना चाहता है। यदि पाठ्यक्रम विभिन्न विषयों के रूप में विभाजित कर दिया गया तो संघटन के उद्देश्य की पूर्ति न होगी अर्थात्

1. Realities of life. 2. To elevate the humanity.

तब ज्ञान और कौशल में एक आवश्यक सामञ्जस्य न स्थापित हो सकेगा। इससे यह सारांश न निकालना चाहिए कि प्रयोगवाद के अनुसार पाठ्यक्रम को विभिन्न विषयों में विभाजित नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे भी मानते हैं कि पाठ्यक्रम को विषयों में विभाजन करना लाभप्रद है। प्रयोगवादियों का इस सम्बन्ध में केवल यह कहना है कि विभिन्न विषयों में एक दृढ़ पार्थक्य स्थापित करना शिक्षा के उद्देश्य के हित में घातक है। विभिन्न पाठ्य-विषय एक ही ज्ञान रूपी वृक्ष की विभिन्न शाखायें हैं। अतः उनमें एक परस्पर[1]-सम्बन्ध का समझ सकना अत्यन्त आवश्यक है। इस परस्पर-सम्बन्ध को समझने से ही ज्ञान और कौशल में 'अन्ततोगत्वा' एक आवश्यक सामञ्जस्य स्थापित हो सकता है।

प्रयोगवाद के अनुसार शिक्षण-सिद्धान्त[2]

शिक्षण-सिद्धान्त के क्षेत्र में प्रयोगवाद की देन बहुत है। आजकल के प्रायः सभी स्कूल इन देनों से बड़े ही प्रभावित हैं। प्रयोगवाद के अनुसार अध्यापक को सदैव प्रयोगों में रत रहना चाहिए। अध्यापक को पूर्व-निर्धारित सिद्धान्त तथा प्रचलित परिपाटी पर ही चलने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। सर्वप्रथम उसे वास्तविक जीवन की परिस्थितियों की परीक्षा कर तदनुसार किसी शिक्षण-सिद्धान्त की व्यावहारिकता की परख करनी चाहिए। सर्व प्रथम प्रयोगवाद बालक के जीवन तथा उसकी इच्छाओं और उद्देश्यों में एक सम्बन्ध स्थापित कर लेना चाहता है। इस सम्बन्ध के आधार पर शिक्षण-प्रक्रिया को प्रयोजनात्मक[3] बनाना चाहिए। शिक्षण-प्रक्रिया ऐसी हो कि उससे बालक के सामयिक उद्देश्यों की पूर्ति इस प्रकार की जाए कि आगामी समस्याओं के सुलझाने के लिए भी वह सामर्थ्य पाता चले। अतः शिक्षण-पद्धति में साभिप्राय क्रियाओं का समावेश अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा होने पर बालक के लिए शिक्षा बड़ी रुचिकर हो जायगी और वे सरलता से आवश्यक शिक्षा ग्रहण करने में सफल होंगे।

1. Correlation. 2 Principle of Teaching according to Pragmatism. 3. Purposivism.

प्रयोगवादी 'सिद्धान्त'[1] और 'प्रयोग' में एक दृढ़ सम्बन्ध देखना चाहता है। अतः बालक की शिक्षा में क्रियाशीलता को वह प्रधान स्थान देना चाहता है। उसके अनुसार बालक अपने अनुभवों द्वारा शीघ्र ही शिक्षा ग्रहण कर लेता है। आत्मानुभव को 'प्रयोगवादी' बालक के शिक्षा-क्रम में प्रमुख स्थान देना चाहता है, परन्तु यह याद रखना है कि इस आत्मानुभव का जीवन की वास्तविक परिस्थितियों तथा उनकी समस्याओं से घनिष्ठ सम्बन्ध होना अत्यन्त आवश्यक है।

प्रयोगवाद शिक्षण-प्रक्रिया के संगठन पर बल देता है। मनुष्य का मस्तिष्क संगठित रूप में काम करता है; अतः प्रयोगवाद बालक के अनुभवों के संगठन में दृढ़ विश्वास रखता है। इस संगठन का तात्पर्य यह है कि पढ़ाये जाने वाले विभिन्न विषयों में एक समन्वय का स्थापित होना आवश्यक है। यह समन्वय साभिप्राय क्रियाओं द्वारा ही सम्भव हो सकता है। यदि समस्त क्रियाओं में एक ही अभिप्राय की उपस्थिति बालक को समझाई जा सके तो इस समन्वय का आभास उसे सरलता से दिया जा सकता है, और इस प्रकार शिक्षण के विभिन्न रूपों में एक सम्बद्धता दिखलाई पड़ेगी। इस सम्बद्धता के विचारधारा के सामने आधुनिक परीक्षा-प्रणाली तथा विशेषज्ञ-शिक्षकों का स्थान प्रयोगवाद की दृष्टि में निर्बल पड़ जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रयोगवाद व्यावहारिकता पर बल देता है। इस बल के फलस्वरूप प्रयोगवाद ने प्रॉजेक्ट[2]-मेथड या अभिक्षेप पद्धति का प्रतिपादन किया है। आगे इस पद्धति के विवेचन के लिए एक पूरा अध्याय ही दिया गया है। अतः यहाँ पर केवल इतना ही कहना पर्याप्त जान पड़ता है कि इस पद्धति के अनुसार स्कूल, शिक्षण-पद्धति तथा उपकरण और पाठ्यक्रम की व्यवस्था स्वयं बालक के दृष्टिकोण से की जाती है।

प्रयोगवाद और विनय की समस्या

विनय की समस्या[3] के संबंध में प्रयोगवाद सामाजिक दृष्टिकोण

1. Principles and Practice. 2. Project Method. 3. The Problem of Discipline.

४

अपनाता है। प्रयोगवाद का विश्वास है कि स्वतंत्र, साभिप्राय, सुखद तथा सामूहिक क्रियाओं से एक सामाजिक वातावरण का सृजन होता है। इन क्रियाओं से बालकों में स्वतः आत्म-नियंत्रण की शक्ति प्राप्त होती है। इनसे उन्हें नैतिकता और चरित्र-निर्माण की अनुपम शिक्षा प्राप्त होती है। ऐसी स्थिति में स्कूल को विनय की समस्या का सामना ही न करना होगा।

प्रयोगवादी शिक्षकों की देन[1]

विलियम जेम्स[2]—

ऊपर यह संकेत किया जा चुका है कि प्रयोगवाद ने संसार भर के शिक्षा-सिद्धान्तों और प्रक्रियाओं को प्रभावित किया है। प्रयोगवादी शिक्षकों में विलियम जेम्स[2] और जॉन डीवी[3], के नाम प्रमुख हैं। जेम्स विज्ञान और धर्म में एक समन्वय देखना चाहता है। इस समन्वय को प्राप्त करने के लिए उसने प्रयोगवाद का सहारा लिया और प्रयोगवाद को ही उसने शिक्षा की उत्तम नींव समझा। उसने मानसिक क्रियाशीलता[4] के क्रियात्मक स्वरूप पर बल दिया और ज्ञान को[5] साधन के रूप में स्वीकार किया। जेम्स का विश्वास है कि मस्तिष्क को सदा सुन्दर-भद्दा, अच्छे-बुरे, ठीक-गलत तथा सत्य-असत्य में चुनाव करना होता है। मनुष्य का चुनाव अच्छा अथवा बुरा हुआ यह चुनाव के फल पर निर्भर करता है। जेम्स मनुष्य को एक व्यावहारिक प्राणी मानता है और उसके मस्तिष्क का प्रधान कार्य सांसारिक जीवन में उसे व्यवस्थित करना है। जेम्स की शिक्षा-सम्बन्धी कुछ कृतियाँ सदैव अमर रहेंगी। जेम्स से प्रेरणा लेकर डीवी ने उसके सिद्धान्त का और आगे प्रतिपादन किया।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

प्रयोगवादी विचारधारा

चिरन्तन, पूर्वनिश्चित तथा प्रचलित आदर्शों में विश्वास नहीं।

---

1. Contributions of Pragmatic Educators. 2. William James (1842-1910) 3. John Dewey (1859-1952) 4. Functional nature of mental activity. 5. Accepted knowledge as an instrument.

पूर्वनिर्धारित मान्यता के अनुसार चलना विकास के लिए घातक। व्यक्ति को स्वयं मान्यताओं का निर्धारण करना। सुखद निष्कर्ष ही सत्य है। सामयिक परिस्थितियों द्वारा विचारों और भावों में परिवर्तन।

व्यक्तिवाद में दृढ़ विश्वास। अतः शिक्षा के क्रम में बालक के अध्ययन पर विशेष बल।

शिक्षा में प्रयोगवाद

जेम्स और डीवी प्रमुख प्रवर्तक। ज्ञान के लिए ज्ञानार्जन गलत। मान्यताओं की अनुभूति बालक को स्वयं करना। प्रायः 'शिक्षा' दर्शन का क्रियात्मक रूप ; पर शिक्षा-क्रिया से दर्शन का निर्माण।

प्रयोगवाद और शिक्षा के उद्देश्य

उद्देश्य का निर्धारण मनुष्य के अनुभवों के आधार पर। उत्तम आदर्शों की रचना का उत्तरदायित्व स्वयं बालक पर। वाह्य प्रभुत्व और प्रतिमानों का बालक पर लादना गलत। बालक को स्वतन्त्र रखना।

प्रयोगवाद के अनुसार पाठ्यक्रम का सिद्धान्त

(१) उपयोगिता का आधार

बालक को उपयोगी ही अनुभव देना। वर्तमान और भावी आवश्यताओं की पूर्ति के हेतु आवश्यक ज्ञान और कौशल। व्यावसायिक शिक्षा को भी समुचित स्थान।

(२) बालक के स्वाभाविक रुचि का आधार.

(३) बालक की क्रियाओं और अनुभवों का आधार

(४) संघटन का आधार

ज्ञान और कौशल में एक संघटन आवश्यक। विभिन्न विषयों में परस्पर-सम्बन्ध स्थापित करना।

प्रयोगवाद के अनुसार शिक्षण-सिद्धान्त

अध्यापक को प्रयोगों में रत रहना। शिक्षण-प्रक्रिया को प्रयोजनात्मक

बनाना। शिक्षण-पद्धति में साभिप्राय क्रियाओं का समावेश। ऐसा होने पर शिक्षा बालक के लिए रुचिकर।

सिद्धान्त और प्रयोग में एक दृढ़ सम्बन्ध। आत्मानुभव को शिक्षाक्रम में प्रमुख स्थान। इस आत्मानुभव का जीवन की वास्तविक परिस्थितियों से घनिष्ठ सम्बन्ध होना आवश्यक।

व्यावहारिकता पर बल। प्रॉजेक्ट पद्धति।

प्रयोगवाद और विनय की समस्या

सामाजिक दृष्टिकोण, स्वतन्त्र, साभिप्राय, सुखद तथा सामूहिक क्रियाओं से सामाजिक वातावरण का सृजन। इन क्रियाओं से बालकों में आत्म-नियन्त्रण की शक्ति स्वतः।

प्रयोगवादी शिक्षकों की देन

विलयम जेम्स और जॉन डीवी प्रमुख।

विलयम जेम्स—

विज्ञान और धर्म में एक समन्वय प्राप्त करने के लिए प्रयोगवाद का सहारा लिया। प्रयोगवाद को शिक्षा की उत्तम नींव समझा। ज्ञान साधन मात्र। मनुष्य व्यावहारिक प्राणी।

डा० जॉन डीवी[1] (१८५९-१९५२)

डीवी संयुक्तराष्ट्र अमेरिका का वर्तमान युग में सबसे बड़ा दार्शनिक और प्रयोगवाद के प्रधान प्रतिपादकों में माना जाता है। उसके शिक्षा सिद्धान्तों का प्रभाव केवल अमेरिका पर ही नहीं, वरन् संसार के अधिकांश सभ्य देशों पर पड़ा है। सन् १८५६ ई० में वरमाण्ट के बरलिङ्गटन नगर में डीवी का जन्म हुआ था। वरमॉण्ट और जॉन हॉपकिन्स विश्व विद्यालयों में उसने शिक्षा प्राप्त की। सन् १६०३ ई० तक उसने मिशीगन और शिकागो विश्वविद्यालयों में अध्यापन का कार्य किया। कोलम्बिया विश्वविद्यालय, न्यूयार्क ने उसे १६०४ में दर्शन-शास्त्र का प्रोफेसर नियुक्त किया। इस स्थान पर उसने अपने शास्त्रीय जीवन का अधिकांश समय व्यतीत किया। डीवी के शिष्यों ने उसकी प्रसिद्धि विदेशों में दूर-दूर तक फैला दी है। पेस्तालॉज़ी के बाद कदाचित् किसी दूसरे शिक्षा-शास्त्री का संसार में इतना आदर नहीं हुआ है।

डीवी का दर्शन-शास्त्र[2]

पहले डीवी हीगेल[3] से बड़ा ही प्रभावित हुआ। किन्तु बाद में वह जेम्स और चार्ल्स पीयर्स[4] के सिद्धान्तों का अनुयायी होकर प्रयोगवाद के प्रतिपादन में प्रमुख भाग लिया। अतः डीवी को प्रयोगवादी कहा जाता है। डीवी के अनुसार दर्शनशास्त्र का उद्देश्य संसार को जानने से न होकर

1. Dr. John Dewey. 2. Philosophy of Dewey 3. Hegel, George Wilhelm Friedrich (1770-1831). 4. Peirce, C. S.

उसे 'नियन्त्रित करने' और 'सुधारने' से है, अर्थात् संसार के सुधार के लिए आवश्यक उपायों को बनाना दर्शन-शास्त्र का उत्तरदायित्व है। इस-उत्तरदायित्व के अनुसार दर्शनशास्त्र की विधि प्रयोगात्मक हो जाती है और इस विधि का उद्देश्य उन उपायों को खोजना है जिनसे मानव के सामाजिक और नैतिक समस्याओं का सुलझाव मिल सके। डीवी किसी वस्तु के स्थायित्व की कल्पना करना भ्रमात्मक समझता है, क्योंकि संसार और सारा मानव समाज ही परिवर्तनशील है। डीवी मानव की शक्ति में बड़ा विश्वास रखता है। अतः मानव के सुधार के लिए किसी दैवी शक्ति की कल्पना करना उसे पसन्द नहीं। उसका दृढ़ विश्वास है कि अपनी विविध समस्याओं का समाधान मानव स्वयं निकाल लेगा। डीवी के अनुसार इस समाधान की खोज में व्यक्ति को प्रयोगात्मक विधियों का सहारा लेना है, क्योंकि उसे अपने अनुभवों के आधार पर सीखना है। अतः व्यक्ति को अपनी 'रचनात्मक[1] बुद्धि' पर पूरा भरोसा रखना है। डीवी की धारणा है कि इस प्रकार का विचार दर्शन-शास्त्र को उपयोगितावाद[2] के स्तर पर लाकर उसे नीचे नहीं गिरा देगा। वस्तुतः इस प्रकार का विचार व्यक्ति के अनुभव की सम्भावनाओं को अधिक तर्कपूर्ण और प्रमाण-सिद्ध बना देगा, क्योंकि तब व्यक्ति अपने विचारों की दौड़ान में जीवन की वास्तविक समस्याओं को न भूलेगा।[3]

डीवी जीवन का कोई निश्चयात्मक उद्देश्य नहीं स्थिर करना चाहता। उसके मत में जीवन जल के प्रवाह के सदृश् है। यह परिवर्तनशील है। व्यक्ति की वर्तमान समस्यायें भूत की समस्याओं से भिन्न होती हैं। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि भविष्य की समस्याओं का रूप क्या होगा।

डीवी के अनुसार 'ज्ञान'[4] और 'अनुभव'[5] में विशेष अन्तर नहीं। ज्ञान के पहले अनुभव का होना आवश्यक है। अनुभव में किसी क्रियात्मक प्रवृत्ति या प्रयोजन का होना आवश्यक है। अपने अनुभव के सम्बन्ध में यदि व्यक्ति सदा यह समझने का प्रयत्न करता रहे कि विभिन्न वस्तुओं

1. Creative Intelligence. 2. Utilitarianism. 3. Dewey. J., Reconstruction In Philosophy, p. 122 4. Knowledgei 5. Experience.

का उपयोग क्या है तो उसका अनुभव सदा सार्थक होगा। सार्थक अनुभव को ही डीवी ज्ञान की संज्ञा देगा। अपने वातावरण से सम्बन्धित आवश्यकताओं, उद्देश्यों और इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए व्यक्ति जो कुछ अपने स्वभाव में सुसंगठित करता है वही ज्ञान है।[1]

डीवी किसी 'पूर्व निश्चित' सत्य[2] में विश्वास नहीं रखता। 'सत्य' अथवा 'वास्तविकता'[3] का रूप सदा एक सा नहीं था। डीवी के अनुसार सत्य अथवा वास्तविकता पर 'काल'[4] और 'स्थान'[5] का सदा प्रभाव पड़ा करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो आज के लिए सत्य है वह कल के लिए सत्य नहीं हो सकता और जो एक स्थान के लिए सत्य है वह दूसरे स्थान के लिए सत्य नहीं भी हो सकता। सत्य की परीक्षा प्रयोगवाद समय, स्थान और परिस्थिति की कसौटी पर करना चाहता है। जब तक कोई बात इस कसौटी पर खरी उतरती है तब तक वह सत्य है। जब कोई बात इस कसौटी पर ठीक-ठीक नहीं उतरती तब अर्थ यह होता है कि कोई अन्य बातें प्रतिद्वन्दी होकर उसके स्थान को लेने को तैयार हो गई हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सत्य सनातन नहीं है और न वह मानव के अनुभव के परे की वस्तु है।

आगे हम डीवी के शिक्षा-सम्बन्धी विचारों पर दृष्टिपात करेंगे।

डीवी का शिक्षा-दर्शन[6]

वर्तमान युग में डीवी प्रयोगवाद का सबसे बड़ा प्रतिपादक रहा है। डीवी ने जेम्स के दर्शन-शास्त्र की दूसरी परिभाषा दी है, और उसके शिक्षा-सिद्धान्तों को भी नये रास्ते पर पुनर्अनुप्राणित किया है। आज की परिवर्तनशील और जटिल वैज्ञानिक सभ्यता के लिए डीवी ने एक ऐसा शिक्षा-दर्शन दिया है जिसका बहुत से लोग समर्थन करते हैं। डीवी के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य ऐसी सामाजिक कुशलता[7] का विकास करना है जिससे व्यक्ति

---

1. Dewey, J. Democracy and Education, p. 400, Macmillan, New York, 1916.

2. Truth. 3. Reality. 4. Time. 5. Place. 6. Educational Philosophy of Dewey. .7 Development ot Social Efficiency.

जीवन की सार्वलौकिक क्रियाओं में स्वतन्त्र रूप से अपने तथा समाज हित के लिए भाग ले सके। उसका विश्वास है कि स्कूल के कार्यों में भाग लेने से शिक्षा के इस उद्देश की पूर्ति सम्भव है। एक आदर्श स्कूल वही है जो समाज का सभी अर्थ में प्रतिनिधित्व करता है। डीवी के अनुसार बालक के लिए शिक्षा जीवन है, न कि वह आगामी जीवन के लिए उसे तैयार करने की एक प्रक्रिया[1] है। अतः पाठ्यक्रम में वह बहुत सी व्यावहारिक बातों का समावेश करना चाहता है। डीवी बालक को 'एक विकसित[2] होता हुआ परिवर्तन शील व्यक्तित्व' मानता है। स्कूल एक ऐसा साधन है जो बालक के व्यक्तित्व-विकास में सहायक होता है। डीवी शिक्षा के मनोवैज्ञानिक और सामाजिक आधार पर बहुत अधिक बल देता है। अतः उसका शिक्षा-सिद्धान्त शिक्षा को मनोवैज्ञानिक और सामाजिक दृष्टिकोण देता है। डीवी के शिक्षा-दर्शन से हमें कई नये शिक्षा-शब्द मिले हैं, जैसे नई शिक्षा,[3] प्रगतिशील शिक्षा,[4] प्रॉजेक्ट मेथड या अभिक्षेप पद्धति, क्रियाशीलना कार्यक्रम,[5] अनुबन्धित अन्विति[6], आदि, आदि। नीचे हम शिक्षा-क्षेत्र में डीवी की कुछ देनों की ओर संक्षेप में संकेत करेंगे।

अपने जीवन के अन्तिम ४० वर्षों में डीवी ने शिक्षा-सम्बन्धी सैकड़ों लेख तथा बहुत सी पुस्तकें लिखीं। इनमें से कुछ प्रमुख के नाम नीचे दिये जा रहे हैं:—

१—इन्टरेस्ट ऐण्ड एफ़र्ट ऐज़ रिलेटेड टु विल-१८९६
२—द स्कूल ऐण्ड सोसाइटी—१८९९
३—द चाइल्ड ऐण्ड द करीक्यूलम—१९०२
४—हाऊ वी थिंक—१९१०
५—इन्टरेस्ट ऐण्ड एफ़र्ट इन एडूकेशन—१९१३
६—स्कूल्स ऑफ़ टूमॉरो—१९१५
७—डेमॉक्रसी ऐण्ड एडूकेशन—१९१६

---

1. Education for the Child is life rather than a mere preparation for life. 2. A growing changing personality. 3. New Education. 4. Progressive Education. 5. Activity Programme. 6. Integrated unit.

८—ह्यूमन नेचर ऐण्ड कॉन्डक्ट–१६२२
६—एक्सपीरियन्स ऐण्ड नेचर–१६२५
१०—द क्वेस्ट फ़ॉर सरटेनिटी–१६२६
११—सोर्सेज़ ऑव् ए साइन्स ऑव् एडूकेशन–१६२६

डीवी की धारणा है कि 'शिक्षा' समाज की सबसे महत्वपूर्ण क्रिया है। शिक्षा की अवहेलना करना समाज की उन्नति के लिए घातक होगा। समाज के उत्तरोत्तर विकास के लिए सुसंगठित शिक्षा का आयोजन आवश्यक है। शिक्षा एक ऐसी क्रिया है जिससे सभ्यता की रक्षा करना ही नहीं वरन् विकास करना भी सम्भव होता है। 'मानव जाति' के उद्देश्य पालन तथा समाज की विविध क्रियाओं में व्यक्ति का भाग लेना आवश्यक। व्यक्ति यह भाग सफलतापूर्वक ले सके यही शिक्षा का कार्य है। डीवी शिक्षा को 'अनुभव[1] का पुनर्निर्माण' समझता है और इसके द्वारा सामाजिक कार्यों में भाग लेने के लिये व्यक्ति की निपुणता वह बढ़ाना चाहता है। डीवी ने शिक्षा की परिभाषा को बार-बार दोहराया है। डीवी कहता है कि हम सब लोगों का अनुभव प्रतिदिन ही नहीं, वरन् प्रतिक्षण बदला करता है। हमारे सामने नई-नई परिस्थितियाँ बहुधा आया करती हैं। ऐसी समस्यायें आती रहती हैं जिनके समाधान के क्रम में हमें उपस्थित वैकल्पिक[2] वस्तुओं में से किसी ठीक वस्तु का चुनाव करना अवश्यक हो जाता है। इन सबका तात्पर्य यह है कि हमें सदैव पुनर्व्यवस्थापन[3] के लिए तैयार रहना अपेक्षित है। इस पुनर्व्यवस्थापन के क्रम में विभिन्न प्रकार के अनुभव व्यक्ति को प्राप्त होंगे। इस प्रकार व्यक्ति के अनुभव संशोधित और पुनर्संगठित होते रहेंगे। शिक्षा का तात्पर्य डीवी अनुभव के विकसित, परिवर्तित और संशोधित होने समझता है।

डीवी के अनुसार शिक्षा का यह दृष्टिकोण सभी प्राचीन तथा वर्तमान युग में प्रचलित शिक्षा-दृष्टिकोणों से अधिक उपयुक्त है, क्योंकि इस दृष्टिकोण के अनुसार शिक्षा तभी प्रारम्भ नहीं होती जब बालक स्कूल जाना

1. Reconstruction or Reconstitution of Experience. 2. Alternatives. 3 Readjustment.

प्रारम्भ करता हैं, वरन् शिक्षा तो उसके जन्म से ही प्रारम्भ हो जाती है और उसके जीवन भर चलती रहती है। दूसरे, इस दृष्टिकोण का अर्थ यह न होगा कि शिक्षा किसी भावी जीवन की तैयारी के लिये है, वरन् यह होगा कि शिक्षा तो स्वयं जीवन है।

शिक्षा का उद्देश्य

डीवी के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य[1] हर समय तात्कालिक होता है। यदि शिक्षा-सम्बन्धी प्रक्रिया उपयुक्त हुई तो शिक्षा का उद्देश्य सदैव पूरा होता रहेगा, क्योंकि तब बालक अपने अनुभवों को पुनर्संगठित करने में सफल होगा। इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य बालक के अनुभवों का पुनर्संगठन है, यह पुनर्संगठन वह सदैव करता रहेगा। अतः शिक्षा का उद्देश्य उसकी क्रिया अथवा अनुभव के साथ सदैव पूरा होता रहेगा। इस प्रकार बालक की क्रियाशीलता तथा अनुभव के साथ शिक्षा सदैव आगे बढ़ती रहेगी। डीवी शिक्षा से तात्पर्य उन उपकरणों[2] के आयोजन से समझता है जिससे व्यक्ति का विकास किसी भी उम्र में सुनिश्चित हो जाता है।

ऐसा कभी भी समय न आयगा जब कि व्यक्ति की सीखने की क्रिया रुक जाय। जब तक वातावरण में अपने को व्यवस्थित करने का प्रयत्न व्यक्ति करता रहेगा, जब तक वह नये-नये अनुभवों को प्राप्त करता रहेगा— शिक्षा चलती रहेगी। अतः शिक्षा का कोई अन्तिम उद्देश्य कभी निश्चित नहीं किया जा सकता। डीवी कहता है कि शिक्षक शिक्षा का जो कुछ उद्देश्य निर्धारित करेगा वह बालक के लिए उपयुक्त न होगा। शिक्षा का उद्देश्य तो बालक के स्वभाव तथा जीवन के आधार पर ही निर्धारित किया जा सकता है।

'शिक्षा' जीवन की एक प्रक्रिया[3]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि

---

1. Education has all the time an immediate end. 2. Hence education means the enterprise of supplying the conditions which insure growth, or adequacy of life, irrespective of age... from--*Democracy and Education*, p. 8, 9. New York, Macmillan, 1916.

3. Education a process of living.

डीवी के लिए 'शिक्षा' जीवन की एक ऐसी प्रक्रिया है जो कि तात्कालिक है और इससे किसी भविष्य की ओर संकेत नहीं मिलता। डीवी शिक्षा को "भावी जीवन के लिए तैयारी' के स्वरूप में मानने के लिए तैयार नहीं है। बालक को भविष्य का कुछ ज्ञान नहीं। वह वर्तमान में रहता है और वर्तमान में ही रहना चाहता है। वह प्रौढ़ व्यक्ति के भावी दृष्टिकोण को समझने में असमर्थ होता है। अतः उसके लिए शिक्षा उसके वर्तमान जीवन की प्रक्रिया होनी चाहिए।

शिक्षा-प्रक्रिया के दो आवश्यक अंग

डीवी के अनुसार शिक्षा के दो अंग हैं—मनोवैज्ञानिक[1] और सामाजिक[2]। मनोवैज्ञानिक अंग का तात्पर्य बालक तथा उसकी स्वाभाविक शक्तियों और मूलप्रवृत्तियों से है। सामाजिक अंग का तात्पर्य सामाजिक कार्यों, संस्थाओं तथा परम्पराओं से है।

मनोवैज्ञानिक या वैयक्तिक अंग—

शिक्षा की प्रक्रिया बालक की क्रियाशीलता से प्रारम्भ हो जाती है। शिक्षा की प्रक्रिया का आयोजन करने के पूर्व बालक की शक्तियों, रुचियों और आदतों का अच्छी प्रकार अध्ययन कर लेना चाहिए—इनमें परिवर्तन हुआ करता है,—अतः इन्हें सदैव समझने की चेष्टा होनी चाहिए, तभी बालक की शिक्षा सुचारु रूप से चलाई जा सकती है।

डीवी के अनुसार बालक की चार प्रधान मूलप्रवृत्तियाँ या रुचियाँ होती हैं—भाव-विनिमय तथा संवाद,[3] वस्तुओं के सम्बन्ध[4] में जिज्ञासा, रचना में[5] रुचि, और अपने सौन्दर्याभिव्यक्ति[6] में रुचि। इन चारों रुचियों को डीवी शिक्षा-प्रक्रिया का सबसे बड़ा प्रसाधन समझता है, क्योंकि इन्हीं से व्यक्ति में सभी प्रकार की क्रियाशीलतायें विकसित होती हैं।

सामाजिक अंग—

डीवी के अनुसार व्यक्ति को समाज से अलग की इकाई समझना

---

1. Psychological. 2. Social. 3 Interest in Conversation.
4. Interest in finding out things. 5. Interest in Construction.
6. Interest in Artistic Expression.

भूल है। व्यक्ति और समाज एक दूसरे पर आश्रित हैं। समाज बिना व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता और व्यक्ति बिना समाज का अस्तित्व ही मिट जायगा। व्यक्ति एक ऐसा प्राणी है जिसकी विभिन्न शक्तियाँ समाज के अन्य सदस्यों के साथ संघर्ष में आने पर विकसित होती हैं। समाज की विभिन्न गतियों के सम्पर्क में आकर यदि विकसित होने का उसे अवसर न मिले तो वह मानव न होकर पशु हो जायगा। अतः व्यक्ति की शिक्षा-प्रक्रिया में समाज का स्थान बड़ा ही महत्वपूर्ण है। यदि व्यक्ति की शिक्षा को सामाजिक संदर्भ न दी जाय तो उस शिक्षा का कोई मूल्य ही न होगा। सामाजिक संदर्भ में शिक्षा के आयोजन से बालक की स्वार्थ-प्रवृत्ति का यथोचित दमन हो जाता है और बालक सर्वहित में ही अपना हित समझने की प्रवृत्ति को अपना लेता है। अतः व्यक्ति के विकास का आयोजन हमें इस प्रकार करना है कि वह समाज के उद्देश्यों अर्थात् सर्वसाधारण के हित के लिए अपने को उत्सर्ग करने को तैयार हो जाय। इस ध्येय की पूर्ति के लिए ही डीवी स्कूल का संचालन अथवा संगठन करना चाहता है। इस उत्कृष्ट उद्देश्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करके डीवी ने 'समाज' तथा 'शिक्षा-क्षेत्र' की बड़ी भारी सेवा की है।

डीवी के अनुसार स्कूल का रूप

साधारणतः स्कूल का तात्पर्य उस स्थान से है जहाँ बालक ज्ञान प्राप्त करने जाया करते हैं। परन्तु डीवी स्कूल को सामाजिक 'जीवन का एक अत्यन्त आवश्यक अंग समझता है। स्कूल बिना समाज का काम चल ही नहीं सकता। स्कूल एक ऐसी सामाजिक संस्था है जहाँ ऐसे प्रसाधनों का आयोजन किया जाता है जिनसे बालक मानव जाति के सभी संक्रमित सम्पत्ति को इस प्रकार अपने में अपना ले कि सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति में वह अच्छी प्रकार सहायक हो सके। डीवी स्कूल को वर्तमान जीवन का प्रतिनिधि बनाना चाहता है। स्कूल में सामाजिक जीवन को सरल से सरल रूप में रखना चाहिए। यह तभी सम्भव होगा जब स्कूल को गृह-जीवन के आधार पर संगठित किया जाय। बालक जिन साधारण कार्यों और खेलों में घर में भाग लेता है उन्हीं खेलों और कार्यों का विकसित रूप स्कूल में

मिलना चाहिए। इस प्रकार बालक के लिए स्कूल घर का एक दूसरा रूप होना चाहिए। अतः बालक को स्कूल और घर के वातावरण में विशेष अन्तर नहीं दिखलाई पड़ना चाहिए। डीवी कहता है कि वर्तमान शिक्षा बहुत अंशों में असफल हो रही है, क्योंकि अभी तक स्कूल को समाज का एक छोटा रूप नहीं बनाया जा सका है।

प्रत्यक्ष अनुभव शिक्षा का आधार[1]

डीवी विज्ञान, साहित्य, इतिहास अथवा भूगोल आदि विषयों पर बालक की शिक्षा अधारित नहीं करना चाहता। वह बालक की स्वाभाविक क्रियाशीलता पर ही उसकी शिक्षा को आधारित करना चाहता है। विभिन्न विषयों का उपयोग यथावसर बालक की स्वाभाविक क्रियाशीलता के सम्बन्ध में ही होना चाहिए। विभिन्न विषयों का परस्पर-सम्बन्ध बालक के स्वाभाविक कार्यों के आधार पर ही निर्धारित करना चाहिए। बालक की रुचि तथा शक्ति के अनुसार उसकी क्रियाशीलता में यथोचित परिवर्तन लाने का प्रयास करना आवश्यक है।

पाठ्यक्रम[2]

स्पष्ट है कि डीवी की सहानुभूति प्रचलित पाठ्यक्रम से नहीं हो सकती। जो पाठ्ययक्रम ज्ञान को विभिन्न भाषाओं में विभाजित करता है उसका डीवी पक्षपाती नहीं है। डीवी के अनुसार बालक का मस्तिष्क[3] अपने अनुभवों को विभिन्न विभागों के रूप में संगठित नहीं करता, वरन् वह तो सबको एक इकाई में ही रखता है। बालक विभिन्न विषयों का परस्पर-सम्बन्ध अपनी रुचि, तात्कालिक समस्या तथा अपनी सामाजिक आवश्यकता के अनुसार जोड़ता है।[4] स्कूल के विषयों का सह-सम्बन्ध[5] का आधार विज्ञान, साहित्य, भूगोल अथवा इतिहास न होकर बालक की अपनी क्रियाशीलतायें होंगीं।[6] अतः स्कूल का कार्य विभिन्न विषयों के अध्यापन

---

1. Direct experience the basis of all method. 2. Curriculum. 3. *Dewey, John,* My Pedagogical Creed, Article III 4. Ibid, Aricle III 5. Correlation. 6. Dewey, John, Plan of Organisation of the University Primary School, (Privately Printed).

से न प्रारम्भ होकर उन क्रियाशीलताओं से आरम्भ होना चाहिए जिन्हें बालक बहुधा अपने घर में देखता है अथवा जो मानव जाति के विविध अनुभवों की ओर संकेत करती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि डीवी के अनुसार पाठ्यक्रम में बालक के सामाजिक जीवन तथा सामाजिक क्रियाओं की झलक होनी चाहिए। प्रारम्भिक स्कूल के पाठ्यक्रम का आधार डीवी बालक की चार प्रधान अभिरुचियों—अर्थात् भाव-विनिमय, जिज्ञासा, रचना तथा सौन्दर्याभिव्यक्ति को बनाना चाहता है। अतः प्रारम्भ में पाठ्यक्रम में पठन, लेखन, गणना, हस्तकार्य तथा चित्रकला को स्थान दिया जायगा।

पाठ्यक्रम के सहारे डीवी बालक के विवेक और तर्क की पुष्टि करना चाहता है। इसके लिए पाठ्यक्रम के विभिन्न विषय वह बालक के जीवन से चुनना चाहता है। डीवी के अनुसार प्रत्येक विषय का वर्तमान और भूत से सम्बन्ध होना चाहिए, परन्तु साथ ही प्रत्येक विषय की वर्तमान में उपयोगिता पर भी विशेष बल देना चाहिए।

विनय-स्थापन[1] की समस्या

डीवी प्रचलित विनय-स्थापन प्रणाली का विरोध करता है। उसके अनुसार सामाजिकता ही विनय-स्थापन के लिए सबसे अच्छा साधन है, अर्थात् विनय-स्थापन का आधार सामाजिक होना चाहिए। स्कूल में सहयोगात्मक और सुसम्बद्ध क्रियाओं के चलते रहने से विनय की समस्या स्वतः सुलझती रहेगी, क्योंकि सहयोगात्मक कार्य में भाग लेने से व्यक्ति में आत्म-नियन्त्रण की भावना का संचार होता है। इस आत्म-नियन्त्रण से चरित्र-निर्माण की शिक्षा मिलती है। यदि बालक के वातावरण की रचना इस प्रकार की जाय कि सहयोगात्मक क्रियाओं के आधार पर उसे सदा उपयोगी नवीन अनुभव मिलते रहें तो विनय की समस्या कभी उपस्थित होगी ही नहीं। ऐसा होने से व्यक्ति में सामाजिक गुणों, सामाजिक रुचियों तथा

1. The Problem of Discipline.

सामाजिक अभ्यासों का स्वतः विकास होगा। फलतः उसकी विविध आकांक्षायें सामाजिक रूप ही ग्रहण करेंगी।

बलपूर्वक बालक में आज्ञापालन, नियम, धैर्य तथा सहिष्णुता का भाव देना उसके नैतिक विकास के हित में घातक होगा। इन सब गुणों को स्वयं अपनाने के लिए बालक को विभिन्न अवसर देने चाहिए। डीवी का कहना है कि स्कूल में ऐसे सहयोगात्मक क्रियाओं का आयोजन करना चाहिए जिनसे बालक इन सब गुणों को स्वतः अपना ले।

डीवी तथा अन्य शिक्षक[1]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि डीवी मनुष्य के जीवन और उसके उद्देश्यों की व्याख्या सामाजिक दृष्टिकोण से करता है। डीवी प्राचीन परम्पराओं के स्थान पर विवेक को प्रधानता देना चाहता है, यद्यपि उनसे सीखने में उसे संकोच नहीं। शिक्षा देने के पूर्व डीवी बालक की रुचियों और शक्तियों के अध्ययन पर बल देता है। अध्यापक को इन सभी रुचियों पर ध्यान देते हुए बालक के विकास के लिए आवश्यक उपकरणों का आयोजन करना है। हरबार्ट भी 'रुचि' की बात करता है—परन्तु उसको 'बहुरुचि सिद्धान्त' में विशेषतः बौद्धिक रुचियों की ही प्रधानता है। डीवी की 'रुचि की परिधि' बहुत ही विस्तृत है। इसके अन्तर्गत डीवी सामाजिक, साहित्यिक तथा बौद्धिक आदि सभी रुचियों को रखता है।

डीवी अध्यापक को केवल निरीक्षक का स्थान देता है। बालक के व्यक्तित्व के विकास के लिए अध्यापक को आवश्यक उपकरणों का केवल आयोजन कर देना है। यहाँ डीवी, रूसो और पेस्तालॉजी में कुछ समानता दिखलाई पड़ती है; परन्तु डीवी अधिक व्यावहारिक दिखलाई पड़ता है।

आलोचक डीवी को फ्रोबेल के शिक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्तों का मूलतः अनुयायी मानते हैं। फ्रोबेल बालक की शिक्षा को उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों, रुचियों और क्रियाशीलता के आधार पर संगठित करना चाहता

1. Dewey and other Educators.

हैं। फ्रोबेल को अस्वाभाविकता पसन्द न थी। वह बच्चों की शक्तियों का उपयोग उनके अनुकूल सामाजिक वातावरण में करना चाहता है। फ्रोबेल बालकों को सभी सामाजिक कार्यों के छोटे रूपों से परिचित करा देना चाहता है। कहना न होगा कि डीवी ने अपने शिक्षा-सिद्धान्तों में इन सभी विचारों का समावेश कर लिया है। डीवी की धारणानुसार स्कूल फ्रोबेल के किण्डर-गार्टेन का विकसित ही रूप जान पड़ता है। शिक्षा से डीवी का प्रधान उद्देश्य सामाजिक योग्यता का है। ज्ञान देना अथवा व्यावसायिक शिक्षा देना उसका उद्देश्य नहीं है। डीवी के स्कूल में बालक की विभिन्न स्वाभाविक क्रियाशीलताओं से सम्बन्धित जो आवश्यकतायें और समस्यायें उपस्थित होती हैं उनके समाधान में कुछ प्रधान स्कूल-विषयों को स्वतः स्थान मिल जाता है। स्पष्ट है कि फ्रोबेल और डीवी के शिक्षा-सिद्धान्तों में पर्याप्त समानता दिखलाई पड़ती है।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

डीवी का दर्शन-शास्त्र

प्रयोगवादी। दर्शन-शास्त्र का उद्देश्य संसार को नियन्त्रित करने और सुधारने से है। संसार और मानव समाज परिवर्तनशील। मानव की शक्ति में डीवी का दृढ़ विश्वास। अपनी समस्याओं के सुलझाव में प्रयोगात्मक विधियों का सहारा लेना। अपने अनुभवों के आधार पर सीखना। अपनी रचनात्मक बुद्धि पर भरोसा रखना।

जीवन का कोई निश्चयात्मक उद्देश्य नहीं। जीवन परिवर्तनशील।

ज्ञान और अनुभव में विशेष अन्तर नहीं। अनुभव में प्रयोजन का होना आवश्यक। सार्थक अनुभव ही ज्ञान।

पूर्व निश्चित सत्य में डीवी का विश्वास नहीं। सत्य का रूप सदा एकसा नहीं, इस पर 'काल' और स्थान का प्रभाव। सत्य सनातन नहीं हैं और न वह मानव के अनुभव के परे हैं।

डीवी का शिक्षा-दर्शन

शिक्षा का उद्देश्य सामाजिक कुशलता का विकास करना। स्कूल को

समाज का प्रतिनिधित्व करना। शिक्षा जीवन है। पाठ्यक्रम में व्यावहारिक बातों का समावेश। स्कूल बालक के व्यक्तित्व-विकास में साधन। शिक्षा का मनोवैज्ञानिक और सामाजिक आधार।

शिक्षा समाज की सबसे महत्वपूर्ण क्रिया। शिक्षा से सभ्यता का विकास शिक्षा अनुभव का पुनर्निर्माण। व्यक्ति को सदैव पुनर्व्यवस्थापन के लिए तैयार रहना। शिक्षा का तात्पर्य अनुभव के विकसित, परिवर्तित और संशोधित होने से।

शिक्षा बालक के जन्म से ही प्रारम्भ और जीवन भर चलती रहती है।

शिक्षा का उद्देश्य

तात्कालिक। बालक के अनुभवों का पुनर्संगठन। उन उपकरणों का आयोजन जिससे व्यक्ति का आयोजन सुनिश्चित हो जाता है।

शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य कभी निश्चित नहीं हो सकता, क्योंकि नये अनुभवों के पाने की कोई सीमा नहीं। शिक्षा का उद्देश्य बालक के स्वभाव के आधार पर।

शिक्षा जीवन की एक प्रक्रिया

शिक्षा भावी जीवन की तैयारी नहीं, वरन् शिक्षा स्वयं जीवन है।

शिक्षा-प्रक्रिया के दो आवश्यक अंग

मनोवैज्ञानिक अंग—

बालक की स्वाभाविक शक्तियाँ और मूलप्रवृत्तियाँ शिक्षा-प्रक्रिया के प्रधान साधन।

सामाजिक अंग—

व्यक्ति सामाजिक प्राणी। अतः शिक्षा-प्रक्रिया में समाज का भारी हाथ। सामाजिक संदर्भ में ही शिक्षा का मूल्य।

डीवी के अनुसार स्कूल का रूप

स्कूल सामाजिक जीवन का अंग। स्कूल द्वारा मानव जाति की संक-

मित सम्पत्ति को बालक अपने व्यक्तित्व में अपनाता है। स्कूल को गृह-जीवन के आधार पर संगठित करना। बालक के लिए स्कूल और घर के वातावरण में विशेष अन्तर नहीं। स्कूल समाज का प्रतिनिधि।

प्रत्यक्ष अनुभव शिक्षा का आधार

विभिन्न विषयों का उपयोग यथावसर बालक की स्वाभाविक क्रियाशीलता के सम्बन्ध में। स्वाभाविक क्रियाशीलता पर शिक्षा आधारित।

पाठ्यक्रम

विभिन्न विषयों के सहसम्बन्ध का आधार बालक की क्रियाशीलतायें। पाठ्यक्रम में विभिन्न विषय न होकर बालक की स्वाभाविक क्रियाशीलतायें।

पाठ्यक्रम में बालक के सामाजिक जीवन और सामाजिक क्रियाओं की झलक। प्रत्येक विषय का वर्तमान और भूत से सम्बन्ध।

विनय-स्थापन की समस्या

सामाजिकता विनय-स्थापन का सर्वोत्तम साधन। स्कूल मे सहयोगात्मक और सुसम्बद्ध क्रियाओं के चलते रहने से विनय-समस्या का स्वतः समाधान। उपयोगी अनुभव मिलते रहने से विनय की समस्या नहीं आती। विभिन्न गुणों को अपनाने के लिए बालक को अवसर देना।

डीवी तथा अन्य शिक्षक

डीवी और हरबार्ट—डीवी के 'रुचि-सिद्धान्त' की परिधि सामाजिक, साहित्यिक और बौद्धिक। हरबार्ट के 'रुचि-सिद्धान्त' की परिधि केवल बौद्धिक ही।

डीवी, रूसो, और पेस्तालॉज़ी—तीनों शिक्षक को पथ-प्रदर्शक मानते हैं—परन्तु डीवी अधिक व्यावहारिक।

डीवी और फ़्रोबेल—शिक्षा-सिद्धान्त के कुछ अर्थों में डीवी मूलतः फ़्रोबेल का अनुयायी—दोनों बालक की शिक्षा का संगठन उसके स्वाभाविक रुचि के अनुसार करना चाहते हैं।

८

वर्तमान जगत की समस्यायें और शिक्षा[1]

विभिन्न वैज्ञानिक आविष्कारों ने वर्तमान युग को एक ऐसा कलेवर दे रक्खा है जो भूतकाल के सभी उदाहरणों से भिन्न दिखलाई पड़ता है। आज का हमारा युग बड़ा ही परिवर्तनशील हो चला है और जान पड़ता है कि परिवर्तन की गति सदैव अविरल रहेगी। मानव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में जो आये हुए और आते हुए परिवर्तन जान पड़ते हैं उनका सफलतापूर्वक सामना करने के लिए अभी मानव तैयार नहीं है। जीविकोपार्जन के साधन बढ़ते जा रहे हैं, तथापि जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग बेकारी से परेशान हो रहा है। आर्थिक परस्परतन्त्रता[2] के कारण पहले का वैयक्तिक स्वातन्त्र्य जाता दिखलाई पड़ता है। साधारण जनता भी अपने दैनिक जीवन के स्तर को आर्थिक दृष्टि में और ऊपर उठाने के लिए प्रयत्नशील हो चली है। महिलायें एक नई सामाजिक और आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए गतिशील दिखलाई पड़ती हैं। पहले की तुलना में उनमें असन्तोष की भावना बढ़ती हुई जान पड़ती है। 'वैयक्तिक[3] उद्यमों और कार्यों, पर सरकार अपना नियन्त्रण बढ़ाती जा रही है और हर व्यावसायिक क्षेत्र अथवा उद्योग-धन्धों पर राष्ट्रीयकरण[4] की छाप पड़ती जा रही है। नई सामाजिक व्यवस्था के ये कतिपय लक्षण शिक्षा के लिए नई-नई समस्यायें उपस्थित कर रहे हैं।

---

1. The Modern World Problems and Education. 2. Economic Interdependence. 3. Private enterprise and activities. 4. Nationalisation.

उपर्युक्त सामाजिक परिवर्तनों द्वारा शिक्षा का प्रभावित होना एकदम स्वाभाविक है। फ़लतः आज के शिक्षा-दर्शन पर वर्तमान परिवर्तनशील संसार की पूरी छाप है। अतः आश्चर्य नहीं कि शिक्षालयों के पाठ्यक्रम में 'सामाजिक[1] विज्ञान' अब पहले से अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान पाने लगे हैं। संकुचित[2] व्यावसायिक शिक्षण के स्थान पर स्कूलों में 'साधारण सांस्कृतिक[3] शिक्षण' पर अब अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। प्रौढ़[4] शिक्षा को अब शिक्षा व्यवस्था में अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। बालिकाओं की शिक्षा को उनके स्वभाव और जीवन में उत्तरदायित्व के अनुकूल बनाने की माँग की जा रही है। शिक्षा को अब ऐसी बनाने की माँग की गई है कि व्यक्ति अपने अवकाश-काल[5] का सदुपयोग करने में समर्थ हो सके। गणतन्त्रात्मक सिद्धान्तों के प्रचारस्वरूप व्यक्ति को अब यह जानना है कि वह अपने व्यवहार में कैसी उदारता और सहिष्णुता लाये कि देश में स्थापित जनतन्त्र सफल हो सके और सार्वजनिक कल्याण की ओर समुचित ध्यान दिया जा सके। फलतः सरकार के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों-सम्बन्धी अब नये-नये विचारों का प्रादुर्भाव हो चला है। अतः जन साधारण को इन नये विचारों से अवगत होना अनिवार्य है, अन्यथा समाज जर्जरित होकर अधःपतन की ओर झुकता जायगा। सरकारी कार्यों के सम्पादन का उत्तरदायित्व जिनके ऊपर है उन्हें भी अब एक नई शिक्षा की आवश्यकता है जिससे जनता के हित को सदा वे अपने हृदय में रक्खें। इन सब समस्याओं के निराकरण के लिए हमें आज एक व्यावहारिक[6] शिक्षा-दर्शन की आवश्यकता है।

वर्तमान युग की यह माँग है कि शिक्षा का सारा ध्यान जीवन[7] की वास्तविकताओं की ओर जाना अत्यन्त आवश्यक है और अब यह देखना है कि मानव वह भी शिक्षा पा सके जिससे वह अपनी दैनिक आवश्यकताओं को भली-भाँति पूरा करने में समर्थ हो सके। शिक्षा के इस उद्देश्य

1. Social Sciences. 2. Narrow Vocational Training. 3. General Cultural Training. 4. Adult Education. 5. Worthy use of leisure. 6. Practical Philosophy of Education. 7. Realities of Life.

को पूरा करने के लिए गत पृष्ठों में वर्णित सभी शिक्षा-दर्शनों से हमें कुछ न कुछ सहायता लेनी पड़ेगी। इन विभिन्न शिक्षा-दर्शनों में प्रत्येक के जो अच्छे-अच्छे विचार हैं उनसे हमें लाभ उठाना होगा। किसी भी शिक्षा-दर्शन की हम सर्वथा अवहेलना नहीं कर सकते। शिक्षा के कर्णधारों को यह समझना है कि विभिन्न शिक्षा-दर्शनों के किन-किन अंगों से उन्हें किस-किस क्षेत्र में अधिक सहायता मिल सकती है। गत पृष्ठों में प्रधान शिक्षा-दर्शनों के स्वरूप की ओर संकेत किया जा चुका है। जो जिज्ञासु हैं वे अपने लिए आवश्यक उपकरणों को उनमें से स्वयं चुन लेने में समर्थ होंगे—ऐसा विश्वास किया जा रहा है।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

वैज्ञानिक उन्नति के कारण 'वर्तमान' भूतकाल से एकदम भिन्न। हमारा युग परिवर्तनशील। आये और आते हुए परिवर्तनों का सामना करने के लिए मानव अभी तैयार नहीं। जीविकोपार्जन के अनेक साधन, परन्तु बेकारी का बढ़ना। आर्थिक परस्परतन्त्रता। जीवन स्तर को उठाने की माँग। महिलायें अपने अधिकार प्राप्ति के लिए गतिशील। उद्योग-धन्धों का राष्ट्रीयकरण। नई सामाजिक अवस्था के ये लक्षण शिक्षा के लिए नई समस्यायें उपस्थित करते हैं।

आज के शिक्षा-दर्शन पर वर्तमान परिवर्तनशील संसार की पूरी छाप। फलतः पाठ्यक्रम से सामाजिक विज्ञानों को पहले से अधिक स्थान। सांस्कृतिक शिक्षण पर अधिक ध्यान। प्रौढ़ की शिक्षा की व्यवस्था। बालिकाओं की शिक्षा उनके कर्तव्यों के अनुकूल। अवकाश के सदुपयोग के लिए शिक्षा। नागरिक के कर्तव्यों और अधिकारों में शिक्षा। व्यावहारिक शिक्षा दर्शन की आवश्यकता।

शिक्षा का ध्यान जीवन की वास्तविकताओं की ओर जाना। प्रत्येक शिक्षा-दर्शन में कुछ न कुछ अच्छी बातें।

१

शिक्षा और उसका अर्थ

१—शिक्षा क्या है ?[1]

शिक्षा-क्षेत्र में शिक्षा के उद्देश्य का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इस क्षेत्र में जो कुछ परिश्रम किया जाता है वह उद्देश्य ही द्वारा निर्धारित किया जाता है। शिक्षा के उद्देश्य के सम्बन्ध में किसी मतैक्य का आना यदि असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन है, क्योंकि इसके निर्धारण में व्यक्ति अथवा जाति के जीवन[2]-दर्शन का प्रभाव पड़ता है। एक व्यक्ति अथवा जाति के जीवन-दर्शन में विभेद का पाया जाना एकदम स्वाभाविक है। अतः शिक्षा के उद्देश्य में मतैक्य का न मिलना आश्चर्यजनक नहीं। शिक्षा के उद्देश्यों को ठीक-ठीक समझने के लिए नीचे पहले हम यह समझने का प्रयत्न करेंगे कि शिक्षा और उसका अर्थ क्या है। इसे समझने के क्रम में शिक्षा का उद्देश्य स्वतः निखरता जायगा। इसके बाद दूसरे अध्याय में हम अलग से शिक्षा के उद्देश्य का विवेचन करेंगे।

शिक्षक द्वारा ज्ञान देना[3]

शिक्षक द्वारा ज्ञान दिये जाने का उद्देश्य बहुत ही पुराना है। इस उद्देश्य के अनुसार यह विश्वास किया जाता था कि शिक्षा[4]-प्रक्रिया में शिक्षार्थी के मस्तिष्क को ज्ञान से भरना है। अज्ञान मस्तिष्क को खाली मस्तिष्क समझा जाता था। इस खाली मस्तिष्क में ज्ञान को बड़ी सावधानी

1. What is Education. 2. Philosophy of Life. 3. Imparting Knowledge by the Teacher. 4. Process of Education.

के साथ उसी तरह भरना है जैसे अन्नागार
जाता है। इस धारणा को मानने वाले शिक्षक
परिधि और शक्ति को बहुत छोटी समझते हैं।
ज्ञान के सारांश को अति छोटे तार्किक रूप में रखना
लिए पाठ्य-वस्तु के प्रमुख अंश सबसे महत्वपूर्ण हैं
मस्तिष्क में किसी प्रकार सजा देना ही उनका प्रधान उ
इस प्रकार की शिक्षा-क्रम में शिक्षक ही गतिशील रहता है
उससे प्राप्त ज्ञान को स्वीकार कर लेना है। छात्र जितना ही
होगा वह उतना ही अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकेगा और अन्त
के लिए उतना ही अधिक उसे याद रहेगा।

आलोचना—

यह सत्य है कि शिक्षा में ज्ञान का महत्वपूर्ण स्थान है, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि इसे हठात् अनिच्छुक छात्रों के मस्तिष्क में भरा जाय। सीखने वाले को स्वयं अपने अनुभव के आधार पर किसी ज्ञान को प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। शिक्षक को इस प्रकार शिक्षा देनी है कि उसके सहारे विद्यार्थी अपने गत अनुभव के उन अंशों का पुनर्स्मरण कर ले जिनकी सहायता से उपस्थित नई बातों की वह व्याख्या करेगा। यदि शिक्षण के इस मनोवैज्ञानिक क्रम पर ध्यान नहीं दिया जाता तो शिक्षक द्वारा बताई हुई बातों का विद्यार्थीगण बहुधा गलत अथवा अपूर्ण अर्थ लगायेंगे। इस प्रकार उनकी शिक्षा अधूरी होगी। वस्तुतः वास्तविक ज्ञान तो विद्यार्थी के पास अपने परिश्रम के द्वारा आ सकता है। उसे आई हुई बातों के परस्परसम्बन्ध को अपने गत अनुभव के सन्दर्भ में स्वयं समझने में समर्थ होना चाहिए। शिक्षक को केवल पथ-प्रदर्शक होना है और उसे बालकों को सीखने के लिए अनुप्रेरित करते रहना है।

मानसिक विनय के रूप में शिक्षा[1]

'मानसिक विनय प्राप्त करने के लिए शिक्षा का देना' शिक्षा का एक

1. Education as Mental Discipline.

६वीं शताब्दी तक बड़ा प्रचलित था। इसी
हरबार्ट तथा फ्रोबेल आदि शिक्षकों ने आवाज
के अनुसार पाठ्यवस्तु का निर्धारण जीवन की
धार पर न करके मानसिक[1] अभ्यास अथवा
ा जाता है; अर्थात् पढ़ाने के लिए किसी विषय के
जाता है कि उससे विभिन्न प्रकार की मानसिक शक्तियाँ
याशील होंगी। इसके लिए बालक को अत्यधिक परिश्रम
वस्तु को सीखने के लिए प्रेरणा दी जाती है, चाहे वह वस्तु
। ही अरुचिकर क्यों न लगे। कुछ विशिष्ट विषयों के सम्बन्ध
वश्वास किया जाता है कि उनसे मानसिक विनय अथवा मानसिक
ास भली-भाँति प्राप्त किया जा सकता है। उदाहरणार्थ; तर्कशक्ति के
कास के लिए गणित को तथा स्मृति के विकास के लिए कविता तथा कुछ
निरर्थक शब्दों को याद करना आवश्यक समझा जाता है। अतः बालक
को ये सब बातें तर्क तथा स्मृति-शक्ति के विकास के लिए पढ़ाई जायँगी, चाहे इन विषयों का सम्बन्ध उसके वास्तविक जीवन की आवश्यकताओं से भले ही न हो।

आलोचना—

उपर्युक्त सिद्धान्त शक्ति-मनोविज्ञान[2] पर आधारित है। शक्ति-मनोविज्ञान के अनुसार मस्तिष्क विभिन्न स्वतन्त्र शक्तियों—जैसे, तर्क, स्मृति तथा निर्णय आदि—का एक पुञ्ज है, और प्रत्येक को स्वतन्त्र अभ्यास द्वारा प्रौढ़ बनाया जा सकता है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही शक्ति-मनोविज्ञान की सार्थकता पर सन्देह किया जाने लगा और लगभग ३०-३५ वर्षों से तो इसको एकदम तिरस्कृत कर दिया गया है। अब इस धारणा पर विश्वास नहीं किया जाता है कि एक विषय में प्राप्त किया हुआ शिक्षण दूसरे विषयों में सहायक होगा। शिक्षण के स्थानान्तर[3] के सम्बन्ध में प्राचीन विचार अब गलत सिद्ध कर दिये गये हैं। अब प्रायः

1. Mental Exercise. 2. Faculty Psychology. 3. Transfer of Training.

सभी मनोवैज्ञानिक और शिक्षकों का एकम
के सम्बन्ध में ही शिक्षण का स्थानान्तर होता
कि साहित्य में प्राप्त किया हुआ शिक्षण इतिहास म
होगा जिस सीमा तक साहित्य और इतिहास में कु
हैं। शिक्षण के स्थानान्तर पर थार्नडाइक[2] तथा अन
अनेक परीक्षण किये हैं और उनकी धारणा है कि समान
में ही कुछ स्थानान्तर सम्भव होता है। शिक्षण में इस प्रकार
को 'समानतत्वों के[3] आधार पर स्थानान्तर' कहते हैं। इस प्र
है कि 'मानसिक विनय' के उद्देश्य से बालकों को किसी विषय क
जाना मनोवैज्ञानिक नहीं। दूसरे, इस विधि के सहारे व्यक्ति वर्तमा
की विभिन्न समस्याओं का सामना करने में समर्थ न होगा, जैसा कि हम
'वर्तमान युग की समस्यायें और शिक्षा' वाले भाग में संकेत किया है।

शिक्षा-सिद्धान्त में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण की आवश्यकता[4]

शिक्षा के सम्बन्ध में उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोण प्रौढ़ व्यक्ति की धारणा पर आधारित जान पड़ते हैं। उनमें बच्चों की स्वाभाविक रुचियों का अभाव जान पडता है। उनमें यह नहीं देखा गया है कि बालकगण वस्तुतः 'कैसे' सीखते हैं। आज की शिक्षा-जगत् में अब बालकों की रुचिओं पर ही प्रधान बल दिया जाता है। अब बालक की शिक्षा के विकास के तात्पर्य तथा स्वरूप का निर्धारण 'सीखने के[5] मनोविज्ञान, के आधार पर किया जाता है। अब शिक्षा के उद्देश्य-निर्धारण में व्यक्ति तथा समाज के परस्पर-सम्बन्धों पर विशेष ध्यान दिया जाता है, परन्तु यहाँ भी बालक की स्वाभाविक[6] प्रतिक्रियाओं को ही प्रधानता दी जाती है।

---

1. Identical Elements. 2. Thorndike, E. L. 3. Theory of Identical Elements. शिक्षण के स्थानान्तर के सम्बन्ध मे लेखक द्वारा रचित 'प्रयोगात्मक मनोविज्ञान,' अध्याय १६. आगरा बुक स्टोर, आगरा, १९५४—पढ़िये। 4. The Need of a Psychological Approach in Educational Theory. 5. Psychology of Learning. 6. Normal Reactions of Children.

ावश्यक है कि बालक की स्वाभाविक क्रिया-
ओं बाधा न उपस्थित की जाय। बालक के
समुचित सहायता देने का अर्थ उसे सुसंगठित
ा विरोधी नहीं बनाना है। यदि समाज में व्यक्ति को
इच्छाओं की पूर्ति का अवसर प्राप्त है तो उसका
विकास होता रहेगा और उसका जीवन सुखी भी होगा।
ाज का सुसंगठन व्यक्ति के सुखी जीवन पर ही निर्भर करता
है कि बालक के स्वाभाविक विकास में सहायता देकर हम
सुसंगठित समाज की नींव डालते हैं। कहना न होगा कि स्वाभाविक
ास में सहायता देने का यह अर्थ नहीं कि उसे मूलप्रवृत्तियों के
तर पर ही रहने दिया जाय; ऐसा करने पर तो वह पशुवत् हो जायगा। स्वाभाविक विकास का तात्पर्य यह है कि उसकी मूलप्रवृत्तियों का अवदमन[2] न करके यथासम्भव उसके शोधन[3] का प्रयत्न करना चाहिए। वस्तुतः व्यक्ति के स्वाभाविक विकास-क्रम में हमें उसकी व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों आवश्यकताओं पर ध्यान देना है। सामाजिक आवश्यकताओं पर ध्यान देने का तात्पर्य ही 'सुसंगठित समाज की नींव डालना' है। इस प्रकार बालक के स्वाभाविक विकास में योग देने से हम सामाजिकता के विरुद्ध कार्य नहीं करते।

शिक्षा समायोजन है[4]

मानव शिशु को वातावरण में अपने को व्यवस्थित करने में बड़ी ही कठिनाई होती है। अन्य जीवों की अपेक्षा उसका शैशव बहुत दिनों तक चलता रहता है और अपने अवयवों को दृढ़ता प्राप्त करने में उसे कई वर्ष लग जाते हैं। बहुत प्रारम्भ से ही उसके प्रयत्न का उद्देश्य अपने प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण पर नियन्त्रण प्राप्त करना होता है, जिससे उसकी इच्छाओं की पूर्ति होती रहे। थोड़े ही दिन बाद उसे

1. Organized social life. 2. लेखक द्वारा रचित "मनोविज्ञान और शिक्षा" अध्याय ६ और ७, प्रकाशक लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, द्वि० सं० १९५६। 3. Sublimation. 4. Education is Adjustment.

अनुमान हो जाता है कि वातावरण पर पूर्ण
सम्भव नहीं; और उसे भी अपने व्यवहार में सुधे
पहले तो व्यवहार में सुधार लाना उसे बड़ा ही खे
काम न चलते देख वह प्रयत्न करने लगता है। इस
उसमें ज्ञान,[1] कौशल,[2] तथा संवेगात्मक परिवर्तन[3] आने
सब उसके अनुभव[4] और सीखने[5] का फल होता है। इस --
सीखने को ही शिक्षा का नाम दिया जा सकता है और ऐसे
समायोजन अथवा व्यवस्थापन की संज्ञा दी जाती है।

मानव स्वभावतः अपने वातावरण से असन्तुष्ट रहता है और आराम तथा सुविधा के उपकरणों के बढ़ाने की चिन्ता में सदा लगा रहता है। इस चिन्ता के क्रम में वह अपने ज्ञान को सुसंगठित करता है और उसे बहुत सी नई-नई बातें मालूम होती हैं। फलतः उसके व्यवहार में भी बड़े-बड़े सुधार हो जाते हैं और वह असभ्य अवस्था से सभ्य अवस्था में आ जाता है। सभ्य अवस्था में आ जाना उसके समायोजन के प्रयत्न का सबसे बड़ा वांछित फल है।

समायोजन का तात्पर्य केवल अपने वातावरण के सम्बन्ध में ही नहीं होता, वरन् स्वयं अपने सम्बन्ध में भी होता है। जब व्यक्ति के अन्तःकरण का समुचित समायोजन नहीं हुआ रहता तो उसे सुख नहीं मिलता। तब मानो उसका सारा वातावरण ही उसे अरुचिकर लगता है। उदाहरणार्थ शैशव[6] में बच्चे का ऊधम मचाना तथा कैशोर[7] में विविध संवेगों का अत्यधिक[8] प्रकाशन व्यक्ति में समायोजन के अभाव की ओर संकेत करते हैं। परस्पर-विरोधी इच्छायें तथा विभिन्न आकांक्षायें व्यक्ति के अन्दर चलने वाले द्वन्द्व की ओर संकेत करती हैं और इसका यह अर्थ होता है कि आत्म-नियन्त्रण की ओर व्यक्ति को अभी बड़ा प्रयत्न करना है। शिक्षा का उद्देश्य ही व्यक्ति को यह आत्म-नियन्त्रण देना है; दूसरे शब्दों में शिक्षा समायोजन है।

---

1. Knowledge. 2. Skill. 3. Emotional Changes. 4. Experience. 5. Learning. 6. Infancy. 7. Adolescence. 8. Exeggerated Expressions.

निजी क्रियाशीलता[1]

.ण से 'शिक्षा' व्यक्ति की निजी क्रियाशीलता से .क्षा व्यक्ति पर लादी जाती है उसका व्यक्तित्व के .भाव नहीं पड़ता। वस्तुतः वास्तविक शिक्षा वही है अपने से प्राप्त करता है। यदि व्यक्ति की स्वाभाविक .लना करके उसे शिक्षा देने का प्रयास किया गया तो .त्व संकुचित हो जायगा। तब व्यक्ति "दूसरों द्वारा प्राप्त , सिद्धान्तों, तथा विभिन्न रुचियों के स्तर" को तुरन्त मान कर .पनी आलोचना की शक्ति खो बैठेगा। वह चाहेगा कि उसके लिए . लोग सोचें। इस प्रकार वह केवल अन्धविश्वासी अनुसरणकर्त्ता . जायगा। हमें व्यक्ति को ऐसा बनाना है कि वह अपने लिए स्वयं सोचे, और अपने भविष्य का स्वयं निर्माता हो सके। यह तभी सम्भव है यदि उस पर शिक्षा न लादी जाय, वरन् उसे इस प्रकार प्रोत्साहित किया जाय कि वह अपनी निजी क्रियाशीलता द्वारा आवश्यक शिक्षा स्वयं प्राप्त कर ले। इस पुस्तक में वर्णित किण्डरगार्टेन तथा मॉन्तेसरी आदि पद्धतियों की शिक्षा-प्रणाली बालक की निजी शिक्षा पर ही आधारित ।

उपर्युक्त विवेचन से हमें शिक्षा के अर्थ पर थोड़ा प्रकाश मिलता है। नीचे हम यही सोचने का प्रयत्न करेंगे कि शिक्षा का अर्थ क्या है।

२—शिक्षा का अर्थ[2]

शिक्षा उतनी ही पुरानी है जितना कि मानव। जब से मानव इस पृथ्वी पर आया तभी से शिक्षा का क्रम जारी है, क्योंकि शिक्षा बिना उसका काम चल ही नहीं सकता। परन्तु खेद है कि अब भी बहुत से लोग शिक्षा के अर्थ को ठीक-ठीक नहीं समझते। शिक्षा के अर्थ के सम्बन्ध में इस अनिश्चितता के दो कारण है। पहला कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति, चाहे उसे स्कूल अथवा कालेज में शिक्षा मिली या न मिली हो, कुछ ऐसे अनुभव रखता है जिन्हें वह शिक्षा का ही परिणाम समझता है। अतः

1. Education as Self-activity. 2. The Meaning of Education.

उसकी यह धारणा हो जाती है कि 'शिक्षा-शास्
लगा है। इसीलिए तो यह प्रायः देखा जाता है कि
आलोचना प्रायः सभी लोग किया करते हैं। दूसरा
एक विज्ञान अथवा शास्त्र के रूप में अभी अपने विका
अतः भौतिक विज्ञानों की तरह इसके पारिभाषिक शब्द
नहीं प्राप्त हो सकी है।

शिक्षा का अर्थ दो दृष्टिकोणों से

प्रायः शिक्षा का अर्थ दो दृष्टिकोणों से समझा जाता है। कु
"शिक्षा का अर्थ" शिक्षा के उद्देश्य तक ही सीमित रखते हैं। अतः
की परिभाषा में वे शिक्षा के ध्येय और कार्य का अर्थ समझना चाहते हैं। उदाहरणार्थ; हरबार्ट के शिक्षा उद्देश्य में हमें शिक्षा के इसी अर्थ का आभास मिलता है। जैसे—'शिक्षा का उद्देश्य मानव की रुचियों का विश्लेषण कर यह पता लगाना है कि व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के लिए उसमें सबसे अधिक उपयोगी कौन हैं और तब शिक्षण द्वारा उनका ऐसा विकास करना है कि जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में वे सहायक हो सकें।'[1] जब लॉक[2] यह कहता है कि शिक्षा का उद्देश्य चरित्र का निर्माण करना है तो वह भी शिक्षा का अर्थ उसके उद्देश्य और कार्य तक ही सीमित करता है।

दूसरे दृष्टिकोण से शिक्षा का अर्थ शिक्षा के मनोविज्ञान से लिया जाता है। इसमें शिक्षा-प्रक्रिया का स्पष्टीकरण किया जाता है। इस प्रक्रिया के अनुसार ही शिक्षा के उद्देश्य और अर्थ का निर्धारण किया जाता है। शिक्षा-प्रक्रिया के स्पष्टीकरण में यह समझा जाता है कि बालक की शिक्षा किस प्रकार चलती है, उसकी शिक्षा के लिए किन-किन अवदशाओं का आयोजन आवश्यक है। शिक्षा-मनोविज्ञान इन सब प्रश्नों का उत्तर देता है। फ्रोबेल और डीवी ऐसे शिक्षा-चिन्तकों का कार्य इन्हीं प्रश्नों का समुचित उत्तर देना है। अब हरबार्ट और लॉक के उपर्युक्त दृष्टिकोण पुराने माने जाते

1. *Wilds, E. H.* The Foundations of Modern Education, p. 470, Rinehart & Company, Inc. New York, 1942. 2. Ibid p. 360.

के अन्तर्गत प्रायः 'शिक्षण[1] प्रक्रिया' का ही
। अतः शिक्षा के अर्थ के अन्तर्गत् हमारा ध्यान
क्षण की ही ओर रहेगा।

र्थ बालक की क्रियाशीलता और अनुभव से

अर्थ केवल स्कूल या कालेज में प्राप्त शिक्षा से ही नहीं
हुए। वस्तुतः व्यक्ति इन शिक्षा-केन्द्रों के अतिरिक्त अपने
रण से भी बहुत कुछ जान और अनजान में सीखता रहता
पुस्तकें साधारण जनता के लिए सरलता से उपलब्ध नहीं थी
कूल के अन्दर विभिन्न विषयों का ज्ञान देना शिक्षा के प्रधान उद्देश्यों
न समझा जाता था। शिक्षा के इस दृष्टिकोण की प्रायः सभी आधुनिक शिक्षा-विशेषज्ञों ने आलोचना की है, क्योंकि इससे बालक का व्यक्तित्व बड़ा ही संकुचित हो जाता है। गत पृष्ठों में यथास्थान कही हुई बातों से यह स्पष्ट है। यदि शिक्षा-प्रक्रिया में विषयों के ज्ञानार्जन[2] पर ही सारा ध्यान केन्द्रित कर दिया जाय तो वह व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए घातक हो सकता है, क्योंकि ज्ञान से ही व्यक्ति के व्यवहार में वांछित सुधार आ जाना आवश्यक नहीं। हम देखते भी हैं कि पढ़े-लिखे बहुत से व्यक्तियों का व्यवहार ऐसा होता है कि उन्हें 'शिक्षित' कहना 'शिक्षा' का अपमान करना है। स्पष्ट है कि शिक्षा का उद्देश्य ज्ञानार्जन न होकर वांछित दिशा में व्यक्ति के व्यवहार में सुधार लाना है। अतः केवल वही ज्ञान शिक्षाप्रद[3] है जो कि व्यक्ति के व्यवहार में वांछित सुधार लाता है।

केवल वही ज्ञान शिक्षाप्रद हो सकता है जिसकी व्यक्ति को स्वयं अनुभूति होती है, अर्थात् जिसे व्यक्ति अपने अनुभवों से सीखता है। शिक्षा का प्रधान उद्देश्य जाति के अनुभवों को व्यक्ति के अनुभवों के अन्तर्गत लाना है। इसीलिए तो डीवी ऐसे महान शिक्षकों ने बालक के निजी अनुभव तथा उसकी स्वाभाविक क्रियाशीलता पर इतना बल दिया है। स्कूल को बालक के वातावरण का इस प्रकार उपयोग करना है कि उसे इस

---

1. Educative Process. 2. Acquisition of Knowledge.
3. Educative.

प्रकार के वांछित अनुभव मिलें कि उसके व्यवहार में आवश्यक सुधार आ जाँय। इस प्रकार यदि शिक्षा का अर्थ कोरा ज्ञानार्जन न होकर बालक की क्रियाशीलता[1] और अनुभव है तो शिक्षा को हम केवल स्कूल की चहारदीवारों तक ही सीमित नहीं कर सकते।

शिक्षा का अर्थ व्यवहार में सुधार से

जन्म से मृत्यु तक व्यक्ति में शारीरिक मानसिक तथा संवेगात्मक परिवर्तन आया करते हैं। व्यक्ति में परिवर्तन आने के दो कारण माने जा सकते हैं। पहला कारण यह है कि उसमें उसके अन्दर से ही परिवर्तन आते हैं, दूसरा कारण उसका वाह्य वातावरण माना जा सकता है। पहले कारण से आये हुए परिवर्तन को विकास कहते है और दूसरे से आये हुए को शिक्षा। अपनी विविध इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति को बहुधा वातावरण के साथ संघर्ष में आना होता है। मानव संस्कारशील[2] होता है, अतः इस संघर्ष के कारण उसके व्यवहार में सुधार आता रहता है। स्पष्ट है कि मानव स्वभाव की संस्कारशीलता[3] के आधार पर वातावरण के साथ संघर्ष के फलस्वरूप व्यवहार में जो कुछ सुधार आता है वही शिक्षा है। व्यक्ति का कोई भी अनुभव—छोटा या बड़ा किसी न किसी रूप में शिक्षाप्रद होता है, क्योंकि उसका उसके व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है और तदनुसार उसके व्यवहार में कुछ सुधार आता है। जान या अनजान में जीवन भर हर पग पर व्यक्ति शिक्षा पाता है। इस प्रकार उसका पूरा जीवन ही एक लम्बी शिक्षा-प्रक्रिया[4] है। अतः एक दृष्टिकोण से शिक्षा[5] को जीवन की प्रक्रिया कह सकते हैं। स्पष्ट है कि शिक्षा का किसी स्कूल अथवा कालेज से ही सम्बन्धित होना आवश्यक नहीं।

उपर्युक्त दृष्टिकोण से शिक्षा का क्षेत्र बड़ा ही असीमित हो जाता है। अतः सविधिक[6] और अविधिक[7] शिक्षा में अन्तर की ओर संकेत

1. Activity and Experience. 2. Plastic. 3. Plasticity. 4. The Individual's whole life is one long process of education. 5. Education is a process of living. 6. Formal. 7. Informal.

करना आवश्यक जान पड़ता है। नीचे[1] हम इसी अन्तर की ओर आ रहे हैं।

अविधिक शिक्षा

अविधिक शिक्षा व्यक्ति के व्यवहार में आए हुए उस सुधार को कहते हैं जो उसके बिना किसी चेतनायुक्त[2] प्रयास के आ जाता है। अविधिक शिक्षा किसी पूर्व योजना के अनुसार नहीं चलती, और न इसमें कोई पूर्वनिश्चित उद्देश्य ही होता है। वस्तुतः अविधिक शिक्षा अनजान में चला करती है। उदाहरणार्थ, व्यक्ति किसी समारोह में जाता है, वह वहाँ परस्पर-व्यवहार तथा शिष्टाचार की रीतियाँ अनजान में सीख लेता है—न तो वहाँ कोई शिक्षक रहता है, और न 'सीखने वाला' शिक्षार्थी के रूप में किसी से शिष्टाचार-सम्बन्धी रीति ही सीखता है। व्यवहार और शिष्टाचार-सम्बन्धी सारी शिक्षा यहाँ पर व्यक्ति आकस्मिक[3] रूप में पाता है। यहाँ पर यह ध्यान देना है कि अविधिक शिक्षा जो आकस्मिक रूप में चलती है उसका सदैव अच्छा ही होना आवश्यक नहीं। हम सब लोगों का अनुभव है कि बालक अनजान में बहुत सी बुरी बातें और आदतें सीख लेता है। परन्तु यह याद रखना है कि बुरी आदतों का सीखना शिक्षा नहीं है; वस्तुतः वह तो कुशिक्षा है।

सविधिक शिक्षा

सविधिक शिक्षा में एक निश्चित उद्देश्य होता है और इसमें एक पूर्व योजना होती है। यह शिक्षा प्रायः इसी उद्देश्य से संस्थापित संस्थाओं—अर्थात् स्कूल और कालेजों में दी जाती है। इसमें शिक्षक और शिक्षार्थी अपनी जान में एक प्रक्रिया में संलग्न होते हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि सविधिक शिक्षा कक्षा के अन्दर ही दी जा सकती है। आधुनिक प्रगतिशील[4] स्कूलों में बालक की शिक्षा के कुछ आयोजन कक्षा के बाहर सुसंगठित क्रियाशीलताओं द्वारा भी किये जाते हैं। इन क्रियाशीलताओं से भी उनके व्यवहार में वांछित सुधार लाने की अपेक्षा की जाती है और

---

1. तृतीय खण्ड का प्रारम्भ भी देखिए। 2. Without any conscious effort. 3. Incidental way. 4. Modern Progressive Schools.

बहुत से अंशों में यह अपेक्षा पूरी भी होती है। इन क्रियाशीलताओं के अतिरिक्त भी स्कूल में कक्षा के बाहर शिक्षक और शिक्षार्थी विविध रूप में एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं और इस सम्पर्क से विद्यार्थी गण अपने व्यवहार में सुधार लाते हैं। अतः स्पष्ट है कि अविधिक अथवा सविधिक शिक्षा को केवल कक्षा की सीमा के अन्दर ही नहीं बाँधा जा सकता।

बालक स्वयं सीखता है

शिक्षक को यह नहीं सोचना चाहिए कि वह बालक को पढ़ाता है। उसे यह याद रखना चाहिए कि बालकों को कुछ पढ़ाया नहीं जा सकता, वरन् बालक तो स्वयं अपने अनुभव से सीखते हैं। एक पथप्रदर्शक के रूप में शिक्षक बालकों को ऐसे रास्ते पर कर सकता है कि उनका अनुभव उपयोगी और शिक्षा-प्रद ही हो। स्कूल एक ऐसी संस्था है जहाँ सभी बालकों को समान अधिकार हैं और सभी को अपनी स्वाभाविक क्रिया-शीलता के लिए पूरी स्वतन्त्रता है। अतः स्कूल में जिन कार्यों का आयो-जन किया जाय उनमें सभी बालकों के हित तथा इच्छाओं पर समुचित ध्यान देना है। प्रत्येक बालक को इन कार्यों के संगठन में अपना-अपना भाग देना है और प्रत्येक को उनकी सफलता का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना है। स्पष्ट है कि स्कूल की ऐसी परिस्थिति में शिक्षक का यह सोचना कि बालकों को वह पढ़ाता है अथवा उसी के विचार और इच्छानुसार बालक चले भ्रमात्मक है। दूसरे, शिक्षक को यह भी याद रखना है कि स्कूल में पूरे समूह द्वारा जो क्रियाशीलतायें आयोजित और संगठित की जाती हैं उनसे उसकी भी शिक्षा होती है, न कि केवल बालकों की ही, क्योंकि स्कूल के उस समूह का एक सदस्य शिक्षक भी तो है। इस प्रकार शिक्षा-प्रक्रिया दो मुखी है। इससे शिक्षक और विद्यार्थी दोनों के व्यवहार में सुधार होता है। स्पष्ट है कि 'पढ़ाना' और 'सिखाना' दोनों साथ ही साथ चलता रहता है और शिक्षक पढ़ाने के क्रम में स्वयं अपना भी विकास करता है।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

१—शिक्षा क्या है ?

शिक्षा के उद्देश्य में मतैक्य नहीं। इसके निर्धारण में जीवन-दर्शन का प्रभाव।

शिक्षक द्वारा ज्ञान देना

यह उद्देश्य बहुत ही पुराना। बालक के मस्तिष्क को ज्ञान से भरना। पाठ्यक्रम के प्रमुख अंश को बालक के मस्तिष्क में सजाना। छात्र का आज्ञाकारी होना।

आलोचना—

छात्र को स्वयं अपने अनुभव से सीखना। शिक्षक केवल पथ-प्रदर्शक।

मानसिक विनय के रूप में शिक्षा

यह एक दृष्टिकोण, पाठ्यक्रम का निर्धारण मानसिक अभ्यास के लिए, कुछ विशिष्ट विषयों से मानसिक अभ्यास अधिक सरलता से प्राप्त किया जा सकता है।

आलोचना—

शिक्षण के स्थानान्तर के सम्बन्ध में पुराने विचार अब गलत सिद्ध कर दिये गये हैं। केवल समान तत्वों के सम्बन्ध में ही स्थानान्तर। इस दृष्टिकोण के सहारे वर्तमान की समस्याओं का सामना करने में व्यक्ति असमर्थ।

शिक्षा-सिद्धान्त में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण की आवश्यकता

शिक्षा का आयोजन सीखने के मनोविज्ञान के अनुसार। व्यक्ति और समाज के परस्पर-सम्बन्धों पर ध्यान। बालक की स्वाभाविक प्रतिक्रियाओं को प्रधानता। मूलप्रवृत्तियों के शोधन करने का प्रयत्न।

शिक्षा समायोजन है

वातावरण में व्यवस्थापन के प्रयत्न में ज्ञान, कौशल तथा संवेगात्मक

परिवर्तन का आना अनुभव और सीखने का फल। यह अनुभव और सीखना ही शिक्षा अथवा समायोजन है।

शिक्षा निजी क्रियाशीलता

बालकों पर शिक्षा लादना नहीं। उनकी स्वाभाविक क्रियाशीलता के आधार पर उन्हें शिक्षा देना।

२—शिक्षा का अर्थ

शिक्षा के अर्थ के सम्बन्ध में अनिश्चितता। प्रत्येक व्यक्ति शिक्षा का आलोचक। शिक्षा एक शास्त्र के रूप में अभी अपने विकास-क्रम में।

शिक्षा का अर्थ दो दृष्टिकोणों से

१—शिक्षा के उद्देश्य तक सीमित। जैसे हरबार्ट और लॉक का दृष्टिकोण।

२—शिक्षा के मनोविज्ञान को महत्वपूर्ण स्थान। शिक्षा-प्रक्रिया का स्पष्टीकरण। जैसे, फ्रोबेल और डीवी।

शिक्षा का अर्थ बालक को क्रियाशीलता और अनुभव से

ज्ञान से ही व्यक्तित्व में वांछित सुधार आ जाना आवश्यक नहीं। व्यवहार में वांछित सुधार लाना उद्देश्य।

केवल वही ज्ञान शिक्षाप्रद जिसे व्यक्ति को अनुभूति होती है। जाति के अनुभवों को व्यक्ति के अनुभवों के अन्तर्गत लाना है। शिक्षा स्कूल तक ही सीमित नहीं।

शिक्षा का अर्थ व्यवहार में सुधार से

व्यक्ति में परिवर्तन आने के दो स्रोत—अन्दर से और बाहर से—अन्दर से विकास और बाहर से शिक्षा। आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, वातावरण के संघर्ष में आना। इस संघर्ष से व्यवहार में सुधार—यह सुधार शिक्षा। सुधार जीवन भर। अतः शिक्षा-प्रक्रिया जीवन भर।

अविधिक शिक्षा

बिना किसी चेतनायुक्त प्रयास के। पूर्वयोजना नहीं। आकस्मिक शिक्षा।

सविधिक शिक्षा

एक निश्चित उद्देश्य और पूर्वयोजना। संस्थापित संस्थाओं में। कक्षा के बाहर सुसंगठित क्रियाशीलताओं द्वारा भी। कक्षा की सीमा में ही नहीं।

बालक स्वयं सीखता है

शिक्षक केवल पथ-प्रदर्शक। अपनी शिक्षा के कार्यों के संगठन में बालक का भी हाथ। शिक्षक की भी शिक्षा। पढ़ाना और सीखना दोनों साथ-साथ चलता है।

१०

शिक्षा के उद्देश्य[1]

१—क्या शिक्षा की परिभाषा करना सम्भव है[2] ?

शिक्षा की परिभाषा करना सरल नहीं। अपने-अपने विचारानुसार लोगों ने शिक्षा की विभिन्न परिभाषायें दी हैं। वस्तुतः शिक्षा की परिभाषा दी ही नहीं जा सकती। यह विवादग्रस्त विषय है, अतः इस पर केवल विचार-विनिमय किया जा सकता है। शिक्षा का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीवन के आदर्श के अनुसार ही इसका संगठन करना उचित है। व्यक्ति का अपना विशिष्ट आदर्श होता है। इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित करना कोरी प्रवंचना है। तथापि विद्वानों ने इस क्षेत्र में अपना परिश्रम बन्द नहीं किया है, क्योंकि विभिन्न विचार और आदर्श के होते हुए भी मानव स्वभाव में कुछ एकता पाई जाती है। इसी एकता के आधार पर शिक्षा के कुछ साधारण उद्देश्यों का उल्लेख कर दिया गया है। अपनी रुचि के अनुसार किसी उद्देश्य को अपनाने के लिए व्यक्ति स्वतन्त्र है। शिक्षा की परिभाषा कई प्रकार से की गई है। शिक्षा वह साधन है जिससे वातावरण सुधारा जाता है अथवा नये वातावरण की रचना की जाती है। शिक्षा का तात्पर्य पुस्तकीय ज्ञान से नहीं है। इस मत के मानने वाले यहाँ तक कह जाते हैं कि स्कूल में सीखे हुए ज्ञान के भूल जाने पर जो कुछ बचता है वही शिक्षा का फल है। कुछ लोग शिक्षा का अर्थ समझते हैं—अन्धकार में प्रकाश दिखलाना। जड़वादियों के

1. The Aims of Education. 2. Is it possible to define education.

अनुसार शिक्षा का उद्देश्य सुखपूर्वक व्यवस्थित जीवन व्यतीत करना सिखलाना है।

संक्षेप में विभिन्न विशेषज्ञों के मतानुसार शिक्षा के उद्देश्य ये हैं :—

(१) व्यक्ति की सभी आन्तरिक शक्तियों का पूर्ण विकास करना जिससे उसमें आत्म-निर्भरता आ सके।

(२) स्वतन्त्र आलोचनात्मक शक्ति का विकास करना।

(३) व्यक्ति में दूसरों के सुख-दुःख में सहानुभूति दिखलाने की शक्ति उत्पन्न करना।

(४) संसार में प्रचलित सभ्यता के विभिन्न अंगों का ज्ञान कराना।

(५) व्यक्तित्व का पूर्ण विकास इस प्रकार करना कि सामाजिक हित की उपेक्षा न की जा सके।

(६) व्यक्ति की मूल-प्रवृत्तियों और स्थायी-भावों में सामञ्जस्य उत्पन्न करना।

उपर्युक्त छः उद्देश्यों के सूक्ष्मतम विश्लेषण से शिक्षा के केवल दो ही प्रधान उद्देश्य ठहरते हैं—वैयक्तिक और सामाजिक[1]। वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्य देखने में परस्पर-विरोधी जान पड़ते हैं। ये उद्देश्य शिक्षा-क्षेत्र में ही नहीं वरन् राजनीति, अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र के क्षेत्र में भी प्रमुख स्थान रखते हैं। इन सभी क्षेत्रों में दोनों के कट्टर प्रतिपादक मिलते हैं। यहाँ हम केवल शिक्षा-क्षेत्र में ही इन दोनों उद्देश्यों के तात्पर्य पर प्रकाश डालेंगे।

शिक्षा का वैयक्तिक उद्देश्य

हमारी प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली शिक्षा के इसी उद्देश्य की पोषक रही है। उनके अनुसार वैयक्तिक उद्देश्य का तात्पर्य व्यक्ति के आत्म-बोध से रहा है। इस आत्मबोध का तात्पर्य ईश्वर से आत्म सात् करना था। प्राचीन यूनान के सोफिस्ट भी शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य के

1. Individual and Social Aims of Education.

प्रतिपादक थे और उन्होंने समाज की सभी मान्यताओं के आँकने के लिये केवल व्यक्ति[1] को ही मापदण्ड रूप में स्वीकार किया। फलतः शिक्षा द्वारा वे व्यक्ति में 'सत्यं शिवं और सुन्दरम्'[2] का विकास करना चाहते थे। मध्य युग के ईसाई शिक्षा[3]-काल में कठोर नियमों के आधार पर व्यक्ति में निहित पापों को दूर कर उसे विशुद्ध बनाना शिक्षा का उद्देश्य था। गत पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि रूसो, पेस्तालॉजी तथा फ्रोबेल शिक्षा के क्षेत्र में वैयक्तिक उद्देश्य के ही प्रतिपादक हैं, क्योंकि व्यक्ति का विकास करना ही उनका प्रधान उद्देश्य है। बीसवीं शताब्दी में सर टी० पी० नन इस उद्देश्य के प्रधान प्रतिपादक माने जाते हैं। शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य का तात्पर्य व्यक्ति[4] के उच्चतम विकास अथवा आत्म-ज्ञान से है। व्यक्ति के 'आत्म'[5] के पूर्ण विकास की ओर शिक्षा को नियोजित करना है। प्रत्येक व्यक्ति का आत्म सार्वभौमिक[6] आत्म से सम्बन्धित होता है। सार्वभौमिक आत्म से सम्बन्धित होने के नाते उसका सम्बन्ध सार्वभौमिक मान्यताओं से भी रहता है। सार्वभौमिक मान्यतायें व्यक्ति के अपने व्यक्तित्व[7] से अधिक स्थायी होती हैं।

व्यक्तिवाद के अनुसार शिक्षा-दर्शन

व्यक्तिवाद के शिक्षा-दार्शनिक सिद्धान्त की ओर इस प्रकार संकेत किया जा सकता है :—

१—सार्वभौमिक मान्यतायें सनातन और अपरिवर्तनशील होती हैं।

२—ये मान्यतायें व्यक्ति में निहित रहती हैं और अपने पूर्ण विकास की प्रतीक्षा में रहती हैं।

३—व्यक्ति ही 'वास्तविक'[8] है, समाज की रचना केवल उसके लाभ के लिये की गई है। अतः व्यक्ति की सम्भावनाओं[9] का उच्चतम विकास

1. Individual as the measure of all values. 2. Truth, Goodness and Beauty. 3 Christian Education in the Middle Ages. 4. Highest development of the individuality or self-realisation. 5. Perfection of the self. 6. Universal-self. 7. Individuality. 8. Individual is the reality. 9. Potentialities.

करना ही शिक्षा का परम उद्देश्य है। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के विकास पथ से रोड़ों को दूर करना है। शिक्षा व्यक्ति के विकास की एक प्रक्रिया है, और शिक्षक को यह देखना है कि यह प्रक्रिया बिना किसी अड़चन के चलती रहे।

अतः शिक्षा के तत्वों का निर्धारण सामाजिक क्रियाशीलताओं के आधार पर न करके बालक की रुचियों के आधार पर करना चाहिये। जब कि सार्वभौमिक मान्यतायें स्वयं व्यक्ति में निहित रहती हैं तो उसे विकसित होने के लिये स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिये, क्योंकि तब वह उसी पथ का अनुसरण करेगा जिससे उसका विकास अत्युत्तम रूप से चलेगा। शिक्षा में पाठ्वस्तु का चुनाव व्यक्ति के विकास के उद्देश्य से करना चाहिये। किसी भी विषय के पढ़ाने का उद्देश्य व्यक्ति का विकास ही होगा। ऐसी स्थिति में सभी बालकों के लिये एक ही पाठ्यवस्तु निर्धारित कर देना घातक होगा, क्योंकि व्यक्ति की रुचियों और विकास-प्रक्रिया में भेद का पाया जाना स्वाभाविक है। अतः आदर्श की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति के लिये अलग-अलग पाठ्यक्रम होना चाहिये। यदि ऐसा सम्भव न हो तो पाठ्यक्रम का संगठन कम से कम इस प्रकार करना चाहिए कि उसमें आवश्यकतानुसार वांछित परिवर्तन किया जा सके।

शिक्षा-विधि के क्षेत्र में शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य के अनुसार बालक की स्वतन्त्र क्रियाशीलता को प्रधानता दी जाती है। कोई व्यक्ति अपने निजी अनुभव के आधार पर ही सीख सकता है। विविध प्रकार के अनुभवों के लिए स्कूल को इस प्रकार आयोजन करना है कि बालक आवश्यक बातें स्वयं सीख ले। स्वतन्त्र क्रियाशीलता की प्रधानता के कारण विनय-समस्या भी जटिल न होगी। उसका समाधान तो स्वतः होता जायगा। इस प्रकार बालक के व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास को सदैव प्रेरणा देनी है। शिक्षा की सभी विधियों का उद्देश्य इसी प्रेरणा को देना है।

अब नीचे हम शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य की चर्चा करेंगे।

३—शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य

विज्ञान, गणतन्त्र तथा समाजवादी विचारों के प्रचार से शिक्षा में

समाज की ओर झुकाव बढ़ता गया। शिक्षा में समाजवादी विचार-धारा को स्पष्टतः लाने का श्रेय सर्वप्रथम हरबर्ट[1] स्पेन्सर को दिया जा सकता है। स्पेन्सर के अनुसार 'अच्छी तरह जीवन बिता सकना' शिक्षा का उद्देश्य है, अर्थात् व्यक्ति को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए कि वह सभी प्रकार से अच्छी तरह सुखी जीवन बिता सके। स्पेन्सर के शिक्षा उद्देश्य की ओर गत पृष्ठों में हम कुछ संकेत कर चुके हैं। शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य के प्रतिपादक बालक को ऐसी शिक्षा देना चाहते हैं जिससे वह अपने भावी जीवन में सभी आवश्यक सांसारिक उत्तरदायित्वों को निभा सके। इस प्रकार उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य भावी जीवन की तैयारी है। शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य के प्रतिपादकों का दार्शनिक आधार निम्नलिखित है :—

(१) विश्व में कुछ सनातन नहीं है। जिसकी स्पष्टतः अनुभूति होती है वही सत्य है, और इसी सत्य के आधार पर जीवन को आँकना ठीक है।

(२) मानव मान्यतायें[2] समाज से विकसित होती हैं। अतः व्यक्ति सामाजिक आदर्शों को अपना समझकर स्वीकार करता है।

(३) अपने में सामाजिक गुणों के विकास से ही व्यक्ति अपने आत्म[3] को समझ सकता है, अथवा अपना पूर्ण विकास कर सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बालक में विभिन्न सामाजिक गुणों का विकास करना ही शिक्षा का उद्देश्य है। समाजशास्त्रीय विचार[4]धारा के अनुसार समाज ही सब कुछ है। व्यक्ति तो समाज रूपी चलने वाली नाड़ी की एक धड़कन के समान है। व्यक्ति में जो कुछ गुण और तत्व होते हैं उसे वह समाज से ही पाता है। व्यक्ति सामाजिक वातावरण में जन्म लेता है। जन्म के पूर्व ही उसका वातावरण एक प्रकार से सुनिश्चित रहता है। व्यक्ति इस वातावरण के अनुसार अपने को ढालने में समर्थ होता है क्योंकि परिस्थिति के अनुसार अपने में परिवर्तन लाने का उसमें गुण होता है। अतः अपने शैशव, बचपन तथा कैशोर में वाता-

1. Herbert Spencer (1820-1903) 2. Human Values. 3. Self.
4. Sociological Thinking.

वरण के अनुसार अपने को व्यवस्थित करने की वह चेष्टा किया करता है। जिन व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है उनके साथ कैसे व्यवहार करना चाहिए यह वह सीखता रहता है। जिन विधियों से यह सब वह सीखता है उसी को शिक्षा कहते हैं। इस प्रकार शिक्षा से ही उसके चरित्र और व्यक्तित्व का निर्धारण होता है।

शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य के प्रतिपादक बालक की किसी जन्मजात[1] सम्भावनाओं में विश्वास नहीं करते। उनका विश्वास है कि व्यक्ति अपनी शारी शक्तियाँ तथा प्रवृत्तियाँ अर्जित करता है, न कि संक्रमित। सभी व्यक्तियों के सामाजिक वातावरण[2] में कुछ समान तत्व होते हैं, क्योंकि सभी व्यक्तियों को कुछ समान सामाजिक अभिप्रेरणाओं का सामना करना होता है। अतः सभी व्यक्तियों के व्यवहार में कुछ समान तत्व पाये जा सकते हैं। इस समानता के आधार पर ही व्यक्ति समाज में रहना चाहता है और समाज में रहने से उसका व्यक्तिगत विकास होता है। इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को सामाजिक ही बनाना है जिससे वह अपना विकास कर सके। शिक्षा के सहारे व्यक्ति को ऐसा बनाना है कि समाज में वह सुखी जीवन व्यतीत कर सके। सुखी जीवन व्यतीत करने के लिए उसे विभिन्न सामाजिक उत्तरदायित्वों को उठाने के लिए अपने को तैयार करना होगा। इस तैयारी में व्यक्ति की सहायता करना ही शिक्षा का उद्देश्य है।

शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य के अनुसार पाठ्य-वस्तु का संगठन सामाजिक स्रोतों से किया जायगा। सामाजिक जीवन के लिए जो वस्तुएँ उपयोगी और वांछित होंगी उन्हीं को पाठ्य-वस्तु में रक्खा जायगा। इस प्रकार समाज में देखी जानी वाली क्रियाशीलताओं[3] और स्कूल की क्रियाशीलताओं में कोई विशेष भेद नहीं होना चाहिये। वस्तुतः समाज एक ऐसी पुस्तक है जिसका बालक को स्कूल में गूढ़ अध्ययन करना है। समाज की महत्वपूर्ण क्रियाशीलताओं का विश्लेषण करना चाहिये और

---

1. Innate Potentialities. 2. Social Environment. 3. Activities

शिक्षा का निर्धारण उसी विश्लेषण के आधार पर करना चाहिये। शिक्षा उद्देश्य ही नहीं; वरन् शिक्षा[1]-विधि का भी सामाजिक होना आवश्यक है। सामाजिक नियन्त्रण[2] के आधार पर ही शिक्षा का समुचित रूप से परिचालन किया जा सकता है। स्कूल को एक छोटा समाज ही समझना चाहिये। स्कूल जितना ही अधिक सामाजिक जीवन का प्रतिनिधित्व करेगा उतना ही अच्छा वह बालकों की शिक्षा का साधन होगा।

४—शिक्षा के वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्य में भेद

उपर्युक्त विवरण में हम देखते हैं कि वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्य एक दूसरे के विरोधी हैं। वैयक्तिक उद्देश्य बालक की जन्मजात् सम्भावनाओं में विश्वास करता है और शिक्षा द्वारा इन सम्भावनाओं का उच्चतम विकास करना चाहता है। इस विचारधारा के प्रतिकूल सामाजिक उद्देश्य बालक की जन्मजात् सम्भावनाओं में विश्वास नहीं करता। इसके अनुसार बालक अपने सारे गुण समाज से ही सीखता है। अतः उसे सामाजिक बनाना ही शिक्षा का परम उद्देश्य है। दूसरे, वैयक्तिक उद्देश्य के अनुसार पाठ्य-विषय का निर्धारण बालक की स्वाभाविक रुचिओं के अनुसार होना चाहिये। इसके विपरीत सामाजिक उद्देश्य बालक की स्वाभाविक रुचियों में विश्वास नहीं करता। अतः इसके अनुसार पाठ्य-विषय का निर्धारण उन सामाजिक उत्तरदायित्वों के आधार पर करना चाहिये जिनके निभाने के लिये बालक को शिक्षित करना है, अर्थात् शिक्षा का उद्देश्य बालक को अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों को निभाने के लिये तैयार करना है। वैयक्तिक उद्देश्य बालक को स्वतन्त्र छोड़ना चाहता है, और सामाजिक उद्देश्य उस पर सामाजिक नियन्त्रण[2] रखना चाहता है।

५—वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्य की देन

(१) वैयक्तिकः वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्यों में इतनी प्रतिकूलता होते हुए भी इन दोनों का प्रभाव हमारी शिक्षा-प्रणालियों पर पड़ा है।

1. Method of Education. 2. Social Control.

वैयक्तिक उद्देश्य के प्रभाव-स्वरूप अब हम शिक्षा को बाल[1]-केन्द्रित बनाना चाहते हैं, अर्थात् शिक्षा-प्रक्रिया में हम बालकों की रुचियों और स्वाभाविक क्रियाशीलताओं को प्रधानता देना चाहते हैं। फलतः उन्हें अब कठोर नियन्त्रण के अन्तर्गत् रखना अमनोवैज्ञानिक समझा जाता है। वैयक्तिक उद्देश्य के अनुसार हम बालक के नैतिक स्वभाव का विकास करना शिक्षा का उद्देश्य मानते हैं।

(२) **सामाजिक** : सामाजिक उद्देश्य के प्रभाव स्वरूप शिक्षा में अब पहले से अधिक वास्तविकता आ गई है। यह उद्देश्य भावी जीवन की तैयारी पर बल देता है। फलतः व्यावसायिक[2] शिक्षा और नागरिकता के लिये[3] शिक्षा पर अब विशेष ध्यान दिया जाने लगा है। अब स्कूल समाज का प्रतिनिधि माना जाता है। अतः स्कूल और समाज में परस्पर-सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की जाती है। गणतन्त्र की सफलता[4] के लिये शिक्षा का दृष्टिकोण भी सामाजिक उद्देश्य की ही देन है।

६—वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्यों में समन्वय[5]

शिक्षा के वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्यों में एक समन्वय प्राप्त किया जा सकता है। वस्तुतः इस समन्वय की हमें बड़ी आवश्यकता है। यदि किसी एक की ही विचारधारा से हम शिक्षा को संचालित करें तो हमें आदर्श स्थिति प्राप्त न हो सकेगी। हमें तो व्यक्ति के विकास और समाज हित दोनों पर ध्यान देना है, क्योंकि 'एक' 'दूसरे' पर निर्भर रहते हैं। व्यक्ति का हित समाज के विकास पर और समाज का हित व्यक्ति के विकास पर निर्भर हैं। व्यक्ति ही तो समाज बनाता है और समाज में व्यक्ति ही तो हैं। अतः हमें इन दोनों उद्देश्यों के उच्चतम भावों को अपनाना होगा। इसी में व्यक्ति और समाज दोनों का कल्याण दिखलाई पड़ता है।

---

1. Child-centred. 2. Vocational Education. 3. Education for Citizenship. 4. Education for the success of Democracy. 5. Synthesis between the Individual and Sociological Aims of Education.

'समाज' और 'व्यक्ति' दोनों सत्य माने जा सकते हैं व्यक्ति केवल समाज का ही फल नहीं है। एक ही समाज में रहने वाले अनेक व्यक्ति विभिन्न स्वभाव और शक्ति के होते हैं। किन्हीं भी दो व्यक्ति की योग्यताओं में अनुकूलता नहीं मिलती। व्यक्ति एक दम कोरा नहीं पैदा होता। वह अपने साथ अपनी कुछ विशिष्ट सम्भावनायें लाता है। इन विशिष्ट सम्भावनाओं के आधार पर बड़े-बड़े व्यक्ति सभ्यता और संस्कृति के विकास में वैज्ञानिक आविष्कारों तथा अपनी विचाराधाराओं द्वारा योग देते हैं।

समाज को केवल विभिन्न व्यक्तियों का एक योग ही मान बैठना गलत होगा। व्यक्ति आते हैं और जाते हैं, परन्तु समाज का एक विशिष्ट स्वरूप सदा वर्तमान दिखलाई पड़ता है। समाज की अपनी कुछ ऐसी विशिष्टतायें होती हैं जिन पर व्यक्तियों का उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना प्रभाव वे स्वयं व्यक्तियों पर डालती हैं।

स्पष्ट है कि व्यक्ति और समाज दोनों को सत्य मानना चाहिए। दोनों में एक घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनों अपने अस्तित्व के लिए एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। समाज से पृथक् रहकर व्यक्ति अपना व्यक्तित्व नहीं रख सकता। अपने जीवन के क्रम से वह समाज द्वारा प्रभावित होता है, और समाज पर भी अपना कुछ प्रभाव डालता है। इसी प्रकार बिना व्यक्ति के समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। हाँ, यह सत्य है कि समाज व्यक्ति को शिक्षा देता है, उस पर नियन्त्रण रखता है और अपना प्रभाव डालता है। परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि व्यक्तियों की देन से समाज का भी उत्तरोत्तर विकास होता रहता है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज का विकास साथ ही साथ चला करता है, क्योंकि 'एक के विकास' का तात्पर्य 'दूसरे के विकास' से भी होता है। अतः आदर्श स्थिति में व्यक्ति और समाज के हितों में कोई विरोध नहीं हो सकता। परन्तु यदि आदर्श स्थित न हुई तो व्यक्ति और समाज के हितों में विरोध आना स्वाभाविक है।

आज की स्थिति में व्यक्ति और समाज के हितों में विरोध दिखलाई पड़ता है, क्योंकि आदर्श स्थिति के आयोजन में अभी तक हम सफल नहीं

हो पाये हैं । ऐसी स्थिति में हमें सोचना है कि व्यक्ति और समाज दोनों को एक दूसरे के हित के लिये जीवित रहना है। अतः कोई निर्णय लेने के पूर्व हमें परिस्थिति विशेष के अनुसार कार्य करना होगा और यह देखना होगा कि व्यक्ति और समाज दोनों में किसकी आवश्यकता उस समय दूसरे से अधिक है। तदनुसार हमें निर्णय करना चाहिए। इस प्रकार कहा जा सकता है कि समाज के अन्तर्गत व्यक्ति का उच्चतम विकास करना शिक्षा का उद्देश्य है। इस उद्देश्य में वैयक्तिक और सामाजिक दोनों तत्वों का समावेश हो जाता है। वस्तुतः इस उद्देश्य के कार्यान्वित करने में ही व्यक्ति और समाज दोनों का हित दिखलाई पड़ता है।

शिक्षा के उपर्युक्त दो उद्देश्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य उद्देश्यों की भी चर्चा की जाती है। परन्तु ये सभी उद्देश्य वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्य पर ही आधारित जान पड़ते हैं। तथापि इन पर भी संक्षेप में प्रकाश डालना यहाँ समीचीन जान पड़ता है।

७—शिक्षा का उद्देश्य[1] नागरिकता की शिक्षा

गणतन्त्र के विकास से शिक्षा का उद्देश्य अब नागरिकता की शिक्षा माना जाने लगा है। शिक्षा को व्यक्ति के लिए ऐसे अनुभवों का आयोजन करना है कि उसमें वे गुण आ जाँय जो गणतन्त्र के किसी सफल सदस्य के लिए आवश्यक हैं। यदि सदस्यों में ये गुण न हुए तो गणतन्त्र सफल न हो सकेगा और व्यक्ति के उच्चतम विकास के लिए अवसर न मिलेगा। शिक्षा का यह दृष्टिकोण सामाजिक उद्देश्य से ही निकला हुआ जान पड़ता है। एक नागरिक के रूप में व्यक्ति के कुछ कर्तव्य और अधिकार होते हैं। इन कर्तव्यों और अधिकारों के प्रति व्यक्ति में चेतना देना शिक्षा का उद्देश्य है। चेतना देने के बाद उसे व्यक्ति को ऐसा बनाना है कि वह कर्तव्यों का पालन कर सके और अपने अधिकारों की रक्षा कर सके। साधारणतः यह देखा जाता है कि नागरिकता की शिक्षा का तात्पर्य निर्वाचन की कला, राजकार्य के उत्तरदायित्व को सँभालने तथा वाद-विवाद में व्यक्ति को

1. Training for Citizenship as the Aim of Education.

कौशल देना समझा जाता है, क्योंकि गणतन्त्रात्मक राज्य को चलाने के लिए इन सब बातों की बड़ी आवश्यकता होती है। इन सब कलाओं और कौशल में उन्हें निपुण बनाने के लिए स्कूल में विद्यार्थी-सभा का संगठन किया जाता है। इस सभा की एक कार्यकारिणी समिति होती है। इस समिति के विभिन्न सदस्यों पर सभा के कार्य को चलाने के लिए उसी प्रकार उत्तरदायित्व दिया जाता है जैसे किसी राज्य के मन्त्रिमण्डल के सदस्यों पर अलग-अलग उत्तरदायित्व होता है। गणतन्त्रात्मक राज्य में जनता को अपनी ओर जीतने के लिए नेता के पास भाषण की कला होनी चाहिए। इसलिए वाद-विवाद की प्रतियोगिता द्वारा स्कूलों में बालकों की भाषण-कला का विकास किया जाता है।

कुछ प्रगतिशील[1] स्कूलों में पुस्तकालय तथा विनय-समस्या के सुलझाव का सारा उत्तरदायित्व विद्यार्थियों को ही दे दिया जाता है। इस प्रकार नागरिकता की शिक्षा के रूप में बालकों को विविध उत्तरदायित्वों को सँभालने के योग्य बनाने का प्रयत्न किया जाता है। परन्तु नागरिकता की शिक्षा का तात्पर्य केवल इतना ही समझा जाय कि व्यक्ति को गणतन्त्र राज्य की राजनीत की बागडोर सँभालने योग्य बनाना है तो निश्चय ही यह उद्देश्य बड़ा ही संकुचित है। वस्तुतः व्यक्ति का उत्तरदायित्व केवल राजनीति-सम्बन्धी ही नहीं है। आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में भी उसे अपने कर्तव्यों का पालन करना है। दूसरे, व्यक्ति केवल समाज का एक सदस्य ही नहीं है, वरन् उसका अपना एक निजी अस्तित्व भी है और इस अस्तित्व के नाते वह अपने कुछ कार्यों में पूर्ण स्वतन्त्रता चाहता है। अतः जो शिक्षा व्यक्ति के केवल सामाजिक पक्ष पर ही ध्यान देती है और व्यक्ति के अन्य पक्षों की अवहेलना करती है उसे 'पूर्ण शिक्षा[2]' नहीं कहा जा सकता। स्पष्ट है कि शिक्षा का उद्देश्य और अधिक विस्तृत होना चाहिए।

८—शिक्षा का उद्देश्य व्यावसायिक शिक्षा[3]

आजकल कुछ लोग शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को किसी व्यवसाय

---

1 Progressive Schools. 2. Complete Education. 3. Vocational Education as the Aim of Education.

अथवा धन्धे के लिए तैयार करना ही मानते हैं। आजकल जीविकोपार्जन एक समस्या हो चली है। विविध वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण तथा मानव जीवन के अति यान्त्रिक हो जाने के कारण व्यवसाय के क्षेत्र बहुत बढ़ रहे हैं और दिन पर दिन बढ़ते जा रहे है। प्रत्येक धन्धे के लिए एक विशिष्ट शिक्षा की आवश्यकता होती है। कभी-कभी यह शिक्षा बड़ी लम्बी होती है। इसमें तीन चार साल लग जाते हैं। दूसरे, शिक्षा अब सर्व साधारण के लिए सुलभ हो चली है। ऐसी परिस्थिति में कुछ लोग समझने लगे हैं कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को उसके विशिष्ट व्यवसाय अथवा धन्धे के लिए तैयार करना है। शिक्षा का व्यावसायिक उद्देश्य सामाजिक उद्देश्य से ही निकला जान पड़ता है। परन्तु यह याद रखना है कि व्यक्ति को केवल अपने व्यवसाय या धन्धे के क्षेत्र में ही कार्य नहीं करना है। केवल अपने धन्धे में ही सफलता पाने से व्यक्ति सुखी नहीं हो सकता। जीवन का उद्देश्य धन पैदा करना नहीं है। धन तो केवल एक साधन मात्र है। व्यक्ति के हृदय में कुछ ऐसी प्रेरणायें होती हैं जिनके अनुसार वह अपना विकास करना चाहता है। ये प्रेरणायें उसके व्यावसायिक क्षेत्र के परे हो सकती हैं। स्पष्ट है कि व्यावसायिक उद्देश्य शिक्षा का बड़ा ही अपूर्ण उद्देश्य जान पड़ता है। इससे व्यक्ति के व्यक्तित्व की पूरी अवहेलना होने का डर है। शिक्षा को व्यक्ति के केवल आर्थिक जीवन पर ही ध्यान देना नहीं है, वरन् उसके सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक जीवन तथा व्यक्ति की सभी सम्भावनाओं पर ध्यान देना है। स्पष्ट है कि शिक्षा का उद्देश्य यदि व्यावसायिक ही होगा तो वह शिक्षा एकदम अधूरी रह जायगी।

६—शिक्षा का उद्देश्य पूर्णरूप से रहना सिखाना[1]

गत पृष्ठों में हरबर्ट स्पेन्सर पर प्रकाश डालते हुए इस उद्देश्य की चर्चा की जा चुकी है। उसे यहाँ दोहराना ठीक नहीं है। ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि स्पेन्सर की भी विचारधारा सामाजिक उद्देश्य से ही अभिप्रेरित है। स्पेन्सर के विचारधारा की इतनी आलोचना यहाँ कर देना

---

1. Complete Living as the Aim of Education (यथार्थवाद के विवरण के सम्बन्ध में स्पेन्सर को पढ़िए)

आवश्यक जान पड़ता है कि उसने जीवन की आवश्यकताओं के जो पाँच वर्गीकरण किये हैं वह अधिक उपयुक्त नहीं प्रतीत होते, क्योंकि जीवन की आवश्यकताओं में परिवर्तन आ सकता है। अतः सदा के लिये उन्हे निश्चित समझ लेना गलत है। दूसरे, यह सत्य है कि स्पेन्सर शिक्षा द्वारा व्यक्ति का जीवन सुखी बनाना चाहता है, परन्तु उसकी विचारधारा में व्यक्ति के उच्चतम विकास पर विशेष बल नहीं दिया गया है।

१०—शिक्षा का उद्देश्य चरित्र विकास[1]

वर्तमान युग में व्यक्ति का जहाँ-तहाँ नैतिक पतन दिखलाई पड़ता है। अतः कुछ लोग शिक्षा का उद्देश्य चरित्र-विकास मानना चाहते हैं। चरित्र-विकास का उद्देश्य रहने से व्यक्ति नैतिक होगा। एक आदर्शवादी के लिये चरित्र-विकास का तात्पर्य व्यक्ति में उच्चतम नैतिक सिद्धान्तों के विकास से है। चरित्र-विकास का उद्देश्य शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य से अभि-प्रेरित हैं। परन्तु इस उद्देश्य के अन्तर्गत व्यक्ति के सर्वांगीण विकास की चर्चा नहीं आती। अतः यह उद्देश्य संकुचित जान पड़ता है। परन्तु यदि चरित्र का अर्थ हम बहुत बृहद् रूप में लें और इसके अन्तर्गत् व्यक्ति के अन्तःकरण के अनुरूप उसके व्यक्तित्व के उन गुणों को लें जो कि सामाजिक मान्यताओं से मेल खाते हैं तो शिक्षा का उद्देश्य हम व्यक्तित्व के विकास से मान सकते हैं। स्पष्ट है कि चरित्र-विकास के उद्देश्य का तात्पर्य सामाजिक दृष्टिकोण से ऐसे वांछित व्यक्तित्व के विकास से है जिससे व्यक्ति अपने विकास की चरम सीमा पर पहुंच जाय, परन्तु साथ ही साथ उसे अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों का भी ध्यान रहे। यह ध्यान रखना है कि चरित्र-विकास के उद्देश्य में ज्ञान[2] और कौशल[3] की प्राप्ति की अव-हेलना की जा सकती है, और यदि ऐसा हुआ था चरित्र-विकास का उद्देश्य अपूर्ण रह जायगा।

---

1. Development of Character as the Aim of Education.
2. Knowledge. 3. Skill.

११—शिक्षा की आवश्यकता और प्रधान उद्देश्य[1]

गत पृष्ठों में विवरण से स्पष्ट है कि शिक्षा की आवश्यकता पर सन्देह नहीं किया जा सकता। जन्म के समय बालक पूर्ण असहाय रहता है। उसकी मूलप्रवृत्तियाँ[2] अनिश्चित अवस्था में रहती हैं। अतः शिक्षा के न पाने से वह पशुवत् हो जायगा। यही कारण है कि जंगली आदमी हम लोगों से इतना भिन्न होता है। शिक्षा से ही हममें विभिन्न गुणों का विकास होता है। इससे हम अपनी शक्ति का अनुमान लगा सकते हैं। मनुष्य ऐसा जीव है जिसका विकास कुछ निश्चित नियमों के आधार पर होता है। उसका विकास कभी रुकता नहीं। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य 'विकास करना' है। डीवी ने भी 'विकास'[3] की गणना शिक्षा के महत्वपूर्ण उद्देश्यों में की है। पर यहाँ विकास का तात्पर्य क्या है? विकास का अर्थ यहाँ व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार के विकास से है। आजकल गणतन्त्र का युग है। इस प्रणाली में व्यक्ति और समाज दोनों के हितों की रक्षा की जाती है। व्यक्तिगत विकास की ओर ध्यान देने का तात्पर्य समाज-हित की उपेक्षा नहीं है, पर समाज-हित का भी अर्थ साम्यवाद की तरह व्यक्ति को गौण नहीं समझना है। समाज और व्यक्ति दोनों एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। समाज व्यक्ति का ही समूह है। व्यक्ति की उन्नति से समाज की उन्नति निश्चित हो जाती है।

अतः शिक्षा में व्यक्ति के ही विकास पर जोर देना आवश्यक है। उसके शारीरिक और मानसिक विकास के अनुसार उसकी शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिये। मानसिक क्षेत्र में बुद्धि के विकास पर विशेषकर जोर देना आवश्यक है, क्योंकि बुद्धि ही से हम शिक्षा के अन्य उद्देश्यों की पूर्ति का पता लगा सकते हैं। बुद्धि ही से व्यक्तित्व और चरित्र का विकास सम्भव होता है। विषम परिस्थितियों का सामना बुद्धि से ही किया जा सकता है। बुद्धि ही अन्धकार में प्रकाश का काम करती है। बुद्धि की कमी से आवश्यक शारीरिक बल और अन्य साधन रखते हुए भी व्यक्ति सफ-

1. The Need and the Main Purpose of Education. 2. Instincts. 3. Growth.

लता पाने में असमर्थ होता है। बालक जितनी सम्भावनाओं के साथ जन्म लेता है उन सबका विकास बिना शिक्षा के सम्भव नहीं। कुछ व्यक्ति मूर्ख हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें मूर्ख बनाया जाता है। उनकी शिक्षा की व्यवस्था नहीं हो पाती, इसलिए संक्रमित गुण रखते हुए भी वे पीछे रह जाते हैं। गणतन्त्र राज्य में व्यक्ति की ऐसी स्थिति अपेक्षित नहीं। इसमें आगे बढ़ने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर देने का प्रयत्न किया जाता है। स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर देने के लिये शिक्षा का एक सामाजिक उद्देश्य भी आवश्यक है। इसका केवल वैयक्तिक ही उद्देश्य नहीं होना। इसीलिए गत पृष्ठों में हमने वैयक्तिक और सामाजिक दोनों उद्देश्यों पर बल दिया है। समाज के विभिन्न व्यक्तियों की आवश्यकतानुसार विकास की व्यवस्था करना शिक्षा का प्रधान उद्देश्य है। जब हम सभी व्यक्तियों की आवश्यकता पर ध्यान देते हैं तो हमारे उद्देश्य में वैयक्तिक और सामाजिक दोनों उद्देश्य निहित हो जाते हैं।

१२—शिक्षा के उद्देश्य में समाज-गति के अनुसार परिवर्तन

व्यक्ति तथा समाज की आवश्यकता परिस्थिति अनुसार बदला करती है, क्योंकि संसार परिवर्तनशील है। अतः शिक्षा का कोई शाश्वत उद्देश्य निर्धारित नहीं किया जा सकता। इसमें देश-काल के अनुसार परिवर्तन आता ही रहता है। स्पष्ट है कि इसीलिये किसी भी देश की शिक्षा-व्यवस्था के अध्ययन से वहाँ की सभ्यता का अनुमान लगाया जा सकता है। किसी देश की शिक्षा-व्यवस्था कभी गलत नहीं हुआ करती। वस्तुतः उस देश की सामाजिक अवस्था ही वैसी होती है। समाज की जैसी माँग होती है उसी के अनुसार शिक्षा का आयोजन रहता है। यदि शिक्षा-व्यवस्था के बदलने की आवाज उठाई गई तो इसका अर्थ यह है कि सामाजिक अवस्था भी बदल रही है। अतः शिक्षा का रूप तब तक नहीं बदला जा सकता जब तक देश की सामाजिक स्थिति में स्वयं कुछ परिवर्तन न आ गया हो। इस प्रकार शिक्षा और समाज सदा एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। एक को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। ऐसी बात केवल गण-तन्त्र राज्य के ही सम्बन्ध में कही जा सकती है, क्योंकि दूसरे प्रकार के

राज्य में 'शिक्षा-नीति' 'शासन करने वाले अल्प मत द्वारा' निर्धारित की जाती है और यह नीति प्रायः सर्वसाधारण के हित के लिए नहीं होती। बृटिशकालीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली सर्वसाधारण के लिये हितकर सिद्ध न हो सकी, क्योंकि शिक्षा के कर्णधारों का प्रधान उद्देश्य देश में साम्राज्यवाद की नींव दृढ़ करने में योग देना था। लगभग ९८ प्रतिशत शिक्षा पाने वालों का प्रधान उद्देश्य नौकरी ही पाना था। फलतः सभी लोग साम्राज्य की छत्र-छाया में सेवा करने के लिए इच्छुक रहते थे। ऐसा अवसर पा जाने पर व्यक्ति अपने को दूसरे से अधिक भाग्यशाली समझता था। कितनी घोर विडम्बना थी यह !!! स्वतन्त्र भारत में हमारा उद्देश्य पूर्णतः बदल जाना चाहिए। शिक्षा का रूप अब हमें बहुत अधिक विकसित करना है। इसके सहारे हमें एक ऐसे समाज का निर्माण करना है जिसकी सभी गतियाँ उसके प्रत्येक सदस्य के लिए शिक्षाप्रद हो सकें और वह अपनी इच्छा-शक्ति, बुद्धि, चरित्र और व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके।

अब तक हमारे देश की शिक्षा का उद्देश्य मुख्यतः परीक्षा पास करना रहा है। यह उद्देश्य बदल कर शिक्षा-क्षेत्र में सारा उद्योग व्यक्तित्व के पूर्ण विकास की ओर केन्द्रित करना होगा। ऊपर हम कह चुके हैं कि शिक्षा समाज से अपने को अलग नहीं कर सकती। फलतः स्वतन्त्र भारत में शिक्षा पर समाज के समुचित विकास का पूरा उत्तरदायित्व रखना होगा। आज हमारे देश की शिक्षा के सामने सबसे बड़ी समस्या यही है कि इस दायित्व को कैसे निभाया जाय। जब तक यह समस्या हल नहीं होती समाज का उचित विकास न हो सकेगा। सामाजिक परिवर्तन में प्रत्येक व्यक्ति को अपना-अपना उत्तरदायित्व निभाना है। इस परिवर्तन में उसे यथाशक्ति योग देना है। बहुत प्रारम्भ से ही उसे क्रियाशील रहने की शिक्षा देनी होगी, जिससे वह आत्म-निर्भर रह कर अपने कर्तव्य को समझ सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमें बचपन से ही ध्यान देना होगा और बालक को इस प्रकार शिक्षा देनी होगी कि वह सभ्यता की गति को समझते हुए आत्म-निर्भरता, कर्तव्य-परायणता और सच्चरित्रता का पाठ सीख सके। हमें शिक्षा द्वारा बालकों को ऐसे ज्ञान, निरीक्षण

तथा निर्णय की बुद्धि देनी है कि वे परिस्थिति को शीघ्र समझ कर अभीष्ट दिशा की ओर कार्य करने के लिए तैयार हो जाँय, जिससे उनके कल्याण के साथ-साथ समाज का भी हित हो।

१३—हमारी शिक्षा का उद्देश्य

बालक को शिक्षा देने का प्रधान उद्देश्य उसे शक्ति देना है, ज्ञान नहीं। यदि ज्ञान देना ही उद्देश्य हुआ तो तोते के रटे हुए 'राम राम' और बालक के ज्ञान में विशेष अन्तर न होगा। शक्ति का तात्पर्य यहाँ जीवन के विभिन्न कर्त्तव्यों के पालन की शक्ति और बुद्धि से है। इस उद्देश्य की पूर्ति तभी हो सकती है जब हम व्यक्ति के शरीर, मस्तिष्क और चरित्र को पूर्णरूपेण विकसित करने का प्रयत्न करें। आज हमारी शिक्षा-प्रणाली कुछ दूषित हो गई है। चारों ओर परीक्षा का ही भूत सवार दिखलाई पड़ता है। शिक्षा का उद्देश्य जीवन की तैयारी न होकर परीक्षा की तैयारी हो गया है। फलतः हमारी शिक्षा में स्मरण-शक्ति पर ही ध्यान दिया जाता है। इसमें मौलिकता का ह्रास हो जाता है और बालक स्वयं विचार किये बिना दूसरे की बात मान लिया करता है। हम मानते हैं कि मनुष्य तार्किक प्राणी है। उसे ज्ञान की प्यास रहती है। व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिये संसार, प्रकृति, समाज तथा मानव स्वभाव का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। पर इस प्रकार के ज्ञान को व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिये साधन समझना चाहिये। इसे साध्य मान बैठना ऊपर निकली हुई वृक्ष की जड़ को वृक्ष मान लेना होगा।

प्रत्येक व्यक्ति शान्ति और सुख की कामना करता है। यह शान्ति और सुख उसे कैसे मिल सकता है? संसार में सभी प्रचलित धर्म व्यक्ति को शान्ति और सुख प्राप्त करने का ही मार्ग बतलाते हैं। शिक्षा का संचालन भी इस प्रकार करना चाहिये कि व्यक्ति अपने जीवन में वास्तविक शान्ति और सुख का अनुभव कर सके। यह अनुभव कैसे प्राप्त किया जा सकता है? यहाँ हमें अपनी भारतीय संस्कृति की याद आती है। हमें अपने को कितना ही दूसरे के साँचे में क्यों न ढालें पर हमारी

भारतीयता हमारे साथ ही रहेगी। अतः हमारे शिक्षा-उद्देश्य में भारतीय संस्कृति का पुट अवश्य होना चाहिये। इसके बिना हमारे शिक्षित नवयुवकों का जीवन सूना होगा। वह न भारतीय कहा जायगा और न विदेशी उसकी स्थित ठीक 'त्रिशंकु' के सदृश् होगी। भारतीय संस्कृति के पुट की माँग करने का तात्पर्य यह नहीं हैं कि शिक्षा का सारा संचालन प्राचीन प्रणाली के अनुसार हो। ऐसी माँग निरी मूर्खता होगी। समाज परिवर्तनशील है। आज का समाज पहले मे बहुत बढ़ा हुआ है। हमें संसार के अन्य राष्ट्रों की दौड़ में आना हैं, जिससे दूसरे हमारी शान्ति और सुख को भंग न कर सकें। सभ्यता के आदि काल से ही भारत संसार को शान्ति का पाठ सिखलाता रहा है। आज भी भारत का यह सन्देश महात्मा गान्धी के कारण संसार के कौने कौने में पहुँच चुका है। हमारे राष्ट्र के कर्णधारों ने भली-भाँति यह घोषित कर दिया है कि भारत न तो किसी की शान्ति और सुख को भंग करना चाहता है और न अपनी ही शान्ति और सुख दूसरे से भंग ही होने देना चाहता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे राष्ट्र का उद्देश्य देश में शान्ति और सुख फैलाना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के साथ-साथ वह संसार के अन्य राष्ट्रों के सामने भी शान्ति और वास्तविक सुख का आदर्श रखना चाहता है। हम ऊपर कई बार कह चुके हैं कि शिक्षा देश व समाज की आवश्यकता की अवहेलना नहीं कर सकती। अतः राष्ट्र के इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हम व्यक्ति को सभी प्रकार की आधुनिक साहित्य और विज्ञान में शिक्षा देंगे, जिससे हमारा राष्ट्र दूसरों से पीछे न रहे और दूसरे हमें निर्बल समझ हमारी शान्ति भंग करने का दुस्साहस न करें। चौथे खण्ड में प्रसंगानुसार हम यह देखेंगे कि शिक्षा के पाठ्य-क्रम में इन साहित्यों और विज्ञानों को किस प्रकार निबद्ध करना चाहिए, जिससे व्यक्ति अपनी सीमित योग्यतानुसार अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त कर सके।

पर इस शक्ति से उसे शान्ति नहीं मिल सकती, क्योंकि व्यक्ति जितना ही शक्तिशाली होता हैं उसकी अशान्ति भी उतनी ही बढ़ती जाती हैं। व्यक्तियों तथा राष्ट्र के शक्तिशाली होने से ही संसार की शान्ति भंग

होती हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के जर्मन और जापानी राष्ट्र इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। अतः अपने नवयुवकों को शान्ति का पाठ पढ़ाना आवश्यक होगा। आत्म-बोध[1] से ही व्यक्ति को शान्ति प्राप्त हो सकती है। हमारी भारतीय संस्कृति का सार भी यही है। वह व्यक्ति को आत्म-बोध की सीख देती है। आत्म-बोध का तात्पर्य अपने को समझने से है। अपने को समझने की चेष्टा में ही व्यक्ति सच्चे सुख और शान्ति का अनुभव कर सकता है। वस्तुतः शिक्षा का उद्देश्य आत्म-बोध ही होना चाहिए। 'आत्म' ही सभी सांसारिक मूल्यों का केन्द्र है। भाई, बहिन, माता-पिता पुत्र आदि व्यक्ति को प्यारे हैं, क्योंकि उनका उसके 'आत्म' से सम्बन्ध हैं। अमुक पुस्तक अथवा वस्तु उसे प्यारी है, क्योंकि वह उसके 'आत्म' को प्यारी है। आत्म-बोध से वास्तविक आनन्द की प्राप्ति हो सकती है।

शिक्षा का उद्देश्य—'आत्म-बोध' हमारे लिये उतना ही पुराना है जितना वेद। याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहा करते थे कि 'आत्म' से बढ़कर संसार में कोई वस्तु नहीं। प्रत्येक व्यक्ति को इसी के बोध की निरन्तर चेष्टा और चिन्ता होनी चाहिए। "अपने को जान" यही याज्ञवल्क्य की सबसे बड़ी शिक्षा है। आत्म-बोध से ही गीता में वर्णित "स्थितिप्रज्ञ" की स्थिति प्राप्त हो सकती है। स्थितिप्रज्ञ की स्थिति सूर्य के समान होती है। वह सूर्य के समान दूसरों के लिये प्रेरणा-शक्ति का काम करता है। सूर्य के उदय से ही चिड़ियाँ चहचहाने लगती है, किसान खेत को चला जाता है और संसार का सारा व्यापार आरम्भ हो जाता है। क्या सूर्य किसी से काम करने के लिये कहता है? नहीं। उसकी उपस्थिति ही दूसरे के लिये प्रेरक हो जाती है। वास्तव में उस व्यक्ति का जीवन सफल है जिसकी उपस्थिति ही दूसरों में अच्छे कार्यों के लिये एक प्रेरणा भर देती है। किसी देशभक्त की उपस्थिति से देशभक्ति की प्रेरणा आ जाती है और सदाचारी की उपस्थिति से सदाचार का पाठ सीख

1 Self-realisation.

लिया जाता है। यदि व्यक्ति आत्म-बोध प्राप्त कर सका तो उसकी उपस्थिति ही इसी प्रकार दूसरों के लिये प्रेरणा का काम करेगी।

आत्म-बोध की प्राप्ति के लिये शिक्षा का संचालन किस प्रकार किया जाय? आत्म-बोध एक अस्पष्ट शब्द-जाल है। इसका ठीक-ठीक अर्थ कैसे समझा जाय। पर आत्म-बोध शब्द-जाल नहीं। आत्म-बोध प्रकृति, पुरुष और ईश्वर के परस्पर-सम्बन्ध की ओर संकेत करता है। आत्म-बोध को प्राप्त करना विश्व के पूरे रहस्य को ही समझना है। वैज्ञानिकों और दार्शनिकों का क्या उद्देश्य है? यदि उनके पास कुछ उद्देश्य है तो उसका सम्बन्ध विश्व के रहस्य को समझने से ही है। अनेक दार्शनिकों ने इसी रहस्य को समझने में अपना प्राण उत्सर्ग कर दिया है। वैज्ञानिक भी अपनी प्रयोगशाला में इसीलिये अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर देता है। वह उत्तरी व दक्षिणी ध्रुव, पहाड़, समुद्र तथा प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं को समझने में अपना प्राण निछावर कर देता है। ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं। इस प्रकार दार्शनिक और वैज्ञानिक के उद्देश्य में भेद नहीं, भेद केवल कार्य-प्रणाली का ही है। दोनों विश्व के रहस्य को समझना चाहते हैं। हम 'आत्म' को इस रहस्य से पृथक् नहीं कर सकते, व्यक्ति उसे जानना चाहता है, क्योंकि उसका उसके 'आत्म' से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक की आत्म-बोध से शत्रुता नहीं, चाहे वह इस बात को माने या न माने। संभव है अपने परीक्षण की दौड़ में वह कभी इस प्रश्न के हल में भी लग जाय।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'आत्म' ही एक ऐसा केन्द्र-बिन्दु है जिससे संसार की सारी वस्तुएँ सम्बन्धित की जा सकती हैं। अतः शिक्षा का उद्देश्य आत्म-बोध की प्राप्ति ही हो सकता है। कम से कम हमारी भारतीय संस्कृति की तो माँग यही है। इसी माँग की पूर्ति में सभी प्राच्य और पाश्चात्य शिक्षा-विशेषज्ञों के विभिन्न शिक्षा आदर्श आ जाते हैं, चाहे वह जीविकोपार्जन, अवकाश का उपयोग, पूर्ण जीवन की तैयारी, व्यक्तित्व-विकास, सामाजिक-उपयोगिता-वृद्धि, चरित्र-गठन या ज्ञानार्जन हो। आत्म-बोध ही एक ऐसा शब्द-सूत्र है जिसमें इन सबके अर्थ निहित

हो जाते हैं। वस्तुतः विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रतिपादित ये सब उद्देश्य आत्म-बोध प्राप्ति के साधन मात्र हैं। साधन के रूप में हमें उन्हें क्रमशः लेना होगा। पर हम किसी साधन को साध्य नहीं मान बैठेंगे। ऐसा करना भारतीय संस्कृति, जिसके हम उत्पत्ति और उत्तराधिकारी हैं, को धोखा देना होगा।

१४—शिक्षा का संचालन किस प्रकार ?

अब प्रश्न यह है कि शिक्षा का संचालन किस प्रकार किया जाय कि व्यक्ति आत्म-बोध की प्राप्ति की ओर अग्रसर हो सके। इस प्रश्न के उत्तर के लिये तो एक अलग ही पुस्तक की आवश्यकता होगी। दूसरे, इसकी विवेचना करना इस पुस्तक का उद्देश्य भी नहीं है, तथापि अति संक्षेप में इसकी ओर थोड़ा संकेत कर देना अप्रासंगिक न होगा। सबसे पहले हमें शारीरिक विकास पर ध्यान देना होगा। शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्—अर्थात् धर्म पालन के हेतु शरीर ही हमारा साधन है। अतः सर्वप्रथम हमें अपने शरीर को ऐसा बनाना है कि इसके कारण हमारे किसी कार्य में विघ्न न पड़े। शारीरिक विकास के लिये व्यक्ति को इस प्रकार शिक्षा देनी है कि वह शरीर के महत्व को भली-भाँति समझ ले और उसकी उसी उद्देश्य से परिचर्या करे जैसे मशीन से काम लेने के लिये उसमें तेल दे दिया जाता है। शरीर का उसे दास नहीं होना है, वरन् शरीर ही को उसका दास होना है। हमारे कर्त्तव्य-पालन के क्षेत्र में शरीर का इतना महत्त्व होते हुए भी इसकी इतनी अवहेलना की जाती है कि हमारे देशवासियों की औसत उम्र लगभग २७ ही साल है। शारीरिक शिक्षा के नाम पर आज जो कुछ हमारे स्कूलों में किया जाता है वह कोरी विडम्बना है। मानसिक विकास पर जितना ध्यान दिया जाता है यदि उसका दसांश भी इस ओर उद्योग किया जाता तो दशा इतनी सोचनीय न होती।

शारीरिक शिक्षा के बाद हमें संवेग[1] की शिक्षा पर ध्यान देना होगा।

---

1. Emotion.

आज समाज में जितनी अव्यवस्था दिखलाई पड़ रही है उस सबका कारण संवेग की शिक्षा की अवहेलना ही है। हम दूसरों को कष्ट में देख कर क्यों आनन्दित होते हैं ? दूसरे के हित की उपेक्षा कर हम अपने ही स्वार्थ में क्यों लीन रहते हैं ? सहायता देने के योग्य होते हुए भी हम किनारा क्यों कसे रहते हैं ? क्योंकि हमारे संवेग की उचित शिक्षा नहीं हो सकी है। मानसिक शिक्षा की धुन में 'हृदय' की शिक्षा की एकदम उपेक्षा की गयी है। जब तक हृदय की शिक्षा पर उचित ध्यान नहीं दिया जायगा हम सभ्य नहीं कहे जा सकते। जिस सीमा तक हम दूसरों की कोमल भावनाओं का आदर करते हैं वहीं तक हम सभ्य कहे जा सकते हैं। कोमल भावनाओं का 'संवेग' अथवा 'हृदय' से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। 'कोमल भावनाओं' अथवा 'संवेग' की शिक्षा के सम्बन्ध में हमें सेवा-भाव, ललित कलाओं, महानता तथा महान परम्पराओं के प्रति व्यक्ति में अनुराग पैदा करना होगा। यदि व्यक्ति इन सब भावों में पग सका तो उसका हृदय पवित्र और उदार होगा। वह दूसरे को समझ सकेगा और साथ ही साथ अपने को भी समझने में समर्थ होगा, क्योंकि दूसरों को समझने का वास्तविक तात्पर्य अपने को ही समझना होता है। यह एक बड़ा भारी सत्य है।

प्रारम्भिक काल में शिक्षा का प्रधान रूप क्रियात्मक होगा, इसके बाद भावात्मक होगा, तीसरा रूप ज्ञानात्मक होगा। क्रियात्मक रूप में शारीरिक, भावात्मक में संवेग अथवा हृदय की और ज्ञानात्मक में मानसिक अथवा बौद्धिक शिक्षा की प्रधानता होगी। हमारा यह विश्वास है कि इन तीनों अंगों के उचित समन्वय से व्यक्ति अपनी पूर्णता को प्राप्त होगा। पूर्णता को प्राप्त होने का तात्पर्य ही आत्म-बोध है। ज्ञानात्मक अंग में मानसिक शिक्षा का समावेश हो जाता है। विभिन्न साहित्य तथा विज्ञान में व्यक्ति को निपुण करना ही इस शिक्षा का रूप होगा। हमारा यह विश्वास है कि इन तीनों अंगों के समुचित समन्वय से व्यक्ति अपनी पूर्णता प्राप्त करेगा। पूर्णता को प्राप्त करने का तात्पर्य ही आत्म-बोध है।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

शिक्षा के उद्देश्य

१—क्या शिक्षा की परिभाषा करना सम्भव है ?

शिक्षा का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध, इसकी सर्वमान्य परिभाषा करना कठिन; क्योंकि व्यक्तियों के विभिन्न आदर्श होते हैं।

२—शिक्षा का वैयक्तिक उद्देश्य

भारतीय शिक्षा-प्रणाली इसी उद्देश्य की पोषक।

व्यक्ति का उच्चतम विकास अथवा आत्म-ज्ञान शिक्षा का उद्देश्य। प्रत्येक का आत्म सार्वभौमिक आत्म से सम्बन्धित। सार्वभौमिक मान्यतायें व्यक्ति के अपने व्यक्तित्व से अधिक स्थायी। ये मान्यतायें व्यक्ति में निहित और अपने पूर्ण विकास की प्रतीक्षा में व्यक्ति ही वास्तविक। समाज की रचना उसके लाभ के लिए। शिक्षा व्यक्ति के विकास की एक प्रक्रिया।

शिक्षा के तत्वों का निर्धारण बालकों की रुचिओं के आधार पर। सभी बालकों के लिए एक ही पाठ्य-वस्तु नहीं।

बालक की स्वतन्त्र क्रियाशीलता को प्रधानता। बालक को आवश्यक बातें अपने निजी अनुभव से सीखना।

३—शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य

विज्ञान, गणतन्त्र तथा समाजवादी विचारों का प्रचार।

बालक को ऐसी शिक्षा देना कि वह अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों को निभा सके। शिक्षा का उद्देश्य भावी जीवन की तैयारी।

जिसकी स्पष्टतः अनुभूति वही . मानव मान्यताएँ समाज से विकसित। सामाजिक गुणों के विकास से ही व्यक्ति को अपना 'आत्म' समझ सकना।

सामाजिक गुणों का विकास करना शिक्षा का उद्देश्य। बालक में जन्मजात् सम्भावनाएँ नहीं। व्यक्ति अपनी सम्भावनाएँ अर्जित करता है, संक्रमित नहीं। व्यक्ति को सुखी जीवन बिताने के उपायों को देना।

पाठ्य-वस्तु का संगठन सामाजिक स्रोतों से। सामाजिक नियन्त्रण के आधार पर स्कूल का संचालन। स्कूल एक छोटा समाज।

४—शिक्षा के वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्य में भेद

दोनों में विरोध—वैयक्तिक उद्देश्य का बालक की सम्भावनाओं में विश्वास—सामाजिक उद्देश्य इसका विरोधी।

५—वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्यों की देन

दोनों का प्रभाव शिक्षा-प्रणालियों पर। वैयक्तिक उद्देश्य के अनुसार शिक्षा का बाल-केन्द्रित होना।

सामाजिक उद्देश्य के कारण शिक्षा में अब पहले से अधिक वास्तविकता—व्यावसायिक शिक्षा और नागरिकता की शिक्षा।

६—वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्यों में समन्वय

समन्वय की बड़ी आवश्यकता। व्यक्ति और समाज दोनों के हित पर ध्यान आवश्यक। दोनों एक दूसरे पर निर्भर। दोनों उद्देश्यों के उच्चतम भावों को अपनाना।

समाज और व्यक्ति दोनों सत्य। व्यक्तियों में विभिन्नताएँ। व्यक्ति एकदम कोरा नहीं पैदा होता।

समाज व्यक्तियों का केवल एक योग ही नहीं। व्यक्ति और समाज की परस्पर-निर्भरता। दोनों का विकास साथ-साथ।

समाज के अन्तर्गत व्यक्ति का उच्चतम विकास करना शिक्षा का उद्देश्य।

७—शिक्षा का उद्देश्य नागरिकता की शिक्षा

गणतन्त्र के विकास से इस उद्देश्य पर बल। गणतन्त्र की सफलता के लिए अच्छे नागरिक बनाना। व्यक्ति के उच्चतम विकास के लिए यह आवश्यक। नागरिक के कर्तव्यों और अधिकारों की व्यक्ति में चेतना लाना तथा उनके पालन में उसे निपुण करना शिक्षा का उद्देश्य। शिक्षा का उद्देश्य इससे अधिक विस्तृत होना चाहिए।

८—शिक्षा का उद्देश्य व्यावसायिक शिक्षा

शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को उसके विशिष्ट व्यवसाय के लिए तैयार करना। सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर ध्यान नहीं। अतः यह उद्देश्य अधूरा।

९—शिक्षा का उद्देश्य पूर्ण रूप से रहना सिखाना

स्पेन्सर का यह उद्देश्य अपूर्ण, क्योंकि व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास पर ध्यान नहीं।

१०—शिक्षा का उद्देश्य चरित्र-विकास

इस उद्देश्य से व्यक्ति नैतिक। व्यक्ति के सर्वांगीण विकास की चर्चा नहीं। सामाजिक उत्तरदायित्वों पर ध्यान रखते हुए उच्चतम विकास करना।

११—शिक्षा की आवश्यकता और प्रधान उद्देश्य

शिक्षा की आवश्यकता शिक्षा का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति का विकास करना, बुद्धि के विकास की आवश्यकता।

१२—शिक्षा के उद्देश्य में समाज-गति के अनुसार परिवर्तन

शिक्षा का कोई शाश्वत उद्देश्य नहीं। देश-काल के अनुसार परिवर्तन आवश्यक। समाज की माँग के अनुसार शिक्षा का आयोजन। शिक्षा और समाज एक दूसरे पर निर्भर। स्वतन्त्र भारत में शिक्षा का दृष्टिकोण।

१३—हमारी शिक्षा का उद्देश्य

शिक्षा देने का उद्देश्य शक्ति देना। शरीर, मस्तिष्क और चरित्र को पूर्णरूपेण विकसित करना। हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली कुछ दूषित। भौतिक ज्ञान साधन-साध्य नहीं। शिक्षा का उद्देश्य वास्तविक सुख व शान्ति देना हमारे उद्देश्य में भारतीयता का पुट आवश्यक। शान्ति और

सुख का पाठ दूसरों को सिखलाना हमारा उद्देश्य। अतः शिक्षा-श्रम इसी ओर केन्द्रित करना आवश्यक।

शक्ति प्राप्त करना हमारी शिक्षा का उद्देश्य नहीं, आत्म-बोध शिक्षा का परम उद्देश्य।

आत्म-बोध से प्रकृति, पुरुष और ईश्वर के परस्पर-सम्बन्ध की ओर संकेत। आत्म-बोध को प्राप्त करने का अर्थ विश्व के पूरे रहस्य को समझना।

'आत्म' ही एक ऐसा केन्द्र-विन्दु जिससे संसार की सारी वास्तुएँ सम्बन्धित। 'आत्म-बोध' के उद्देश्य में सभी उद्देश्य निहित।

१४—शिक्षा का संचालन किस प्रकार

सबसे पहले शारीरिक विकास पर ध्यान। शरीर का दास नहीं होना, वरन् शरीर को अपना दास बनाना

संवेग की शिक्षा पर ध्यान। संवेग की शिक्षा की अवहेलना सामाजिक अव्यवस्था का कारण। हृदय की शिक्षा पर ध्यान देना। 'संवेग' अथवा 'हृदय' की शिक्षा के लिए सेवा-भाव, ललित कलायें, तथा महान परम्पराओं के प्रति अनुराग पैदा करना।

प्रारम्भिक काल में शिक्षा का रूप क्रियात्मक, तब भावात्मक और ज्ञानात्मक।

प्रथम खण्ड के लिए

सहायक पुस्तकें

१—वाइल्ड्स, ई० एच०—द फॉउन्डेशन्स ऑव् माडर्न एडूकेशन, राइनहार्ट कम्पनी, न्यूयार्क, १६४२।

२—सिडनीहुक, एडूकेशन फॉर माडर्न मैन, द डायल प्रेस, न्यूयार्क, १६४६।

३—टॉमस ऐण्ड लैङ्ग—प्रिन्सीपुल्स ऑव् माडर्न एडूकेशन, हूटन मिफ्लिन कम्पनी, न्यूयार्क, १६३७।

४—नन, टी० पी०—एडूकेशन इट्स डेटा ऐण्ड फर्स्ट प्रिन्सीपुल्स, अध्याय १, एडवर्ड अर्नाल्ड कं०, लन्दन १९४५।
५—हैमिल्टन, ई० आर०—द टीचर ऑन द थ्रेशहोल्ड, अध्याय २।
६—रेन पी०—द इण्डियन टीचर्स गाइड, अध्याय १।
७—ऑलसन ऐण्ड अदर्स—स्कूल ऐण्ड कम्यूनिटी, अध्याय १, २, प्रेन्टिस-हाल, न्यूयार्क, १९४५।
८—रेमाण्ट—प्रिन्सीपुल्स ऑव् एडूकेशन, अध्याय १, ओरिएण्ट लॉङ्ग-मैन्स, कलकत्ता, १९५५।
९—चौबे, सरयू प्रसाद—सम फ़ॉउण्डेशन्स ऑव् एडूकेशन, भारत पब्लिकेशन्स, आगरा, १९५६।
१०—चौबे, सरयू प्रसाद—सेकेण्डरी एडूकेशन फ़ॉर इण्डिया, अध्याय ६, आत्माराम ऐण्ड सन्स, दिल्ली, १९५६।
११—मैरीटेन, जे०, एडूकेशन एट द क्रासरोड्स, खण्ड १, न्यू हेवन, १९४३।
१२—हेण्डेरसन, एस० वी० पी०—इन्ट्रोडक्सन टु फ़िलॉसॉफी ऑव् एडूकेशन, युनिवर्सिटी ऑव् शिकागो, शिकागो, १९४७।
१३—लॉज, आर० सी०—फ़िलासॉफ़ी ऑव एडूकेशन, हार्पर, १९४७।
१४—एबी ऐण्ड ऐरोउड—द डेवलपमेंट ऑव माडर्न एडूकेशन, अध्याय ७, ८, १३, १७, २०, २१, २२ प्रेण्टिस-हॉल, न्यूयार्क, १९३४।
१५—बोड, बी०, एच०—हाऊ वी लर्न, अध्याय १४ व १५, डी० सी० हीथ ऐण्ड कम्पनी, बोस्टन १९४०
१६—रॉस—ग्राउण्डवर्क ऑव एडूकेशन थियरी, जार्ज हैरप, लन्दन १९४३।
१७—रस्क—डॉक्ट्रिन्स ऑव् ग्रेट एडूकेटर्स, मैकमिलन, लन्दन, १९४८।
१८—रस्क – द फ़िलॉसॉफ़िकल बेसेज़ ऑव् एडूकेशन, यू० लन्दन प्रेस, १९२९।
१९—ह्वाइटहेड—द ऐम्स ऑव् ऐडूकेशन।
२०—रसेल—एडूकेशन ऐण्ड सोशल अर्डर, जार्ज ऐलेन, लन्दन, १९३३।
२१—ईटन—फ़िलॉसॉफ़ी ऑव् एडूकेशन।
२२—होर्न, एच० एच०—द डेमोक्रैटिक फ़िलॉसॉफ़ी ऑव् एडूकेशन, मैकमिलन, न्यूयार्क १९३२।

२३—डीवी, जॉन—डेमाक्रसी ऐण्ड एडूकेशन, मैकमिलन, न्यूयार्क, १९१६।
२४— ,, ,, —एक्सीपीरियन्स ऐण्ड नेचर, पृष्ठ ४०३-४०४।
२५—जेम्स, डब्लू०—प्रैग्मैटिज़्म।
२६—चाइल्ड्स, जे० एल०—एडूकेशन ऐण्ड द फ़िलॉसॉफ़ी ऑव एक्स-
पेरिमेण्टलिज़्म, डी० ऐप्लीटन न्यूयार्क, १९३१
२७—चाइल्ड्स—एडूकेशन ऐण्ड मॉल्स, ऐप्लीटन-सेन्चुरी न्यूयार्क, १९५०।
२८—फ़िण्डले—द फ़ॉउण्डेशन्स ऑव् एडूकेशन, भाग १, अध्याय, २–५।

द्वितीय खण्ड

शिक्षा का ऐतिहासिक आधार

द्वितीय खण्ड के विषय में दो शब्द

सफल शिक्षक होने के लिए शिक्षा के दार्शनिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक आधारों का समझना बड़ा ही आवश्यक है, क्योंकि इससे उसे भूत काल की शिक्षा-सम्बन्धी सफलताओं के ज्ञान के साथ-साथ यह भी मालूम हो जाता है कि किन-किन क्षेत्रों में अभी कैसे-कैसे अन्वेषण करने हैं;—अर्थात् इन आधारों की सहायता से हमें शिक्षा-सम्बन्धी भूत, वर्त-मान और भविष्य—तीनों काल की बातों का अनुमान होता है। इन बातों के अनुमान बिना शिक्षा-क्षेत्र में कोई भी अपने उत्तरदायित्वों का सम्पादन सफलतापूर्वक नहीं कर सकता। गत खण्ड में हमने शिक्षा के दार्शनिक आधार पर दृष्टिपात किया है। अगले दो खण्डों में हम शिक्षा के ऐतिहासिक और सामाजिक आधारों की क्रमशः चर्चा करेंगे। यहाँ पहले ऐतिहासिक आधारों की चर्चा की जायगी। ऐतिहासिक आधार में हम केवल योरपीय और भारतीय शिक्षा के उद्देश्यों की ऐतिहासिक धारा पर ही अति संक्षेप में दृष्टिपात करेंगे। स्पष्ट है कि यहाँ पर हम शिक्षा के इतिहास पर विचार नहीं करेंगे। यहाँ हम केवल यह समझने की चेष्टा करेंगे कि शिक्षा के उद्देश्यों में उत्तरोत्तर विकास कैसे हुआ है। इस विवेचन की सहायता से हम यह समझेंगे कि सामाजिक वातावरण में अपने को व्यवस्थित करने के क्रम में मानव अपने शिक्षा के उद्देश्यों में किस प्रकार समय-समय पर परिवर्तन करता रहा है। शिक्षा के उद्देश्यों के ऐतिहासिक आधार का सम्बन्ध मानव विकास की उन सफलताओं से है जिनका 'मानव' के 'सीखने' पर प्रभाव पड़ता है और जो वर्तमान शैक्षिक अवसरों की पृष्ठिभूमि बनाती हैं। अतः आशा की जाती है कि अगले पृष्ठों की बातें उपादेय सिद्ध होंगी।

११

योरपीय शिक्षा के उद्देश्यों का ऐतिहासिक आधार[1]

संसार के प्रायः सभी देशों की शिक्षा पर योरपीय शिक्षा के आदर्शों का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा है अतः योरपीय शिक्षा के उद्देश्यों के ऐतिहासिक आधार की यहाँ कुछ चर्चा कर देना उपयुक्त जान पड़ता है। नीचे हम इसी विषय पर आ रहे हैं।

स्पार्त्ती[2], यूनानी[3] और रोमन[4] जीवन के आदर्शों से पाश्चात्य देशों के लोग अब भी जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रेरणाएँ खींचते हैं। अतः इनके ही शिक्षा आदर्शों की पहले हम चर्चा करेंगे।

स्पार्त्ती शिक्षा

स्पार्त्ती जीवन में व्यक्ति को पर्याप्त स्वतन्त्रता नहीं प्रदान की गई थी। स्पार्त्ती की शासन-व्यवस्था का संगठन इस प्रकार किया गया था कि नागरिक का ध्यान अपने निज हित की ओर जावे ही नहीं। व्यक्ति की आजीविका का प्रबन्ध 'राज्य'[5] की ओर से हो जाया करता था। अतः स्पार्त्तन के सामने केवल दो प्रधान आदर्श थे—(१) युद्ध कला और (२) सैनिक नागरिक की शिक्षा। स्पार्त्ता में सभी बालक 'राज्य' की सम्पत्ति माने जाते थे। अतः शिक्षा देना राज्य का ही कर्तव्य माना जाता था। "राज्य अथवा शिक्षा का आदर्श नागरिक में अदम्य उत्साह, धैर्य, सहनशीलता, देशभक्ति, आज्ञापालन, बड़ों के प्रति सम्मान तथा समया-

1. The Historical Basis of Aims of European Education
2. Spartan. 3. Greek. 4. Roman. 5. State.

नुकूल व्यवहार उत्पन्न करने की क्षमता उत्पन्न करना था। अतः उनका उद्देश्य केवल सैनिक था, पारस्परिक सहानुभूति तथा कोमल भावनाओं को कहीं भी स्थान न दिया गया।[1]

सात वर्ष की अवस्था से बालक की प्राथमिक शिक्षा प्रारम्भ की जाती थी। प्रारम्भ से ही बालकों को कठिनाइयाँ सहने के लिये अभ्यस्त किया जाता था। शारीरिक शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को सैनिक जीवन के योग्य बनाना था। स्पार्त्तन शिक्षा-प्रणाली में बौद्धिक शिक्षा का अभाव था। सैनिक शिक्षा के आगे इसे एकदम गौण समझा जाता था। पढ़ना-लिखना वर्जित न था। अतः कुछ लोग स्वतः घर पर ही पढ़ लिया करते थे। अंकगणित को विशेष महत्व नहीं दिया गया था। भूगोल, इतिहास और खगोल आदि विषयों को तो कोई पढ़ता ही न था। साहित्य के अध्ययन को भी विशेष प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था। परन्तु होमर की कविताओं तथा युद्ध-सम्बन्धी गानों को याद करने के लिए सबको प्रेरणा दी जाती थी। शिक्षा-क्रम में संगीत को स्थान अवश्य प्राप्त था, परन्तु वाद्य संगीत को गौण समझा जाता था। स्वर की मधुरता को प्रधानता दी जाती थी।

स्पार्त्तन स्त्रियों को बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे। उन्होंने स्त्रियों को स्वतन्त्रता दे रक्खी थी। उनके शब्दों का बड़ा आदर किया जाता था। किसी को उच्च अथवा नीच ठहराने में उनके निर्णय को बहुधा माना जाता था। स्त्रियों को ऐसी शिक्षा दी जाती थी जिससे वे कुशल सैनिक उत्पन्न कर सकें। उनकी शारीरिक शिक्षा तथा सफल गृहणी बनने की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

शिक्षा के द्वारा स्पार्त्तन युवकों में साहस, उत्साह, देशभक्ति तथा कष्ट-सहिष्णुता आदि गुण आ जाते थे। स्पार्त्तनों की शिक्षा-प्रणाली शताब्दियों तक चलती रही। एथेन्स के व्यक्तिवाद की लहर का उन पर विशेष प्रभाव न पड़ सका। वे अपने सैनिक जीवन को ही बहुत काल

---

1. लेखक द्वारा रचित 'पाश्चात्य शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास' पृ० ३. द्वितीय सं०, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, १९५३।

तक श्रेयस्कर समझते रहे। फलतः शारीरिक बल तथा सौन्दर्य की पराकाष्ठा को वे पहुँच गये और इस सम्बध में अब भी उनसे प्रेरणा ली जाती है; परन्तु जीवन के रहस्य को समझने में वे असफल रहे। फलतः उनमें कोई बड़ा कलाकार, दार्शनिक अथवा नाट्यकार नहीं हो सका। इस प्रकार स्पष्ट है कि मानव हित की दृष्टि से स्पार्त्ती शिक्षा को हम सफल नहीं कह सकते।

यूनानी शिक्षा[1]

एथेन्स में प्रचलित शिक्षा स्पार्त्ती शिक्षा-प्रणाली से भिन्न थी, क्योंकि स्पार्त्ता और एथेन्सवासियों के जीवन-आदर्शों में भेद था। एथेन्सवासी व्यक्तित्व के पूर्ण विकास पर ध्यान देने के पक्षपाती थे। उनका विश्वास था कि शक्तियों के समान विकास से ही आत्मसंयम, शुद्धता और गाम्भीर्य आ सकता है। शारीरिक सौन्दर्य की प्राप्ति की धुन में मानसिक उन्नति की ओर भी वे पूरा ध्यान देते थे। एथेन्स की शिक्षा में राज्य-सेवा के उद्देश्य पर पूरा ध्यान रखा जाता था। राज्य और व्यक्ति के हित में सामञ्जस्य हमें पहली बार एथेन्स शिक्षा-प्रणाली में ही मिलता है। शिक्षा राज्य की देख-रेख में दी जाती थी, परन्तु वह अनिवार्य न थी। स्त्री-शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

४७९ ई० पू० परशियन युद्ध के बाद यूनानी युवकों के जीवन-आदर्श में परिवर्तन आने लगा। फलतः उनका सामाजिक संगठन भी अब एक दूसरे प्रकार का हो चला। अब परम्परागत विचारों में परिवर्तन आने लगे। अब लोग पहले की तरह 'राज्यहित' को 'व्यक्तिहित' से ऊपर समझने के पक्षपाती नहीं रहे। फलतः शिक्षा का आधार अब व्यक्तिवाद माना गया। नैतिकता की एक नई परिभाषा दी गई जिसमें व्यक्तिगत सुख और स्वार्थ को प्रमुख स्थान दिया गया। इन सब सामाजिक परिवर्तनों के कारण शिक्षा को भी एक नया रूप दिया गया। अब लोग शिक्षा द्वारा सभी सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा साहित्यिक समस्याओं पर विचार

1. Greek Education.

करने की योग्यता प्राप्त करना चाहते थे। शिक्षा की ये सब माँगे पूरी करने के लिए सोफिस्टों[1] ने आश्वासन दिया।

सोफिस्टों की विचारधारा सोफिस्टवाद[2] के नाम से प्रसिद्ध है। सोफिस्टवाद संसार में दैहिक सुख को सबसे अधिक प्रधानता देता है। अतः व्यक्ति हित राज्यहित से कहीं ऊपर है। नैतिकता की कसौटी स्वयं व्यक्ति पर है। अच्छे और बुरे का निर्णय व्यक्ति स्वयं करेगा। एथेन्स के नवयुवक नये जोश में मग्न थे और ऊँची शिक्षा पाने के लिए लालायित थे। अतः उन्होंने सोफिस्टों की नैतिकता पर बिना ध्यान दिये उनसे ऊँची शिक्षा लेना प्रारम्भ कर दिया। सोफिस्टों के नियन्त्रण में शिक्षा का रूप एकदम बदल गया। प्राथमिक शिक्षा सात से तेरह वर्ष तक चलती थी। इस काल में पढ़ना, लिखना, अंकगणित तथा वाद्यसंगीत पर विशेष ध्यान दिया जाता था। माध्यमिक शिक्षा का काल तेरह से सोलह वर्ष तक था। इस काल में व्याकरण, ज्यामिति, संगीत तथा भाषण कला पर विशेष बल जाता दिया था। सोफिस्टों के प्रभावस्वरूप विद्या और साहित्य का प्रचार चारों ओर होने लगा। इस प्रचार का प्रभाव यूनान के अन्य विद्वानों पर भी पड़ा और उन्होंने भी अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए अलग-अलग विद्यालय स्थापित किए। सुकरात की दृष्टि मे सोफिस्टों का प्रभाव यूनानी युवकों के नैतिक और बौद्धिक पतन का कारण था। अतः वह युवकों को प्रश्नोत्तर द्वारा सच्चा ज्ञान देकर उन्हें सत्य के पथ पर लाना चाहता था। प्लैतो[3] ने एकेडेमी और अरस्तू[4] ने लीसियस की स्थापना की। एपीक्यूरस ने अपने 'एपिक्यूरियन सिद्धान्त'[5] के प्रचार के लिए अलग स्कूल खोला। एपरिक्यूरियन सिद्धान्त में इन्द्रिय-सुख को प्रधानता दी जाती है। ज़ेनोफन[6] ने 'विवेक' और 'आत्म-संयम' के प्रचार के लिए एक चौथे स्कूल की स्थापना साइप्रस में की। एथेन्सवासियों की शिक्षा-सम्बन्धी ये सब प्रवृत्तियाँ शताब्दियों तक चलती रहीं। धीरे-धीरे एथेन्स विद्या का सबसे बड़ा केन्द्र हो गया

1. Sophists. 2. Sophism. 3. Plato. 4. Aristotle. 5. Epicurianism. 6. Xenophon.

और योरप के भिन्न-भिन्न स्थानों से विद्याध्ययन के लिए जिज्ञासु यहाँ आने लगे।

रोमन शिक्षा

रोमन के जीवन तथा शिक्षा के आदर्श यूनानियों से भिन्न थे। इसलिये शिक्षा-क्षेत्र में उनकी बहुत सी बातें यूनानियों से निराली हैं। रोमन तात्कालिक उपयोगिता की अवहेलना करना उचित नहीं समझते थे। वे अपने विचारों को कार्यान्वित करना चाहते थे। विचारों की केवल दौड़ान में रहना उन्हें पसन्द नहीं था। रोमन अपने जीवन में अधिकार और कर्त्तव्य को प्रधान स्थान देते थे। अपने विभिन्न सम्बन्धियों तथा राज्य के प्रति अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों का पालन करना रोमवासी अपने जीवन का आदर्श मानते थे। फलतः शिक्षा का भी उद्देश्य इसी ओर था। इन सबकी व्यवस्था करना राज्य का कर्त्तव्य था। अधिकारों और कर्त्तव्यों का संतुलन ही 'राज्य-न्याय' का लक्ष्य समझा जाता था।

रोमन शिक्षा के इतिहास को पाँच भागों में बाँटा जा सकता है। पहला भाग ७५३ ई० पू० से २७२ ई० पू० तक माना जा सकता है। इस काल में शिक्षा का पूरा भार कुटुम्ब पर था। दूसरा काल २७५ ई० पू० से १३२ ई० पू० तक का है। इस काल में रोमन शिक्षा यूनानियों से प्रभावित हुई और उन्हीं के अनुकरण में ग्रामर तथा साहित्य एवं अलंकार शास्त्र के स्कूल खोले गये। तीसरा काल १३२ ई० पू० से ईसा से १०० वर्ष बाद तक का है। यह काल लैटिन साहित्य का स्वर्णयुग कहा जाता है। इस काल में लैटिन ग्रामर स्कूल खूब सुसंगठित हो चले थे। चौथा काल सन् १०० से २७५ ई० तक का है। इस काल में शिक्षा राज-नियन्त्रण के अन्तर्गत आ गई थी और शिक्षा का कौटुम्बिक रूप समाप्त हो चला था। पाँचवा काल सन् २७५ से सन् ५२६ ई० तक माना जा सकता है। इस काल में शिक्षा पर राज्य का पूरा नियन्त्रण था। बिना राज्य की आज्ञा के कोई अध्ययन-कार्य नहीं कर सकता था।

रोमन 'विद्या' का अध्ययन जीवन में उसकी उपयोगिता के लिए करना चाहते थे। यूनानियों का ध्यान विशेषतः बौद्धिक विकास की ओर

था। रोमन भाषण-कला को अपने लिए अधिक उपयोगी समझते थे और उनमें भाषणवक्ता का मान दार्शनिक से अधिक होता था। रोमन इतने शिक्षा-प्रेमी थे कि साम्राज्य का कोई भी ऐसा प्रान्त नहीं था जहाँ एक ग्रामर स्कूल न हो। सरकार की ओर से स्कूलों को सहायता मिलती थी। अध्यापक कुछ राज्यकरों से मुक्त कर दिया जाता था, और वह वेतन पाता था।

मध्ययुग[1]

ईसाई धर्म के प्रचार के साथ योरोपीय जीवन के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में एक नई जागृति आई। ईसाई धर्म ने नैतिकता[2] के एक नये स्तर का निर्माण किया और व्यक्तित्व और समाज के पूरे संगठन को एक नया कलेवर दिया। विश्वास[3], आशा[4] और प्रेम[5] की लहर, चारों ओर फैल गई। भ्रातृत्व और समानता में लोग पहले से अधिक विश्वास करने लगे। व्यक्तिवाद के स्थान पर जीसस क्राइस्ट ने सार्वभौमिकता का पाठ पढ़ाया और जीवन का एक नया आदर्श उपस्थित किया। जीवन के आदर्श में परिवर्तन के साथ शिक्षा के आदर्श का भी बदलना स्वाभाविक था। जीवन में नैतिकता को प्रधान स्थान दिया गया। फलतः शिक्षा का उद्देश्य बौद्धिक विकास से बदल कर नैतिक विकास हो चला। सारी सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिये शिक्षा को एक साधन माना गया। इस दृष्टिकोण के कारण शिक्षा और धर्म का सम्बन्ध दिन पर दिन बढ़ता गया। शैक्षिक संस्थायें गिरजाघरों से सम्बन्धित हो चलीं और बहुत प्रारम्भ से ही बालकों को धर्म में दीक्षा दी जाने लगी। धर्म के इस प्रभाव के कारण सारा योरोप पोप के आधिपत्य के अन्तर्गत आने लगा। फलतः अब धार्मिक शिक्षा को ही प्रधानता दी जाने लगी और शिक्षा का प्रधान उद्देश्य नैतिक हो चला। संयम, आत्म-त्याग, शरीर को कष्ट देकर आध्यात्मिक उन्नति करना, धार्मिक वादविवाद में कौशल प्राप्त करना, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा कुछ उदार कलाओं में शिक्षा देना आदि

1. Medieval Period. 2. A New Standard of Morality. 3. Faith. 4. Hope. 5. Love.

शैक्षिक संस्थाओं के प्रधान उद्देश्य हो गये। परन्तु इस लहर के फलस्वरूप धार्मिक विशदता और उदारता का लोप होने लगा और धार्मिक शिक्षा अन्धविश्वास और कर्मकाण्ड में अटक गई। फलतः जीवन-आदर्शों में आवश्यक परिवर्तन लाने के लिये सुधार की लहरों का आगमन हुआ। नीचे हम इन लहरों से अनुप्राणित शैक्षिक उद्देश्यों की धारा पर संक्षेप में दृष्टिपात करेंगे।

सुधार काल[1]

पुनरुत्थान[2] के प्रभाव स्वरूप नैतिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में सुधार की आवश्यकता बहुत दिनों से समझी जाने लगी। फलतः मार्टिन लूथर[3] के बहुत पहले ही फ्रान्स, जर्मनी तथा इंगलैण्ड में सुधार की ध्वनि उठाई जा चुकी थी। वस्तुतः सुधार की वास्तविक लहर जर्मनी से मार्टिन लूथर द्वारा उठाई गई। चर्च में नाना-प्रकार के दोष आ गये थे। वाह्याडम्बर की लपेट में चर्च वास्तविकता खो बैठी थी। विद्या के प्रचार से जनवर्ग भी बाइबिल को स्वयं पढ़कर चर्च के दोषों को कुछ हद तक समझ सकता था। लूथर तथा काल्विन[4] के आन्दोलनों से धार्मिक बातों में चर्च के पादरियों का अधिकार न मानकर 'बाइबिल' का माना गया। वाह्याडम्बर के स्थान पर सच्चाई को स्थान देना सुधार काल का प्रधान उद्देश्य था। सुधार काल में साधारण वर्ग का यह विश्वास हो चला कि अपने पापों से उद्धार के लिए व्यक्ति स्वयं उत्तरदायी है। इस प्रकार धर्म और आध्यात्मिकता की कुञ्जी प्रत्येक व्यक्ति के हाथ में सौंप दी गई। सर्वसाधारण के लिए ऐसा विचार बड़ा ही नया था। सबकी आँखें खुलीं। सब लोग अपने-अपने विकास के लिए सचेत हो चले। फलतः शिक्षा के क्षेत्र का भी विकसित होना अनिवार्य हो गया। अब शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार मानी जाने लगी। यहीं से सार्वलौकिक[4] शिक्षा का विकास प्रारम्भ होता है।

लूथर शिक्षा को सभी वर्गों के लिए सुलभ करना चाहता था। वह

1. Reformation Period. 2. Renaissance. 3. Martin Luther (1483-1546) 4. John Calvin (1509-1564) 5. Universal Education.

शिक्षा द्वारा व्यक्ति को ऐसा बनाना चाहता था कि वह अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए ईसाई समाज के स्थायित्व में योग दे सके। लूथर की तरह काल्विन भी धार्मिक मामलों में व्यक्ति को पूरी स्वतन्त्रत' देना चाहता था। शिक्षा द्वारा वह व्यक्ति में जिज्ञासा और अन्वेषण की प्रवृत्ति उत्पन्न करना चाहता था। परन्तु खेद है कि लूथर और काल्विन के अनुयायी उनके सिद्धान्तों को शिक्षा-क्षेत्र में कार्यान्वित नहीं कर सके। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा विचार-स्वातन्त्र्य आदि आदर्श केवल कहने के लिये थे। व्यक्ति की स्वतन्त्रता संस्थाओं में अटक गई। सुधारकों में कई दल हो गये।

सुधार की लहर को रोकने के लिये 'आर्डर ऑव जीऐस'[1] की स्थापना की गई। इस 'आर्डर' ने अपने अलग शिक्षा-सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करना प्रारम्भ किया। सुधार काल में इसकी शिक्षा-प्रणाली सबसे अधिक प्रभावशाली थी। इस आर्डर के संस्थापक इगनेशस लायला[2] थे। 'आर्डर' के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य प्रोटेस्टैण्ट लोगों को पुनः रोमन चर्च में लाना तथा सुधार की लहर को रोकना था। धर्म के अतिरिक्त सार्वलौकिक बातों में भी व्यक्ति को शिक्षा देना 'आर्डर' का उद्देश्य था।

आधुनिक काल

मध्य कालीन शिक्षण-प्रक्रिया में बालक के व्यक्तित्व-विकास पर उचित ध्यान नहीं दिया जाता था। फलतः व्यक्ति बन्धनों में जकड़ा हुआ था। व्यक्ति को परतन्त्रता की बेड़ी से छुड़ाने के लिये फ्रांस की राज्यक्रान्ति हुई। इस राज्यक्रान्ति के पूर्व कमेनियस ने शिक्षा के तीन उद्देश्य निर्धारित किये थे: (१) व्यक्ति को जीवन में सफलता के लिये ज्ञान देना, (२) नैतिक तथा चरित्र-विकास के लिये उसे विवेक देना, तथा (३) उसमें ईश्वर-भक्ति उत्पन्न करना।

कमेनियस के बाद शिक्षा-क्षेत्र में जॉन लॉक[4] को प्रमुख व्यक्तिवादी कहा जा सकता है। लॉक मनुष्य को स्वभाव से ही स्वतन्त्र मानता था। व्यक्ति

1. The Order of Jesus. 2. Ignatius Loyola (1491-1556). 3. Comeniu, (1592-1670) 4. John Locke (1632-1704)

के आगे राज्य का अस्तित्व उसने स्वीकार नहीं किया। लॉक का शिक्षा-उद्देश्य शारीरिक, नैतिक तथा मानसिक था।

रूसो[1] शिक्षा-क्रम में व्यक्तिवाद का कट्टर पक्षपाती है। उसके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालक में नैसर्गिक गुणों का स्वाभाविक ढंग से उच्चतम विकास करना है। पिछले खण्ड में शिक्षा-सम्बन्धी रूसो के विचार का विवेचन हम कर चुके हैं। संक्षेप में यहाँ इतना कह देना पर्याप्त है कि एक प्रकार से शिक्षा में आधुनिक काल का प्रारम्भ रूसो से होता है, क्योंकि शिक्षा में वर्तमान प्रगतियों के बीज हमें रूसो की विचार-धारा में ही मिलते हैं। रूसो सामाजिक बन्धनों को तोड़ना चाहता है और व्यक्ति को उनसे स्वतन्त्र कर उसकी ज्ञानेन्द्रियों का उच्चतम विकास करना चाहता है जिससे वह अपना हृदय और मस्तिष्क स्वयं शिक्षित कर सके।

रूसो के प्रभावस्वरूप शिक्षा में मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक और सामाजिक विचारधाराओं का प्रादुर्भाव होता है। मनोवैज्ञानिक विचारधारा के प्रमुख प्रतिपादक में पेस्तालॉज़ी, हरबार्ट और फ्रोबेल के नाम लिए जा सकते हैं। इनके शिक्षा-उद्देश्यों की विवेचना करते हुए प्रथम खण्ड में हम देख चुके हैं कि इन्होंने अपने शिक्षा-सिद्धान्त को बालक के व्यक्तित्व पर आधारित किया।

स्पेन्सर तथा हक्सले ने शिक्षा में वैज्ञानिक विचारधारा का प्रतिपादन किया। बालक के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए तथा उसे सुखी सांसारिक जीवन बिताने के योग्य बनाने के हेतु इन्होंने शिक्षा में विज्ञान तथा व्यावसायिक उद्देश्यों को महत्व दिया।

शिक्षा में सामाजिक दृष्टिकोण को लाने का प्रमुख श्रेय डीवी को है। डीवी के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को ऐसा बनाना है कि वह सामाजिक उन्नति में अपना हाथ अच्छी तरह बटा सके। स्कूल में वास्तविक सामाजिक वातावरण का आभास देते रहने से व्यक्ति अपनी शक्तियों का समुचित और वांछित विकास कर लेगा और वह सामाजिक उत्तर-

1. Rousseau (1712-1778)

दायित्वों को निभाने में सफल होगा। सामाजिक दृष्टिकोण के साथ ही साथ डीवी शिक्षा में उपयोगितावाद को भी लाता है। उसका कहना है कि शिक्षा का उद्देश्य बालक को उपयोगी अनुभव देना है और यह उपयोगी अनुभव उसकी वैयक्तिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं के सन्दर्भ में दिया जायगा। इस प्रकार डीवी के प्रभाव स्वरूप शिक्षा में प्रयोजनवाद[1] का प्रचार हुआ है।

वर्तमान युग में वैज्ञानिक उन्नति तथा उद्योगों के यन्त्रीकरण के कारण व्यक्ति को किसी व्यवसाय-विशेष में कौशल देना शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य हो चला है। फलतः आज शिक्षा का उद्देश्य अव्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक ज्ञान न प्राप्त करके किसी विशिष्ट व्यवसाय में उच्चतम ज्ञान प्राप्त करना है। प्रयोजनवाद के कारण शिक्षा-क्षेत्र में परम्परागत मान्यताओं को बहिष्कृत करने की प्रवृत्ति जाग्रत हो गई है और उनके स्थान पर नई-नई मान्यताओं के निर्माण के लिए बालक को अनुप्रेरित करने की चर्चा की जाती है। शिक्षा में यान्त्रीकरण की प्रगति तथा संकुचित व्यावसायिक कौशल की प्रवृत्ति के आ जाने के कारण बालक का व्यक्तित्व शिक्षा-क्रम में कुछ उपेक्षित अवश्य हुआ है। परन्तु मनोविज्ञान तथा व्यावसायिक निर्देशन[2] के प्रचार से बालक के व्यक्तित्व के महत्व को भी बहुत हद तक वर्तमान शिक्षा-क्रम में स्वीकार किया जाता है।

वर्तमान शताब्दी से शिक्षा-क्षेत्र में हम एक दूसरी प्रगति भी पाते हैं। इस शताब्दी के प्रारम्भ से ही जर्मनी, फ्रान्स, इंगलैंड तथा इटली आदि पाश्चात्य देशों की शिक्षा-व्यवस्था में राष्ट्रीय भावना तथा देशभक्ति के उद्देश्य के अनुसार बालकों को शिक्षित किया जाता था। फलतः इन सभी देशों के नवयुवकों में अपने-अपने देशों को अन्य देशों से अच्छा समझने की प्रवृत्ति आ गई। अतः इन देशों के सामूहिक कार्य भी संकुचित राष्ट्रीयता से अभिप्रेरित हो चले। फल यह हुआ कि विश्व को दो महायुद्धों की ज्वाला में तपना पड़ा और मानव की पूरी सामाजिक नींव ही हिल पड़ी। इसलिये द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद शिक्षा में संकुचित राष्ट्रीयता के दृष्टि-

1. प्रथम खण्ड में देखिए। 2. Vocational Guidance.

कोण को वहिष्कृति किया गया और उसके स्थान पर विश्वबन्धुत्व[1] की भावना का संचार किया गया। शिक्षा-क्षेत्र में आज यह विश्वास किया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने देश का सफल नागरिक होते हुए भी विश्व-नागरिकता[2] की भावना अपने में अपना सकता है।

आज शिक्षा में गणतन्त्र[3] की बात कही जाती है। इस विचारधारा के कारण व्यक्ति तथा समाज को एक दूसरे पर निर्भर समझा जाता है। अतः नागरिकता की शिक्षा का तात्पर्य व्यक्ति को 'राज्य'[4] का दास नहीं बनाना है। नागरिकता की शिक्षा का तात्पर्य व्यक्ति को अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों से अवगत करना है, जिससे वह समाज-हित के सन्दर्भ में अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके। अब व्यक्ति-हित और समाज-हित को अलग-अलग नहीं माना जाता। फलतः व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास में ही समाज की उन्नति निर्भर समझी जाती है। समाज व्यक्तियों का ही तो समूह है, और समाज के परे व्यक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि व्यक्ति को समाज में रहना ही है। इस प्रकार शिक्षा में वैयक्तिक और सामाजिक दोनों कल्याण को प्रधानता दी जाती है।

साधारणतः यह कहा जा सकता है कि वर्तमान शिक्षा के उद्देश्यों में मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक तथा सामाजिक आदि सभी भावनाओं का निचोड़ आ गया है। अतः आज की शिक्षा में पिछले सभी अच्छे उद्देश्यों का समावेश दिखलाई पड़ता है। ऊपर हम कह चुके हैं कि नागरिकता के उद्देश्य के साथ सामाजिक कल्याण पर पूरा ध्यान देना आवश्यक है, क्योंकि व्यक्ति और समाज एक दूसरे पर निर्भर हैं। आजकल जब यह कहा जाता है कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को जाति की आध्यात्मिक और सांस्कृतिक सम्पत्ति के अनुकूल बनाना है तो इसके अन्तर्गत शिक्षा के साहित्यिक, वैज्ञानिक, धार्मिक, तथा सामाजिक आदि सभी उद्देश्य आ जाते हैं।

---

1. Internationalism. 2. World citizenship. 3. Democracy in Education 4. State.

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

सभी देशों की शिक्षा पर योरपीय शिक्षा के आदर्शों का कुछ प्रभाव।

स्पार्त्ती, यूनानी और रोमन जीवन आदर्श पाश्चात्य देश के लिये अब भी अनुकरणीय।

स्पार्त्ती शिक्षा

व्यक्ति को पर्याप्त स्वतन्त्रता नहीं। दो आदर्श—युद्ध कला और सैनिक नागरिक की शिक्षा। शिक्षा राज्य का कर्त्तव्य। शिक्षा का उद्देश्य सैनिक। कोमल भावनाओं को स्थान नहीं।

बौद्धिक शिक्षा का अभाव। पढ़ना-लिखना घर पर ही सीखना।

स्त्रियों का बड़ा आदर। स्त्रियों की शारीरिक शिक्षा तथा सफल गृहणी की शिक्षा पर विशेष ध्यान।

शिक्षा-द्वारा युवकों में साहस, उत्साह, देश-भक्ति तथा कष्ट-सहिष्णुता का गुण देना।

मानव-हित में स्पार्त्ती शिक्षा सफल नहीं।

यूनानी शिक्षा

व्यक्तित्व के पूर्ण विकास पर ध्यान। शारीरिक सौन्दर्य पर भी अधिक ध्यान। राज्य-सेवा के उद्देश्य पर ध्यान। राज्य और व्यक्तिहित में सामंजस्य।

परशियन युद्ध के बाद शिक्षा का आधार व्यक्तिवाद। सोफिस्टों के प्रभाव के कारण दैहिक सुख की ओर झुकना। सोफिस्टों द्वारा शिक्षा का प्रचार। एथेन्स सारे योरुप के लिए विद्या का केन्द्र।

रोमन शिक्षा

तात्कालिक उपयोगिता की अवहेलना नहीं। अधिकार और कर्त्तव्य को जीवन में प्रधान स्थान। अतः शिक्षा का उद्देश्य इसी ओर।

रोमन शिक्षा के पाँच काल।

सरकार की ओर से स्कूलों को सहायता। शिक्षक का बड़ा प्रचार।

मध्य युग

ईसाई धर्म के प्रचार से नई जागृति। विश्वास, आशा और प्रेम की लहर। सार्वभौमिकता का पाठ सबको मिला। नैतिकता पर बल। अतः शिक्षा का उद्देश्य बौद्धिक विकास न होकर नैतिक विकास हो चला। शिक्षा और धर्म में सम्बन्ध बढ़ता गया। योरुप पोप के अधिकार में आने लगा। धार्मिक विशदता और उदारता का लोप। धार्मिक शिक्षा अन्ध-विश्वास और कर्मकाण्ड में अटक गई। फलतः सुधार की लहरों का आना।

सुधार काल

चर्च में दोष। लूथर और काल्विन का आन्दोलन। धर्म और आध्यात्मिकता की कुञ्जी प्रत्येक व्यक्ति के हाथ में सौंप दी गई। शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार मानी जाने लगी। फलतः सार्वलौकिक शिक्षा का विकास। सुधारकों मे कई दल।

'ऑर्डर ऑव जीसस' का शिक्षा-कार्य बड़ा ही प्रभावशाली।

आधुनिक काल

फ्रांस की राज्यक्रान्ति। कमेनियस का शिक्षा उद्देश्य में व्यक्तिवाद। जॉन लॉक भी शिक्षा-क्षेत्र में व्यक्तिवादी।

रूसो व्यक्तिवादी। बालक के नैसर्गिक गुणों का स्वतन्त्र विकास। शिक्षा में आधुनिक काल का प्रारम्भ रूसो से।

मनोवैज्ञानिक विचारधारा के प्रतिपादक-पेस्तालॉज़ी, हरबार्ट और फ्रोबेल। शिक्षा सिद्धान्त बालक के व्यक्तित्व पर आधारित।

स्पेन्सर और हक्सले द्वारा शिक्षा में वैज्ञानिक विचारधारा का प्रति-पादन। शिक्षा में विज्ञान तथा व्यावसायिक विषयों को महत्व।

डीवी शिक्षा में सामाजिक दृष्टिकोण तथा उपयोगितावाद तथा प्रयो-जनवाद लाता है।

वर्तमान काल की शिक्षा में व्यावसायिक कौशल-प्राप्ति का महत्व। नई मान्यताओं के निर्माण के लिए बालक को अनुप्रेरित करते रहना। यन्त्रीकरण की प्रगति और मनोविज्ञान तथा व्यावसायिक निर्देशन के प्रचार से बालक के व्यक्तित्व पर ध्यान।

अब शिक्षा में विश्वबन्धुत्व की भावना का संचार।

आज की शिक्षा में वैयक्तिक और सामाजिक दोनों कल्याण की प्रधानता।

आज की शिक्षा में पिछले सभी अच्छे उद्देश्यों का समावेश।

सहायक पुस्तकें

१—मनरो, पी० : हिस्ट्री ऑव एडूकेशन, मैकमिलन, १९१६।

२—वाइल्ड्स, इ० एच० : द फ़ाउण्डेशन्स ऑव मॉडर्न एडूकेशन, राइनहार्ट ऐण्ड कं०, न्यूयार्क, १९४२।

३—एबी एण्ड एरोउड : द डीवलपमेण्ट ऑव् माडर्न एडूकेशन, प्रेण्टिस-हॉल, न्यूयार्क, १९३४।

४—,, ,, ,, द हिस्ट्री ऐण्ड फ़िलॉसॉफ़ी ऑव एडूकेशन, ऐनशियण्ट ऐण्ड मीडीवल, प्रेण्टिस-हॉल, १९४०।



भारतीय शिक्षा के उद्देश्यों का ऐतिहासिक आधार

प्राचीनकाल

वैदिक काल

वैदिक काल में शिक्षा का उद्देश्य धार्मिक था। शिक्षा 'धर्म' तथा 'ब्रह्म'[1] से सम्बन्ध रखती थी। भौतिक ज्ञान तथा सांसारिक समस्याओं के सुलझाव-सम्बन्धी ज्ञान को शिक्षा में विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता था; तथापि इनकी सर्वथा अवहेलना नहीं की जाती थी। वेद का उद्देश्य परम सत्य का अनुभव तथा ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करना था। अतः वैदिक युग में व्यक्ति को यही ज्ञान देना शिक्षा का उद्देश्य था। वेदों का अध्ययन करके उनका ज्ञान प्राप्त करना ही इस उद्देश्य का प्रधान साधन माना जाता था। इस काल में छोटे-छोटे पारिवारिक स्कूल थे और इनका संचालन शिक्षक किया करता था। विद्यार्थियों के रहने की व्यवस्था गुरु के घर पर ही की जाती थी। रहन-सहन तथा सदाचार के निश्चित नियमों के अनुसार विद्यार्थियों को चलना पड़ता था।

वैदिक काल में जीवन के तीन ऋण माने जाते थे—ऋषि ऋण, देव ऋण तथा पितृ ऋण। इन तीनों ऋणों को क्रमशः ब्रह्मचर्य, यज्ञ और सन्तानोत्पत्ति द्वारा चुकाने का उल्लेख यजुर्वेद में किया गया है। ब्रह्मचर्य अवस्था में बालक गुरु के गृह में रहते हुए अपने शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास के लिये यत्नशील रहता था।

उत्तर वैदिक अथवा ब्राह्मण काल

ब्राह्मण काल में शिक्षा को जीवन के प्रत्येक अंग से सम्बन्धित करने की

---

1. God.

चेष्टा की गई। इस काल की भी शिक्षा वैदिक काल की तरह धार्मिक थी, परन्तु इसमें सांसारिक बातों में व्यक्ति को आवश्यक कौशल देने पर भी पूरा ध्यान दिया गया। अथर्ववेद में सांसारिक शिक्षा का पर्याप्त उदाहरण मिलता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पवित्रता का प्रसार, हृदय-शोधन, चरित्र-निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, नागरिकता तथा सामाजिकता का ज्ञान, राष्ट्रीय संस्कृति की सुरक्षा तथा भौतिक उन्नति ब्राह्मणीय शिक्षा के उद्देश्य थे।[1]

ब्राह्मण काल में जातीय बन्धन धीरे-धीरे कठोर होने लगे और प्रत्येक जाति के व्यक्तियों के कृत्य और कर्तव्य निश्चित कर दिये गये। फलतः शिक्षा का उद्देश्य सम्पूर्ण समाज के लिए समान न हो कर जाति विशेष के अनुसार निर्धारित कर दिये गये। इस प्रकार अपनी जाति के अनुसार व्यक्ति एक विशिष्ट प्रकार के व्यावसायिक कौशल को प्राप्त करना अपना जीवन उद्देश्य समझने लगा और उसके लिए शिक्षा का उद्देश्य भी यही हो गया। इस प्रकार व्यक्ति के सर्वांगीण विकास की उपेक्षा की गई और शिक्षा का दृष्टिकोण संकुचित हो चला।

जाति-व्यवस्था तथा शिक्षा के संकुचित उद्देश्य के कारण समाज का विकास एक तरह से रुक गया। सामाजिक दशा की अवनति प्रारम्भ हो गई। उदार सामाजिक भावनाओं का लोप हो चला। समाज ब्राह्मणों के विचारों से अत्यधिक प्रभावित होता था। ब्राह्मणों ने व्यक्ति के सामने अपने परलोक सुधारने का उद्देश्य रक्खा। फलतः व्यक्ति की शिक्षा जीवन में सफलता के लिए न होकर परलोक सुधारने के लिए होने लगी। इस भावना के कारण व्यक्ति में क्रियाशीलता और उद्योग के स्थान पर दार्शनिक चिन्तन और अकर्मण्यता की प्रधानता आने लगी और लोग अपने पुरुषार्थ के स्थान पर कल्पित भाग्य पर निर्भर रहने लगे।

बौद्ध शिक्षा

इस समाजिक ह्रास को रोकने के लिए बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ।

---

१. प्यारेलाल रावत, भारतीय शिक्षा का इतिहास, प्र० सं०, पृ० ४३, नाथ पब्लिशिंग हाउस, आगरा, १९५३।

संकुचित धार्मिक विचार तथा चारित्रिक पतन से व्यक्ति को बचाने के लिए बौद्ध शिक्षा में शुद्ध आचरण, चरित्र-विकास, धार्मिक व्यापकता तथा मानवीय एकता शिक्षा के प्रधान उद्देश्य निर्धारित किये गये।

धीरे-धीरे बौद्ध शिक्षालयों तथा विहारों के मूल आदर्शों तथा शिक्षा के उद्देश्यों में परिवर्तन आने लगा। इनमें भी व्यावसायिक कौशलता पर ध्यान दिया जाने लगा और धार्मिक शिक्षा की उपेक्षा होने लगी। शिक्षा को राजकीय अथवा किसी उच्चपद पाने का साधन माना जाने लगा। बौद्ध धर्म के प्रचार से ब्राह्मण-शिक्षा के उद्देश्यों का प्रभाव नष्ट नहीं हो गया था। फलतः सामाजिक व्यवस्था दृढ़ न हो सकी। ब्राह्मण तथा बौद्ध शिक्षा के प्रभाव स्वरूप व्यक्ति इहलोक की अवहेलना करके परलोक-साधन की ओर अधिक उन्मुख हुआ। व्यक्ति भौतिक जीवन को असत्य मानने लगा और आत्मा को जीवन-मरण से मुक्त करना वह अपना प्रधान जीवन-उद्देश्य समझ बैठा। ऐसी भावना को पालने वाला समाज उत्तरोत्तर विकास नहीं कर सकता था। अतः फल यह हुआ को मध्यकाल में होने वाले यवनों के आक्रमणों का सामना सफलतापूर्वक नहीं किया जा सका।

मध्यकाल

मुसलमानों के अक्रमण के समय भारत में शिक्षा का भी प्रचार हो चला था। आक्रमणकारियों ने अधिकांश प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्रों को नष्ट कर डाला, परन्तु हिन्दू-शिक्षा की धारा सदैव अजस्र बनी रही। हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था इतनी दृढ़ थी कि मुसलमानों के प्रभाव से वह छिन्न-भिन्न न हो सकी, फलतः भारतीय संस्कृति और शिक्षा-प्रणाली ज्यों की त्यों चलती रही। राजनैतिक उथल-पुथल का प्रभाव बड़े-बड़े शहरों तक ही सीमित रहा; और ग्राम्य जीवन उससे अधिक प्रभावित न हो सका। फलतः मध्ययुग के अशान्ति काल में भी हिन्दू उच्चकोटि के साहित्य के सृजन में सफल रहे और अपनी शिक्षा-प्रणालो को उन्होंने जारी रक्खा।

मध्ययुग में भो भारतीय शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य धार्मिक जीवन-यापन था। जातियों के भेद-प्रभेद के कारण शिक्षा का उद्देश्य बहुत ऊँचा न

हो सका। जाति-बन्धन के कारण व्यक्ति का जीवन व्यवसाय उसके जन्म के साथ ही निश्चित हो जाता था। उदाहरणार्थ; कुम्हार के बालक को कुम्हार के और लोहार के बालक को लोहार के व्यवसाय को करना ही जीवन का मुख्य ध्येय था। इस प्रकार पैतृक व्यवसाय में ही शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य था।

मकतब और मदरसों आदि में भी शिक्षा का ध्येय पाठशालाओं की तरह धार्मिक ही था। मकतब और मदरसे प्रायः धार्मिक संस्थाओं के अंग हुआ करते थे। बालकों को धार्मिक शिक्षा के अतिरिक्त कुछ अन्य विषय, जैसे—गणित, ज्योतिष, व्याकरण, तथा भूगोल आदि भी पढ़ाये जाते थे। मुगलकाल में शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य धार्मिक न होकर नैतिक कर दिया गया। मध्य काल में शिक्षा का प्रमुख उद्देय धार्मिक जीवन, चारित्रिक विकास तथा व्यावसायिक कौशल प्राप्त करना था। इनके अतिरिक्त कुछ व्यक्तियों के लिए शिक्षा का प्रधान उद्देश्य केवल विद्वत्ता तथा ज्ञानार्जन भी था।

इस्लामी शिक्षा

इस्लामी शिक्षा धार्मिक तथा सांसारिक शिक्षा में एक समन्वय प्राप्त करना चाहती थी। इस्लाम का परलोक तथा पुनर्जन्म में विश्वास नहीं। अतः इस्लामी शिक्षा मे स्वभावतः जीवनोपयोगी शिक्षा पर विशेष बल दिया गया। एक नये देश में मुसलमानों ने अपनी धार्मिक कट्टरता और उग्रता को बनाये रखना आवश्यक समझा। फलतः इस कट्टरता और उग्रता का उस काल की शिक्षा पर प्रभाव पड़ना एकदम स्वाभाविक था। समय-समय पर धार्मिक गुरुओं ने व्यावहारिक जीवन में ज्ञान के महत्त्व की चर्चा की। पैग़म्बर मुहम्मद ने ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक सच्चे मुसलमान का प्रधान कर्तव्य माना। फ़ीरोज़, अकबर और औरंगज़ेब ने सांसारिक और व्यावहारिक शिक्षा पर विशेष बल दिया। राज्य-कार्य के संचालन के लिए काज़ी, वज़ीर तथा सेनापति आदि का पद यथासम्भव तत्कालीन मदरसों से निकले हुये कुशल स्नातकों को दिया जाता था। कला-कौशल,

शिल्प, कृषि, चिकित्सा तथा वाणिज्य आदि की शिक्षा पर भी मदरसों में बल दिया जाता था। इस प्रकार धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ सांसारिक शिक्षा को भी देने का पूरा प्रयत्न किया जाता था। मकतबों में कुरान और हदीस आदि का अध्ययन कराया जाता था परन्तु साथ ही सांसारिक शिक्षा प्रदान कर व्यक्ति के जीवन में साम्य लाने का भी प्रयास किया जाता था।

आधुनिक काल

आधुनिक काल के प्रारम्भ से ही भारतीयों के लिये रोटी की समस्या प्रधान हो चली। ब्रिटिश साम्राज्य के स्थापित होने के पूर्व शिक्षा का उद्देश्य धार्मिक होते हुए भी उसमें व्यावसायिक पुट आ गया था। परन्तु तब व्यावसायिक शिक्षा का कोई सविधिक प्रबन्ध नहीं था। बालक अपने घर के सीमित वातावरण में अपने पिता से अपनी जाति के अनुसार किसी विशिष्ट व्यवसाय में कौशल प्राप्त कर अपनी जीविकोपार्जन करने लगता था। उसकी शिक्षा का उद्देश्य प्रायः जीविकोपार्जन ही हो जाता था। शिक्षा-संस्थाओं में व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था नहीं थी। वहाँ धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन तथा सैद्धान्तिक ज्ञानार्जन पर ही बल दिया जाता था। इस प्रकार शिक्षा जीवन की सत्यता से दूर ही रह गई।

ब्रिटिश कालीन भारत में शिक्षा का प्रधान उद्देश्य कोई व्यवसाय अथवा हस्त-कला सीखना था, या नौकरी पाना। शिक्षा के इस संकीर्ण उद्देश्य से अब भी हमारी अधिकांश शैक्षिक संस्थायें प्रभावित हैं।

परन्तु गत २०-२५ वर्षों से हमारे देश की शिक्षा-प्रणाली पर पाश्चात्य विचारधाराओं का प्रभाव पड़ता जा रहा है। फलतः अब शिक्षा का प्रधान उद्देश्य बालक के व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास से लिया जाता है। देश में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद अब लोग प्रचलित शिक्षा के गुण-दोष के विवेचन की ओर अधिक गतिशील दिखलाई पड़ते हैं। फलतः केन्द्रीय सरकार को विश्वविद्यालय[1] और माध्यामिक[2] शिक्षा में सुधार के लिए

1. University Commission, 1948-1949. 2. Secondary Education Commission, 1952-1953.

दो कमीशनों को नियुक्त करना पड़ा। वर्तमान शताब्दी में दो विश्व युद्धों ने व्यक्ति की परम्परागत मान्यताओं मे क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया है। फलतः अब व्यक्ति का आदर्श नई मान्यताओं की खोज की ओर उन्मुख हुआ है। पाश्चात्य देशों की औद्योगिक, वैज्ञानिक तथा भौतिक उन्नति से हम लोग कुछ प्रभावित हो चले हैं और हम अपनी शिक्षा-व्यवस्था में उन तत्वों का समावेश करना चाहते हैं जो हमें अन्य राष्ट्रों की दौड़ मे साथ-साथ लिए रहे।

स्वतन्त्रता पाने के बाद हमारे देश का उत्तरदायित्व अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बढ़ता जा रहा है। हम अपने इन उत्तरदायित्वों को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में निभा सकें इसके लिये यह आवश्यक हैं कि सर्वप्रथम हम अपनी देश की जनता के प्रति अपने विविध कर्त्तव्यों का पालन करे। आज हमारे देश की जनता दुखी है। लाखों व्यक्ति बिना घर-द्वार के सड़कों पर लेटते हैं, लाखों को दोनों समय पेट भर भोजन नहीं मिलता, लाखों को अपने तन ढकने के लिए पर्याप्त वस्त्र नहीं है। लाखो व्यक्ति नाना प्रकार की व्याधियो से पीड़ित हैं और उनके लिए चिकित्सा की उचित व्यवस्था उपलब्ध नहीं। बाजार से खाने-पीने की शुद्ध वस्तुएँ प्राप्त करना असम्भव हो गया है, क्योकि व्यावसायिक क्षेत्र मे हमारा नैतिक पतन हो गया है। विविध पञ्चवर्षीय योजना की सफलता के लिये हमे कुशल व्यक्तियों की आवश्यकता है। परन्तु अभी तक देश का लगभग ७५ प्रतिशत जनवर्ग अशिक्षित पड़ा हुआ है। हमारे देश की ये सब स्थितियाँ हमारी शिक्षा के लिये विभिन्न समस्यायें उपस्थित करती हैं। अतः अब हमें अपने शिक्षा के दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना है। स्पष्ट है कि हमें अपने शिक्षा के उद्देश्यों का पुनर्निर्माण करना है। इस पुनर्निर्माण के स्वरूप का निर्धारण प्रथम खण्ड में विवेचित सिद्धान्तों के आधार पर किया जा सकता है।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

प्राचीन काल

वैदिक काल

शिक्षा का उद्देश्य धार्मिक। वेदों का अध्ययन। छोटे-छोटे पारिवारिक स्कूल। सदाचार के निश्चित नियम।

उत्तर वैदिक काल अथवा ब्राह्मण काल

शिक्षा को जीवन के प्रत्येक अंग से सम्बन्धित करने की चेष्टा।

कठिन जातीय बन्धनों का प्रसार। फलतः शिक्षा का उद्देश्य जाति विशेष के अनुसार निर्धारित। व्यक्ति के सर्वांगीण विकास की उपेक्षा।

ब्राह्मणों के प्रभावस्वरूप शिक्षा का उद्देश्य परलोक सुधारने के लिए। दार्शनिक चिन्तन और अकर्मण्यता की प्रधानता।

बौद्ध शिक्षा

सामाजिक ह्रास को रोकने के लिये शिक्षा में शुद्ध आचरण, चरित्र-विकास, धार्मिक व्यापकता तथा मानवीय एकता पर बल।

बौद्ध बिहारों में कुछ समय बाद व्यावसायिक कौशलता पर ध्यान दिया जाने लगा। धार्मिक शिक्षा की उपेक्षा।

ब्राह्मण शिक्षा के उद्देश्यों का प्रभाव वर्तमान।

मध्य काल

मुसलमानों के आक्रमण से हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न नहीं हो सकी।

शिक्षा का उद्देश्य धार्मिक जीवनयापन। उद्देश्य संकुचित। पैत्रिक व्यवसाय में ही शिक्षित होना अनिवार्य।

मकतब और मदरसे धार्मिक संस्थाओं के अंग। मुगल काल में शिक्षा का उद्देश्य नैतिक।

इस्लामी शिक्षा

धार्मिक तथा सांसारिक शिक्षा में समन्वय प्राप्त करने का उद्देश्य। जीवोनपयोगी शिक्षा पर बल।

आधुनिक काल

ब्रिटिश काल में शिक्षा का उद्देश्य व्यवसाय तथा हस्तकला सीखना अथवा नौकरी पाना।

आजकल शिक्षा का उद्देश्य बालक के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास से। व्यक्ति का आदर्श नई मान्यताओं की खोज की ओर। उन्नति में अन्य राष्ट्रों के साथ रहने के लिए नई शिक्षा-व्यवस्था के स्थापित करने का उद्देश्य।

शिक्षा मे अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का समावेश। देश की विविध समस्याओं के कारण हमें अपने शिक्षा के उद्देश्यों या पुनर्निर्माण करना है।

सहायक पुस्तकें

१—अल्तेकर, एस० ए० : एडूकेशन इन ऐनशियेण्ट इण्डिया, नन्दकिशोर ब्रदर्स, बनारस, १६४८।

२—मुकर्जी, राधाकुसुद : एनेंशिएण्ट एडूकेशन इन इण्डिया, मैकमिलन, १६४७।

३—जाफर : एडूकेशन इन मुस्लिम इण्डिया।

४—की, एफ० ई० : हिस्ट्री ऑव् इण्डियन एडूकेशन, ऐनशियण्ट ऐण्ड इन लेटर टाइम्स।

५—रावत, प्यारेलाल : भारतीय शिक्षा का इतिहास, भारत पब्लिकेशन्स, आगरा, १६५५।

६—मुनेश्वर प्रसाद, भारतीय शिक्षा का इतिहास, प्रथम भाग, श्री अजन्ता प्रेस लि०, पटना, १६५५।

तृतीय खण्ड

शिक्षा के कुछ सामाजिक आधार

तृतीय खण्ड के विषय में दो शब्द

पुस्तक के इस तृतीय खण्ड का उद्देश्य शिक्षा के कुछ सामाजिक आधारों को समझना है; अर्थात् व्यक्ति के विकास हेतु मानव की विभिन्न क्रियाशीलताओं और संस्थाओं द्वारा जो शिक्षा का आयोजन और संगठन किया जाता है उनमें सामाजिक[1] सम्बन्ध क्या है—इसे समझना है। इनके सामाजिक सम्बन्ध के समझने से ही हम विभिन्न संस्थाओं के शिक्षा-सम्बन्धी श्रमों को एक सूत्र में बाँध सकते हैं जिससे शिक्षाक्रम में आने पर अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में व्यक्ति को अधिक से अधिक योग मिल सके। दूसरे, इन सामाजिक सम्बन्धों के समझने से ही इस गणतंत्रात्मक युग में हम अपनी इच्छानुसार उस नये शिक्षा-सिद्धान्त का निर्माण कर सकते हैं हमारे सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक है।

इस खण्ड में हमने शिक्षा के कुछ अविधिक और सविधिक स्रोतों पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। पहले नीचे हम अविधिक और सविधिक शिक्षा की परिभाषा देंगे। प्रथम खण्ड में भी इस पर कुछ कहा जा चुका है।

अविधिक और सविधिक शिक्षा

साधारणतः यह कहा जा सकता है विभिन्न सामाजिक स्थानों में सविधिक[2] और अविधिक[3] रूप से जो हम अनुभव प्राप्त करते हैं वही शिक्षा है। अविधिक शिक्षा हम फुटकर रूप में पाते हैं। कहीं हम प्रशंसा पाते हैं और कहीं निन्दा। किसी कहानी से हम कोई उपदेश पा जाते हैं। अथवा किसी घटना से कोई नई बात सीख लेते हैं। किसी वीर योद्धा, प्रसिद्ध लेखक अथवा कलाकार आदि के किसी विशिष्ट व्यवहार या बातों का हम अनजान में अनुकरण करते हैं। इस प्रकार का हमारा सीखना अविधिक

1. Sociological Relationships. 2. Formally. 3. Informally.

शिक्षा के अन्तर्गत् आता है। हमारा अविधिक प्रकार का सीखना किस प्रकार का होगा यह उस 'समाज' पर निर्भर करता है जिसमें हम रहते हैं। इस खण्ड में अविधिक शिक्षा-सम्बन्धी कुछ स्त्रोतों की हम चर्चा करेंगे; जैसेः—कुटुम्ब, धार्मिक संस्थायें, चलचित्र तथा नभवासी आदि।

सविधिक शिक्षा हम किसी निश्चित स्थान अथवा समय पर पूर्व योजनानुसार किसी शिक्षक से पाते हैं। सविधिक शिक्षा केवल स्कूल अथवा कालेज तक ही सीमित नहीं होती। सविधिक शिक्षा के अन्तर्गत किसी योजना के अनुसार किसी से भी कुछ सीखना आ जाता है, चाहे फैक्टरी में सुपरिन्टेण्डेन्ट से वह सीखना हो अथवा किसी दूकानदार से विक्रय को कला सीखनी हो। किसी संस्था द्वारा धार्मिक शिक्षा अथवा किसी अध्ययन गोष्टी की बैठकों में नियमानुसार कुछ सीखना सविधिक शिक्षा के ही अन्तर्गत माना जा सकता है। परन्तु साधारणतः सविधिक शिक्षा का तात्पर्य लोग स्कूल, कालेज अथवा विश्वविद्यालय की ही शिक्षा से समझते हैं। इस खण्ड में हम देखेंगे कि समाज की विभिन्न इकाइयाँ सविधिक शिक्षाक्रम में व्यक्ति की किस प्रकार की सेवा कर सकती हैं।



१३

कुटुम्ब एक शिक्षा-संस्था

बालक के विकास में कुटुम्ब का महत्व

बालक के विकास में कुटुम्ब को स्थान स्कूल से कम महत्वपूर्ण नहीं।

स्कूल में बालकों को एकसी शिक्षा देने का प्रयत्न किया जाता है, पर उनका विकास समान नहीं होता, क्योंकि वे विभिन्न कुटुम्ब अथवा वातावरण व वंशानुक्रम से आते हैं। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि एक ही माता-पिता के तथा एक ही घर में रहने वाले बालकों का वंशानुक्रम और वातावरण भिन्न-भिन्न होता है। क्योंकि गर्भाधान के समय माता-पिता की मानसिक और शारीरिक स्थिति एक सी नहीं रहती और न एक ही घर में रहने वाले बालकों के साथ समान व्यवहार ही सम्भव होता है, क्योंकि अपने-अपने रूप रंग और स्वभाव के कारण विभिन्न बालक दूसरों से भिन्न-भिन्न व्यवहार पाते हैं।[1] यही कारण है कि एक ही माता-पिता के सभी बालक समान रूप से विकसित नहीं होते। बालक के विकास में वंशानुक्रम और वातावरण के प्रभाव पर अलग-अलग विचार करना इस पुस्तक का उद्देश्य नहीं।

बालक के विकास में कुटुम्ब का भी भारी हाथ रहता है। यदि स्कूल के कार्य में कुटुम्ब सहयोग न दे अर्थात् यदि माता-पिता शिक्षक की राय के अनुसार बालकों पर ध्यान न दें तो उनका विकास ठीक ढंग पर न चल पायगा। यदि कुटुम्ब का प्रभाव अवांछित दिशा की ओर गया तो स्कूल

---

१. इसकी विस्तृत व्याख्या के लिए पाठक लेखक की "मनोविज्ञान और शिक्षा", द्वितीय सं०, अध्याय ५ पढ़ें।

किसी प्रकार भी बालक को उचित रास्ते पर नहीं ला सकता। शैशव और बचपन में तो बालक का सामाजिक वातावरण कुटुम्ब ही तक सीमित रहता है। उम्र बढ़ने के साथ मित्रता बढ़ जाने पर भी कुटुम्ब का वातावरण बालक पर पर्याप्त प्रभाव डालता रहता है। बालक के प्रायः सब गुणों की नींव कुटुम्ब के ही वातावरण में पड़ जाती है। सहानुभूति, उदारता, न्याय-प्रियता तथा सत्यता आदि गुण तथा स्वार्थान्धता, झूठ बोलना तथा आलस्य आदि अवगुण बालक में सर्व प्रथम कुटुम्ब के ही वातावरण में अंकुरित होते हैं। अपने विचारों को कुछ शब्दों में प्रगट करना वह कुटुम्ब में ही सीखता है। कहने का तात्पर्य यह है कि स्कूल में पहले-पहल आया हुआ बालक कोरी पटिया नहीं है कि उस पर जो चाहे लिख दिया। स्कूल में पहुँचते-पहुँचते बालक की प्रायः सभी मानसिक शक्तियों की नींव पड़ी रहती है। अच्छा या बुरा, प्रिय अथवा अप्रिय परखने की उसमें कुछ शक्ति पहिले से ही रहती है। इसी शक्ति की सहायता से विभिन्न उत्तेजनाओं के प्रति उसको प्रतिक्रिया होती है। सीखना उसकी प्रतिक्रिया पर ही निर्भर है।

बालक की मानसिक शक्तियों की नींव दृढ़ हो जाय इसके लिये यह आवश्यक है कि कम से कम उन्हें प्रथम छः वर्ष तक कुटुम्ब के ही मनोवैज्ञानिक वातावरण में रखा जाय। यही कारण है कि 'मॉन्तेसरी' और 'किंडरगार्टेन' जैसे स्कूल जो कि तीन साल की उम्र में ही बालकों को भर्ती कर लेते हैं अपने यहाँ बच्चों के लिए घर ही सा वातावरण उपस्थित करने की चेष्टा करते हैं। इस चेष्टा की सफलता पर ही उनके उत्तरदायित्व का सफल सम्पादन निर्भर है। उपर्युक्त विवेचन से यह न समझना चाहिए कि प्रथम छः वर्षों तक बालक को स्कूल न भेजना चाहिए। स्कूल में आकर बालक अपने ही जैसे अन्य बालकों के सम्पर्क में आता है। उसकी कूपमण्डूकता यहीं टूटती है और उदारता की नींव दृढ़ होने लगती है। अतः उसे स्कूल भेजना आवश्यक है। पर इस अवस्था में उसके साथ घर ही जैसा व्यवहार करना चाहिए, क्योंकि वह बहुत अंशों में अभी असहाय ही होता है। उसे अभी दूसरों की सहानुभूति की अधिक आवश्यकता

होती है। इसी अवसर पर वह बहुत सी बातें दूसरों के सम्पर्क में आने से सीखता है। इस 'सीखने' में गलतियों का होना स्वाभाविक है। यदि बालकों के व्यक्तित्व का सन्तोषजनक विकास वांछित है तो इन गलतियों के प्रति सहानुभूति ही दिखलानी होगी। डाँट सुनाकर बालक को किसी बात का सिखलाना मानो डण्डे मारकर बिल्ली को अपने पास फिर बुलाने की चेष्टा करना है। इन सब बातों पर कुटुम्ब में भी पूरा-पूरा ध्यान देना आवश्यक है। कहने का अर्थ यह कि कुटुम्ब भी एक प्रकार की शिक्षा-संस्था है। नीचे हम शिक्षा-संस्था के रूप में कुटुम्ब के महत्व पर प्रकाश डालेंगे।

बालक स्कूल में अपनी कौटुम्बिक संस्कृति लाता है

कुछ को छोड़कर प्रायः सभी बच्चे कम से कम अपने प्रथम छः या सात वर्ष कुटुम्ब में ही व्यतीत करते हैं। इन प्रथम छः या सात वर्ष के अन्तर्गत बालक अपने माता-पिता से अत्यधिक प्रभावित होता है। परन्तु माता-पिता के अतिरिक्त कुटुम्ब के अन्य सदस्य भी बालक के व्यक्तित्व-निर्माण[1] में अपना योग देते हैं। इस प्रकार बालक के व्यक्तित्व में इस काल के अन्दर कुटुम्ब की सारी संस्कृति एक प्रकार से निहित हो जाती है। अतः छः या सात वर्ष के हो जाने पर बालक जब स्कूल आता है तो स्कूल एक स्वतन्त्र बालक के सम्पर्क में न आकर एक कुटुम्ब के सम्पर्क में आता है। क्योंकि बालक के व्यक्तित्व पर कौटुम्बिक परम्पराओं और रहन-सहन का पूरा प्रभाव पड़ा रहता है। स्पष्ट है कि अपने व्यक्तित्व के रूप में बालक अपनी कौटुम्बिक संस्कृति को स्कूल में लाता है।

कौटुम्बिक प्रभाव की अवहेलना न करना

कुटुम्ब एक ऐसी संस्था है जो कि जीवन भर व्यक्ति से सम्बन्ध रखती है। शिक्षा समाप्त हो जाने पर अथवा शिक्षा-काल में भी छुट्टियों के अवसर पर व्यक्ति का स्कूल से सम्पर्क नहीं रहता। दूसरे, स्कूल में बालक विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है। एक कक्षा से दूसरी कक्षा

1. Formation of the Personality,

मे जब वह पढ़ने आता है तो उसे दूसरे-दूसरे अध्यापक पढाते हे। इस प्रकार स्कूल मे बालक पर शिक्षकों का व्यक्तिगत प्रभाव[1] आशिक हुआ करता है, परन्तु कुटुम्ब मे साल भर बालक पर एक क्रमिक प्रभाव पड़ा करता है। अतः बालक के लिए कुछ करने के अपने प्रयास मे स्कूल को बालक पर पड हुए कौटुम्बिक प्रभाव की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, अन्यथा उसका प्रयास प्रत्याशित फल नही देगा। स्पष्ट है कि एक शिक्षा-संस्था के रूप मे परिवार का अध्ययन करना बालक के विकास के हित मे बड़ा ही महत्वपूर्ण है।

कुटुम्व को कुछ दायित्वों का पालन करना

कुटुम्ब को एक अविधिक[2] शिक्षा संस्था कहा जा सकता है। तथापि कुटुम्ब से कुछ निश्चित कर्तव्यो के पालन की समाज अपेक्षा करता है। उदाहरणार्थ; कुटुम्ब से यह अपेक्षा की जाती है कि पति और पत्नी सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए अपने बच्चो के पालन-पोषण की उचित व्यवस्था करे। बच्चे ही आगे चलकर समाज के प्रौढ सदस्य और कर्णधार होंगे। अतः उनकी सुरक्षा का समाज को पूरा ध्यान रहता है। कुटुम्ब से यह आशा की जाती है कि वह अपने सभी सदस्यो के हितो की रक्षा करता रहे। सामाजिक और वैधानिक दोनों दृष्टि से कुटुम्ब को एक इकाई माना जाता है। विवाह तथा जन्म आदि से कुटुम्ब का प्रारम्भ होता है; और मृत्यु, तलाक तथा झगड़े आदि से उसका अन्त भी हो सकता है। कुटुम्ब का केन्द्र घर[3] मे होता है। विविध कर्तव्यो के सम्पादन के लिए घर मे आवश्यक वस्तुओ का आयोजन किया जाता है।

कुटुम्ब अपनी परम्पराओं तथा रीति-व्यवहार का विकास करता है और उन्हें आगामी पीढ़ियों को देता है। कुटुम्ब के एक कार्यकर्त्ता वर्ग का भी उल्लेख किया जा सकता। पिता आर्थिक व्यवस्था करने के लिए उत्तर-दायी होता है। माता घरेलू कार्यों को सँभालती है। बच्चों को भी कुटुम्ब के सम्बन्ध में कुछ निश्चित कर्तव्यों का पालन करना होता है। इन सभी

1. Personal Influence of Fragmentary Nature. 2. Informal Educational Institution. 3. Home.

बातों में कुटुम्ब को एक संस्था माना जा सकता है। यदि कुटुम्ब अपनी किसी कर्तव्य की अवहेलना करता है; उदाहरणार्थ; पिता यदि आर्थिक व्यवस्था नहीं करता अथवा माता यदि बच्चों की देख-रेख नहीं करती तो कुटुम्ब सामाजिक निन्दा का भागी होता है, अथवा कभी-कभी उसके विरुद्ध वैधानिक कार्यवाही भी की जाती है। इस प्रकार कुटुम्ब अपने कर्तव्य की अवहेलना नहीं कर सकता।

एक शैक्षिक संस्था के रूप में गत सौ वर्षों में कुटुम्ब के रूप में बड़ा ही परिवर्तन आया हैं, और इस परिवर्तन की गति अभी रुकी नहीं है। वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप जीवन की कृत्रिमता ज्यों-ज्यों बढ़ती जा रही है कुटुम्ब के दायित्वों में कमी होती जा रही है। तथापि बालक की शिक्षा तथा विकास के हित में कुटुम्ब को कुछ दायित्वों का पालन करना ही होगा, जैसे : भोजनादि, चिकित्सा तथा शिक्षा आदि की व्यवस्था करना।

कुटुम्ब को एक स्वाभाविक सामाजिक समूह[1] कहा जा सकता है, क्योंकि जिन बन्धनों से विभिन्न सदस्य एक दूसरे के प्रति अपने को उत्तरदायी समझते हैं वे नैतिक हैं, न कि वैधानिक। ये नैतिक बन्धन एक दूसरे के लिए प्यार का रूप लेकर सबको परस्पर-निर्भर बना देते हैं। फलतः कुटुम्ब के सभी सदस्य एक दूसरे के लिए संवेगात्मक भावनाओं में ओत-प्रोत रहते हैं। इन संवेगात्मक भावनाओं के कारण कुटुम्ब व्यक्तित्व के निर्माण के लिए एक अनोखा केन्द्र हो जाता है।

कुटुम्ब के सदस्यों में स्वतन्त्र विचार-विनिमय उन्हें 'संवेगात्मक[2] और सामाजिक व्यवस्थापन' में सहायता देता है। कुटुम्ब की एकता बालक को एक ऐसी संवेगात्मक[3] सुरक्षा प्रदान करती है जो उसके उच्चतम विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। कुटुम्ब बालक के लिए एक ऐसा स्थान हो जाता है जिससे वह अपना आत्मसात कर लेता है, क्योंकि उसके अप्रौढ़ व्यक्तित्व के विकास के लिए कुटुम्ब आवश्यक उपकरणों का आयोजन करता है। इस प्रकार बालक और कुटुम्ब का सम्बन्ध निर्भरता[4] अथवा

1. A natural social group. 2. Emotional and Social Adjustment. 3. Emotional Securities. 4. Dependence.

परतन्त्रता का न होकर भक्ति[1] का है। बालक ज्यों-ज्यों बड़ा होता है त्यों-त्यों आत्म-निर्भरता की शक्ति उसमें बढ़ती जाती है, परन्तु तब भी वह अपने को कुटुम्ब का सदस्य ही समझता है और उसके प्रति अपने कुछ उत्तरदायित्वों को वह निभाना चाहता है।

हाँ, यह सत्य है कि सभी कुटुम्बों में अक्षुण्ण एकता के चिन्ह सदा नहीं दिखलाई पड़ते। संवेगात्मक बन्धनों पर आश्रित रहने के कारण इनके अभाव में कुटुम्ब कभी-कभी छिन्न-भिन्न हो सकता है और उससे एकता की भावना का एकदम लोप हो जायगा। यदि कुटुम्ब संवेगात्मक भावनाओं से बँधा न रह सका तो उससे बालक को संवेगात्मक सुरक्षा न मिल सकेगी और बालक के व्यक्तित्व में एक ऐसा दोष आ जायगा जो सदा के लिए स्थाई हो जायगा। ऐसी स्थिति इसलिए आ जाती है, क्योंकि किसी दूसरी संस्था से बालक का इतना घनिष्ठ परिचय नहीं रहता। स्कूल मे बालक को जो कुछ परिचय होता है वह ऐसा नहीं होता कि उसे सुरक्षा की भावना दे सके। अतः कुटुम्ब ही एक ऐसा स्थान है जहाँ बालक को संवेगात्मक सुरक्षा की भावना मिल सकती है।

कुटुम्ब चाहे जैसा ही क्यों न हो, अर्थात् कुटुम्ब मे चाहे एकता हो या न हो, परन्तु उसका प्रभाव बालक पर बहुत ही पड़ता है। यदि कुटुम्ब उत्कृष्ट कोटि का हुआ तो बालक में उच्च कोटि की परम्परायें[2] और आदर्श तथा मैत्रीपूर्ण भाव और सहकारिता-प्रवृत्ति का विकास होगा। इसके विपरीत यदि कुटुम्ब में कई प्रकार के दोष आ गए तो बालकों के व्यक्तित्व में भी कई प्रकार के दोष आ सकते हैं। अन्वेषणों के आधार पर यह पाया गया है कि बच्चों का संवेगात्मक और सामाजिक[3] कुव्यवस्थापन कुछ विशिष्ट कौटुम्बिक पृष्ठिभूमि के ही कारण होते हैं। अतः यह आवश्यक है कि कुटुम्ब अपने विभिन्न दायित्वों का पालन इस प्रकार करे कि बालक के व्यक्तित्व के सुविकास में किसी प्रकार की बाधा न पड़े।

---

1. Loyalty.
2. *Ernest W. Burgess* "The Family as a Unity of Interacting Personalities", *Family*, 1926. Vol. 7., pp. 3-6, 8-9.
3. Emotional and Social Maladjustments.

कुटुम्ब के वातावरण में बालक को अनेक शिक्षायें

बचपन में बालक कुटुम्ब में जो कुछ शिक्षा पाता है उसका बड़ा ही महत्व है। बालक को कुटुम्ब रहन-सहन के सम्बन्ध में विविध बातें सिखलाता है। समय से कपड़े पहनने तथा उतारने, खेलना, भोजन करना तथा सोना आदि बातें कुटुम्ब से ही बालक सीखता है। इन साधारण बातों के अतिरिक्त बालक अपनी पहली बौद्धिक[1] शिक्षा कुटुम्ब में ही पाता है। स्कूल जाने के पूर्व भाषा का ज्ञान जो कुछ बालक को रहता है उसका श्रेय बहुत हद तक कुटुम्ब को ही है। अपनी विविध ज्ञानेन्द्रियों का प्रयोग आरम्भ में बालक कैसे करता है यह कुटुम्ब पर ही निर्भर करता है। बचपन में ज्ञानेन्द्रियों के सदुपयोग पर बालक का मानसिक विकास बहुत हद तक निर्भर करता है। आलोचनात्मक शक्ति तथा चित्त एकाग्र करने की शक्ति पर बचपन की शिक्षा का बड़ा प्रभाव पड़ता है। स्पष्ट है कि कुटुम्ब के वातावरण में बालक कई प्रकार की शिक्षायें पाता है। इन शिक्षाओं की दृढ़ नींव पर ही स्कूल बालक के प्रति अपने कर्त्तव्य में सफल हो सकता है।

कुछ लोगों की धारणा है कि बालक अपनी संवेगात्मक और सामाजिक आदतें[2] अपने जन्म के साथ ही लाता है। परन्तु वस्तुतः ये आदतें वह अपने वातावरण[3] में अर्जित करता है। कहना न होगा कि इस अर्जन में कुटुम्ब का ही सबसे पहले उस पर प्रभाव पड़ता है।

कुटुम्ब के वातावरण में आदतें और प्रवृत्तियाँ

गत ३०-३५ वर्षों से मनोवैज्ञानिकों ने बालक की 'प्रारम्भिक शिक्षा'[4] पर बड़ा बल दिया है। इस शिक्षा में उनका ध्यान 'क्या' पर उतना नहीं है जितना कि 'कैसे' पर। बालक को शिक्षा देने में प्रौढ़ लोगों को अपने संवेगों पर बड़ा नियन्त्रण रखना चाहिये, अन्यथा आवेश में बालकों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों[5] का वे दमन कर बैठेंगे। प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि कुछ माताएँ, पिता, शिक्षक तथा अभिभावक गण बालक को कुछ सिखाने में कभी-कभी बड़ा पीट देते हैं। आवेश में वे यह नहीं समझ पाते

---

1. Intellectual Training. 2. Emotional and Social Habits. 3. Environment. 4. Early Training. 5. Natural Tendencies.

कि बालक कोई बात क्यों नहीं समझ रहा है। फलतः बालक को कभी-कभी बड़ी निराशा या भग्नाशा[1] का सामना करना पड़ता है। यदि किसी कार्य में उसे बड़े लोगों से प्रसंशा मिलती है तो वह फूला नहीं समाता; और वह बड़े सन्तोष का अनुभव करता है। भग्नाशा और सन्तोष की भावना का बालक के व्यक्तित्व-विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस विकास की गति में उचित योग दिया जा सकता है यदि बालक की प्रारम्भिक शिक्षा में 'क्या' के स्थान पर "कैसे" पर विशेष ध्यान दिया जाय; अर्थात् बालक को प्रेम तथा सहानुभूति से ही कोई बात सिखलाने से उसके विकास को उचित मार्ग पर बढ़ाया जा सकता है। स्पष्ट है कि इस उचित मार्ग के अनुसरण तथा निर्माण में पहला पग कुटुम्ब को ही उठाना होता है। फलतः कुटुम्ब के प्रभावस्वरूप बालक कुछ ऐसी आदतें और प्रवृत्तियाँ अपनाता है जो कि उसके भावी व्यक्तित्व के स्थायी अंग हो जाती हैं।

व्यक्तित्व-निर्माण में कुटुम्ब का हाथ

बालक के व्यक्तित्व का पहला प्रकाशन कुटुम्ब में ही होता है। कुटुम्ब के वातावरण में बालक या तो राजा की तरह आदर पा सकता है, दिन भर बात-बात में उसकी प्रशंसा की जाती है, लोग हर समय उसे हथेली पर लिये रहते हैं; अथवा उसकी अवहेलना की जा सकती है, वह अस्वीकृत किया जा सकता है या किसी काम में उसे बाधास्वरूप देखकर उसे झिड़क दिया जा सकता है। अधिकांश बालकों को इन उच्चतम सीमाओं तक नहीं पहुँचना होता। उनसे कौटुम्बिक वातावरण में समय के अनुसार विभिन्न प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा की जाती है। यदि बालक से उसके योग्य कोई काम करने को कहा जाता है और उसमें वह असफल होता है तो उस पर डाँट पड़ती हैं। यदि वह अपने भाई या बहिन को चोट पहुँचाता है तो उसकी निन्दा की जाती है। यदि वह कोई अच्छा काम करता है तो उसकी प्रशंसा की जाती हैं। इस प्रकार अपने कार्य के अनुसार समय-समय पर बालक को प्रशंसा या निन्दा मिलती है।

बालक अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कुटुम्ब पर पूर्णतः

1. Frustration.

निर्भर रहता है। अतः अपनी इच्छा के विरुद्ध भी कभी-कभी कुटुम्ब के बड़े लोगों की इच्छाओं के अनुसार चलने के लिए वह स्वतः बाध्य हो जाता है। कुटुम्ब को छोड़ उसे और कोई स्थान नहीं। अतः बहुत सी बातें वह चुपचाप मान और सह लेता है।

समाज से बालक किस प्रकार का आदर पायेगा अथवा समाज बालक से किस प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा करता है यह बालक के कौटुम्बिक परम्पराओं और रहन-सहन पर निर्भर करता है। यदि किसी अच्छे और ऊँचे कुटुम्ब का बालक हुआ तो समाज की यही अपेक्षा होगी कि वह अपनी कौटुम्बिक परम्पराओं के अनुसार व्यवहार दिखलाये। गन्दे कुटुम्ब के बालक से लोग अच्छे व्यवहार की अपेक्षा नहीं करते। तेज बुद्धि के माता-पिता के बच्चों के तेज होने की आशा की जाती है। चोरों के बच्चों पर प्रारम्भ से ही कुछ सन्देह किया जाता है, परन्तु अच्छे आदमियों के बच्चों को अच्छा ही मान लिया जाता है।

बालक ज्यों-ज्यों विकास के पथ पर आगे बढ़ता है उसे अपने अस्तित्व और व्यक्तित्व का ज्ञान होने लगता हैं, और एक समय ऐसा आता है जब वह अपने को दूसरे से भिन्न मानता है। अब वह अपनी प्रतिक्रियाओं[1] में एक एकता लाना सीखने लगता है और कुछ अवसरों पर वह समान सिद्धान्तों के अनुसार आचरण दिखलाने में समर्थ होता है।

बालक कुटुम्ब के विभिन्न सदस्यों के साथ एक ही सा व्यवहार नहीं करता। माता जिस बच्चे की देख-रेख आवश्यकता से अधिक करती है और अत्यधिक लाड़-प्यार से जिसे वह बिगाड़ डालती है उसे कुटुम्ब के अन्य सदस्य कदाचित् उतने प्यार से नहीं देखेंगे, क्योंकि लाड़-प्यार से बिगड़े बच्चे के ऊधमों से घर के अन्य लोग तंग हो सकते हैं। ऐसा बिगड़ा हुआ बालक जब अपनी क्रियाशीलताएँ पड़ोस में बढ़ाता है तो पड़ोसियों के लिए भी वह एक कण्टक सिद्ध होता है। इस प्रकार के बालक में अन्तर्द्वन्द्व[2] आ जाता है; और उसका व्यवहार एक समान्वित रूप में नहीं होता। ऐसी स्थिति में उसके व्यक्तित्व के कई अंग हो सकते हैं; और विभिन्न स्थलों

1 Responses. 2. Conflict.

पर विभिन्न प्रकार के व्यवहार उसमें देखे जा सकते हैं। अन्तर्द्वन्द्व आ जाने के कारण बालक के 'व्यक्तित्व[1] का विकास सुसंगठित' नहीं हो पाता। इसका फल यह होगा कि बालक कुटुम्ब में एक प्रकार का, स्कूल में दूसरे प्रकार का और अन्य बालकों के साथ खेल में तीसरे प्रकार का व्यवहार दिखलायेगा। ऐसा बालक बड़ा होने पर घर में एक व्यक्तित्व रखेगा तथा घर के बाहर विभिन्न स्थलों पर विभिन्न प्रकार का व्यक्तित्व दिखलायेगा। कहना न होगा कि व्यक्तित्व के इस कुव्यवस्थापन की नींव बहुत हद तक कुटुम्ब में ही पड़ती है। स्पष्ट है कि कुटुम्ब रूपी जखीरे में ही व्यक्तित्व रूपी पौधे का वीजारोपण होता है। अतः व्यक्तित्व के निर्माण में कुटुम्ब का बड़ा भारी हाथ है।

कुटुम्ब संस्कृति का पोषक

बालक का स्वभाव तथा आचरण किस प्रकार की संस्कृति को अपनाएगा यह कुटुम्ब पर ही प्रायः निर्भर करता है। यदि व्यक्ति ऐसे समाज में रहता है जहाँ विभिन्न लोगों के विविध कार्य-प्रणालियाँ तथा 'आचरण' 'समान सिद्धान्तों' और 'स्तरों' द्वारा अनुशासित होते हैं तो कुटुम्ब का काम इस सर्वमान्य सांस्कृतिक सम्पत्ति को बालकों को देना हो जाता है। परन्तु एक समाज में हम देखते हैं कि विभिन्न कुटुम्ब विभिन्न प्रकार की सांस्कृतियों के पोषक होते हैं। फलतः कुटुम्ब सर्वप्रथम अपने मन की संस्कृति चुनता है; तब इसी को जान या अनजान में वह अपने वंशजों को देता है। कुटुम्ब तीन प्रकार की संस्कृतियों को बालक को देता हैं :—(१) अपनी कौटुम्बिक परम्परायें तथा आचरण के विभिन्न स्तर; (२) स्थानीय जन समुदाय की संस्कृति; तथा (३) बृहद् समाज की संस्कृति।

कुटुम्ब का दायित्व

कुटुम्ब का महत्व केवल मनुष्य जाति के लिए ही नहीं, वरन् पशु-पक्षियों के लिए इसका कुछ महत्व हैं, क्योंकि पशु-पक्षी भी तो कुटुम्ब में ही जन्म लेते हैं और कुछ काल तक अपनी प्रारम्भिक आवश्यकताओं

1. Well-integrated development of personality.

की पूर्ति के लिए उन्हें कुटुम्ब में ही रहना होता है । पशु-पक्षियों की अपेक्षा मानव के लिए कुटुम्ब अधिक महत्वपूर्ण है । मानव कुटुम्ब में रह कर केवल अपना आत्म-विकास ही नहीं करता, वरन् उसकी सांस्कृतिक सम्पत्ति को अपना कर उसकी वृद्धि की चेष्टा करता है कौटुम्बिक संस्कृति में अपना योग देने के बाद वह उसे अपने वंशजों के लिए छोड़ भी जाता है । इस प्रकार कुटुम्ब मानव विकास के लिए एक अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्था हो चली है । प्रायः यह देखा भी जाता है कि जिस व्यक्ति का पालन पोषण अपने माता-पिता के कुटुम्ब में नहीं होता उसका व्यक्तित्व कई अर्थों में अधूरा रह जाता है । अतएव बालक के विकास के हित में कुटुम्ब के कई दायित्व हो जाते हैं ।

कुटुम्ब बालक के लिए शिक्षा का प्रधान स्थान है । उसकी पहली शिक्षा कुटुम्ब में ही प्रारम्भ होती हैं । बालक के भावी जीवन को बनाने अथवा बिगाड़ने में उसके प्रारम्भिक कौटुम्बिक अनुभवों का बड़ा भारी हाथ रहता है । प्रायः सभी मनोवैज्ञानिकों ने कुटुम्ब में पाये हुये शैशव के अनुभवों के महत्व को स्वीकार किया है । घर में बालक पर माता का प्रभाव बड़ा ही गम्भीर पड़ता है । प्रायः सभी महापुरुषों ने माता के प्रभाव के गुण को गाया हैं । माता के बाद पिता, भाई, बहिन, अतिथि, नौकर तथा अन्य व्यक्तियों की गणना की जाती है । अपने वातावरण के विभिन्न अंगों से शिक्षा ग्रहण करने की बालक में एक विशेष क्षमता होती है । इस क्षमता के कारण जान अथवा अनजान में कुटुम्ब में रहते हुए वह अनेक शिक्षायें ग्रहण किया करता है । इसी क्षमता के कारण बालक अपने वातावरण तथा कुटुम्ब में पाई जाने वाली रुचियों, परम्पराओं, आदर्शों तथा सांस्कृनियों का प्रतीक कहा जाता है । इसीलिए कहा जाता है कि बालक स्कूल में अपने व्यक्तित्व के साथ अपने वातावरण तथा कुटुम्ब की परम्पराओं तथा सांस्कृतियों को भी लाता है । अतः कुटुम्ब का यह दायित्व है कि वह अपनी संस्कृति को परिष्कृत बनावे ।

कौटुम्बिक वातावरण में बालक की विभिन्न मूलप्रवृत्तियों[1] की सन्तुष्टि[2]

1. Instincts. 2. Satisfaction.

तथा शोधन[1] होता हैं। घर की परिस्थितियों के अनुसार इन मूलप्रवृत्तियों की सन्तुष्टि, शोधन अथवा अवदमन होता है। यदि कौटुम्बिक वातावरण सुखद हुआ और बालक का पथ-प्रदर्शन अच्छा किया गया तो उसकी मूलप्रवृत्तियाँ[2] सन्तुष्ट तथा शोधित होकर बालक के अच्छे व्यक्तित्व की नींव डालेंगी। यदि घर का वातावरण दूषित हुआ, माता-पिता में आये दिन झगड़े हुआ करते हैं; पिता शराबी हुआ और नशे में घर के लोगों के साथ दुर्व्यवहार करता है; तो ऐसे घरों के बालकों में नाना प्रकार के दोष आ सकते हैं। कुछ कुटुम्बों में बालकों पर कठोर नियन्त्रण रखा जाता है। यद्यपि यह नियन्त्रण बालकों के हित में ही रक्खा जाता है, परन्तु इसका प्रभाव बालकों पर प्रायः उलटा ही पड़ता है। अतः बालकों के वांछित विकास के लिए कुटुम्ब की विभिन्न परिस्थितियों का आयोजन बड़े सोच-समझकर करना चाहिए।

हमारे अधिकांश भारतीय कुटुम्ब बालक के समुचित विकास के लिए अच्छे वातावरण के आयोजन में प्रायः सफल नहीं होते। कदाचित् इसका प्रधान कारण यह है कि हमारे यहाँ के माता-पिता बच्चों की शिक्षा सम्बन्धी अपने सारे उत्तरदायित्व को ठीक-ठीक नहीं समझते। निम्न कोटि के कुटुम्बों में बालकों की रक्षा, पालन-पोषण तथा शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध नहीं रहता। इसका कारण प्रधानतः धनाभाव हो सकता है। परन्तु जिन घरों में धन की कमी नहीं हैं वहाँ ज्ञानभाव ही दूषित वातावरण उपस्थित किये रहता है।

कुछ कुटुम्ब ऐसे होते हैं जिनमें बालकों को स्पर्द्धाशील[3] वातावरण मिलता है। ऐसे वातावरण में बालकों को एक विशिष्ट दिशा में चलने के लिए उत्साहित किया जाता है। उदाहरणार्थ; कुछ कुटुम्ब अपने बालकों को परीक्षा में प्रथम श्रेणी लाने के लिए सदैव उत्साहित करते रहते हैं। कुछ कुटुम्ब अपने बालकों को खेल में नाम पैदा करने के लिए अभिप्रेरित

---

1. Sublimation. 2. लेखक की "मनोविज्ञान और शिक्षा", अध्याय ६, द्वि० सं० लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, १९५६। 3. Emulative Environment.

करते रहते हैं। इस प्रकार के वातावरण से बालकों का विकास सम्पूर्ण न होकर एकांगी हो जाता है और उनमें एक प्रकार की खींचातानी चलती रहती है, जिससे एक व्यक्ति अपना रहस्य दूसरों के सामने नहीं खोलना चाहता। कुछ दूसरे प्रकार के कुटुम्बों में सांस्कृतिक कार्यों और रुचियों की हँसी उड़ाई जाती है। ऐसे कुटुम्बों में यदि बालक स्कूल में सीखी हुई बातों का प्रदर्शन करता है तो उसका उपहास किया जाता है। ऐसे कुटुम्ब बालक की रुचियों को परिष्कृत करने का अवसर नहीं देते। कुछ कुटुम्ब भावना प्रदर्शन में विश्वास नहीं करते। स्नेह, आनन्द, आह्लाद तथा सहानुभूति आदि भावों के प्रदर्शन को वे बुरा समझते हैं। फलतः कुटुम्ब के सभी सदस्य प्रायः अपने व्यवहार में ठण्डे दिखलाई पड़ते हैं। ये तीनों प्रकार के कुटुम्ब बालक के विकास के हित के विरुद्ध हैं। कुटुम्ब की चेष्टा बालक के सर्वाङ्गीण विकास की ओर होनी चाहिए और तदनुसार उसे आवश्यक उपकरणों का आयोजन करना चाहिए।

कुटुम्ब का अपना निवास-स्थान स्वास्थ्यप्रद वातावरण में रखना चाहिए, जिसमें स्वास्थ्य के लिये शुद्ध वायु, जल तथा भोजनादि के लिए शुद्ध पदार्थ उपलब्ध हो सकें। मकान की स्थिति ऐसी हो कि उसमें पर्याप्त सूर्य-प्रकाश और शुद्ध हवा आ सके और आस-पास पानी इकट्ठा करने वाले गढ़े और नालियाँ न हों। मकान के पास कुछ हरियाली, उद्यान तथा खेलने का मैदान हो तो अत्युत्तम है। बालक के विकास पर उसके स्वास्थ्य का बडा प्रभाव पड़ता है और स्वास्थ्य के सम्बन्ध में रहने के स्थान पर विशेष ध्यान देना है।

स्वस्थकर रहने के स्थान के अतिरिक्त बालकों को पौष्टिक[1] तथा सन्तुलित भोजन मिलना अत्यन्त आवश्यक है। वह भोजन पौष्टिक और सन्तुलित होता है जिसमें पर्याप्त और उचित मात्रा में कार्बोहाइड्रेट[2] प्रोटीन,[3] चर्बी,[4] नमक[5] तथा विभिन्न

1. Nourishing Balanced Diet. 2. Carbohydrate, जैसे चावल, गेहूं आलू आदि। 3. Protein, जैसे, दूध, अण्डा, दाल आदि। 4. Fat, जैसे मक्खन घी, बादाम, गरी आदि। 5. Salts, जैसे हरी तरकारियाँ, फल आदि।

विटामिन[1] रहते हैं। अच्छे भोजन के साथ-साथ बालकों को भोजन के नियमों से भी अवगत करना चाहिए। कुटुम्ब के सदस्यों को यह देखना है बालक के भोजन के सम्बन्ध में एक नियम बना लिया जाय। जभी हो कि तभी उन्हें हठात् खिलाना हानिकर होगा। यदि बालक नट जाता है कि वह 'बरफ़मलाई' ले करके ही रहेगा तो उसे इसे उस समय न देना ही ठीक होगा। बालक को यह सिखलाना चाहिए कि भोजन खूब चबा-चबा कर शान्तिपूर्वक करना चाहिए।

कुटुम्ब को बालक के खेल पर भी विशेष ध्यान देना चाहिए, क्योंकि उसके विकास में खेल-कूद का बड़ा महत्व है। जिन बालकों को विविध प्रकार के खेल खेलने के अवसर नहीं दिये जाते उनके शारीरिक और मानसिक विकास कुण्ठित रह जाते हैं। बालकों के खेल शारीरिक और बौद्धिक दोनों प्रकार के होने चाहिए। प्रारम्भ में बालकों के खेल खिलौने का बड़ा भारी हाथ होता है। हमारे देश के अधिकांश कुटुम्ब धनाभाव के कारण खिलौने नहीं खरीद पाते। इस सम्बन्ध में यह कहना आवश्यक जान पड़ता है कि मँहगे विदेशी खिलौने के स्थान पर सस्ते देशी खिलौने कभी-कभी खरीदे जा सकते हैं, अथवा माता-पिता स्वयं कुछ ऐसी वस्तुओं को एकत्रित कर सकते हैं जो खिलौने का काम करते हैं।

यह याद रखना है कि केवल खेलौनों का आयोजन कर देना ही पर्याप्त नहीं है। बालकों की खेल-कूद में कुटुम्ब के वयस्क लोगों का भी भाग लेना आवश्यक है। वयस्क लोगों के भाग लेने से बालकों के खेल सुसंगठित हो जाते हैं। वयस्कों के भाग लेने का अर्थ यह नहीं है कि बालकों के स्वाभाविक खेलों में विघ्न डाला जाय।

कुटुम्ब को बालक की स्वच्छता पर विशेष ध्यान देना चाहिए, क्योंकि स्वच्छता स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। स्वच्छता के अन्तर्गत

1. Vitamins, जैसे 'ए' 'बी' 'सी' और 'डी' आदि। दूध, मक्खन और गाजर से 'ए'; गेहूँ, 'अण्डा मटर आदि से 'बी'; नीबू, नारंगी, संतरा, हरी तरकारियों और फलों से 'सी'; दूध और मछली आदि से 'डी' विटामिन मिलती हैं।

शरीर तथा वस्त्रादि की सफाई आ जाती है। सुबह उठकर हाथ-मुँह धोने तथा शौचादि से निवृत्त होकर स्नानादि करने में एक नियम का होना आवश्यक है। कभी सुबह स्नान करना और कभी दोपहर को स्नान करना स्वास्थ्य के हित में अच्छा नहीं। स्वास्थ्य-सम्बन्धी कुछ आदतों का डालना आवश्यक है। परन्तु साथ ही यह भी याद रखना है कि बच्चे अपनी आदतों के दास न बन जाँय।

कुटुम्ब को यह देखना है कि बालक की रुचि का झुकाव किस ओर है। उसकी रुचि के अध्ययन से उसके भावी व्यवसाय के सम्बन्ध में कुछ बातें सोची जा सकती हैं। कुटुम्ब का यह कर्तव्य नहीं कि वह बालक को एक विशिष्ट व्यवसाय में निपुण करने की चेष्टा करे, जब तक कि स्वयं बालक का उस ओर सहज आकर्षण न दिखलाई पड़े। तथापि, कुटुम्ब को यह देखना चाहिए कि बालक के भावी व्यावसायिक जीवन के सम्बन्ध में कुछ प्राथमिक कर्तव्यों का पालन कर दिया जाय। उदाहरणार्थ; प्रत्येक व्यवसाय तथा हस्तकौशल में शारीरिक अवयवों के प्रशिक्षण की आवश्यकता होती हैं। कुछ हद तक यह प्रशिक्षण कुटुम्ब से ही प्रारम्भ किया जा सकता है। शारीरिक अंगों तथा इन्द्रियों का उचित प्रयोग सिखाना इस दिशा का प्रथम पग कहा जा सकता है। किसी भी व्यवसाय में शारीरिक कार्य में रुचि, स्वावलम्बन तथा कर्तव्य-परायणता आवश्यक होती है। इन सब गुणों की नींव डालना कुटुम्ब का दायित्व है।

बालक के बौद्धिक विकास के लिए कौटुम्बिक वातावरण का बौद्धिक होना आवश्यक है। बौद्धिक विकास में खिलौने के महत्व की ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है। खिलौनों के बाद पुस्तकों का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। बालकों के लिए शिशु-साहित्य-सम्बन्धी पुस्तकों का होना आवश्यक है। हमारे देश के गरीब कुटुम्बों के लिए बालकों के बौद्धिक विकास के लिए उचित पुस्तकों का आयोजन करना अत्यन्त कठिन है। परन्तु यथासम्भव बालकों के लिए कुछ अच्छी पुस्तकें अवश्य उपलब्ध करनी चाहिए। प्रारम्भ में जब बच्चे पढ़ना-लिखना नहीं जानते तो उनके लिए चित्रों वाली पुस्तकें भी बड़ी लाभप्रद सिद्ध होंगी। कुटुम्ब को इस पर ध्यान देना चाहिए।

बालकों की जिज्ञासा-प्रवृत्ति बड़ी प्रबल होती हैं। वे कभी-कभी अपने प्रश्नों की ऐसी झड़ी लगाते हैं कि उनका उत्तर देना बड़ों के लिये प्रायः असम्भव सा हो जाता है। कुटुम्ब के लोग बहुधा बच्चों को डाँट कर चुप कर दिया करते हैं, अथवा उनके प्रश्नों का कभी-कभी ऊटपटाँग उत्तर दे दिया जाता है। बालक के मानसिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि उनके प्रश्नों का सहज और ठीक-ठीक उत्तर दिया जाय। इसके लिए कुटुम्ब के लोगों को स्वयं अपना ज्ञान बढ़ाना चाहिये, अन्यथा बच्चे नौकरों तथा अपढ़ लोगों से अपने प्रश्नों का उत्तर प्राप्त कर लेंगे; और ये उत्तर गलत और हानिकारक हो सकते हैं। कुटुम्ब को यह देखना है कि बालक की जिज्ञासा-प्रवृत्ति की वृद्धि होती चले और उसका कभी अवदमन न किया जाय।

बालकों की कल्पना-शक्ति का विकास करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि उनका बौद्धिक विकास उनकी कल्पना-शक्ति के विकास पर ही निर्भर होता है। कल्पना-शक्ति के विकास के लिए पहेलियों और कहानियों का सहारा लिया जा सकता है। माता-पिता तथा कुटुम्ब के अन्य बड़े सदस्यों को बालकों के योग्य रोचक कहानियाँ याद रखनी चाहिये, और समय-समय पर उन्हें सुनानी चाहिए। सोते समय वृद्ध जन बच्चों को प्रायः कहानियाँ सुनाया करते हैं। यह बड़ी ही अच्छी प्रथा है। पहेलियों द्वारा बालकों को अच्छा मानसिक व्यायाम मिलता है। इनसे उनमें चिन्तन, एकाग्रता और विश्लेषण की शक्ति बढ़ती है। माता-पिता के कुटुम्ब का वातावरण बालक के कार्य में सहायक बनाना चाहिये। दिन-रात झगड़े उपस्थित किया करना या बालकों पर कड़ा नियन्त्रण रखना उनके वांछित विकास में बाधक है। कुटुम्ब का वातावरण ऐसा हो कि बालक के कार्य में बाधा न पड़े।

कुटुम्ब में ही बालक के चरित्र का निर्माण प्रारम्भ होता है। कुटुम्ब में बालक की अच्छी अथवा बुरी आदतों की नींव डाली जा सकती है अतः बालक में अच्छी आदतें डालना कुटुम्ब का कर्त्तव्य है। कुटुम्ब का वातावरण ऐसा हो कि ईमानदारी, भद्रता, सत्यता, स्नेह, बलिदान तथा त्याग

आदि गुण बालक स्वयं अपना ले। कुटुम्ब के नैतिक वातावरण का बालक पर बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ता है। आगे चलकर इस प्रभाव को बालक पूरे समाज में बिखेरता है। बालक अनुकरण[1] से बहुत कुछ सीखता है। अतः कुटुम्ब का वातावरण ऐसा होना चाहिए कि बालक अनुकरण से कोई बुरी बात न सीख ले।

कुटुम्ब के सदस्यों के अतिरिक्त बालकों पर उनके साथियों, घर के नौकरों तथा अतिथियों आदि का भी प्रभाव पड़ता है। प्रायः यह देखा जाता है कि कुछ बड़े घरों के लड़के नौकरों के कारण बहुत सी बुरी आदतें सीख लेते हैं। अतः नौकरों के रखने में उनके चरित्र पर विशेष ध्यान देना है। यह भी देखना है बालक पड़ोस के बुरे लड़कों का साथ न कर ले।

बालक के चरित्र-निर्माण में पुरस्कार और दण्ड का भी बड़ा भारी हाथ है। कुटुम्ब में बालक के लिए समय-समय पर दण्ड और पुरस्कार दोनों देना आवश्यक होता है। अतः इन दोनों के औचित्य पर कुटुम्ब के सदस्यों को विशेष ध्यान देना चाहिए। दण्ड और पुरस्कार दोनों सार्थक होने चाहिए। व्यर्थ का बढ़ावा देने के लिए पुरस्कार देना अमनोवैज्ञानिक होगा और अपने क्रोध को बालक पर उतारना उसके विकास के लिए घातक है।

आत्म-विश्वास चरित्र का एक बहुत ही महत्वपूर्ण अंग है। इसे जाग्रत करने के लिए कुटुम्ब में पर्याप्त अवसर देना चाहिए, क्योंकि यदि इसका प्रारम्भ बचपन में न किया गया तो बाद में इस गुण का आना बड़ा ही कठिन हो जायगा। आत्म-विश्वास की जागृति के लिए बालक को सुरक्षा की भावना देनी चाहिए। यदि बालक कुटुम्ब में अपने को व्यर्थ और अरक्षित अनुभव करता है तो उसे बड़ी मानसिक पीड़ा होती है और इस पीड़ा को दूर करने के लिए घर के बाहर वह दूषित पथ का अनुगामी होने लगता है। घर के कुछ कार्यों का उत्तरदायित्व बालकों को देकर उनमें आत्म-विश्वास की भावना दी जा सकती है—जैसे रात को दरवाजे बन्द करना, छोटे भाई-बहिनों की रखवाली करना तथा अतिथि-सत्कार आदि

करना कुछ ऐसे कार्य हैं जो बालकों को कभी-कभी दिये जा सकते हैं। साथ ही यदि उनके साथ स्नेह और श्रद्धापूर्ण व्यवहार किया जाता है तो वे अपने महत्व को समझने लगेंगे। इस प्रकार कुटुम्ब में ही बालकों में आत्म-निर्भरता और कर्तव्यपरायणता के बीज बोये जा सकते हैं।

बालकों को सौन्दर्यानुभूति की भी शक्ति देना आवश्यक है, और इस शक्ति का बीजारोपण कुटुम्ब में सरलता से किया जा सकता है। प्रायः यह देखा जाता है कि इस क्षेत्र में कुटुम्ब अपने कर्तव्य की अवहेलना करता है। घर के छोटे-छोटे कार्यों के सम्बन्ध में बालकों में सौन्दर्य-भावना का विकास किया जा सकता है। बाल काढ़ने, कपड़े पहनने, घर का सामान सजाने तथा शारीरिक स्वच्छता आदि के सम्बन्ध में बालकों में सौन्दर्य भावना की जागृति की जा सकती है। यदि घर में बाग है तो उसकी सहायता से अथवा गमलों में ही फूल के पेड़ लगाकर बालकों को प्रकृति-निरीक्षण तथा सौन्दर्यानुभूति की शिक्षा दी जा सकती है। यदि कुटुम्ब के कुछ लोग कला-प्रेमी है तो बालकों में कला के प्रति भी प्रेम उत्पन्न किया जा सकता है। पशु-पक्षी को पालकर चित्र, टिकट तथा खिलौने आदि को संग्रह कर बालकों में विविध सुन्दर भावनाओं का जागरण किया जा सकता है।

बालक के चरित्र-निर्माण में धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा का भी बड़ा भारी स्थान है। यह ठीक है कि बालक धर्म के गूढ़ तत्वों को नही समझ सकता। परन्तु धार्मिक व्यक्तियों के जीवन-चरित्र तथा धार्मिक जीवन सम्बन्धी कुछ साधारण बातों के सहारे उसे कुछ धार्मिक और नैतिक ज्ञान दिया जा सकता है। बालक को अपने कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों का ज्ञान कराना चाहिये। इस ज्ञान के लिये महापुरुषों का जीवन-चरित्र अच्छा साधन माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त यदि कुटुम्ब के सदस्यों का जीवन धार्मिक और नैतिक हुआ तो बालक भी उसी भाव में रंग जाएगा।

गत पृष्ठों के विवेचन से स्पष्ट है कि बालक के समुचित विकास के हित में अनेक प्रकार के कर्तव्यों का पालन करना कुटुम्ब का उत्तरदायित्व है। इस उत्तरदायित्व को निभाने के लिये कुटुम्ब को बड़ा ही सजग

और प्रयत्नशील रहना है। कहना न होगा कि परिवार में बालक के लिए प्रत्यक्ष[1] और सविधिक[2] शिक्षा का आयोजन नहीं किया जा सकता। परन्तु बालक ऐसा कुशल ग्राहक होता है कि अपने वातावरण की विविध वस्तुओं के अनुसार वह अपने को ढालने के प्रयत्न में स्वतः लग जाता है। इस वस्तु-स्थिति के कारण कुटुम्ब के लोगों का उत्तरदायित्व और भी बढ़ जाता है। उन्हें हर समय देखना है कि बालकों के सामने अपने व्यवहार के कारण कोई अनुचित उदाहरण वे न रक्खें; और साथ ही, बालक के समूचे वातावरण को स्वस्थकर बनाये रखने की उन्हें चिन्ता रखनी है। इस प्रकार का प्रयास उन्हें निरन्तर करते रहना है। कुटुम्ब के सदस्यों को यह ध्यान रखना है कि प्रत्येक बालक दूसरे से भिन्न होता है। प्रत्येक का अपना-अपना अनोखा व्यक्तित्व होता है। अतः बालकों की कभी परस्पर अमनोवैज्ञानिक तुलना नहीं करनी चाहिए। प्रत्येक बालक को अपनी निजी रुचियों तथा इच्छाओं के अनुसार विकसित होने की पूरी स्वतन्त्रता देनी चाहिए। बालक और बालिकाओं को दो आँख से देखना बड़ा ही बुरा है। हमारे अधिकांश भारतीय कुटुम्बों में प्रायः लड़के और लड़कियों को दो आँखों से देखा जाता है और लड़कों के सामने लड़कियों को कुछ हेय समझा जाता है। यह मनोवृत्ति बड़ी ही अमनोवैज्ञानिक है और यह लड़के और लड़कियों दोनों के विकास में बाधक है।

स्पष्ट है कि कुटुम्ब एक ऐसी संस्था है जिसका बालक पर अचूक प्रभाव पड़ता है। बालक के भावी जीवन की नींव कुटुम्ब में ही पड़ती है। अतः एक शिक्षा-संस्था के रूप में कुटुम्ब के स्थान की कभी अवहेलना नहीं की जा सकती।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

बालक के विकास में कुटुम्ब का महत्व

एक ही कुटुम्ब और माता-पिता के बच्चों का वंशानुक्रम और वातावरण समान नहीं।

---

1. Direct. 2. Formal Education.

बालक के विकास में कुटुम्ब का हाथ, बालक कोरी पटिया नहीं, प्रथम छः वर्षों तक घर के ही मनोवैज्ञानिक वातावरण का स्कूल में अनुसरण आवश्यक।

बालक स्कूल में कौटुम्बिक संस्कृति लाता है

कुटुम्ब के अन्य लोगों का भी बालक के व्यक्तित्व पर प्रभाव। उसके व्यक्तित्व के अन्दर कुटुम्ब की सारी संस्कृति निहित।

कौटुम्बिक प्रभाव की अवहेलना न करना

स्कूल में बालक पर विभिन्न शिक्षकों का व्यक्तिगत प्रभाव केवल आंशिक। परन्तु कुटुम्ब में एक क्रमिक प्रभाव।

कुटुम्ब को कुछ दायित्वों का पालन करना

कुटुम्ब अविधिक शिक्षा-संस्था। कुटुम्ब से समाज की अपेक्षायें। सामाजिक और वैधानिक दृष्टि से कुटुम्ब एक इकाई।

कुटुम्ब अपनी परम्पराओं और रीति-व्यवहार का विकास करता है। कुटुम्ब अपने कर्तव्य की अवहेलना नहीं कर सकता।

गत सौ वर्षों से शैक्षिक संस्था के रूप में कुटुम्ब में परिवर्तन। जीवन की कृत्रिमता के साथ कुटुम्ब के दायित्वों की कमी।

कुटुम्ब एक स्वाभाविक सामाजिक समूह। कुटुम्ब में संवेगात्मक भावनायें। कुटुम्ब व्यक्तित्व-निर्माण के लिए एक अनोखा केन्द्र।

कुटुम्ब में स्वतन्त्र विचार-विनिमय और एकता आवश्यक। कुटुम्ब से ही बालक को संवेगात्मक सुरक्षा की भावना मिलना।

कुटुम्ब के वातावरण में बालक को अनेक शिक्षायें

कुटुम्ब में पाई हुई शिक्षा का महत्व। कुटुम्ब में बालक विभिन्न बातें सीखता है।

संवेगात्मक और सामाजिक आदतें।

कुटुम्ब के वातावरण में आदतें और प्रवृत्तियाँ

प्रौढ़ लोगों को अपने संवेगों पर नियन्त्रण रखना। 'क्या' के स्थान पर 'कैसे' पर विशेष ध्यान देना। प्रेम और सहानुभूति आवश्यक।

व्यक्तित्व-निर्माण में कुटुम्ब का हाथ

व्यक्तित्व का पहला प्रकाशन कुटुम्ब में। बालक अपनी आवश्यकताओं के लिए कुटुम्ब पर निर्भर।

समाज में बालक का आदर उसकी कौटुम्बिक परम्परा पर निर्भर।

अत्यधिक लाड़-प्यार से अन्तर्द्वन्द्व आने का डर।

कुटुम्ब संस्कृति का पोषक

कुटुम्ब बालक को तीन प्रकार की संस्कृति देता है।

कुटुम्ब का दायित्व

कुटुम्ब का महत्व प्रत्येक के लिए, परन्तु मानव के लिए अत्यधिक।

कुटुम्ब बालक के लिए शिक्षा-स्थान। पहली शिक्षा कुटुम्ब में, जान या अनजान में बहुत बातें सीखना।

कौटुम्बिक वातावरण में विभिन्न मूल-प्रवृत्तियों का शोधन। विभिन्न कौटुम्बिक परिस्थितियों का आयोजन बड़े सोच-समझकर करना।

अधिकांश भारतीय कुटुम्बों में बालक के विकास के लिए समुचित वातावरण नहीं।

कुछ कुटुम्ब में स्पर्द्धाशील वातावरण। कुटुम्ब की चेष्टा बालक के सर्वांगीण विकास के लिए होना चाहिए।

कुटुम्ब में स्वास्थ्यप्रद वातावरण उपस्थित करना।

पौष्टिक और सन्तुलित भोजन का प्रबन्ध।

खेल पर ध्यान देना।

खेल में कुटुम्ब के वयस्क लोगों को भी भाग लेना चाहिए।

बालक की स्वच्छता पर विशेष ध्यान। आदतों का दास न बनाना।

बालक की रुचि को समझना। शारीरिक अवयवों और इन्द्रियों का उचित प्रयोग सिखाना।

बौद्धिक वातावरण।

जिज्ञासा-प्रवृत्ति को बढ़ाना।

कल्पना-शक्ति का विकास।

अच्छी आदतें डालना। अच्छे व्यक्तियों के साथ का आयोजन।

दण्ड और पुरस्कार के औचित्य पर ध्यान देना।

आत्म-विश्वास के विकास के लिए अवसर देना।

सौन्दर्यानुभूति की शक्ति देना।

धार्मिक और नैतिक शिक्षा।

सहायक पुस्तकें

१—वॉसर्ड, जेम्स, एच० एस० : द सोशियालॉजी ऑव् चाइल्ड डीवलपमेण्ट, हार्पर, न्यूयार्क, १९४८।

२—फॉस्टर, आर० जी०—मैरेज एण्ड फ़ेमिली रीलेशनशिप्स, मैकमिलन, न्यूयार्क, १९५०।

३—जेसेल, ए०—द फर्स्ट फाइव् इयर्स ऑव् लाइफ़, हार्पर, न्यूयार्क, १९४०

४—वॉलर, डब्लू—द फ़ेमिली, ड्राइडेन, न्यूयार्क, १९५१।

५—विञ्च, ऑर० एफ०—द मॉडर्न फेमिली, हेनरी हॉल्ट, न्यूयार्क, १९५२।

६—मूर ऐण्ड कूल—सोशियालॉजी इन एडूकेशनल प्रैक्टिस, अध्याय ३, हूटन निफ्लिन, न्यूयार्क, १९५२।

७—यङ्ग के०—परसानाल्टी ऐण्ड प्रॉब्लेम्स ऑव् ऐडजस्टमेण्ट—एफ० एस० क्रॉफ्ट्स, १९४०।

८—साइमण्ड्स पी० एम०—द साइकॉलॉजी ऑब् पेरेण्ट-चाइल्ड रीलेशनशिप्स, एपिल्टन—सेञ्चुरी, १९३९।

———

१४

स्कूल का क्षेत्र

शिक्षा की सहायता से ही मानव अपना विकास करते हुए सभ्यता के विकास में कुछ योग देने में समर्थ होता है। शिशु केवल कुछ प्रवृत्तियों[1] और सम्भावनाओं[2] के साथ जन्म लेता है, और उसका विकास समुचित अवसर के मिलने से ही हो सकता है। मानव का व्यवहार उसकी केवल कुछ जन्मजात मूलप्रवृत्तियों[3] पर ही निर्भर नहीं रहता। जन्म के बाद मानव कुछ आदतें सीखता है और उसके बहुत से व्यवहार इन आदतों[4] द्वारा नियमित होते हैं। ये आदतें मनुष्य की शिक्षा पर निर्भर करती हैं। जैसी शिक्षा व्यक्ति पाता है उसी के अनुरूप उसमें आदतें पड़ती है, अर्थात तदनुसार उसका स्वभाव बनता है। अतः व्यक्ति के जीवन में शिक्षा का बड़ा भारी महत्व है। यह शिक्षा बहुत दूर तक स्कूल और कालेजों तथा अन्य सविधिक और अविधिक संस्थाओं से प्राप्त होती है। इस शिक्षा में स्कूल का हाथ क्या है इसे ही यहाँ पर हम अति संक्षेप में समझने का प्रयत्न करेंगे।

मानव शिशु एक कुटुम्ब में पैदा होता है। जन्म के समय वह निरा असहाय होता है और अपनी विभिन्न आवश्यकताओं के लिए वह दूसरों पर निर्भर रहता है। कुटुम्ब में रहने के कारण बालक लोगों को अपेक्षा के अनुसार अपना व्यवस्थापन करने का प्रयत्न करता है। वह बड़ों की भाषा सीख लेता है। उनके कुछ विश्वासों और परम्पराओं को वह अपने स्वभाव में अपनाने लगता है। अपने सम्पर्क में आने वालों

1. Tendencies. 2. Potentialities. 3. Innate Instinct. 4. Habits.

के अनुकरण के आधार पर वह अपने आदर्श और आदतें बनाता है। इस प्रकार सामाजिक वातावरण का बालक के विकास पर बहुत ही प्रभाव पड़ता है। दूसरों के सम्पर्क में आने के कारण व्यक्ति में सहकारिता की भावना का विकास होता है और वह परस्परनिर्भरता के महत्व को समझता है। परन्तु दूसरों का सम्पर्क उसे एक सुसंगठित रूप में मिलना चाहिए, अन्यथा उसका व्यक्तित्व सुसंगठित न हो सकेगा। यह सुसंगठित सम्पर्क उसे स्कूल में ही सरलता से मिल सकता है। स्कूल में बालक ऐसी शिक्षा पाता है जिससे वह विभिन्न सामाजिक सम्बन्धों में सफलतापूर्वक भाग लेने मे समर्थ होता है। अतः बालक की शिक्षा किसी भी संस्था अथवा संयोग पर नहीं छोड़ी जा सकती। बालक की शिक्षा का संचालन एक निश्चित उद्देश्य को लेकर करना है, और इस उद्देश्य का निर्माण व्यक्ति तथा समाज के हित के अनुसार करना है। वस्तुतः व्यक्ति-हित को समाज-हित से अलग नहीं किया जाता, क्योंकि एक दूसरे पर सदैव निर्भर रहते हैं।

स्कूल को समाज का एक ऐसा प्रतिनिधि समझा जा सकता है जो कि सांस्कृतिक मान्यताओं[1] की रक्षा करते हुए उन्हें विभिन्न व्यक्तियों को उनके कल्याणार्थ देता रहता है। स्कूल की सहायता से व्यक्ति सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता को समझता है। अतः उसके विकास में अपना योग देने का उद्देश्य अपने जीवन में वह अपना लेता है। स्कूल को छोड़ कर कोई दूसरी संस्था इस कार्य को सफलापूर्वक नहीं कर सकती। स्कूल के अतिरिक्त, कुटुम्ब, निकट पड़ोस के समाज के साथ सम्पर्क, पुस्तकें तथा पत्रिकाओं के पढ़ने, रेडिओ, सिनेमा, संगीत सम्मेलन तथा अन्य सभाओं से व्यक्ति समाज की बहुत सी सांस्कृतिक मान्यताओं से अवगत हो जाता है। परन्तु स्कूल बालक को उन कौशलों से युक्त करता है जिनकी सहायता से वह इन सब साधनों से अधिक से अधिक लाभ उठाने में समर्थ होता है।

सभ्यता के आदि काल में व्यक्ति की शिक्षा बहुधा कुटुम्ब में ही हो

1. Cultural Values.

जाती थी। कुटुम्ब में अविधिक रूप से व्यक्ति की सारी शिक्षा हो जाती थी। परन्तु लिखने की कला के विकास के साथ शिक्षा का रूप जटिलतर होने लगा और उसका सारा भार उठाना कुटुम्ब के लिये सम्भव न हो सका। फलतः माता-पिता की सहायता के लिये शिक्षक की कल्पना की गई और शिक्षक के बाद स्कूल की स्थापना हुई। इस प्रकार स्कूल ने बालक की शिक्षा-सम्बन्धी उन सभी दायित्वों को ले लिया जिन्हें पहले कुटुम्ब ढोता था। कुटुम्ब के दायित्वों को लेने के कारण स्कूल अपने कार्य का सम्पादन बिना कुटुम्ब की सहायता से नहीं कर सकता। गत अध्याय में इस बात पर प्रकाश डाला जा चुका है।

स्कूल एक ऐसी सामाजिक संस्था है जिसका प्रधान कार्य व्यक्तियों को कुशल और सुव्यवस्थित समाज का सदस्य बनाना है। अतः स्कूल को उस निकट समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायता करनी है जिसके बीच में वह स्थित है। इसके लिये यह आवश्यक है कि स्कूल के अधिकारी समाज की आवश्यकतों से अपने को सदा अवगत रक्खें। एक वातावरण की आवश्यकतायें दूसरे वातावरण की आवश्यकताओं से भिन्न होती हैं। गाँव और शहर के बालकों की आवश्यकताओं में भेद का होना एकदम स्वाभाविक है। अतः शहर के स्कूल के ढाँचे पर देहात में स्कूल स्थापित कर देना ठीक नहीं। अतः किसी स्कूल-कार्यक्रम के प्रारम्भ करने के पूर्व निकट समाज का अच्छी तरह अध्ययन करना चाहिये जिससे स्कूल का परिश्रम विफल न जाय।

कुटुम्ब अपने बच्चों को स्वयं शिक्षा नहीं दे पाता, इसलिये वह उन्हें स्कूल में भेजता है। प्रायः यह देखा जाता है कि माता-पिता स्वयं बालकों को शिक्षा देने में बड़ा आलस्य करते हैं। वे अपनी दिनचर्या तथा उद्यम में अपने को इतना व्यस्त समझते हैं कि बालकों के समुचित विकास की ओर ध्यान देने में अपने को समर्थ नहीं पाते। ऐसी दशा में वे अपने बच्चों को स्कूल में भेजना आवश्यक समझते हैं। सभ्यता के आदि काल में समाज की आवश्यकताएँ जब बहुत सीमित थीं और व्यक्ति थोड़े में ही परम सन्तोष का अनुभव करता था तब आज जैसी जीवन की विषम

समस्याओं की उत्पत्ति नहीं हुई थी। अतः तब बच्चों की शिक्षा कुटुम्ब में ही हो जाती थी। परन्तु आज के जीवन की जटिल समस्याओं के कारण प्रत्येक के लिये एक विशिष्ट प्रकार का कौशल प्राप्त करना आवश्यक जान पड़ता है, अन्यथा वह उनका समाधान न खोज सकेगा। इस कौशल का प्राप्त करना स्कूल की सहायता से सरल हो जाता है। ऐसी स्थिति के कारण स्कूल में ही बालकों को शिक्षित करने की एक प्रथा चल पड़ी है। इस प्रथा के कारण शिक्षण की बहुत सी वैज्ञानिक प्रणालियों का निर्माण किया गया है और साथ ही एक शिक्षा-दर्शन और शिक्षा-शास्त्र की भी कल्पना की गई है। स्कूल बालक के विकास के लिये एक अच्छा वातावरण उपस्थित करता है। जब तक बालक स्कूल में रहता है तब तक वह अपने पड़ोस तथा कुटुम्ब के दूषित वातावरण से दूर रहता है। बिना स्कूल गये बालक के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास संभव नहीं, क्योंकि स्कूल के वातावरण में ऐसे विभिन्न प्रकार के अनुभव उसे मिलते हैं जो कि उसके व्यक्तित्व-निर्माण में बड़े सहायक होते हैं।

स्कूल को समाज से पृथक नहीं समझा जा सकता, क्योंकि जिस समाज में स्कूल रहता है उस समाज की विभिन्न समस्यायें स्कूल में आने वाले बालकों की समस्याओं से आँकी जा सकती हैं। उदाहरणार्थ, हमारे भारतीय समाज के दोष—अस्पृश्यता, स्त्री-पुरुष भेद, जाति-व्यवस्था, बेकारी, तथा निर्धनता आदि हमारे स्कूलों में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं। परन्तु यह सब होते हुए भी स्कूल में ये सब बुराइयाँ प्रायः बहुत उग्र रूप नहीं पकड़ पातीं। स्कूल की योजना समाज के अन्तर्गत् एक सुव्यवस्थित रूप में की जाती है, और समाज के अवगुण को यथासंभव उसमें नहीं आने दिया जाता। फलतः जैसा ऊपर कहा जा चुका है, स्कूल को समाज का एक छोटा परिष्कृत रूप माना जा सकता है।

ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि बालक की शिक्षा के सम्बन्ध में अब स्कूल का उत्तरदायित्व बढ़ता जा रहा है और कुटुम्ब का दायित्व घटता जा रहा है। पहले स्कूल का क्षेत्र बालक को विभिन्न विषयों का केवल ज्ञान ही देना था, परन्तु अब स्कूल के क्षेत्र के अन्तर्गत् बालक का सर्वांगीण

विकास-शारीरिक, मानसिक तथा चारित्रिक—आ जाता है। बालकों को स्कूल में बुलाकर उन्हें दूसरों के अनुभव का केवल ज्ञान ही नहीं कराना है। वस्तुतः स्कूल का उद्देश्य अब 'पढ़ाना' नहीं, वरन् 'विकास' करना है। सच्ची शिक्षा वही है जो बालक की स्वाभाविक रुचियों के अनुसार दी जाती है। उसकी स्वाभाविक रुचियों को समझने के लिये सहानुभूति सबसे बड़ा साधन है। इसीलिये तो पेस्तालॉजी ने स्कूल को 'प्यार का घर'[1] की संज्ञा दी है। फ्रोबेल भी कहता है कि स्कूल ऐसा हो कि बालक वहाँ वैसे ही प्रसन्नचित्त जाय जैसे वह खेल के मैदान में जाता है। पेस्तालॉज़ी कहता है कि बालक को पढ़ाना नहीं है, वरन प्यार करना है। एक बार किसी विद्यार्थी का पिता पेस्तालॉजी का स्कूल देखने गया। उसके मुँह से निकल पड़ा "अरे! यह तो स्कूल नहीं, एक घर है।" पेस्तालॉजी ने कहा "यही तुम मुझे सबसे बड़ी प्रशसा दे सकते हो। ईश्वर को धन्यवाद है कि मैं यह दिखा सका कि स्कूल और घर के वातावरण मे कोई भेद नहीं।" हमारे देश के प्राइमरी स्कूल अभी इस दृष्टिकोण से बहुत ही पीछे हैं। यद्यपि शारीरिक दण्ड के विरुद्ध शिक्षाधिकारियो ने नियम पास कर दिया है, पर अभी हमारे शिक्षको मे इतनी जागृति नहीं कि उस नियम का वे पालन कर सके। गाँव तथा शहरो के प्रायः सभी प्राइमरी स्कूलो मे बालक सदा सशंकि रहते हैं कि पता नहीं अध्यापक का हाथ रूपी बाण उनके ऊपर कब छूट जाय। बालक के विकास मे दण्ड का भी स्थान अवश्य है। माता-पिता भी तो बच्चों को दण्ड देते ही है। पर भेद मनोवृत्ति का आ जाता है। किसी विषय के न समझने पर मार खाने का औचित्य बालक की समझ मे कभी नहीं आता। वह किंकर्तव्यविमूढ होकर अटपटा जाता है। मार से भय उत्पन्न होता है। 'भय' संवेग से पलायन-मूल प्रवृत्ति[2] जागृति होती है। अतः भय देकर किसी विषय को सिखाना 'पढ़ाना' नहीं है, वरन् उसे उससे दूर भगाना है।

बालक की रुचि पर ध्यान रखकर प्यार के साथ उसका इस प्रकार मार्ग-प्रदर्शन करना है कि उसकी विभिन्न शक्तियों का विकास हो सके।

1 Home of Love. 2. Escape.

इस चेष्टा में रहना ही स्कूल का प्रधान उत्तरदायित्व है। स्कूल अपना उत्तरदायित्व बिना अभिभावकों और माता-पिता के सहयोग के नहीं निभा सकता। माता-पिता अथवा अभिभावकगण कुछ अंशों में बालकों की रुचियों को अच्छी प्रकार समझ सकते हैं, क्योंकि वे उनके सम्पर्क में अधिक आते हैं। स्कूल के अधिकारियों को उचित है कि वे यदाकदा अभिभावकों से राय लिया करें और उनके सहयोग से बालकों के चरित्र-विकास का प्रयत्न करें।

स्कूल का रूप अब पहले से बहुत बदल गया है। अब उसका जीवन से घनिष्ठतम संबन्ध स्थापित करने की आवश्यकता जान पड़ती है। वर्तमान शिक्षा की अव्यावहारिकता अब पहले से अधिक खटकने लगी है, क्योंकि हमारा राष्ट्र अब संसार के अग्रगण्य राष्ट्रों के समकक्षी होने की धुन में आ गया है। मानव इतिहास इसका साक्षी है कि प्रत्येक महाभारत के बाद देश के शिक्षा-सिद्धान्त तथा प्रणाली की छान बीन की जाती है और आवश्यकतानुसार उसे पुनर्व्यवस्थित करने का उद्योग किया जाता है। सन् १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद योरप के कई देशों की शिक्षा प्रणालियों में महान परिवर्त्तन किये गये। सन् १९१७ की रूस की क्रान्ति के बाद वहाँ की शिक्षा प्रणाली की पूरी कायापलट की गई। द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप आज भी हम प्रायः सभी देशों की शिक्षा-व्यवस्था में कुछ उथल-पुथल देखते हैं। प्रत्येक देश अपनी शिक्षा के पुनर्संगठन में लीन है। अब कर्णधारों का शिक्षा के व्यक्तिगत और सामाजिक व्यावहारिकता पर अधिक ध्यान है। नैतिक,[1] संवेगात्मक,[2] शारीरिक[3] और बौद्धिक[4] सभी आवश्यकताओं की पूर्ति की शिक्षा द्वारा अपेक्षा की जाती है। फलतः शिक्षा-सिद्धान्त का भी कुछ इधर ही झुकाव हो रहा है और यह अनुभव किया जाने लगा है कि स्कूल को इन सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये व्यक्ति को योग्य बनाना है।

आज के संसार में अभूतपूर्ण परिवर्त्तनशीलता दिखलाई पड़ती है। शिक्षा-क्षेत्र में इसका रूप बहुत ही उग्र दिखलाई देता है। अब समस्या

1. Moral 2. Emotional 3. Physical. 4. Intellectual.

यह है कि शिक्षा की व्यवस्था किस प्रकार की जाय कि राष्ट्र की माँग अधिक से अधिक पूरी हो सके। स्कूल का यह कर्त्तव्य है कि बालकों को समाज की कुरीतियों से अवगत करे और उन्हें दूर करने के लिये उनमें दृढ़ इच्छा उत्पन्न करे। विभिन्न परिस्थितियों के समझने और तत्सम्बन्धी उचित निर्णय करने की शक्ति उत्पन्न करने के लिए स्कूल सबसे सुगम साधन है। सहिष्णुता[1], उदारता[2] तथा प्रजातन्त्रात्मक[3] सिद्धान्तों में व्यक्ति का विश्वास स्कूल ही द्वारा उत्पन्न किया जा सकता है। समाज-हित का उत्तरदायित्व अपने ऊपर समझने की प्रवृत्ति व्यक्ति में स्कूल ही को डालनी है। इन सब उद्देश्यों की पूर्ति का उत्तरदायित्व स्कूल के अपने ऊपर ले लेने से क्या हमारी शिक्षा-समस्या का हल नहीं निकल आता? अतः हमें स्कूल को ऐसे ढाँचे में ढालना है कि वह उपरोक्त विधि से अपने कर्तव्य-पालन में लग जाय।

गत पृष्ठों से यह स्पष्ट है कि स्कूल सभी बालकों का समान रूप से विकास नहीं कर सकता। पर वह सभी बालकों को जीवन के साधारण सिद्धान्तों से अवगत तो करा ही सकता है। समान शिक्षा पाये हुए व्यक्तियों में भी मतभेद का होना स्वाभाविक है। पर यदि उनकी शिक्षा उच्चकोटि की हुई तो उनका मतभेद भी एक प्रकार से प्रकाश का ही कार्य करेगा। मतभेद अधिक अच्छा पथ ढूँढ़ने के लिये होगा, न कि आपस में झगड़ा करने के लिये। जिन व्यक्तियों को देश, समाज और संसार की स्थिति का ठीक ज्ञान नहीं रहता और जिनके स्वभाव में समाज-हित का भाव नहीं रहता उन्हीं का मतभेद भयावह और हानिकर सिद्ध होता है। समाज-हित का भाव नागरिक में आ सके इसके लिये आवश्यक है कि स्कूल के कार्यक्रम में सामाजिक[4] विज्ञान के अध्ययन का पूरा आयोजन हो। यदि व्यक्ति को विभिन्न सामाजिक आवश्यकताओं के बारे में वैज्ञानिक विधि से विचार करने का अवसर स्कूल में दिया जाय और मानव-कल्याण के अनुसार आचरण करना सिखलाया जाय तो इतना

---

1. Tolerance 2. Liberal attitudes. 3. Democratic Principles. 4. Social Sciences.

निश्चित है कि कुछ ही दिनों में हमारे समाज से युद्ध का नाम हट जायगा, और राष्ट्रीयता के स्थान पर सब लोग अन्तर्राष्ट्रीयता[1] की ही चर्चा करेंगे। इस प्रवृत्ति के लोग अपने से कुछ कम शिक्षित भाइयों का भी उचित पथ-प्रदर्शन कर सकेंगे और ऐसे ही लोगों के हाथ में राष्ट्र और संसार का भाग्य सुरक्षित रह सकेगा।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि 'क्या स्कूल ही व्यक्ति में इस प्रकार की प्रवृत्ति पैदा कर सकता है? क्या स्कूल के बाहर अन्य संस्थायें ऐसी मनोवृत्ति देने में सफल नहीं हो सकतीं?' यह ठीक है कि कुछ अन्य साधनों द्वारा भी यह सम्भव हो सकता है। कुछ ऐसे व्यक्ति अवश्य हैं जिन्होंने स्कूल में बहुत ही कम शिक्षा पाई है, पर पुस्तकों, समाचार-पत्र, सुहृद्-गोष्ठी व रेडियो आदि साधनों से अपने को ऐसा परिष्कृत कर लिया है कि उनसे समाज के अकल्याण की कल्पना तक नहीं की जा सकती। पर जिसने स्कूल में वैज्ञानिक विधि पर शिक्षा पाई है और जिसके सामने समाज-हित का विश्लेषण विविध प्रकार से किया गया है उसके वांछित दिशा की ओर पहुँचने की अधिक आशा की जा सकती है। स्कूल के बाहर शिक्षित व्यक्ति का दृष्टिकोण कदाचित् उतना उदार न होगा जितना स्कूल से निकले हुए व्यक्तियों के सम्बन्ध मे सम्भावना की जा सकती है। स्कूल अथवा कालेज के बाहर शिक्षा पाया हुआ व्यक्ति अपने क्षेत्र में प्रवीण हो सकता है, पर अन्य सामाजिक समस्याओं सम्बन्धी उसके विचार अपने ही सीमित वर्ग के हित के अनुसार होंगे।

क्या सामाजिक समस्यायें बदला नहीं करतीं? क्या भविष्य का अनुमान लगाया जा सकता है? यदि नहीं, तो भावी समस्याओं के विषय में स्कूलों मे पहले ही कैसे विचार किया जा सकता है? यह ठीक है कि भावी समस्याओं का हम ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगा सकते। पर क्या उनका सामना करने के लिये युवकों को पहले से ही आवश्यक बुद्धि व बल देना युक्ति-संगत न होगा? क्या घर में आग लगने पर कुँआ खोदने का प्रयत्न करना बुद्धिमानी का द्योतक है? हम स्कूलों में किसी समस्या-

1. Internationalism.

विशेष के लिए बालकों को शिक्षित करने का उद्योग नहीं करेंगे। हमारा प्रयत्न तो उन्हें केवल साधारण ज्ञान और सिद्धान्तों से ही अवगत करना होगा। इस उद्देश्य का यह तात्पर्य नहीं कि स्कूल का कर्त्तव्य राजनीतिज्ञों की उत्पत्ति करना है। हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि स्कूल ऐसी शिक्षा दे कि देश में ऐसे नागरिक हों जिन्हें केवल अपना राष्ट्र-हित ही इच्छित न हो, वरन् संसार-हित भी उतना ही प्रिय हो। यदि स्कूल भावी नवयुवकों में ऐसी मनोवृत्ति उत्पन्न करने में सफल न हो सका तो ऐसे व्यक्ति सदा उत्पन्न होते रहेंगे जिनसे विश्व-शान्ति सदा खतरे में आती रहेगी। यदि लोकतन्त्र को सुरक्षित रखना है तो स्कूल को यह सिखाना ही होगा कि अपना नेता किस प्रकार चुनना चाहिये। यदि सामाजिक समस्याओं सम्बन्धी व्यक्ति में अपेक्षित जागृति न हो सकी तो वह भीड़ में पड़कर अपना व्यक्तित्व खो बैठेगा और समूह-मनोविज्ञान[1] का शिकार हो अयोग्य व्यक्ति का नेतृत्व स्वीकार कर बैठेगा और इस प्रकार समाज के अकल्याण में हाथ बटायेगा।

यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या विवादग्रस्त[2] विषयों को स्कूलों में पढ़ाना समय नष्ट करना नहीं है? स्कूल में उन्हीं विषयों को क्यों न पढ़ाया जाय जिनमें सभी एकमत हैं? पर ऐसा तो तानाशाही में ही सम्भव हो सकता है। प्रजातन्त्रात्मक राज्य में तो सदा मतभेद रहेगा, क्योंकि उसमें व्यक्ति को वाणी की स्वतन्त्रता रहती है। अपनी इस वाणी की स्वतन्त्रता का कहीं वह दुरुपयोग न कर बैठे इसलिये उसे सहिष्णु, तार्किक और न्यायप्रिय बनाना होगा। इस अध्याय के प्रारम्भ में ही हम देख चुके हैं कि इन गुणों की प्राप्ति स्कूल के सम्पर्क में सरलता से हो सकती है। यदि स्कूल के वातावरण में विवादग्रस्त विषयों पर विचार नहीं किया जाता तो उपर्युक्त गुणों का प्रादुर्भाव बालकों में कैसे हो सकता है? ये गुण अभ्यास से ही प्राप्त होते हैं। अतः स्कूल में इनका अभ्यास कराना आवश्यक है। यदि स्कूल केवल देश की प्राचीन संस्कृति में ही बालकों का अनुराग पैदा करने का प्रयत्न करता है, यदि

1. Mob Psychology. 2. Controversial Subjects.

वह अपने ही राष्ट्र को सर्वश्रेष्ठ समझने की भावना बालक में डाल देता है अथवा केवल कुछ विषयों को पढ़ा देने से ही वह अपने कर्त्तव्य की पूर्ति समझता है, तो यह निश्चित है कि वह ऐसे नागरिकों को तैयार करेगा जो अपने ही हित में रत रहेंगे और एक दिन वे समाज में अशान्ति उत्पन्न करने में योग देंगे।

बहुधा स्कूल अपना ध्यान 'भूतकालीन सभ्यता'[1] के तत्त्वों को समझाने में ही अधिक देते हैं, क्योंकि बौद्धिक और सौन्दर्यविकास[2] का यही सबसे अच्छा साधन समझा जाता है। यह प्रणाली व्यक्ति के विकास में सहायक हो सकती है, पर स्कूल को यह भी सिखलाना चाहिए कि समाज के प्रति व्यक्ति को अपने कर्त्तव्यों का पालन किस प्रकार करना चाहिये। सामाजिक विकास में व्यक्ति का भाग क्या है इसकी स्कूल में पूरी विवेचना होनी चाहिये। यदि व्यक्ति यह समझ कर तदनुसार कार्य कर सका तो उसे शान्ति मिलेगी और तभी वह अपनी रुचि के अनुसार किसी एक विषय में पांडित्य प्राप्त करने में सफल होगा। हमारे देश के नवयुवक स्कूल अथवा कालेज से निकलने के बाद बेकारी का अनुभव करते हैं। नौकरी के लिये वे इधर-उधर घूमते हैं और पेट-पालन की समस्या के आगे उन्हे कुछ दिखलाई नहीं पड़ता। फलतः उनका सारा सामाजिक विकास, उदारता और परमार्थ वहीं ठप्प हो जाता है। ऐसी स्थिति को रोकना बड़ा आवश्यक है। स्कूल में ऐसी शिक्षा देनी है कि उससे निकलने के बाद युवक बेकारी का अनुभव न करे। यह तभी सम्भव है जब शिक्षा द्वारा उसकी रुचियों का अच्छी प्रकार विकास किया जा सके। अगले पृष्ठों में हम यह देखेंगे कि बालकों की विभिन्न रुचियों के विकास के लिये पाठ्य-क्रम में किन-किन विषयों को स्थान देना चाहिये।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि स्कूल के क्षेत्र में समाज की आवश्यकतानुसार समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है। आज सभ्यता अपने विकास की इस सीमा तक पहुँच आई है कि जीवन में सफलता के लिये व्यक्ति को जो न्यूनतम शिक्षा की आवश्यकता होती है, उसे भी

1. Elements of past civilization. 2. Aesthetic.

अविधिक[1] साधनों द्वारा नहीं दिया जा सकता। अतः सार्वलौकिक[2] शिक्षा की आवश्यकता का सभी लोग अनुभव करने लगे हैं, और इसे लोग एक सामाजिक[3] आदर्श मानने लगे हैं। सामाजिक[4] अवस्थाओं में परिवर्त्तन के कारण स्कूल के कर्तव्य को सीमा निम्नलिखित रूप में बाँधी जा सकती है : यह सीमा गत पृष्ठों में दिये हुये विवरण का निचोड़ होगा।

१—स्कूल का कर्तव्य व्यक्ति को सामान्य[5] संस्कृति के कम से कम उस भाग को दे देना है जिससे वह सफल और सुखी जीवन व्यतीत कर सके, चाहे समाज के किसी भी अंग से उसका सम्बन्ध हो। सामान्य संस्कृति का कम से कम भाग का तात्पर्य केवल पढ़ना-लिखना ही सिखाने से नहीं है, वरन् इसके अन्तर्गत् विज्ञान और समाज-विज्ञान के उन सभी अंशों का ज्ञान देना है जिनकी सहायता से व्यक्ति अपने प्राकृतिक,[6] राजनैतिक,[7] सामाजिक,[8] आर्थिक,[9] सांस्कृतिक[10] तथा धार्मिक सभी वातावरणों से अच्छी तरह परिचित हो जाय।

२—स्कूल का कर्तव्य अब व्यक्ति को व्यावसायिक[11] शिक्षा देना है। आज से लगभग १०० वर्ष पहले व्यक्ति अपनी व्यावसायिक शिक्षा प्रायः घर पर ही पा जाता था। परन्तु आज विविध वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप उद्योग-धन्धों की जटिलता के कारण व्यावसायिक शिक्षा अविधिक रूप से सरलता और सफलतापूर्वक नहीं दी जा सकती। अतः हमें ऐसे स्कूलों की भी स्थापना करनी है, जो व्यक्तियों को आवश्यक व्यावसायिक शिक्षा दे सकें।

३—देश में गणतन्त्र के स्थापन के कारण नागरिकों में गण-तन्त्रात्मक सिद्धान्तों[12] के अनुसार जीवन-यापन हेतु कुछ कौशलों[13] का आना आवश्यक है। अतः व्यक्ति को नागरिकता का पाठ सिखलाने का उत्तरदायित्व स्कूल को अपने ही ऊपर लेना है।

---

1. Informal Agencies. 2. Universal Education 3. Social Ideal. 4. Due to changes in sociological conditions. 5. General culture. 6. Natural. 7. Political. 8. Social. 9. Economic. 10. Cultural. 11. Vocational Education. 12. Democratic Principles. 13. Skills.

४—आज व्यक्ति के नैतिक[1] शिक्षा का भी उत्तरदायित्व स्कूल को ही लेना है। पहले धार्मिक संस्थाओं तथा कुटुम्ब द्वारा व्यक्ति को यह शिक्षा मिल जाया करती थी। परन्तु आजकल धार्मिक संस्थाओं में एकता का अभाव दिखलाई पड़ता है और संयुक्त[2] परिवार का भी विघटन आरम्भ हुआ जान पड़ता है। ऐसी स्थिति में कुटुम्ब और धार्मिक संस्थाओं पर नैतिक शिक्षा के लिये निर्भर रहना कठिन है। अतः स्कूल को ही बालकों के नैतिक और चारित्रिक[3] शिक्षा की व्यवस्था करनी है।

५—स्कूल को केवल व्यक्ति को सभी भाँति से सफल जीवन बिताने के लिये तैयार ही करना है, वरन् उसे व्यक्ति को ऐसा बनाना है कि वह सभ्यता के विकास में अपना योग दे सके, और फलतः संस्कृति की उत्तरोत्तर वृद्धि भी होती रहे। इस प्रकार स्कूल को ज्ञान के सभी अंगों में अन्वेषण को प्रोत्साहन देना है और व्यक्ति के उच्चतम विकास के लिये प्रयत्न करना है।

गत पृष्ठों से स्पष्ट है कि स्कूल और समाज में घनिष्ठतम सम्बन्ध है। स्कूल एक ऐसी संस्था है जिसकी स्थापना विविध सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए की जाती है। अतः स्कूल के उद्देश्य का निर्धारण समाज द्वारा ही किया जा सकता है। स्कूल की पाठ्यवस्तु समाज में चलने वाली क्रियाशीलताओं की द्योतक होगी और शिक्षण-विधि बालक को यह सिखलायेगी कि वह अपने भावी जीवन में विभिन्न सामाजिक कार्यों मे किस प्रकार भाग लेगा।

एक समाज की सांस्कृतिक मान्यतायें दूसरे समाज की मान्यताओं से भिन्न हो सकती हैं। अतः सभी स्कूल के लिए किसी एक ही प्रणाली और उद्देश्य की बात नहीं कही जा सकती। स्कूल का समाज से अलग करना बड़ा हानिकर होगा, क्योंकि समाज से अलग होने पर वह व्यक्ति को उन मान्यताओं में शिक्षा दे सकता है जिनका जीवन से विशेष सम्बन्ध न होगा। सामाजिक रूप और आवश्यकताओं के अनुसार स्कूल में परिवर्तन होते रहना अत्यन्त आवश्यक है। कहना न होगा कि ग्राम्य और शहर के

1. Moral Education. 2. Joint Family. 3. Character Education.

वातावरण में बड़ा भेद पाया जाता है। अतः ग्रामीण तथा शहरी वातावरण के लिए विभिन्न प्रकार के स्कूल की आवश्यकता है।

यदि स्कूल को समाज का प्रतिनिधि होना है और उसकी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायता करना है तो उसके लिए समाज का पूरा सहयोग आवश्यक है। यह सोचना गलत है कि स्कूल में शिक्षा का उत्तरदायित्व केवल शिक्षकों पर ही है। वस्तुतः शिक्षा का उत्तरदायित्व तो पूरे समाज को ही अपने ऊपर लेना है। शिक्षकों को उन उपायों को खोजना और अपनाना है जिनसे वे समाज को स्कूल की ओर आकर्षित कर सकें। निम्नलिखित उपायों से समाज को स्कूल की ओर आकर्षित किया जा सकता है :—

१—स्कूल में किये जाने वाले उत्सवों में माता-पिता तथा अभिभावकों को आमन्त्रित करते रहना।

२—स्कूल की प्रबन्धकारिणी समिति में समाज के प्रौढ़ व्यक्तियों को सदस्य बनाना।

३—स्कूल में कार्य किये जाने के समय माता-पिता को उसे देखने के लिए बुलाना और अवसर पर स्कूल के कुछ कार्यों में उन्हें भी भाग लेने के लिए उत्साहित करना।

४—सन्ध्या समय कुछ सामाजिक कार्यों के लिए स्कूल की इमारत का उपयोग करना। इस प्रकार स्कूल सामाजिक कार्यों का केन्द्र हो चलेगा और प्रौढ़ लोगों में यह भावना आने लगेगी कि स्कूल केवल बालकों के लिए नहीं, वरन् उनके लिए भी है। इस विधि से धीरे-धीरे वे शिक्षकों तथा उनके कार्यों के सम्पर्क में भी आने लगेंगे।

५—"शिक्षक और माता-पिता"-सम्बन्धी समितियों की स्थापना करना। इससे माता-पिता स्कूल के कार्यों में अधिक रुचि लेने लगेंगे।

आप ने ऊपर क्या पढ़ा ?

स्कूल का कार्य

व्यक्ति के जीवन में शिक्षा का महत्व ।

शिशु जन्म के समय दूसरों पर निर्भर । सामाजिक वातावरण का बालक पर प्रभाव । दूसरों के सुसंगठित सम्पर्क का स्कूल में मिलना । स्कूल समाज का प्रतिनिधि । स्कूल की सहायता से बालक विभिन्न कलाओं से मुक्त होता है ।

स्कूल कुटुम्ब के कुछ दायित्वों को निभाता है ।

समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायता करना स्कूल का कर्तव्य ।

माता-पिता बच्चों के विकास पर समुचित ध्यान नहीं दे पाते । अतः बच्चों को स्कूल में भेजना आवश्यक ।

आवश्यक कौशलों को प्राप्त करना स्कूल की सहायता से सरल । स्कूल बालक के विकास से लिये अच्छा वातावरण उपस्थित करता है ।

स्कूल के क्षेत्र के अन्तर्गत बालक का सर्वांगीण विकास ।

स्कूल का उद्देश्य पढ़ाना नहीं, विकास करना है । स्कूल प्यार का घर । अंविभावकों का सहयोग लेना ।

समाज की कुरीतियों से बालकों को अवगत करना और उन्हें दूर करने के लिए उनमें शक्ति देना, विभिन्न गुण उत्पन्न करने लिए स्कूल सुगम साधन ।

सामाजिक विज्ञान के अध्ययन का आयोजन ।

आदर्श नागरिक बनाना स्कूल का कर्तव्य । बालकों में अन्तर्राष्ट्रीयता की जागृति करना ।

सहिष्णुता, तर्क और न्याय-प्रियता उत्पन्न करने के लिए स्कूल में सभी विषयों का पढ़ाया जाना आवश्यक ।

सामाजिक विकास में व्यक्ति के कर्तव्य की विवेचना, बालकों की रुचियों का विकास।

सार्वलौकिक शिक्षा का आदर्श

व्यक्ति को सामान्य संस्कृति का ज्ञान देना।

व्यावसायिक शिक्षा देना।

व्यक्ति को नागरिकता का पाठ सिखाना।

नैतिक शिक्षा का उत्तरदायित्व।

व्यक्ति को ऐसा बनाना कि वह संस्कृति के विकास में अपना योग दे सके।

स्कूल और समाज में घनिष्ठतम सम्बन्ध। स्कूल के उद्देश्य का निर्धारण समाज द्वारा।

ग्रामीण और शहरी वातावरण के लिए विभिन्न प्रकार के स्कूल की आवश्यकता।

स्कूल के लिए समाज का पूरा सहयोग आवश्यक।

सहायक पुस्तकें

१—ऑलसन ऐण्ड अदर्स; स्कूल ऐण्ड कम्युनिटी, प्रेण्टिस हॉल, न्यूयार्क, १६४५।

२—डीवी, जॉन; स्कूल ऑव टुमॉरो, अध्याय ७, ८।

३—बीयर, राबर्ट एम०; द सोशल फङ्कशन ऑव् एडूकेशन, पृ० ३–२०, ५७–७६, मैकमिलन, न्यूयार्क, १६३७।

४—हार्ट, जोजेफ किनमाण्ड; ए सोशल इण्टप्रेटेशन ऑव् एडूकेशन, हेनरी, हॉल्ट, न्यूयार्क, १६२६।

५—रूसेक ऐण्ड एसोशिएट्स सोशियालॉजिकल फाउण्डेशन्स ऑव् एडूकेशन, अध्याय १, टॉमस वाई० क्रामवेल, न्यूयार्क, १६४२।

६—मूर ऐण्ड कोल; सोशियालॉजी इन एडूकेशनल प्रैक्टिस, अध्याय ८, हूटन मिफ्लिन, न्यूयार्क, १६५२।

७—कुक ऐण्ड कुक; सोशियालिकल अप्रोच टु एडूकेशन।

१५

समाज और शिक्षा[1]

समाज क्या है ?

समाज का निर्माण मनुष्य ही करता है क्योंकि बिना समाज के उसका काम नहीं चल सकता। जब कुछ आदमी एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं और अपने कुछ हितों की रक्षा के लिए परस्पर व्यवहार तथा आदान-प्रदान करते हैं तो वे अपने एक समाज का निर्माण करते हैं। केवल किसी जन-समुदाय को ही समाज का नाम दे देना ठीक नहीं। समाज में रहने वालों में एकत्व तथा परस्पर-सम्बन्ध की भावना का अनुभव करना अत्यन्त आवश्यक है। जब किसी समुदाय के विभिन्न व्यक्ति एक दूसरे में रुचि का अनुभव करते हैं और अपने को दूसरों से कुछ भावनाओं से सम्बद्ध समझते हैं तो वे अपने को एक सामाजिक एकता के सूत्र में बाँधते हैं।

समाज के आकार की कोई सीमा नहीं। इसके आकार में दो व्यक्ति से लेकर सारे विश्व तक को लिया जा सकता है। एक बड़े समाज के अन्तर्गत कई छोटे-छोटे समाज या इकाइयाँ हो सकती हैं और कोई एक व्यक्ति कई सामाजिक इकाइयों का सदस्य हो सकता है। विश्व-समाज में अनेक राष्ट्र, राष्ट्र के अन्दर विभिन्न प्रान्त, प्रान्त में जिला और नगर, जिला में गाँव, और नगर में मोहल्ले, सभा तथा परिषद आदि विभिन्न सामाजिक इकाइयों के नाम लिए जा सकते हैं।

1. Society and Education

समाज का अपना एक आदर्श होता है। इस आदर्श की रक्षा करना प्रत्येक सदस्य अपना कर्तव्य समझता है। समाज का संगठन ऐसा होता है कि उसका सदस्य अपने व्यक्तित्व की रक्षा करता हुआ भी समाज-हित पर पूरा ध्यान रख सकता है। "डाक्टर, इञ्जीनीयर, शिक्षक, कलाकार तथा संगीतज्ञ आदि होता हुआ भी व्यक्ति अपने क्षेत्र में समाज के आदर्श के अनुसार कार्य कर सकता है, समाज का उद्देश्य व्यापक और स्थायी होता है। उसके अन्तर्गत् व्यक्ति के जीवन के सभी अंग आ जाते हैं।"[1]

समाज की परिभाषा—

'समाज' की परिभाषा विभिन्न रूप से की जाती है और किसी विशिष्ट सन्दर्भ में ये विभिन्न परिभाषायें प्रायः उपयुक्त भी होती हैं। इस अध्याय में समाज का अर्थ हम एक ऐसे जन-समुदाय से समझेंगे जो भौगोलिक दृष्टि से एक ही क्षेत्र में रहता है और जो कुछ सामान्य अनुभवों और संस्कृति का पोषक होता है। सर्व साधारण के हित के लिये यह समुदाय कुछ संस्थाओं को चलाता है और इसे एक स्थानीय एकता की चेतना सदा बनी रहती है। किसी सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति में यह जन-समुदाय एक ईकाई में काम करता है।

बालक की शिक्षा के लिये समाज का उत्तरदायित्व

व्यक्ति और समाज में घनिष्ठ सम्बन्ध है। समाज का निर्माण व्यक्ति ही करता है, परन्तु समाज का प्रभाव उस पर भी हर समय पड़ा करता है। समाज के एक सदस्य हो जाने के नाते व्यक्ति सामाजिक आदर्शों तथा परम्पराओं से इतना घिर जाता है कि उनके प्रतिकूल जाने पर उसकी प्रायः निन्दा की जाती है और वह अनैतिक कहा जाता है। समाज के प्रभाव से परिवर्तित और परिवर्द्धित व्यक्ति को ही तो शिक्षित कहा जाता है। कुटुम्ब, स्कूल और राज्य सभी विभिन्न कोटि की सामाजिक संस्थायें है और इन सबका बालक के विकास पर बड़ा महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता

1. लेखक का "मनोविज्ञान और शिक्षा" पृ० ३३०, द्वि० स०, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, १९५६।

है। बालक का जैसा वातावरण होता है उसी के अनुसार वह विकसित होता है। अपने वातावरण के अनुसार बहुत सी बातें बालक अनजान में ही सीख लेता है। अतः जिन पर बालकों के पालन-पोषण का उत्तरदायित्व हैं उन्हें देखना है कि उनका वातावरण ऐसा हो कि उन पर कोई बुरा प्रभाव न पड़े। वस्तुतः बालकों के प्रति हमारा कर्तव्य ही उन्हें सामाजिक बनाना है। परन्तु उनके सामाजीकरण[1] की प्रतिक्रिया ऐसी हो कि उन्हें किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव न हो। किसी-किसी सामाजिक व्यवस्था, जैसे रूस में बालक की शिक्षा का पूरा उत्तरदायित्व राज्य[2] अपने ही ऊपर ले लेता है। गणतन्त्रात्मक[3] व्यवस्था के अन्तर्गत् प्रत्येक व्यक्ति बालक के प्रति अपने दायित्व को निभाने की चेष्टा करता है। गणतन्त्रात्मक व्यवस्था में समाज की सभी इकाइयाँ अपनी विभिन्न संस्थाओं द्वारा बालक की शिक्षा का आयोजन करती हैं, परन्तु ये संस्थायें बालक की शिक्षा के लिये राज्य के प्रति उत्तरदायी होती हैं, अर्थात् गणतन्त्रात्मक व्यवस्था में भी बालक के विकास और शिक्षा का उत्तरदायित्व 'राज्य' अपने ही ऊपर समझता है और साथ ही समाज भी अपने उत्तरदायित्व को समझते हुए बालक की शिक्षा से अपने को मुक्त नहीं कर सकता।

व्यक्ति और समाज एक दूसरे पर निर्भर

बालक ही समाज का भावी नागरिक होता है। अतः समाज के कल्याण के लिये यह आवश्यक है कि बालकों की शिक्षा की समुचित व्यवस्था की जाय। समाज को अपने इस उत्तरदायित्व का गम्भीरतापूर्वक पालन करना चाहिए। बालक के लिए ऐसे वातावरण का आयोजन करना हैं कि वह अपने समुचित विकास को स्वयं चला कर अपने व्यक्तित्व का निर्माण करे। प्रत्येक सदस्य को सामाजिक बनाये रखने के प्रयत्न में समाज कभी-कभी अपनी सीमा का अतिक्रमण कर जाता है और यह देखा जाता हैं कि अनेक व्यक्ति सामाजिक परम्पराओं, नियमों और रूढ़ियों में पड़ जाते हैं और उनका विकास कुण्ठित हो जाता है। ऐसी दशा में सामाजिक नियमों की अवहेलना करने पर व्यक्ति को किसी सामाजिक दण्ड का

---

1. Socialization. 2. State. 3. Democratic set-up.

भाजन बनना होता है। हमारे देश में 'टाट' या 'बिरादरी' से बाहर किए जाने का डर कुछ लोगों में इतना समाया रहता है कि लोग कभी-कभी किसी अनुचित बात के विरुद्ध भी आवाज नहीं उठा पाते। इससे व्यक्ति का निजत्व मर जाता है और समाज की प्रगति रुक जाती है। व्यक्ति के सामाजीकरण का तात्पर्य यह नहीं है कि वह समाज का एकदम दास हो जाय और उसके दोषों को दूर करने की चेष्टा न करे। वस्तुतः समाज का वातावरण इतना खुला होना चाहिए कि उसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी पूर्णता को पहुँचने के लिये प्रयत्न कर सके और किसी के व्यक्तित्व का हनन न हो। व्यक्ति और समाज दोनों के विकास के लिए यह आवश्यक है कि दोनों परस्पर सहयोग तथा सामंजस्य से कार्य करें और दोनों एक दूसरे की उन्नति में अपनी उन्नति समझें। इस प्रकार व्यक्ति और समाज अपनी उन्नति के लिए एक दूसरे पर निर्भर हैं।

स्कूल और समाज में सहयोग आवश्यक

जैसे व्यक्ति और समाज में सहयोग की आवश्यकता है उसी प्रकार समाज की विभिन्न इकाइयों में भी सहयोग का होना आवश्यक है। कुटुम्ब तथा स्कूल और स्कूल तथा समाज में सहयोग के अभाव में व्यक्ति के विकास के लिए समुचित वातावरण का आयोजन नहीं हो सकेगा। कुटुम्ब तथा समाज में सहयोग की समस्या उतनी जटिल नहीं है जितनी कि कुटुम्ब और स्कूल के सहयोग की समस्या हो जाती है, क्योंकि कुटुम्ब का सदस्य समाज का सदस्य होता ही है। परन्तु स्कूल तथा समाज में अभी सन्तोषजनक सहयोग का अभाव दिखलाई पड़ता है। सविधिक शिक्षा तथा विविध शिक्षण-प्रणालियों के कारण अब स्कूल समाज से एक पृथक् संस्था अथवा संगठन समझा जाता है। स्कूल में एक दूसरे ही प्रकार के सामाजिक वातावरण के निर्माण की चेष्टा की जाती है। फलतः स्कूल में कृत्रिमता आ गई है और वह अभी तक समाज का एक वाह्य अङ्ग भी सुचारु रूप से नहीं बन पाया है। वास्तविक समाज और स्कूल के कृत्रिम समाज की खाई कभी-कभी इतनी चौड़ी हो जाती है कि बालक को दो प्रकार के वातावरण में से होकर चलना पड़ता है। फलतः उसके व्यवहार-

संगठन[1] में सामंजस्य[2] नहीं आ पाता। अतएवः डीवी तथा अन्य शिक्षा-शास्त्री स्कूल तथा समाज के घनिष्ठ सम्बन्ध पर जोर देते नहीं थकते। डीवी तो यहाँ तक कह जाता है कि स्कूल को समाज का एक प्रतिनिधि होना है, अर्थात् स्कूल की क्रियाशीलताओं में समाज में चलने वाले सभी उद्योग-धन्धों तथा कार्यों की स्पष्ट झलक होनी चाहिए।

स्कूल को समाज से अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि समाज के विकास के लिए स्कूल एक आवश्यक संस्था है। स्कूल के छात्र तथा शिक्षक समाज के सदस्य होते हैं और अपने-अपने विभिन्न व्यक्तित्व के साथ समाज की विभिन्न समस्यायें तथा प्रभाव स्कूल में लाते हैं। अभिभावकगण भी अपनी माँगों और अपेक्षाओं द्वारा स्कूल पर वाह्य समाज का प्रभाव डालते हैं। तथापि स्कूल और समाज के बीच में स्पष्ट खाई दिखलाई पड़ती है, क्योंकि स्कूल का वातावरण कृत्रिम हो चला है। स्कूल में जो कुछ पढ़ाया जाता है उससे जीवन से स्पष्ट सम्बन्ध लक्षित नहीं होता। फलतः शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी व्यक्ति अपने पैरों पर खड़ा होने में समर्थ नहीं होता और बेकारी के बिछौने पर उसे करवटें बदलनी होती है। स्कूल को समाज के निकटतर लाने से ही व्यक्तियों में हम आत्म-विश्वास और आत्म-निर्भरता ला सकते है, क्योंकि तब वे समाज और साथ ही अपनी आवश्यकताओं के अनुसार अपने को तैयार करने में सफल होंगे। स्कूल को वाह्य समाज से सम्बद्ध करने का प्रयत्न हमें अवश्य करना चाहिये। इस हेतु यह आवाज उठाई गई है कि स्कूल का पाठ्यक्रम ऐसा हो कि वह सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक हो। यह भी राय दी गई है कि स्कूल में समय-समय पर अभिवावकों को आमन्त्रित कर उन्हें स्कूल की कार्य-प्रणाली समझानी चाहिये जिससे वे स्कूल के कार्य में रुचि लेने लगे। विशिष्ट समारोहों के अवसर पर आमन्त्रित होने पर अभिभावकगण यह समझने लगेंगे कि स्कूल उनका आदर करता है। अच्छा होगा कि कभी-कभी शिक्षक बालकों के घर स्वयं जाकर उनकी (बालकों की) कठिनाइयों के सम्बन्ध में अभिभावकों से बात कर उन्हें समझने तथा सुलझाने

1. Behaviour organization. 2. Harmony.

का प्रयत्न करें। शिक्षाविदों का कहना है कि शिक्षकों को अपने निकट समाज के सांस्कृतिक विकास का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना चाहिए। इसके लिये उन्हें समय-समय पर अपने समाज में छोटे-छोटे कार्यक्रमों का आयोजन करना चाहिये। इस प्रकार स्कूल अपना स्वस्थकर प्रभाव समाज पर भी डालता रहेगा।

उपर्युक्त विवेचन से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि समाज और स्कूल में सम्बन्ध स्थापित करने के लिये दो विधियों का सहारा लिया जा सकता है। एक विधि यह जान पड़ती है कि स्कूल को सामाजिक जीवन का केन्द्र बनाया जाय। हमारे देश में पहले शिक्षालय सामाजिक जीवन के केन्द्र हुआ करते थे। स्कूल का अध्यापक गाँव का प्रायः मुखिया हुआ करता था और सामाजिक समारोह तथा उत्सव बहुधा स्कूल पर ही हुआ करते थे। फलतः स्कूल और समाज में घनिष्ठ सम्बन्ध रहता था। स्कूल के कार्यों में जन साधारण का विश्वास होता था और जन साधारण को अपने सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में स्कूल को नेतृत्व मिला करता था। परन्तु आज की स्थिति कुछ और ही है। आज जन साधारण का प्रचलित शिक्षा-प्रणाली में विश्वास नहीं है। फलतः स्कूल को जनता का पूरा सहयोग प्राप्त नहीं है और आज की शिक्षा हमारी सामाजिक आवश्यकताओं से बहुत दूर दिखलाई पड़ती है। इस स्थिति में वांछित परिवर्तन लाने के लिये यह आवश्यक है कि स्कूल को सामाजिक जीवन का केन्द्र बनाया जाय।

समाज और स्कूल में निकटतम सम्बन्ध स्थापित करने के लिये दूसरी विधि यह है कि स्कूल को ही समाज में लाया जाय, अर्थात् अध्यापक तथा विद्यार्थीगण समाज में आकर उस पर अपना शैक्षिक प्रभाव फैलावें। इस प्रक्रिया में समाज तथा अध्यापक और विद्यार्थी का भी हित होगा, क्योंकि वे स्वयं समाज की अच्छाइयों को अपने व्यवहार तथा चरित्र में अपनाने का प्रयत्न करेंगे। इससे समाज स्कूल की उपयोगिता को समझने लगेगा और शिक्षित व्यक्तियों में समाज-सेवा की भावना का प्रादुर्भाव होगा।

हमारे देश में आज शिक्षा की बड़ी कमी है। फलतः बहुत से लोग अपने अधिकारों और कर्तव्यों से अवगत नहीं हैं। ऐसी स्थिति में समाज-हित में हाथ बटाना उनके लिये यदि असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन है। देश में स्थापित जनतन्त्र को सफल बनाने के लिये यह आवश्यक है कि लोगों को अपने अधिकारों और कर्तव्यों का ज्ञान हो और तदनुसार बर्तने के लिये वे तैयार हों। ऐसी स्थिति पैदा करने के लिये सर्व प्रथम हमें स्कूल से ही अपना कार्य प्रारम्भ करना होगा, क्योंकि यही एक ऐसी संस्था है जिससे होकर सभी भावी नागरिक ऐसे समय पर (अर्थात् अपने बचपन में) गुजरते हैं जब कि उन पर अधिक सरलता से प्रभाव डाला जा सकता है। ऐसी स्थिति लाने के लिये हमें बालकों को यह भावना देनी है कि स्कूल समाज का एक अभिन्न अङ्ग है और स्कूल में जो कुछ होता है उसका समाज हित से सीधा सम्बन्ध है, अतः स्कूल की उन्नति तथा समाज-हित के पक्ष में सबको अपना-अपना योग यथाशक्ति देना है। इस भावना को देने के लिये स्कूल के पाठ्यक्रम का विकास और संगठन स्थानीय जीवन की आवश्यकताओं के आधार पर करना चाहिए। इसके लिये यह आवश्यक है कि अध्यापक और विद्यार्थी अपने समाज की दशा से अच्छी तरह परिचित रहें और अपने सामाजिक जीवन में सक्रिय भाग लें। आज हमारे भारत की शिक्षा-समस्याओं में सबसे प्रमुख समस्या यही है कि शिक्षा को जीवन से कैसे सम्बन्धित किया जाय, स्कूल में समाज और देश के प्रति सद्भावना और सहानुभूति कैसे पैदा की जाय, तथा स्कूलों का सङ्गठन कैसे किया जाय कि वे समाज की समस्याओं के सुलझाने में आवश्यक सहायता दें।

समाज के कुछ शैक्षिक कर्तव्य[1]

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि आज के जनतन्त्र के युग में स्कूल को समाज के अति निकट लाने की बड़ी भारी आवश्यकता है। परन्तु इसके साथ ही साथ समाज का भी व्यक्ति के विकास के हित में कुछ कर्तव्य हो जाता है। यह कर्तव्य व्यक्ति के सर्वाङ्गीण विकास से सम्बन्धित है। यदि

1. Some Educational Duties of the Society.

समाज व्यक्ति के सर्वाङ्गीण विकास पर ध्यान देगा तो प्रत्येक सामाजिक संस्था किसी न किसी रूप मे एक शिक्षा-संस्था का काम करेगी। तब व्यक्ति के साधारण जीवन-क्रम में ही उसकी शिक्षा चलती रहेगी। अब यहाँ व्यक्ति के हित मे समाज के कुछ कर्तव्यो की चर्चा की जायगी। इस चर्चा से समाज के शैक्षिक कर्तव्यों का भी कुछ स्पष्टीकरण हो जायगा।

जिस प्रकार स्कूल स्थापित कर समाज बालक के मानसिक विकास के लिये आवश्यक उपकरणों का आयोजन करता है उसी प्रकार समाज को बालक के शारीरिक विकास पर भी समुचित ध्यान देना है। इसके लिये स्थान-स्थान पर व्यायामशाला, अखाडा, खेल-कूद के मैदान, घूमने के लिये पार्क और उद्यान, चिकित्सा के लिये चिकित्सालयों की स्थापना तथा औषधि और चिकित्सा-सहायता का समुचित वितरण, स्वस्थ रहने तथा बीमारियों से बचने के लिये आवश्यक साधनों को व्यक्ति के लिए सुलभ करना, पौष्टिक भोजन की व्यवस्था करना, आदि-आदि समाज का कर्तव्य है। यह कर्तव्य केवल बालकों के ही सम्बन्ध में नहीं, वरन् वृद्ध, युवा तथा स्त्री-पुरुष सभी के लिये होना चाहिये, चाहे व्यक्ति कारखाने, कार्यालय, खेत अथवा कहीं भी काम करता हो।

शारीरिक विकास के अतिरिक्त समाज को बालक के व्यावसायिक शिक्षा का समुचित प्रबन्ध करना है। इस प्रबन्ध के ही फलस्वरूप समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने पैरो पर खडा होकर अपने मे आत्म-निर्भरता और परमार्थ की भावना का विकास कर सकेगा। किसी भी समाज का स्थायित्व उसके सदस्यों मे इन भावनाओ पर बहुत हद तक निर्भर करता है। व्यक्ति में इन भावनाओ को लाने के लिये बचपन से ही प्रयत्न करना चाहिये। आत्म-निर्भरता लाने के लिये बचपन से ही व्यक्ति को हस्तकला तथा किसी कला-कौशल में शिक्षा दी जानी चाहिए। बहुत से अग्रगण्य देशो मे व्यावसायिक शिक्षा-संस्थाओ का संचालन समाज ही करता है और इन संस्थाओ का उनकी शिक्षा-व्यवस्था मे महत्वपूर्ण स्थान है।

हमारे देश मे शिक्षित नवयुवको को अपने हाथ से काम करने मे झिझक होती है। अभी वे शारीरिक परिश्रम के महत्व को ठीक-ठीक नहीं समझ पाये हैं। हमारा देश कृषिप्रधान होते हुये भी अपनी आवश्यकता

भर अन्य नहीं उत्पन्न कर पाता। अतः समाज के लिये यह आवश्यक है कि वह व्यक्ति को शारीरिक परिश्रम का महत्व समझाये और कृषि-सुधार की योजनायें बनाये जिससे देश की आर्थिक कठिनाई का समाधान हो सके। कुछ पाश्चात्य देशों में समाज स्वयं जागृत दिखलाई पड़ता है। हमारे देश में भी इस दिशा में अपने उत्तरदायित्व को समझते हुये समाज को आगे बढ़ना चाहिये। परन्तु इसका तात्पर्य समाज को धन-संचय तथा भौतिकता का आधार नहीं देना है। जीवन में 'धन' साधन है, साध्य नहीं। अतः हमारा दृष्टिकोण संतुलित होना चाहिये।

समाज का यह कर्तव्य है कि वह व्यक्तियों में विचार-स्वातन्त्र्य को प्रश्रय दे। इसके लिये बहुत प्रारम्भ से ही बालक के मानसिक विकास पर पूरा ध्यान देना होगा। बिना समझे दूसरों के विचारों का अक्षरशः पालन करने की प्रवृत्ति बड़ी ही खेदजनक है, क्योंकि इससे व्यक्ति का नैतिक पतन हो जाता है। बालकों का मानसिक विकास ऐसे वातावरण में हो कि आगे चलकर विषम से विषम समस्याओं पर निर्णय लेने के लिये उनमें सामर्थ्य आ सके। इस सामर्थ्य को पैदा करने के लिये पत्र-पत्रिकाओं, प्रेस, रेडिओ, पुस्तकालय तथा नाट्यशाला आदि साधनों का सहारा समाज ले सकता है। वर्तमान युग में इन सब साधनों का शिक्षा में महत्वपूर्ण स्थल है। व्यक्ति के लिये इन सब साधनों का सुलभ करना समाज का कर्तव्य है।

हमारे देश की अधिकांश जनता अशिक्षित है। साधारण जनता को शिक्षित करना भी समाज का कर्तव्य है। प्रौढ़ स्त्रियों और पुरुषों की शिक्षा की व्यवस्था 'सामाजिक शिक्षा'[1] अथवा 'प्रौढ शिक्षा'[2] के नाम पर किये जाने का प्रयत्न कुछ दिनों से हमारे देश में किया जा रहा है। सामाजिक शिक्षा अथवा प्रौढ़ शिक्षा का तात्पर्य प्रौढ़ों को केवल साक्षर बनाने का ही नहीं है। साक्षरता केवल साधन है, और इसके सहारे व्यक्ति को शिक्षित करना है। शिक्षित करने का तात्पर्य प्रौढ़ व्यक्ति को प्रतिदिन की आवश्यकतों, स्वच्छता, देश-विदेश की बातों तथा क्रिया-कलापों का ज्ञान देना है, क्योंकि इसी ज्ञान के सहारे वह नागरिक के कर्तव्यों का

1. Social Education. 2. Adult Education.

पालन कर सकता है। अपने देश की असंख्य जनता को शिक्षित करने का उत्तरदायित्व समाज को लेना है।

समाज में रहने वाले व्यक्तियों की नैतिकता पर ही किसी समाज की नींव टिक सकती है। यदि व्यक्तियों में दुश्चरित्रता की प्रचुरता आ गई तो समाज अपना नाश स्वयं कर बैठेगा। अतः समाज में विनय, सहयोग, नम्रता, धैर्य, उदारता, सहिष्णुता, तथा कर्तव्यपरायणता आदि का नैतिक वातावरण होना चाहिये। यदि समाज ऐसा वातावरण उपस्थित कर सका तो व्यक्ति स्वयं इन गुणों को अपना लेगा। आजकल हमारे देश में चोर बाजार, व्यापारियों और दूकानदारों की बेइमानी तथा कार्यकर्ताओं की कामचोरी इसीलिये पाई जाती है क्योंकि समाज उन्हें सहन करता है। राज्य-नियम के आधार पर इन बुराइयों को दूर नहीं किया जा सकता। इन बुराइयों को दूर करने के लिये एक नैतिक वातावरण का निर्माण करना समाज का कर्तव्य है। यदि समाज अपने इस कर्तव्य का पालन कर सका तो व्यक्ति सच्चरित्रता की शिक्षा स्वतः पाता रहेगा।

समाज को अपने आदर्श बहुत ऊँचे रखने चाहिए, जिससे उसका कभी पतन न हो सके। जिस समाज का आदर्श ऊँचा होता है वहाँ ईमानदारी, परिश्रम, आत्मसम्मान, स्वावलम्बन के आधार पर ही व्यक्ति आगे बढ़ पाता है, न कि अच्छे-अच्छे पोशाक तथा बाह्य सौन्दर्य के आधार पर नैतिकता के आधार पर ही व्यक्ति का जीवन सुखी हो सकता है। अतः उपर्युक्त आदर्शों के आधार पर समाज को ऊँचे आदर्शों की ओर प्रगतिशील होना चाहिए।

बालकों में सौन्दर्यानुभूति की भावना का देना भी समाज का कर्तव्य है। सौन्दर्यानुभूति द्वारा बालक लोक-मर्यादा को समझ कर तदनुसार आचरण दिखलाने में सफल हो सकता है। लोक-मर्यादा के अनुसार चलने से ही वह लोक-कल्याण की भावना हृदयंगम कर सकता है। सौन्दर्यानुभूति के लिये संगीत, चित्रकला तथा नृत्य आदि जैसी ललित कलाओं के रसास्वादन के लिये बालकों को प्रोत्साहित करना चाहिए। परन्तु साथ ही साथ समाज को यह भी प्रयत्न करना है कि व्यक्ति विविध

कलाओं की सार्थकता जीवन की उन्नति में ही समझ सके। जिस कलाकार के व्यवहार में कला अथवा सौन्दर्य नहीं, अर्थात् जिस कलाकार के जीवन और व्यवहार में उदारता, सहिष्णुता, नम्रता तथा विनय नहीं उसे वास्तविक कलाकार नहीं कहा जा सकता। उसके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि उसने अपने जीवन में सौन्दर्यानुभूति की है। जीवन में सौन्दर्यानुभूति का तात्पर्य जीवन के सभी कार्य "सत्यं शिवं और सुन्दरम्" के रस में पगने से है। यदि सौन्दर्यानुभूति का अनुवाद जीवन में किया जायगा तो उसका अर्थ घर, गाँव तथा मुहल्ले आदि की स्वच्छता, अपने वातावरण में सौन्दर्य स्थलों का निर्माण, सुन्दर सरोवर तथा उद्यान के विकास से होगा। इस प्रकार सौन्दर्यानुभूति करने से सादा जीवन ही सुन्दरमय हो जायगा और सामाजिक जीवन प्रत्येक के लिए सुखमय हो जायगा। हमारे देश में इस प्रकार की सौन्दर्यानुभूति की बड़ी ही आवश्यकता है। प्रायः यह देखा जाता है कि कुछ लोग प्रकृति द्वारा दी हुई सुन्दर वस्तु को अपनी गन्दी आदतों के कारण गन्दा कर देते हैं। लड़ाई-झगड़ों से शान्त वातावरण को हम अशान्त बना डालते हैं। अतः इस दिशा में समाज को विशेष रूप से क्रियाशील होना पड़ेगा जिससे लोग सुन्दर जीवन-यापन के अभ्यस्त हो जाँय। कहना न होगा कि इस दिशा में नगर पालिकाओं का विशेष कर्तव्य है।

धर्म के प्रति भी समाज का अपना कुछ विशेष कर्तव्य है। हाँ, यह ठीक है कि धर्म व्यक्तिगत वस्तु है, परन्तु प्रत्येक धर्म का एक सामाजिक रूप भी होता है और इस सामाजिक रूप का अर्थ लोक-कल्याण के हेतु उच्च आदर्शों का निर्माण। सर्वप्रथम समाज को धार्मिक सहिष्णुता का बीज बोना है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत विश्वास के अनुसार किसी भी धर्म के अनुसरण की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। व्यक्ति के जीवन में धर्म का विशेष महत्व है, क्योंकि वह इसके सहारे अपने विभिन्न कर्तव्यों का ज्ञान करता है। यदि वास्तव में व्यक्ति धार्मिक हुआ तो उसमें सहयोग, भ्रातृत्व, समाज-सेवा, परमार्थ और विश्वबन्धुत्व का भाव कूट-कूट कर भरा रहेगा। इन सब भावनाओं के अभाव में उसे समाज का आदर्श

सदस्य नहीं कहा जा सकता। अतः समाज का कर्तव्य है कि वह स्वयं उच्च आदर्शों पर स्थित होते हुए व्यक्ति के धार्मिक विकास में किसी प्रकार की अड़चन न डाले। समाज का अपना कोई निजी धर्म नहीं होना चाहिए और न उसे व्यक्तियों को किसी विशिष्ट धर्म के अनुसरण के लिए बाध्य ही करना चाहिए।

यदि समाज उपर्युक्त प्रत्यन्नों के अनुसार चल सका तो वह निश्चय ही अपने शैक्षिक कर्तव्यों का पालन कर सकेगा। उसके शैक्षिक कर्तव्यों के पालन में ही उसका तथा व्यक्ति का कल्याण निहित है।

बालक का समाजीकरण[1]

दूसरों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये—इसे सर्वप्रथम बालक घर पर सीखता है। इसके बाद खेल में साथियों से अथवा स्कूल से विभिन्न प्रकार के व्यवहार-प्रणालियाँ वह जान या अनजान में हृदयंगम करता है। ज्यों-ज्यों वह बढ़ता है उसके बड़े लोग समाज की सांस्कृतिक परम्परा के अनुसार उसे आचरण करना सिखलाते हैं। इस प्रकार उसे अपनी स्थिति का ज्ञान होने लगता है। इस पूरे प्रक्रिया को व्यक्ति के दृष्टि-कोण से 'व्यक्तित्व[2] का विकास' कहा जा सकता है और सामाजिक उद्देश्यों की दृष्टि से बालक का समाजीकरण कहा जा सकता है। अपने समाजीकरण के साथ-साथ व्यक्ति को यह भी बोध होने लगता है कि यदि वह सर्वमान्य परम्पराओं और आदर्शों के अनुसार चलने में विफल हुआ तो उसका परिणाम क्या होगा। इस परिणाम के अनुमान से वह अपने को एक प्रकार के 'सामाजिक नियन्त्रण'[3] में पाता है। स्कूल तथा अन्य शैक्षिक संस्थायें बालक के समाजीकरण में सहायक होती हैं और परस्पर सम्पर्क से वे सामाजिक बन्धन का अर्थ ठीक-ठीक समझने लगता है। बालक का समाजीकरण करना ही स्कूल तथा शैक्षिक संस्थाओं और समाज का कर्तव्य होना चाहिए।

---

1. Socialization of the child. 2. Development of Personality. 3. Social Control.

समाज तथा स्कूल में सहयोग[1]

बहुत से पाश्चात्य देशों में समाज स्कूलों के कार्यों में बड़ी रुचि रखता है। यद्यपि पाठ्यक्रम की रूपरेखा राज्य द्वारा निर्धारित कर दी जाती है; तथापि स्थानीय जन-समुदाय अपना प्रभाव स्कूल के कार्यक्रम पर डालता ही है। साल में जितने महीने: महीने में जितने दिन और दिन में जितने घण्टे बालक स्कूल में रहता है उसका बालक के घर-सम्बन्धी कार्य अथवा रुचि तथा उसकी मनोरंजन-सम्बन्धी कार्यों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। अतः स्कूल तथा घर में कभी-कभी प्रतियोगिता की भावना का आ जाना कठिन नहीं। इस प्रतियोगिता की भावनावश माता-पिता बालक को कभी अपनी रुचियों की ओर खींचने का प्रयत्न कर सकते हैं। माता-पिता का जान या अनजान में ऐसा प्रयास बालक के विकास के हित में घातक होगा। अतः स्कूल को अपना कार्यक्रम ऐसी नीति से चलाना है कि घर के लोगों में इस प्रतियोगिता-भावना की उत्पत्ति न हो। कृषि-शास्त्र तथा गृह अर्थशास्त्र ऐसे विषयों को अपने कार्यक्रम में स्थान देकर स्कूल अपने निकट समाज का सहयोग सरलता से प्राप्त कर सकता है।

अपने कार्य में समाज का पूर्ण सहयोग प्राप्त करने के लिए स्कूल को समाज की भावना[2] का अध्ययन करना चाहिये। बहुत ही कम शिक्षक यह जानते हैं कि स्कूल और शिक्षा के प्रति उनके समाज की भावना क्या है। इस भावना के ज्ञान की आवश्यकता दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। 'यह स्कूल का उत्तरदायित्व है कि वह अपने कार्यों के प्रति समाज की भावना का अध्ययन करे।'[3] स्कूल में आये हुए बालकों की भावना से समाज के प्रौढ़ लोगों की भावना का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। परन्तु सबसे अच्छा यह होगा कि शिक्षक गण स्वयं समाज में जाकर अपने कार्यों और कार्यक्रम के प्रति समाज की भावना का अध्ययन करें। इसके अति-

1. Cooperation between the society and the school.
2. Attitude.

3. Warren C, Seyfert, *"What the Public thinks of its school"*, *School Review*, 1930, Vol. 48, p. 417.

रिक्त जन-साधारण के सदस्यों को भी स्कूल-कार्यों को देखने के लिए समय-समय पर आमन्त्रित करना चाहिये। इस ओर ऊपर भी गत अध्याय में भी संकेत किया जा चुका है।

प्रत्येक समाज बालकों के विकास के लिए समान अवसरों को सुलभ नहीं कर सकता और न प्रत्येक स्कूल समाज तथा बालक के सुधार के लिये विविध साधनों का आयोजन ही कर सकता है। अतः समाज तथा विभिन्न स्कूलों में परस्पर-सहयोग की बड़ी आवश्यकता है। शहर तथा गाँवों के स्कूलों को सामाजिक आयोजनों का केन्द्र बनाना चाहिये और प्रौढ़ों के मनोरंजन तथा विकास के लिए आवश्यक साधनों का संगठन करना चाहिए। गाँव के स्कूलों में कृषि-सम्बन्धी शिक्षा प्रौढ़ों के सहयोग से प्रदान की जा सकती है। इससे कुछ स्थानीय समस्याओं का भी निराकरण होता रहेगा। स्थानीय समस्याओं का विस्तार भूमि-रक्षा[1] से सहकारी क्रय विक्रय[2] तक हो सकता है। वस्तुतः इनका विस्तार स्थानीय समस्याओं और स्कूल में उपलब्ध सुविधाओं पर निर्भर करेगा।

समाज और शिक्षा में घनिष्टतम सम्बन्ध स्थापित करने के लिये हमें निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिएः—

१—सर्वप्रथम स्थानीय जन समुदाय की प्रधान आवश्यकताओं का पता लगाना चाहिए। तब अन्य बातों को छोड़ सबसे पहले उन्हीं को पूरा करने का स्कूल को प्रयत्न करना चाहिए।

२—समाज में उपलब्ध शैक्षिक सामग्री[3] का पता लगाना तथा उनका सदुपयोग करना चाहिए। इस सम्बन्ध में कृषि, खेत, घर, दूकानें, बगीचे तथा प्रयोगशालायें[4] होनी चाहिए और समाज में कार्य करने वालों की गणना स्कूल के शिक्षकों में करना चाहिए।

३—राज्य में वर्तमान सभी उपलब्ध संस्थाओं की सेवाओं के उपयोग का प्रयत्न करना चाहिये।

---

1. Soil-preservation. 2. Co-operative marketing. 3. To discover and utilize community resources. 4. Laboratories.

४—समाज को ही पाठ्यक्रम[1] के प्रत्येक अङ्ग का प्रारम्भ-बिन्दु[2] होना चाहिए।

५—सभी कुछ पढ़ाने की चेष्टा करना विशेष लाभप्रद न होगा। एक या दो ही बातों के सम्बन्ध में सभी सम्भव अनुभवों से बालकों को अवगत करना अधिक शिक्षाप्रद होगा।

६—कार्यक्रम बनाने, उस पर पूरा विचार और प्रयोग करने के लिये विद्यार्थियों को पर्याप्त सुविधा दी जानी चाहिए।

७—पढ़ने, लिखने तथा अङ्कगणित[3] के आवश्यक कौशल का प्रत्येक बालक को ज्ञान दे देना अत्यन्त आवश्यक है।

८—स्कूल के कार्यक्रम में कुछ बातों का छूट जाना सर्वथा स्वाभाविक है। अतः पढ़ने के लिए बालकों को कुछ ऐसी पुस्तकों की सूची देनी चाहिए जिससे इन सब बातों का ज्ञान स्वतः हो जाय।

९—पाठ्यक्रम का रूप ऐसा हो कि उसमें विभिन्न व्यक्तियों, समूह तथा स्थान की आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सके।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

समाज क्या है ?

एकत्व तथा परस्पर-सम्बन्ध की भावना का होना आवश्यक।

समाज के आकार की सीमा नहीं।

समाज का अपना एक आदर्श। समाज का उद्देश्य व्यापक और स्थायी।

शिक्षा-सविधिक और अविधिक।

बालक की शिक्षा के लिए समाज का उत्तरदायित्व

समाज और व्यक्ति में घनिष्ट सम्बन्ध।

---

1. Curriculum. 2. Starting-point. 3. Knowledge of the Three R's.

व्यक्ति सामाजिक आदर्शों और परम्पराओं से घिरा। बालकों को सामाजिक बनाना।

व्यक्ति और समाज एक दूसरे पर निर्भर

बालक समाज का भावी नागरिक।

बालकों की शिक्षा की समुचित व्यवस्था करना। व्यक्ति का निजत्व न मारना। प्रत्येक व्यक्ति के लिए अवसर।

स्कूल और समाज में सहयोग आवश्यक

समाज के विभिन्न इकाइयों में सहयोग आवश्यक।

स्कूल और समाज। कुटुम्ब और समाज। कुटुम्ब और स्कूल। स्कूल और समाज में सन्तोषजनक सहयोग का अभाव। स्कूल में कृत्रिमता का आना। स्कूल तथा समाज में घनिष्टतम सहयोग का होना अत्यन्त आवश्यक।

स्कूल समाज से अलग नहीं। छात्र और शिक्षक समाज के सदस्य। अभिभावकों का स्कूल पर प्रभाव।

स्कूल और समाज के बीच खाई। स्कूल का पाठ्यक्रम सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक हो। शिक्षकों को सांस्कृतिक विकास का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना है।

स्कूल को सामाजिक जीवन का केन्द्र बनाया जाय।

स्कूल को ही समाज में लाया जाय।

जनता को अपने अधिकारों और कर्तव्यों का ज्ञान देना। पाठ्यक्रम का संगठन जीवन की आवश्यकताओं के आधार पर।

समाज के कुछ शैक्षिक कर्तव्य

व्यक्ति का सर्वांगीण विकास।

व्यायामशाला, अखाड़ा, पार्क, उद्यान तथा चिकित्सालय आदि की स्थापना करना।

व्यावसायिक शिक्षा का प्रबन्ध।

व्यक्ति को शारीरिक परिश्रम का महत्व समझाना।

विचार-स्वातन्त्र्य को प्रश्रय देना।

साधारण जनता को शिक्षित करना।

नैतिक वातावरण उत्पन्न करना।

ऊँचे आदर्शों की ओर प्रगतिशील होना।

बालकों में सौन्दर्यानुभूति की भावना देना।

धार्मिक सहिष्णुता का बीज बोना।

बालक का समाजीकरण

सांस्कृतिक परम्परा के अनुसार आचरण करना सीखना।

समाज तथा स्कूल में सहयोग

स्कूल और घर में प्रतियोगिता की भावना आ जाना। स्कूल को समाज का सहयोग प्राप्त करना।

समाज की भावना का अध्ययन करना।

स्कूल को सामाजिक आयोजनों का केन्द्र बनाना।

सहायक पुस्तकें

१—मैलर, जे० बी : स्कूल ऐण्ड कम्यूनिटी, मैग्राहिल, न्यूयार्क, १६३८।
२—ऑलसन ऐण्ड अदर्स : स्कूल ऐण्ड कम्यूनिटी, प्रेण्टिस हॉल न्यूयार्क, १६४५।
३—कुक, एल० ए० ऐण्ड कुक ई० एफ० : एसोशियलॉजिकल एप्रोच टु एडुकेशन, अध्याय ३, ६, मैग्राहिल, न्यूयार्क, १६५०।

४—एवेरेट, ऐमुएल (सम्पादक) : द कम्युनिटी स्कूल, डी एप्लीटन-सेञ्चुरी १६३८।

५—रूसेक, जे० एस० : सोशियलॉजिकल फ़ॉउण्डेशन्स ऑव एडूकेशन, अध्याय ७, टामसकोवेल क० न्यूयार्क, १६४२।

६—मूर, सी० बी० ऐण्ड कोल, डब्लू० ई० : सोशियलॉजी इन एडूकेशनल प्रैक्टिस, अध्याय ८, हूटन मिफलिन क० न्यूयार्क, १६५२।

७—ओटवे, ए, के० सी० : एडूकेशन ऐण्ड सोसाइटी, अध्याय ७, रूटलिज ऐण्ड केगन पॉल, लन्डन १६५३।

———

१६

राज्य और शिक्षा[1]

जनतन्त्रात्मक राज्य में शिक्षा की बड़ी आवश्यकता[2]

अपने विभिन्न हितों की रक्षा के लिए मानव ने राज्य-स्थापना की कल्पना की। इस प्रकार एक सामाजिक संस्था के रूप में राज्य का जन्म हुआ। समाज ने अपनी रक्षा तथा देख-भाल के लिए कुछ व्यक्तियों को शासक नियुक्त किया। धीरे-धीरे राज्य का सारा भार इन व्यक्तियों के हाथ में आ गया। ये व्यक्ति अपने कर्तव्यों को भूलकर अपने अधिकारों की अधिक चिन्ता करने लगे। फलतः उनकी सत्ता अनियन्त्रित हो चली। उनकी अनियन्त्रित सत्ता का धीरे-धीरे विरोध किया गया। इस विरोध के फलस्वरूप आज का युग जनतन्त्रात्मक हो चला है। अब राज्य की सत्ता किसी व्यक्ति विशेष में केन्द्रित न होकर जनता के कुछ प्रतिनिधियों में केन्द्रित होती है। ये प्रतिनिधि परस्पर-सहयोग और सहकारिता के आधार पर जन-हित के लिए यत्नशील रहते हैं। जब ये प्रतिनिधि अपने अधिकारों का दुरुपयोग करते हैं तो जनता उनका अधिकार छीन कर उनके स्थान पर दूसरों को निर्वाचित करती है। इस प्रकार जनन्त्रात्मक राज्य में स्वशासन की प्रणाली रहती है। जब जनतन्त्रात्मक राज्य में जनता को अपने शासक को चुनने का अधिकार है तो जनता में इतना ज्ञान और विवेक होना चाहिए कि वह उपयुक्त शासकों को चुन सके। आवश्यक ज्ञान और विवेक के अभाव में जनता

---

1. State and Education. 2. Education very necessary in a democratic state.

कुटिल व्यक्तियों की बातों में आकर अनुपयुक्त व्यक्तियों को अपना प्रतिनिधि चुन लेगी और इस प्रकार राज्य का शासन अयोग्य व्यक्तियों के हाथ में आ जायगा। अयोग्य शासकों के अन्तर्गत राज्य और समाज अवनति की ओर झुक जायेगा। अतः यह आवश्यक है कि जनतन्त्रात्मक राज्य में जनता की उचित शिक्षा पर ध्यान दिया जाय। जनता की शिक्षा बिना जनतन्त्रात्मक राज्य सबके लिए सुखद न हो सकेगा। स्पष्ट है कि जनतन्त्रात्मक राज्य में शिक्षा की बड़ी ही आवश्यकता है।

शिक्षा पर किसका नियन्त्रण[1] ?

राज्य-नियन्त्रण के पोषकों और विरोधियो में संघर्ष—

कुछ देशों की नीति से यह प्रकट होता है कि शिक्षा पर राज्य का पूरा निन्यत्रण रहता है। शासकगण अपनी नीति अनुसार शिक्षालयों में शिक्षा का संगठन करते हैं और बालकों को अपने राजनैतिक मत में रंगने की चेष्टा करते हैं। राज्य जैसा आदेश देता है उसी के अनुसार बालकों को शिक्षा दी जाती है। रूस, जर्मनी, अमेरिका, चीन तथा जापान आदि देशों में प्रायः ऐसा देखा जाता है। कुछ लोग तो शिक्षा पर राज्य का यह नियन्त्रण स्वीकार कर लेते हैं और जो शास्त्रीय स्वतन्त्रता[2] के पोषक होते हैं वे ऐसी स्थिति के घोर विरोधी होते हैं। ऐसे विरोधी प्रायः सभी देशों में पाये जाते हैं। शिक्षा पर राज्य-नियन्त्रण के पोषकों और विरोधियों की विचार-धाराओं में प्रायः संघर्ष चला करता है। हमारे भारत देश में यह समस्या अब आ खड़ी हुई है कि शिक्षा पर राज्य का नियन्त्रण किस हद तक स्वीकार किया जाय।

राज्य-नियन्त्रण से स्वतन्त्र विचार का प्रसार नहीं—

राज्य का शिक्षा पर नियन्त्रण और आधिपत्य रहने से व्यक्तियों में स्वतन्त्र विचारों का प्रसार रुक जाता है और धीरे-धीरे 'वाणी[3] की स्वतन्त्रता' का लोप हो जाता है। 'वाणी की स्वतन्त्रता' के लोप से

1. Whose Control over Education? 2. Academic Freedom.
3. Freedom of Speech.

जनतन्त्रात्मक राज्य का विकास रुक जाता है और राज्य तानाशाहियों[1] के हाथ में आ जाता है। तानाशाहियों के हाथ में शिक्षा उनकी दासी हो जाती है। इस प्रकार शिक्षा पर राज्य का आधिपत्य आ जाने से केवल उसी ज्ञान का प्रसार किया जाता है जो राज्य-व्यवस्था के अनुरूप होता है और स्वतन्त्र वैज्ञानिक खोज और अनुसन्धान को समुचित प्रोत्साहन नहीं मिल पाता। सत्य की खोज के लिए स्वतन्त्र वातावरण का होना आवश्यक है। परन्तु जब शिक्षा पर राज्य का पूरा नियन्त्रण रहता है तो स्वतन्त्र वातावरण का मिलना यदि असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन हो जाता है।

राज्य-नियन्त्रण से व्यक्तित्व-विकास में बाधा—

राज्य द्वारा नियन्त्रित शिक्षा-व्यवस्था में बालक के व्यक्तित्व[2]-विकास पर समुचित ध्यान नहीं दिया जाता, क्योंकि उसकी रुचियों[3], सीमाओं[4] और इच्छाओं[5] की पूरी अवहेलना की जाती है और उसे राज्य द्वारा निर्धारित एक निश्चित साँचे के अनुसार अपने को ढालना होता है। द्वितीय महायुद्ध में जर्मनी, जापान और रूस के अनेक कवियों, साहित्यिकों और कलाकारों को सैनिक बनने के लिए विवश किया गया था। जिस शिक्षा-व्यवस्था में राज्य का पूरा नियन्त्रण रहता है उससे बालक का आत्म-विकास[6] नहीं होता और उसकी मौलिकता[7] जाती रहती है। यदि बालकों को उनकी नैसर्गिक प्रवृत्तियों के अनुसार विकसित होने की स्वतन्त्रता न दी जायगी तो कला, साहित्य और विज्ञान की उन्नति न होगी और अनेक भावी कलाकार, साहित्यिक और वैज्ञानिक नैसर्गिक गुणों के रखते हुए भी अविकसित रह जायेंगे। फलतः मानव का सांस्कृतिक विकास रुकेगा और वह दासता की बेड़ियों में जकड़ा जायगा और उसका मानसिक और नैतिक पतन होगा।

---

1. Dictators. 2. Development of personality of the Child. 3. Interests. 4. Limitations. 5. Desires. 6. Self-development. 7. Originality.

राजकीय और व्यक्तिगत शैक्षिक संस्थाओं में तुलना—

जो लोग शिक्षा पर राज्य-नियन्त्रण के पक्षपाती हैं उनका कहना है कि शिक्षा-क्षेत्र में व्यक्तिगत प्रयत्नों[1] को प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए, क्योंकि व्यक्तिगत संस्थायें बालकों के हित को सर्वोपरि न रखकर व्यावसायिक दृष्टिकोण से अपना काम करती हैं। व्यक्तिगत शैक्षिक संस्थाओं में शिक्षा के सभी आवश्यक उपकरण उपलब्ध नहीं रहते। अध्यापकों का स्तर नीचा होता है, क्योंकि उनका वेतन कम होता है। वेतन कम होने के अतिरिक्त उन्हें वेतन भी समय से नहीं मिलता। इन सब कठिनाइयों के कारण व्यक्तिगत शिक्षालयों के अध्यापक अपने तन-मन से बालक की शिक्षा में योग नहीं दे पाते। इस प्रकार व्यक्तिगत संस्थाओं का क्षेत्र बड़ा ही सीमित होता है और इस सीमित क्षेत्र के अन्तर्गत अध्यापकों को कोई स्वतन्त्रता नहीं होती। इसके विपरीत राजकीय संस्थाओं में शैक्षिक साधन और सामग्री की कोई कमी नहीं होती और उनकी शैक्षिक व्यवस्था व्यक्तिगत शिक्षालयों से श्रेष्ठतर होती है। इन दो पक्षों के विभिन्न तर्कों को आमने-सामने रखकर हम स्वयं निर्णय कर सकते हैं कि हमारे देश की राजकीय और व्यक्तिगत शैक्षिक शिक्षालयों में बालक के हित में किसमें अधिक अच्छा काम किया जाता है।

राजकीय नियन्त्रण के लिए तर्क

शिक्षा पर राजकीय नियन्त्रण के पोषकों का यह भी कहना है कि शिक्षित व्यक्तियों का उपयोग राज्य ही को करना है। शिक्षा पा लेने पर व्यक्ति सुयोग्य नागरिक के रूप में समाज और राज्य की सेवा में जुटेगा। इस सेवा के रूप का निर्धारण राज्य को करना है अतः राज्य यह अधिक अच्छी तरह समझ सकता है कि शिक्षित व्यक्तियों का उपयोग किस क्षेत्र में कैसे किया जाय। यदि शिक्षा पर राजकीय नियन्त्रण के पोषकों का यह तर्क ठीक है तो वस्तुतः राज्य को यह अधिकार है कि वह बालक की शिक्षा के रूप का निर्धारण करे।

1. Private Enterprises.

जनतन्त्रात्मक राज्य-व्यवस्था के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि राज्य अपने समाज की इच्छाओं का प्रतिनिधि होता है, और समाज के सदस्य ही बालक के माता-पिता और अभिभावक हैं। इसीलिए राज्य की इच्छा तो माता-पिता और अभिभावकों की ही इच्छा का प्रतीक मानी जा सकती है। ऐसी स्थिति में राज्य की इच्छा को बालक के हित के विरुद्ध कैसे समझा जा सकता है? और राज्य द्वारा शिक्षा पर नियन्त्रण बुरा कैसे माना जा सकता है?

शिक्षा-क्षेत्र में कुछ व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का होना आवश्यक

उपर्युक्त तर्कों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जनतन्त्रात्मक राज्य-व्यवस्था में शिक्षा पर राज्य-नियन्त्रण बुरा नहीं, परन्तु इसके साथ ही साथ हमें यह भी भान होता है की शिक्षा पर राज्य का सम्पूर्ण नियन्त्रण सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जा सकता। शिक्षा पर राज्य के नियन्त्रण में दोष आ सकता है इसका यह भी तात्पर्य नहीं कि राज्य जनता की शिक्षा के प्रति उदासीनता का रुख अपनाये। वस्तुतः सर्वोत्तम स्थिति तो यह है कि राज्य जनता की शिक्षा में पूरी रुचि ले और इस रुचि का प्रधान रूप विशेषज्ञों द्वारा राय तथा धन आदि द्वारा सहायता होना चाहिए। राज्य को व्यक्तिगत शैक्षिक संस्थाओं को पूरा प्रोत्साहन देना चाहिए और समय-समय पर आवश्यकतानुसार उन्हें आर्थिक तथा अन्य प्रकार की सहायता देनी चाहिए। जनतन्त्रात्मक[1] सिद्धान्तों, कौशल[2] और व्यवहार[3] में जनता को शिक्षण देने के लिए यह आवश्यक है कि उसे कुछ अपने कार्य संभालने का उत्तरदायित्व दिया जाय। यदि राज्य अपने ऊपर समस्त शैक्षिक उत्तरदायित्व ले लेता है तो वह जनता की आत्मनिर्भरता पर कुठाराघात करता है। कोई भी राज्य जनता के सभी कार्यों को अपने ऊपर लेने में समर्थ नहीं हो सकता। शिक्षा एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें जनता को अपने उत्तरदायित्व की चेतना सरलता से हो सकती और इस उत्तरदायित्व को सरलता से संभाल भी

1. Democratic Principles. 2. Skills. 3. Behaviour.

सकती है, क्योंकि इसका उसके बालकों के विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः शिक्षा-क्षेत्र में कुछ व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का होना अत्यन्त आवश्यक है जिससे लोग अपनी-अपनी रुचि और सीमानुसार अपना विकास करें और सत्य की खोज करते हुए समाज के सांस्कृतिक विकास में अपना-अपना योग दें। अतः यदि राज्य को अपने कुछ शैक्षिक कर्तव्यों का पालन करना है तो इन कर्तव्यों के निर्धारण में व्यक्ति तथा समाज की सर्वाङ्गीण शिक्षा और विकास की कसौटी को ही सर्वोपरि रखना है।

राज्य के शिक्षा-सम्बन्धी कुछ कर्तव्य

एक राष्ट्रीय शिक्षा-योजना का संचालन करना

शिक्षा-सम्बन्धी राज्य का पहला कर्तव्य यह है कि वह देश में एक ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा-योजना का संचालन करे जिसमें समाज के सभी वर्ग के व्यक्तियों के हित की रक्षा हो। यह कार्य न तो समाज (अर्थात् व्यक्तिगत शैक्षिक संस्थायें) कर सकता है और न व्यक्ति ही में इसे करने की सामर्थ्य है। केन्द्रीय सरकार ही सब नागरिकों के हित में एक राष्ट्रीय शिक्षा-व्यवस्था का आयोजन कर सकती है। परन्तु राष्ट्रीय शिक्षा-व्यवस्था का स्वरूप क्या है? राष्ट्रीय शिक्षा की क्या विशेषतायें हैं? साधारणतः राष्ट्रीय शिक्षा-योजना एक ऐसी योजना होती है जिसमें देश के सभी वर्ग के व्यक्तियों के विकास के लिए सुअवसर देने की चेष्टा की जाती है। इसमें जाति, रूप, रंग, स्त्री, पुरुष तथा धन आदि के भेद-भाव को स्थान नहीं दिया जाता। इस योजना के अन्तर्गत् प्रत्येक को समान रूप से अवसर प्राप्त करने का अधिकार होता है। राष्ट्रीय शिक्षा-योजना में शिशु, बालक, वयस्क तथा वृद्ध आदि सभी के सामयिक विकास के लिए अवसर देने का प्रयत्न किया जाता है। अतः इस योजना में प्राथमिक, माध्यमिक, तथा विश्वविद्यालय आदि सभी स्तर पर शिक्षा देने की व्यवस्था की जाती है। इसके अतिरिक्त इस योजना में देश और समाज की सांस्कृतिक तथा दार्शनिक परम्पराओं और विशेषताओं का प्रभाव भी आना चाहिए। राष्ट्रीय शिक्षा-योजना का वास्तविक जीवन के निकट

होना अत्यन्त आवश्यक है, जिससे शिक्षा पाने के बाद व्यक्ति अपने पैरों पर खड़ा होने में समर्थ हो सके। राष्ट्रीय एकता तथा सामूहिक आदर्श ही राष्ट्रीय शिक्षा का आधार होना चाहिए और राष्ट्र और समाज की मान्यतायें[1] उससे (अर्थात् राष्ट्रीय शिक्षा से) परिलक्षित होनी चाहिए। हमारे देश में एक ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा-योजना का संचालन करना अत्यन्त आवश्यक है।

यह याद रखना है कि राष्ट्रीय शिक्षा राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य के हित में नियोजित होनी चाहिए, न कि कुछ राजनीतिज्ञों की स्वार्थपूर्ण इच्छाओं की पूर्ति के लिए। अतः राष्ट्रीय शिक्षा के संगठन में सर्वप्रथम राष्ट्र के सदस्यों के सहयोग का अपने आप आना आवश्यक है। जो शिक्षा नागरिकों पर लादी जाती है उसे राष्ट्रीय शिक्षा नहीं कहा जा सकता।

ऊपर यह संकेत किया जा चुका है कि राज्य के प्रत्येक नागरिक के सर्वांगीण विकास का उत्तरदायित्व राज्य पर है। अतः राष्ट्रीय शिक्षा का प्रधान उद्देश्य सभी नागरिकों का सर्वांगीण विकास होना चाहिए। बालक की शिक्षा के सम्बन्ध में सर्वप्रथम कुटुम्ब का उत्तरदायित्व आता है, इसके बाद स्कूल को अपने कुछ कर्तव्यों का पालन करना है। यदि कुटुम्ब और स्कूल बालक की शिक्षा-सम्बन्धी अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करते तो सारा उत्तरदायित्व राज्य को अपने ऊपर ले लेना है; अथवा वह ऐसी परिस्थितियों और नियमों का निर्माण करे कि कुटुम्ब और स्कूल अपने कर्तव्यों के पालन हेतु तत्पर हो जाँय।

आजकल प्रायः यह देखा जाता है कि संसार का प्रत्येक राष्ट्र अपनी आय का अधिकांश देश की सुरक्षा-सम्बन्धी कार्यों में लगाता है। प्रायः सभी देश अपनी जल, थल और नभ सेना के निर्माण में गतिशील दिखलाई पड़ते हैं। देश की रक्षा के लिए सेना की आवश्यकता को स्वीकार करना ही पड़ेगा। परन्तु राष्ट्र केवल सेना के बल पर ही सुरक्षित और बलशाली नहीं समझा जा सकता। देश की रक्षा के लिए नागरिकों में नैतिक बल का होना अत्यन्त आवश्यक है। यह नैतिक बल जनता की समृद्धि, सर्वतो-

1. Social and National Values.

मुखी विकास, और सन्तुष्टि पर निर्भर करता है; और यह समृद्धि, विकास और सन्तुष्टि शिक्षा के आधार पर ही प्राप्त किया जा सकता है। यदि यह सब प्राप्त कर लिया गया तो राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक संकट-काल में अपने देश की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो जायगा। अतः शिक्षा की अवहेलना करना घातक होगा। वस्तुतः सेना के बल पर जनतन्त्रात्मक सत्ता की रक्षा का प्रयत्न जनतन्त्र का उपहास करना है। जनतन्त्र की रक्षा के लिए हमें देश से अज्ञान, अशिक्षा, अन्ध-विश्वास और बल-हीनता को दूर करना चाहिए। अज्ञान, अशिक्षा और अन्धविश्वास ही भीतरी शत्रु होता है। यदि भीतरी शत्रु को परास्त न किया गया तो बाहरी शत्रु को परास्त करने का कुछ अर्थ न होगा। शिक्षित व्यक्तियों के राष्ट्र को किसी वस्तु का डर न होना चाहिए। हमारे देश में शिक्षा के प्रचार की अत्यन्त आवश्यकता है, क्योंकि हमारी अधिकांश जनता अपढ़ है शिक्षा द्वारा ही राष्ट्र को अच्छी तरह संगठित किया जा सकता है। यदि देश में शिक्षा का समुचित प्रसार हो सका तो हमारी राष्ट्रीय संगठन की समस्या स्वतः सुलझ जायगी।

उच्च विद्यालयों में सैनिक प्रशिक्षण[1]

उच्च विद्यालयों में सैनिक प्राशिक्षण की व्यवस्था करना राज्य का कर्तव्य है। सैनिक प्रशिक्षण की व्यवस्था छोटे-छोटे बालकों के लिये उपयुक्त न होगी। अतः इसका प्रारम्भ कालेज तथा विश्वविद्यालयों में ही करना चाहिए। परन्तु इस सैनिक प्रशिक्षण के लिए बहुत प्रारम्भ से ही एक पृष्ठभूमि का तैयार करना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए स्कूलों में व्यायामशाला तथा खेल-कूद तथा आवश्यक पौष्टिक भोजन का प्रबन्ध कर बालकों के शारीरिक विकास पर उचित ध्यान देना बड़ा ही आवश्यक है। इस सम्बन्ध में राज्य को अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए।

राज्य कुछ सैनिक विद्यालयों[2] का भी संचालन कर सकता है जहाँ

1. Military Training in Higher Educational Institutions.
2. Military Schools and Colleges.

थल, जल और नभ युद्ध-सम्बन्धी कलाओं का ज्ञान नवयुवकों को प्रदान किया जायगा। युद्ध-कला-सम्बन्धी विभिन्न बातों के अनुसन्धान के लिए विविध प्रयोगशालाओं का निर्माण करना भी राज्य का ही कर्तव्य है।

नागरिकों के शारीरिक विकास के लिए शारीरिक प्रशिक्षण[1] की योजना

ऊपर यह संकेत किया जा चुका है कि बालकों के शारीरिक विकास पर ध्यान देना राज्य का कर्तव्य है। बालक ही भावी नागरिक हैं और यदि उनके शारीरिक विकास पर समुचित ध्यान न दिया गया तो राष्ट्र की नींव ही खोखली पड़ जायगी। अतः राज्य को शारीरिक प्रशिक्षण की ऐसी योजना कार्यान्वित करनी चाहिए कि प्रत्येक नागरिक को पूर्ण शारीरिक विकास का अवसर मिल सके। यदि इस सम्बन्ध में कुटुम्ब, स्कूल और समाज उदासीन हों तो राज्य को इसका उन्हें रास्ता दिखलाना होगा। यहाँ यह कह देना आवश्यक जान पड़ता है कि केवल शारीरिक प्रशिक्षण की योजना से ही काम न चलेगा। शारीरिक विकास के लिए राज्य को यह भी देखना है कि देश में सबको शुद्ध जल और हवा, रहने के लिए स्वच्छ स्थान तथा पुष्ट और संतुलित भोजन उपलब्ध हैं। बिना इसके शारीरिक प्रशिक्षण की अच्छी से अच्छी योजना व्यर्थ जायगी।

व्यावसायिक शिक्षा का प्रबन्ध[2]—

व्यावसायिक शिक्षा का समुचित प्रबन्ध करना कदाचित् व्यक्तिगत संस्थाओं के लिए सरल न होगा, क्योंकि इसमें बड़े धन की आवश्यकता होती है। राज्य को यह देखना है कि देश के प्रत्येक नागरिक को उसकी रुचि और योग्यतानुसार कार्य मिले और कोई व्यक्ति बेकार न रहने पावे। बेकारों का राष्ट्र आगे चलकर जर्जरित हो जाता है, क्योंकि तब देश में सभी उपलब्ध साधनों का सदुपयोग नहीं हो पाता। सभी व्यक्तियों को उनके झुकाव[3] के अनुसार काम देने के लिए झुकाव के अनुसार उनकी शिक्षा का आयोजन आवश्यक है। इस आयोजन के लिए विविध

1. Physical Training. 2. Arrangement for Vocational Education. 3. Aptitude.

प्रकार के व्यावसायिक विद्यालयों का संगठन करना राज्य का कर्तव्य है। ऐसे विद्यालयों की सहायता से ही राष्ट्र का औद्योगीकरण[1] तथा व्यवसायों का आवश्यक यान्त्रीकरण सम्भव है। अपनी आवश्यकता के लिए दूसरे देशों पर आश्रित न रहने के लिए हमें अपने देश का कुछ हद तक उचित औद्योगीकरण करना ही होगा। हाँ, इस औद्योगीकरण में हमें अपने पुराने देशी कलाकारों और कार्यकर्त्ताओं को बेकार नहीं बना देना है।

नागरिकों के मानसिक और बौद्धिक विकास की ओर ध्यान[2]—

राष्ट्र को प्रत्येक नागरिक के मानसिक और बौद्धिक विकास के लिए आवश्यक साधनों का आयोजन करना चाहिए। इस क्षेत्र में राज्य का प्रथम कर्तव्य यह है कि देश के सभी बालकों के लिए प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा अनिवार्य कर दी जाय। हमारे देश के संविधान में प्रथम चौदह वर्ष तक सन् १९६० के अन्तर्गत शिक्षा को अनिवार्य कर देने का राज्य-नियम स्वीकार कर लिया गया है यदि माध्यमिक स्तर तक की शिक्षा अनिवार्य कर दी जाती है तो अन्य आवश्यक साधनों के मिलने पर राष्ट्र के भावी नागरिकों को मानसिक और बौद्धिक विकास में अड़चन न आयेगी। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार की शैक्षिक संस्थाओं जैसे संगीत, कला तथा चित्रकारी आदि को भी प्रोत्साहन देना राज्य का कर्तव्य है, क्योंकि व्यक्ति के मानसिक और बौद्धिक विकास में ये सब बातें भी आती हैं।

विभिन्न कलाओं की सहायता से व्यक्ति की कुछ नैसर्गिक प्रवृत्तियों का शोधन होता है। अतः विभिन्न कलाओं को प्रोत्साहन देना राज्य के शैक्षिक कर्तव्य के अन्तर्गत आता है। कलाकारों और साहित्यिकों का संरक्षण राज्य का कर्तव्य है। इसके लिए प्रदर्शनियों तथा कुछ विशिष्ट सम्मेलनों का राज्य को आयोजन करना चाहिए और उन में गुणियों को

1. Industrialization. 2. Attention on the mental and intellectual Development of the citizen.

प्रोत्साहन देना चाहिए। इससे देश के सांस्कृतिक स्तर की उन्नति होगी। हमारा देश एक दीर्घ काल तक विदेशियों के शासन में रहा है। अतः बहुत दिनों तक उसे अपनी कला तथा सांस्कृतिक विकास का विशेष अवसर नहीं मिल सका है। अतएव स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद हमारे देश में राज्य का इस ओर एक विशेष कर्तव्य हो जाता है।

नागरिक के मानसिक और बौद्धिक विकास का तात्पर्य यह है कि उसमें स्वतन्त्र चिन्तन, विचार, तर्क करने, तथा निर्णय पर पहुँचने की शक्ति हो; और वह समाज के सांस्कृतिक विकास को और ऊँचा उठा सके। स्वतन्त्र चिन्तन और विचार की आदत डालने के लिए पत्र-पत्रिकाओं, चलचित्रों, रेडियो आदि का सहारा लिया जा सकता है। परन्तु यह सहारा लेने में राज्य को देखना है ये सब साधन व्यक्ति के मानसिक विदोहन का प्रयत्न न करें। इन साधनों से जितना लाभ हो सकता है उतना ही व्यक्ति को हानि भी पहुँचाई जा सकती है। यदि इन साधनों का प्रयोग केवल व्यावसायिक लाभ अथवा किसी एक विशिष्ट विचार धारा के प्रतिपादन में ही किया गया तो निश्चय ही समाज नैतिक पतन की ओर झुक जायगा, क्योंकि इससे व्यक्ति के स्वतन्त्र-निर्णय की शक्ति जाती रहेगी। हमारे देश में राज्य को देखना है कि प्रेस, सिनेमा और रेडियो के कार्यक्रम और क्षेत्र महत्व के हों और उनसे व्यक्ति का मानसिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास हो, न कि पतन। अतः इस क्षेत्र में राज्य का एक विशेष शैक्षिक उत्तरदायित्व है।

शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था—

शिक्षा की सारी योजना शिक्षकों पर निर्भर करती है अतः राज्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह शिक्षकों के समुचित प्रशिक्षण का आयोजन करे। यदि राज्य अपने इस उत्तरदायित्व के प्रति उदासीनता दीखलाता है तो शिक्षा कि सारी योजना विफल हो जायगी।

किसी विशिष्ट धर्म का पोषक नहीं[1] ?—

राज्य को किसी एक विशिष्ट धर्म का पोषक नहीं बनना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि उसे देश के सभी धर्मों को समान मान्यता प्रदान करनी चाहिए; अर्थात् प्रत्येक नागरिक को अपने व्यक्तिगत विश्वास के अनुसार धर्म पालन की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये। इसका अर्थ यह नहीं है कि राज्य को अधार्मिक और धर्महीन होना चाहिये। वस्तुतः राज्य के सारे कार्य उच्च मानव धर्मों और आदर्शों से उत्प्रेरित होने चाहियें;—तभी प्रत्येक नागरिक राज्य से प्रेरणा ले स्वयं उच्च आदर्शों का अनुसरण करेगा। इस दृष्टिकोण से राज्य का यह भी उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास की उपेक्षा न करे। व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास में योग देकर राज्य अपने एक महान् शैक्षिक कर्तव्य का पालन करेगा। यदि राज्य का कार्य उच्च मानव धर्मों और आदर्शों पर आधारित है तो व्यक्ति उससे स्वतः प्रेरणा खींचता रहेगा।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

जनतन्त्रात्मक राज्य में शिक्षा की बड़ी आवश्यकता

आज का युग जनतन्त्रात्मक। उपयुक्त शासकों को चुनने के लिए जनता में आवश्यक ज्ञान और विवेक। अतः जनता की शिक्षा पर उचित ध्यान।

शिक्षा पर किसका नियन्त्रण ?

कुछ देशों में शिक्षा पर राज्य का पूरा नियन्त्रण। शास्त्रीय स्वतन्त्रता के पोषक इस नीति के विरोधी।

शिक्षा पर राज्य-नियन्त्रण से स्वतन्त्र विचारों का प्रसार नहीं, बालक के व्यक्तित्व विकास पर समुचित ध्यान नहीं।

राजकीय और व्यक्तिगत शैक्षिक संस्थाओं में तुलना

1. Not to favour any specific religion.

राजकीय निन्यत्रण के लिए तर्क

शिक्षित व्यक्तियों का उपयोग राज्य द्वारा; अतः शिक्षा पर राज्य का नियन्त्रण आवश्यक।

जनतन्त्रात्मक राज्य की इच्छा अभिभावकों की इच्छा का प्रतीक।

शिक्षा-क्षेत्र में कुछ व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का होना आवश्यक

शिक्षा पर राज्य का सम्पूर्ण नियन्त्रण नहीं। राज्य को जनता की शिक्षा में पूरी रुचि लेना। विशेषज्ञों द्वारा राय तथा धन आदि की सहायता। व्यक्तिगत शैक्षिक संस्थाओं को पूरा प्रोत्साहन देना।

शिक्षा से जनता अपने उत्तरदायित्व को सँभालना सीख सकती है।

राज्य के शिक्षा-सम्बन्धी कुछ कर्तव्य

एक राष्ट्रीय शिक्षा-योजना का संचालन

सभी वर्ग के व्यक्तियों के हित की रक्षा करना।

जाति, रूप, रंग, स्त्री, पुरुष तथा धन आदि का भेद नहीं। प्रत्येक को विकास के लिए समान अवसर प्राप्त। सभी स्तर पर शिक्षा व्यवस्था। सांस्कृतिक, और दार्शनिक परम्पराओं तथा विशेषताओं का अभाव। वास्तविक जीवन के निकट। नागरिकों के सहयोग का स्वतः आना। शिक्षा के आधार पर ही नागरिकों में नैतिक बल का आना।

उच्च विद्यालयों में सैनिक प्रशिक्षण

राज्य का कर्तव्य। कालेज तथा विश्वविद्यालयों में। सैनिक विद्यालयों का संचालन।

नागरिकों के शारीरिक विकास के लिए शारीरिक प्रशिक्षण की योजना

बालकों के शारीरिक विकास पर ध्यान देना राज्य का कर्तव्य। स्वास्थ्य-रक्षा के लिए सभी आवश्यक वस्तुएँ नागरिकों के लिए उपलब्ध करना राज्य का कर्तव्य।

व्यावसायिक शिक्षा का प्रबंध

योग्यता तथा रुचि के अनुसार प्रत्येक को कार्य देना राज्य का कर्तव्य।

नागरिकों के मानसिक और बौद्धिक विकास की ओर ध्यान

सभी बालकों के लिए प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा अनिवार्य कर देना। संगीत, कला तथा चित्रकारी आदि को प्रोत्साहन देना। कलाकारों और साहित्यिकों का संरक्षण राज्य का कर्तव्य। स्वतन्त्र चिन्तन, विचार, तर्क तथा निर्णय करने की शक्ति उत्पन्न करना राज्य का कर्तव्य। पत्र-पत्रिकाओं, चलचित्र तथा रेडियो आदि की सहायता। व्यक्ति का मानसिक विदोहन नहीं।

शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था

किसी विशिष्ट धर्म का पोषक नहीं

सभी धर्मों को समान मान्यता देना। प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक स्वतन्त्रता।

सहायक पुस्तकें

१—ब्रॉर्डी, ए० : द अमेरिकन स्टेट ऐण्ड हायर एडूकेशन, वाशिङ्गटन, डी० सी०, अमेरिकन कौन्सिल ऑन एडूकेशन, १६३५।

२—केली० एफ० जे०, ऐण्ड जॉन एच० मैकनीली : द स्टेट ऐण्ड हायर एडूकेशन, न्यूयार्क, कार्नेगी फ़ाउण्डेशन, १६३३।

३—मूर ऐण्ड कोल : सोशियलॉजी इन एडूकेशनल प्रैक्टिस, अध्याय ६, हूटन मिफ्लिन क० न्यूयार्क, १६५२।

४—रूसेक ऐण्ड एसोशियेट्स : सोशियलॉज़िकल फॉउण्डेशन्स ऑव् एडूकेशन, अध्याय २६, टॉमस क्रोबेल क० न्यूयार्क, १६४२।

जनतन्त्र और शिक्षा[1]

हमारे भारत में जनतन्त्र स्थापित हो जाने के कारण शिक्षा और जनतन्त्रात्मक[2] सिद्धान्तों में एक घनिष्ट सम्बन्ध का स्थापित होना अत्यन्त आवश्यक है। इस सम्बन्ध के स्थापित होने से हमारे जीवन का प्रत्येक क्षेत्र बली हो उठेगा, क्योंकि तब प्रत्येक को अपनी रुचि और झुकाव के अनुसार विकसित होने का पूर्ण अवसर मिलेगा। कहने का अर्थ यह है कि शिक्षा के सहारे ही जनतन्त्र राज्य फल-फूल सकता है। तानाशाही[3] अज्ञानता के आधार पर बढ़ सकती है, परन्तु जनतन्त्र के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि जनतन्त्रात्मक सरकार साधारण जनता की बुद्धि और चरित्र से ही अपना बल खींचेगी। अतः यदि जनता बल और चरित्र हीन हुई तो सरकार पर भी इस हीनता का प्रभाव पड़े बिना न रहेगा, क्योंकि सरकार के सदस्य जनता ही के चुने हुए प्रतिनिधि तो होते हैं। अतः जनतन्त्रात्मक सत्ता को अपनी साधारण जनता के सांस्कृतिक विकास और शिक्षा पर विशेष ध्यान देना है, और यह निःशुल्क और सार्वलौकिक तथा अनिवार्य शिक्षा से ही सम्भव हो सकता है।

जनतन्त्रात्मक व्यावहारिकता और आदर्शवाद[4]

जब जनतन्त्र और शिक्षा के परस्पर-सम्बन्ध की ओर हम देखते हैं

1. Democracy and Education. * (त्रिपथगा, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ, में लेखक का छपा हुआ एक लेख)

2. Democratic Principles. 3. Dictatorship. 4. Democratic Practicability and Idealism.

तो उसमें व्यावहारिकता और आदर्शवाद दोनों का समावेश आवश्यक जान पड़ता है। जनतन्त्र में पहला आदर्श यह है कि शिक्षा के सहारे सभी नागरिकों को उनके अधिकारों और कर्तव्यों से अवगत करना है। इस आदर्श के पालन में व्यावहारिकता का स्वतः समावेश हो जाता है, क्योंकि यह आदर्श विविध योग्यताओं[1] और कौशल[2] की प्राप्ति का आधार बन जाता है। लिखने और पढ़ने की योग्यता, स्वास्थ्य के स्वरूप तथा उनकी रक्षा के लिए विशिष्ट आदतों को समझना, व्यावसायिक[3] कौशल तथा अपनी नागरिकता का रचनात्मक रूप में उपयोग करने की योग्यता आदि व्यक्ति की व्यावहारिकता की ओर संकेत करती हैं, क्योंकि इनका व्यक्ति के दैनिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनके अतिरिक्त शिक्षा के अन्य ऐसे प्रभाव व्यक्ति पर पड़ते हैं जो उसे उदार[4] और प्रेरणायुक्त[5] बनाते हैं। हमें अपनी शिक्षा-व्यवस्था से ऐसे व्यक्तियों को उत्पन्न करना है जो सबके लिए प्रेरणादायक हों। शिक्षा के बल पर हमें अच्छे इन्जीनीयर, चिकित्सक, कृषक, वकील, शिक्षक, अर्थशास्त्र का ज्ञाता, कलाकार, राजनीतिज्ञ, वैज्ञानिक तथा जीवन के विविध क्षेत्रों के योग्य प्रतिनिधियों को बनाना है। प्रत्येक को अपने चुने हुए जीवन[6]-उद्योग और धन्धे में कुशलतापूर्वक बर्तना है, परन्तु साथ ही प्रत्येक में नागरिकता, सामाजिकता और जनतन्त्रात्मक गुणों को अपने जीवन में अपनाना है। व्यक्ति को अपना कार्य हवा में नहीं करना है। उसे समाज में तो रहना ही है। अतः समाज के एक योग्य नागरिक के कर्तव्यों का उसे पालन करना ही होगा। जनतन्त्र का तात्पर्य प्रत्येक व्यक्ति को अनाथालय में स्थान देना नहीं है, वरन् इसका तात्पर्य प्रत्येक व्यक्ति को विकास के लिए ऐसा अवसर देना है कि वह अपने उत्तरदायित्वों का पालन करने वाला, व्यावसायिक कौशल वाला तथा दूसरों के प्रति उदार चित्त वाला हो सके। स्पष्ट है कि जनतन्त्रात्मक व्यवस्था में व्यावहारिकता और आदर्शवाद दोनों निहित हैं।

---

1. Abilities. 2 Skill. 3. Vocational Skill. 4. Liberal. 5. Inspiring. 6. Life-profession.

जनतन्त्र और शिक्षा-योजना[1]

शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारण में जनतन्त्र प्रत्येक नागरिक के प्रयत्नों का स्वागत ही नहीं करता, वरन् प्रत्येक को प्रोत्साहित करता है जिससे सभी लोग सार्वजनिक हित में अपना योग दे सकें। शिक्षा के स्वरूप, उद्देश्य तथा प्रभाव की चर्चा करने की स्वतन्त्रता प्रत्येक को दी जाती है। इस चर्चा में सभी लोग अपने-अपने विभिन्न मत का प्रकाशन करेंगे और यह स्वाभाविक भी है, परन्तु शिक्षा के कुछ विशिष्ट उद्देश्यों के प्रति सबका विश्वास प्राप्त कर सकना उसी तरह आवश्यक है जैसे जनतन्त्रात्मक सत्ता के प्रति सबके विश्वास का सम्बन्ध जोड़ना आवश्यक है। शिक्षा के जिन महान, उद्देश्यों के लिये हम जनता के हृदय में विश्वास उत्पन्न करना चाहेंगे उनका चार वर्ग[2] किया जा सकता है: १—आत्म-विकास[3], २—मानव सम्बन्ध[4], ३—आर्थिक परिपूर्णता,[5] तथा ४—नागरिक उत्तर-दायित्व[6]। नीचे हम प्रत्येक वर्ग का अति संक्षेप में विश्लेषण करेंगे :—

क—आत्म विकास के उद्देश्य[7]

१—जिज्ञासु मस्तिष्क की प्राप्ति। प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करना चाहता है।

२—वाक्‌शक्ति। मातृभाषा में अपने विचारों का प्रकाशन वाणी द्वारा कर सकना।

३—पढ़ने और लिखने की शक्ति। अपनी मातृभाषा में पढ़-लिख सकना।

४—अङ्कगणित की शक्ति। जोड़ने और घटाने आदि के प्रश्नों को सरलता से हल कर सकना।

५—देखने और सुनने की शक्ति प्राप्त कर सकना।

---

1. Democracy and Educational Planning. 2. On the basis of "*The Purposes of Educa ion in American Democracy*, National Education Association, 1937, Washington D. C. 3. Selt-realization. 4. Human Relationships. 5. Economic Efficiency. 6. Civic Respon.ibility. 7. Objectives of Self-realisation.

६—स्वास्थ्य-सम्बन्धी सभी बातों का आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर सकना।

७—स्वास्थ्य-सम्बन्धी अच्छी आदतों का डालना और अपने तथा अपने आश्रितों के स्वास्थ्य की रक्षा कर सकना।

८—समाज की स्वास्थ्य-रक्षा में आवश्यक योग दे सकना।

९—मनोरंजन के स्वस्थकर साधनों को पा सकना।

१०—अवकाश-काल का सुखद और लाभप्रद सदुपयोग कर सकना।

११—सौन्दर्य की अनुभूति कर सकना।

१२—अपने जीवन-क्रम को आदर्श रूप में चला सकना।

ख—मानव सम्बन्ध के उद्देश्य[1]

१—मानवता का आदर कर सकना। शिक्षित व्यक्ति मानव सम्बन्धों को सर्वोपरि समझता है।

२—विभिन्न प्रकार के सुखद और उपयोगी मैत्री स्थापित कर सकना।

३—दूसरों के सहयोग में कार्य कर और खेल सकना।

४—नम्रता पूर्वक दूसरों के साथ व्यवहार कर सकना।

५—एक सामाजिक संस्था के रूप में कुटुम्ब के महत्व को समझ सकना।

६—कुटुम्ब के आदर्शों की रक्षा कर सकना।

७—कौटुम्बिक व्यवस्था में कौशल प्राप्त करना।

८—कुटुम्ब में जनतन्त्रात्मक सम्बन्धों को स्थापित कर सकना।

ग—आर्थिक परिपूर्णता के उद्देश्य[2]

१—अपने विशिष्ट क्षेत्र में कार्य-कौशल प्राप्त कर सकना।

२—विभिन्न धन्धों के सम्बन्ध में अवसर तथा आवश्यक बातों को जान सकना।

३—अपने जीवन के उद्योग अथवा धन्धे को चुन सकना।

४—अपने चुने हुए धन्धे में आवश्यक निपुणता प्राप्त कर सकना।

---

1. Objectives of Human Relationship. 2. Objectives of Economic Efficiency

५—अपने व्यावसायिक निपुणता को कायम रखते हुये उसमें सुधार ला सकना।

६—अपने धन्धे के सामाजिक महत्व को समझ सकना।

७—अपने जीवन की आर्थिक व्यवस्था ठीक-ठीक चला सकना।

८—अपने व्यय का ठीक-ठीक माप दण्ड बना सकना।

९—आवश्यक वस्तुओं का कुशलता से क्रम कर सकना।

१०—अपने हितों की रक्षा के लिए आवश्यक उपायों का सहारा ले सकना।

घ—नागरिक उत्तरदायित्व के उद्देश्य[1]

१—मानव परिस्थितियों की विभिन्नता को समझते हुए एक सामाजिक न्याय में विश्वास करना।

२—असन्तोषजनक दशाओं के सुधार के लिए प्रयत्न कर सकना।

३—विभिन्न सामाजिक प्रक्रियाओं को समझ सकना।

४—विभिन्न विज्ञापनों के बीच ठीक निर्णय करने की शक्ति प्राप्त करना।

५—सहिष्णु होना।

६—राष्ट्र की सम्पत्ति को नष्ट न करना।

७—विज्ञान का समाज हित में उपयोग कर सकना।

८—अपने को विश्व-समाज का सदस्य समझ सकना।

९—राज्य नियम का पालन करना।

१०—नागरिक के कर्तव्यों का पालन करना।

११—जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों के प्रति भक्ति रखना।

उपर्युक्त उद्देश्यों का महत्व शिक्षकों तथा शिक्षा के कर्णधारों के लिये क्या हो सकता है इसका स्पष्टीकरण करना आवश्यक नहीं, क्योंकि यह स्वयं स्पष्ट है।

जनता की शिक्षा[2]

उपर्युक्त उद्देश्यों से स्पष्ट है कि जनतन्त्रात्मक सत्ता की सफलता के लिए

1. Objectives of Civic Responsibility. 2. Education of the Public.

जनता की शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है। हमें जनता में एक जागृति लाना है जिससे लोग अपने कर्तव्यों और अधिकारों को पहचानने लगें। हमें केवल बालकों की ही शिक्षा की व्यवस्था नहीं करनी है, वरन् प्रौढ़[1] व्यक्तियों की भी शिक्षा पर समुचित ध्यान देना है। अमेरिका, ग्रेटब्रिटेन, फ्रान्स, रूस, टर्की, जापान तथा अन्य प्रगतिशील देशों में बालकों की शिक्षा के अतिरिक्त प्रौढ़ व्यक्तियों की शिक्षा पर भी विशेष ध्यान दिया जाता है। यह ठीक भी है, क्योंकि प्रौढ़ व्यक्तियों के स्वभाव तथा रहन-सहन का बालकों के विकास पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। अतः बालकों के हित में यह भी आवश्यक है कि प्रौढ़ व्यक्तियों को भी जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों के अनुसार उपयुक्त शिक्षा दी जाय। इसके लिए सायंकाल अथवा रात्रि में शिक्षा का प्रबन्ध किया जा सकता है।

जनतन्त्र में शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति का जीवन-अधिकार है। अतः राज्य की ओर से सभी प्रकार के व्यक्तियों (बालक अथवा प्रौढ़) के लिए—गूंगे, वधिर, दृष्टिहीन तथा शारीरिक रोग से पीड़ित आदि—शिक्षा की पूरी पूरी व्यवस्था होनी चाहिये।

बालक

उपरोक्त बातों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बालक के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए उचित वातावरण का आयोजन करना जनतन्त्रवादी शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है। शिक्षा-प्रणाली ऐसी हो कि उससे व्यक्ति की अभिरुचियों[2] और शक्तियों[3] का दमन न हो। इसके लिए हमें रूढ़िगत[4] सामूहिक शिक्षण-प्रणाली का त्याग करना होगा। प्रत्येक बालक का व्यक्तिगत अध्ययन करना होगा। इस अध्ययन में बालक की घरेलू[5] परिस्थितियों, उसकी सांस्कृतिक[6] पृष्ठभूमि, मनोवैज्ञानिक[7] विलक्षणताओं तथा अभिवृत्तियों[8] को समझने की चेष्टा की जायगी, जिससे तदनुसार बालक की शिक्षा का आयोजन किया जा

1. Adults. 2. Interest. 3. Abilities, 4. Traditional Group Teaching Method. 5. Family Circumstances. 6. Cultural Background. 7. Psychological Characteristics. 8. Attitudes.

सके। बुद्धि-परीक्षा[1] द्वारा प्रत्येक बालक की मानसिक योग्यता का अनुमान करना होगा, प्रत्येक के स्वास्थ्य की परीक्षा की जायगी, जिससे प्रत्येक के सर्वांगीण विकास में योग दिया जा सके।

पाठ्यक्रम[2]

बालक के लिए पाठ्यक्रम के निर्धारण में 'शिक्षा-योजना' के अन्तर्गत कहे हुए चार प्रमुख उद्देश्यों पर विशेष ध्यान देना होगा, जिससे प्रत्येक बालक जनतन्त्रवादी राज्य का सच्चा नागरिक बन सके। पाठ्यक्रम के अन्तर्गत बालकों में दिन में स्कूल के होने वाली सभी बातें आ जाती हैं; जैसे—विभिन्न विषयों का अध्यापन, पाठ्यविषयान्तर[3] क्रियायें, खेल तथा परीक्षा आदि। पाठ्यक्रम के संगठन में प्रत्येक विद्यार्थी की वैयक्तिक[4] भिन्नता, बुद्धि, शक्ति, आवश्यकताओं तथा योग्यता पर यथासम्भव ध्यान देना होगा।

पाठ्यक्रम के निर्धारण में सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति पर भी ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए स्कूल में सामाजिक आयोजनों तथा सभाओं को विशेष स्थान दिया जाता है। अध्यापक को बने बनाये हुए निष्कर्षों को विद्यार्थियों के सामने नहीं उपस्थित करना है, वरन् उन्हें उनके सामने ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित करना हैं कि वे (विद्यार्थीगण) स्वयं ठीक निष्कर्ष पर पहुँच सकें। कहने का तात्पर्य यह कि "क्रिया द्वारा शिक्षा[5]" के आदर्श के अनुसार शिक्षकों को अपने कार्य का सम्पादन करना है।

अपने देश के स्कूलों के पाठ्यक्रम के निर्धारण में हमें कृषि, प्रकृति निरीक्षण, उद्योग, मातृभाषा, विदेशी और प्रदेशी भाषाओं का अध्ययन, गणित, विज्ञान, भूगोल, नागरिकशास्त्र, इतिहास स्वास्थ-विज्ञान, तथा विविध कलाओं पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

---

1. Intelligence Testing. 2. Curriculum. 3. Co-curricular Activities. 4. Individual Differences. 5. Learning by Doing.

स्कूल का प्रबन्ध[1]

जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों के अनुसार स्कूल के प्रबन्ध में अध्यापक को पर्याप्त स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। कक्षा[2]-कार्य की योजनाओं, रचनात्मक[3] कार्य के संगठनों तथा आत्म-निर्देशन[4] के क्षेत्र में अध्यापक और विद्यार्थी को पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इनमें प्रबन्धकों अथवा स्कूल के निरीक्षकों का हस्तक्षेप अवांछित ही नहीं वरन् जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों की नींव पर कुठाराघात करना होगा। अतः स्कूल के प्रबन्ध में अध्यापक की उद्योगशीलता को उचित महत्व देना आवश्यक है। अध्यापक के कार्य की आलोचना प्रबन्धक, प्रधानाचार्य अथवा निरीक्षक द्वारा की जा सकती है, परन्तु इस आलोचना का रूप रचनात्मक हो, तथा इसमें सहिष्णुता[5] तथा धैर्य[6] का पुट होना चाहिए। प्रधानाचार्य अथवा निरीक्षक को अपनी आलोचना शब्दों द्वारा न देकर, वरन् ऐसी परिस्थितियों के निर्माण द्वारा देनी चाहिए कि अध्यापक को अपनी गलती का स्वयं पता चल जाय। इसके लिए अधिकारियों में मित्रता और सहकारिता[7] का भाव आना आवश्यक है।

यदि स्कूल के प्रबन्ध में उपर्युक्त आदर्श को कार्यान्वित किया जा सका तो स्कूल के शासन और नीति में अध्यापक महत्वपूर्ण योग देगा, क्योंकि नित्य सम्पर्क में आने के कारण अध्यापक विद्यार्थियों की बातों को अधिक अच्छी तरह समझता है। दूसरे, इस प्रकार योग देने से अध्यापक अपने कार्य में अधिक प्रौढ़ता प्राप्त कर अपने अध्यापन-कार्य का सम्पादन अधिक सफलतापूर्वक करेगा। तीसरे, अध्यापक तथा अधिकारियों में इस प्रकार के व्यवहार से जनतन्त्रात्मक[8] सम्बन्ध की वृद्धि होगी। इससे अध्यापक में उत्साह आयेगा और उसमें नैतिकता का विकास होगा। इन सद्‌गुणों का विद्यार्थियों पर अवश्य ही अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

---

1. Management of Schools. 2. Class-activity Plannings. 3. Organization of Constructive Work. 4. Self-Direction. 5. Tolerance. 6. Patience. 7. Cooperative Attitude. 8. Democratic Relationships.

अध्यापक

जनतन्त्रात्मक शिक्षण-व्यवस्था में अध्यापक का स्थान बड़ा ही महवपूर्ण है। समाज में जनतन्त्रात्मक भावनाओं के प्रसार के लिए अध्यापक बड़ा ही अच्छा और सरल साधन है, क्योंकि समाज के भावी नागरिक उसके सम्पर्क में आकर उसका अनुकरण करने का प्रयास करते हैं। जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों में विश्वास करने वाला अध्यापक वंशागत संस्कारों[1] में उतना विश्वास नहीं करता जितना कि वह वातावरण में विश्वास करता है। अपने इस विश्वास के आधार पर ही वह सभी बालकों को समान अवसर देने का प्रयत्न कर सकता है। अध्यापक का यह विश्वास होगा कि एक बालक दूसरे से भिन्न है, क्योंकि प्रत्येक का अपना-अपना व्यक्तित्व होता है। इस विश्वास के अनुसार वह प्रत्येक के विकास के लिए आवश्यक उपकरणों का आयोजन करेगा।

शिक्षण-पद्धति[2]

जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों के अनुसार चलने वाला अध्यापक शिक्षण-प्रक्रिया में विद्यार्थियों को क्रियाशील रहने के लिए प्रेरणा देता रहता है। विद्यार्थियों को प्रश्न पूछने, तर्क तथा आलोचना करने की पूरी स्वतन्त्रता होती है। विद्यार्थियों को अपने सम्मुख बैठा कर प्राचीन रीति से अध्यापक नहीं पढ़ाता। वस्तुत अध्यापक का कर्तव्य विद्यार्थियों का पथ-प्रदर्शन करना होता है। अध्यापक अन्वेषण करने के लिए विद्यार्थियों को स्वतन्त्र छोड़ देता है। मॉन्तेसरी प्रणाली, डाल्टन प्रणाली, प्रॉजेक्ट मेथड, तथा ह्यरिस्टिक प्रणाली आदि[3] में शिक्षण-पद्धति के इन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन मिलता है।

विनय की समस्या[4]

जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करने से स्कूल में विनय की

---

1. Hereditary Traits. 2. Method of Teaching.

3. इन पर आगे अलग-अलग सविस्तार विवेचना की गई है—विषय-सूची और अनुक्रमणिका देखिए।

4. The Problem of Discipline.

समस्या उपस्थित होती ही नहीं, यदि उपस्थित होती भी है तो इसका स्वतः समाधान हो जाता है, क्योंकि विद्यार्थियों पर कोई कार्य उनकी इच्छा के विरुद्ध लादा नहीं जाता। स्कूल समाज का एक छोटा रूप होता है; और इस समाज में अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों को सँभालने की शिक्षा बालक स्वयं पा जाता है, क्योंकि उसे प्रत्येक के व्यक्तित्व का आदर करना होता है;—जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों से तो उन्हें यही शिक्षा मिलती हैं। स्कूल-परिषद, कक्षा-समितियाँ तथा स्कूल संसद द्वारा स्कूल के शासन में कुछ भाग लेने के लिए बालकों को प्रोत्साहित किया जाता है। इस प्रोत्साहन से बालक समझता है कि स्कूल के समाज का वह एक सदस्य है, जिन नियमों का वह पालन करता है वे उसी के हैं और वे उसी की भलाई के लिए निर्मित किये गये हैं। इस भावनावश वह उन्हें बिना किसी विरोध के स्वीकार करता है। इस प्रकार आत्मानुशासन जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों का परिचायक है और इस प्रकार जनतन्त्रात्मक समाज में विनय की समस्या का स्वतः समाधान हुआ करता है।

आप ने ऊपर क्या पढ़ा ?

शिक्षा और जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों में सम्बन्ध आवश्यक। शिक्षा के सहारे ही जनतन्त्र का बढ़ना। जनता के सांस्कृतिक विकास और शिक्षा पर ध्यान देना।

जनतन्त्रात्मक व्यावहारिकता और आदर्शवाद

व्यावहारिकता और आदर्शवाद का समावेश। सभी नागरिकों को उनके अधिकारों और कर्तव्यों से अवगत करना। आदर्शों से व्यावहारिकता की ओर संकेत। प्रेरणायुक्त व्यक्तियों को उत्पन्न करना। जीवन-उद्योग में कुशलतापूर्वक वर्तना, पर साथ ही जनतन्त्रात्मक गुणों को अपने व्यवहार में अपनाना।

जनतन्त्र और शिक्षा-योजना

शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारण में प्रत्येक नागरिक के प्रयत्नों का स्वागत करना। शिक्षा के उद्देश्यों का चार वर्गीकरण :—

१—आत्म-विकास ।
२—मानव सम्बन्ध ।
३—आर्थिक परिपूर्णता ।
४—नागरिक उत्तरदायित्व ।

जनता की शिक्षा

जनता को अपने अधिकारों और कर्तव्यों से अवगत करना। प्रौढ़ों की भी शिक्षा पर जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों के अनुसार ध्यान देना; क्योंकि उनके रहन-सहन का बालकों के विकास पर प्रभाव पड़ता है। प्रौढ़ों के लिए सायंकाल अथवा रात्रि में शिक्षा का प्रबन्ध ।

शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति का जीवन-अधिकार । अतः सभी प्रकार के व्यक्तियों के लिए शिक्षा की व्यवस्था ।

बालक

बालक के विकास के लिए उचित वातावरण का आयोजन करना जनतन्त्रवादी शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य । व्यक्ति की अभिरुचियों और शक्तियों का दमन न हों। रूढ़िगत सामूहिक शिक्षण-प्रणाली का त्याग । प्रत्येक बालक का व्यक्तिगत अध्ययन । बुद्धि-परीक्षा द्वारा प्रत्येक मानसिक योग्यता का अनुमान करना ।

पाठ्य-क्रम

पाठ्यक्रम के संगठन में प्रत्येक बालक की वैयक्तिक भिन्नता पर यथासंभव ध्यान देना । सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति पर ध्यान । बने-बनाये हुए निष्कर्षों का बालकों के सामने नहीं रखना। 'क्रिया द्वारा शिक्षा' का सिद्धान्त ।

स्कूल का प्रबन्ध

स्कूल के प्रबन्ध में अध्यापक को पर्याप्त स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये। प्रबन्धकों और निरीक्षकों द्वारा हस्तक्षेप घातक । अध्यापक की उद्योगशीलता को महत्व देना । आलोचना रचनात्मक हो । अधिकारियों में मित्रता और सहकारिता का भाव आना ।

अध्यापक

अध्यापक का स्थान महत्वपूर्ण। जनतन्त्रात्मक भावनाओं के प्रसार के लिये अध्यापक अच्छा साधन। वातावरण में अधिक विश्वास। वैयक्तिक विभिन्नता में विश्वास। अतः प्रत्येक बालक के विकास का प्रयत्न।

शिक्षण पद्धति

क्रियाशील रहने के लिये प्रत्येक विद्यार्थी को प्रेरणा देना। प्रश्न पूछने तथा तर्क करने के लिए प्रत्येक विद्यार्थी स्वतन्त्र। अध्यापक केवल पथ-प्रदर्शक। अन्वेषण करने के लिए विद्यार्थी स्वतन्त्र।

विनय की समस्या

विनय की समस्या ही नहीं, क्योंकि विद्यार्थियों पर उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य नहीं लादा जाता। सामाजिक उत्तरदायित्वों को सँभालने की शिक्षा स्वयं बालक को मिलती है।

सहायक पुस्तकें

१—बॉल्टन, एफ० ई०, ऐण्ड कॉबरली, जे० ई० : एडूकेशन सोशियालॉजी, अमेरिकन बुक कम्पनी, न्यूयार्क १९४१।

२—कोनेन्ट जे० बी०, एडूकेशन इन ए डिवाइडेड वर्ल्ड, डारवर्ड यू० प्रे०—कैम्ब्रिज, १९४८।

३—डीवी०, जे० : डेमाक्रसी ऐण्ड एडूकेशन, मैकमिलन न्यूयार्क, १९१६।

४—एडूकेशन पॉलसी कमीशन, (एन० ई० ए०) द परपज़ ऑव् एडूकेशन इन अमेरिकन डेमॉक्रसी वाशिंगटन, डी० सी० १९३८।

५— ,, ,, ,, द यूनिक फङ्क्शन ऑव् एडूकेशन इन अमेरिकन डेमॉक्रसी, १९३७।

६—मूर, डब्लू : टीचिङ्ग डेमाक्रैटिक वैलूज़, डारवर्ड एडूकेशनल रिव्यू, अंक १९ नं० १ विण्टर, १९४९, पृ०-४८।

१८

धर्म और शिक्षा[1]

धर्म की आवश्यकता[2]

मानव को अपने जीवन में कभी-कभी कुछ ऐसी विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है जिन्हें वह समझने में असमर्थ होता है, परन्तु वह उनके विषय में दूसरों से जिज्ञासा प्रगट करता है और साथ ही उसे अपनी असमर्थता पर आश्चर्य भी होता है। धर्म का आदि विकास कैसे हुआ इसे हम नहीं समझ पाते, परन्तु हमें यह अनुमान अवश्य होता है कि अप्राकृतिक और अमानवीय वस्तुओं के सम्बन्ध में अपने विश्वासों के आधार और तर्क के खोजने से कदाचित् मानव ने धर्म की कल्पना की है। समय और किसी स्थान की विशिष्ट संस्कृति के अनुसार इन विश्वासों में विभेद पाया जाता है। विज्ञान के विकास के साथ-साथ इन विश्वासों की संख्या धीरे-धीरे कम होने लगी, क्योंकि विज्ञान के प्रभाव में आकर मानव अन्ध विश्वासों से मुक्ति पाने लगा। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि विज्ञान के प्रभाव में आने के कारण अब उसे धर्म की आवश्यकता न रही। आज का मानव भले ही अपने पूर्वजों की तरह भूत-प्रेत आदि के विचारों से आक्रान्त न हो, परन्तु आज भी उसे धर्म की कम आवश्यकता नहीं। अतः उसके कुछ व्यवहारों में धर्म का प्रभाव अवश्य आ जाता है। आज के परिवर्तनशील जनता को धर्म एक ऐसी दृढ़ नींव दे सकता है जिसके सहारे संसार विषम परिस्थितियों रूपी तूफान में भी अडिग स्थिर रह

1. Religion and Education. 2. The Need of Religion.

सकता है। भग्नाशा, मानसिक तनाव, झगड़े तथा अनिश्चितता आदि के समय धर्म मानव हृदय में शान्ति की एक लहर लाकर भय को दूर कर सकता है और मानव व्यवहार में एक प्रेरणादायक उद्देश्य भर सकता है। आज के भौतिकवाद में धर्म ही एक ऐसी वस्तु दिखलाई पड़ती है जो कि मानवीय मान्यताओं[1] को जीवन में प्रधान स्थान देने के लिए व्यक्ति को अभिप्रेरित कर सकती है और सारे मानव को एक उद्देश्य-प्राप्ति की ओर झुका सकती है। कदाचित् इसीलिए प्रत्येक मानव[2] संस्कृति में किसी न किसी रूप में धर्म को कुछ न कुछ स्थान अवश्य दिया जाता है और इस प्रकार की शिक्षा देने का प्रयत्न किया जाता है जिससे इस संस्कृति के आदर्श और मान्यतायें जीवित रहें। हमारे भारत जनतन्त्र में अनेक प्रकार की धार्मिक पृष्ठभूमियाँ हैं और प्रत्येक को अपनी संस्कृति के संरक्षण की पूरी स्वतन्त्रता है। किसी भी देश का प्रत्येक जन-समुदाय विभिन्न संस्थाओं द्वारा अपने धर्म अथवा उसमें निहित महान आदर्शों की रक्षा का प्रयत्न करता है। स्पष्ट है कि मानव को धर्म की बड़ी आवश्यकता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि धर्म और मानव जीवन में घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध की शृङ्खला सभ्यता के आदि काल से ही चली आ रही है। फलतः व्यक्ति को अच्छे रास्ते पर चलने के लिए धर्म से सदा प्रेरणा मिलती रही है। इसीलिए बहुत प्रारम्भ से ही धार्मिक आदर्शों के आधार पर अपने चरित्र को ढालने का प्रयत्न मानव करता आया है। फलतः धर्म कुछ अर्थों में शिक्षा का भी कुछ काम करता रहा है। अतः धर्म और शिक्षा का सम्बन्ध बड़ा ही पुराना है। प्राचीन काल से ही धर्म ने व्यक्ति की शिक्षा में जो योगदान किया है उस पर थोड़ा नीचे विचार कर लेना असंगत नहीं जान पड़ता।

धर्म द्वारा व्यक्ति की शिक्षा में योग

इस पुस्तक के द्वितीय खण्ड में हम देख चुके हैं कि प्राचीन भारत

1. Humau valnves. 2. Human culture.

में ब्राह्मण तथा बौद्धकालीन शिक्षा का आधार धर्म ही था। उस समय शिक्षा का तात्पर्य धार्मिक ग्रन्थों के पठन-पाठन, धार्मिक कार्यों के करने तथा धार्मिक जीवन के व्यतीत करने से समझा जाता था। शिक्षा-संस्थायें स्वतः धार्मिक संस्थायें होती थीं अथवा धार्मिक संस्थाओं से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहता था। मध्यकाल में भारत के पाठशाला तथा मकतब मन्दिरों और मसजिदों से सम्बद्ध होते थे। इन्हीं के पुजारी तथा मुल्ला बालकों को आवश्यक शिक्षा देते थे। पाठ्यक्रम में धार्मिक बातों की प्रधानता रहती थी। धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ना तथा तदनुसार समाज में बर्तना शिक्षा का प्रायः प्रधान उद्देश्य माना जाता था।

योरप में भी शिक्षा पर धर्म का प्रभाव सदा से दिखलाई पड़ता है। वहाँ प्राचीन काल में बालकों की शिक्षा मठों[1] और चर्च की संरक्षता में होती थी। मठ के अध्यक्ष तथा चर्च के पादरी बालकों की शिक्षा का आयोजन करते थे। मध्यकाल में धर्म का रूप कुछ संकुचित हो चला, परन्तु तथापि धर्म और शिक्षा में घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहा। इस समय कैथीड्रल[2] तथा मॉनेस्टिक[3] पाठशालाओं का प्रसार हो चला। ये पाठ-शालायें चर्च के नियन्त्रण में थीं। इनके प्रत्येक कार्य पर धर्म की पूरी छाप थी।

वर्तमान युग में भी धार्मिक संस्थाओं की शिक्षा में काफी रुचि दिख-लाई पड़ती है। भारत में कई ऐसी धार्मिक संस्थायें हैं जिनके प्रयास से बहुत से स्कूल और कालेज चल रहे हैं। हमारे देश में ईसाई पादरियों और अन्य धर्म प्रचारकों ने बहुत सी शैक्षिक संस्थायें खोली हैं। इनमें हमारे देश में शिक्षा-प्रसार को काफी प्रोत्साहन मिला है। योरप तथा अमेरिका में अनेक शिक्षा-संस्थायें ईसाई प्रचारकों के प्रयत्न से कार्यशील हैं। अमेरिका में अब भी शिक्षा के क्षेत्र में चर्च का कहीं-कही बड़ा हाथ है।

धर्म के नाम पर अत्याचार

धर्म के नाम पर संसार के प्रायः प्रत्येक देश में बड़े-बड़े अत्याचार

---

1. Monasteries. 2. Cathedral Schools. 3. Monastic schools.

किये गये हैं। मध्ययुग में धार्मिक संकीर्णता और धर्मान्धता ने इतना जोर पकड़ा कि मानव पीड़ित हो उठा। फलतः लोगों के हृदय में धर्म के लिए वह आदर भाव नहीं बना रहा जो पहले था। धीरे-धीरे लोगों के मन में यह विश्वास जमने लगा कि धर्म उन्हें मूर्ख बनाकर उनका शोषण करना चाहता है। ऐसी स्थिति के विरुद्ध योरप में रूसो तथा लॉक[1] ऐसे दार्शनिकों ने शिक्षा पर धर्म के नियन्त्रण का विरोध किया और मानव के विवेक तथा तर्क-बुद्धि को सर्वोपरि समझने की माँग की। धर्म के नाम पर धार्मिक व्यक्ति जो घृणित जीवन व्यतीत करते थे उसका नग्न चित्र सबके सामने आ गया और धार्मिक संस्थाओं के आन्तरिक दोषों से लोगों में उनके प्रति घृणा पैदा हो गई। फलतः धर्म के नाम पर प्रचारित अन्ध-विश्वास को लोग धीरे-धीरे समझने लगे। आज की वैज्ञानिक प्रगति ने तो व्यक्ति के जीवन में एक नई लहर ला दी है। अब लोग अपनी आर्थिक, राजनीतिक तथा भौतिक जीवन की समस्याओं को नये दृष्टिकोण से देखते हैं और उन पर धर्म की छाप बहुत ही कम दिखलाई पड़ती है।

धर्म का अर्थ[2]

धर्म शब्द की व्याख्या विभिन्न लोगों ने कई प्रकार से की है। इससे इसके वास्तविक अर्थ के समझने में कुछ कठिनाई हो जाती है। कुछ लोगों के अनुसार धर्म का अर्थ केवल कर्मकाण्ड अथवा पूजा-अर्चना प्रार्थना, नमाज या हवन आदि हैं। ईसाई मत[3] के अनुसार धर्म वह वस्तु है जो विभिन्न व्यक्तियों को प्रेम, सहानुभूति और पारस्परिक कर्तव्य और अधिकार के बन्धन में बाँधती है। हमारे भारतीय दृष्टिकोण के

1. Locke. 2. The Meaning of Religion. 3. The word 'religion' is derived from Latin words (*re* and *legere* or *ligare*) which mean 'to bind back'. Therefore it means that which binds human beings to each other in the bonds of love and sympathy and mutual rights and duties—from "Essential Unity of All Religions", p 103, by Bhagavan Das—The Theosophical Publishing se, Adyar, Madras 1955.

अनुसार धर्म शब्द का अर्थ इससे बहुत व्यापक है। वस्तुतः अंग्रेजी का "रिलिजन" शब्द धर्म का पर्यायवाची नहीं हो सकता। धर्म शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार मनुष्य जो धारण करे वही धर्म है, अर्थात् धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति के कर्तव्य से है : महाभारत में धर्म की व्याख्या इस प्रकार मिलती है :—

"धारणाद् धर्म इति आहुः,
धर्मो धारयति प्रजाः।" (शान्तिपर्व—महाभारत)

इस्लामी दर्शन में "धर्म[1] या मजहब मस्कविया के विचार से लोगों को आचार की शिक्षा देने का तरीका है, उदाहरणार्थ, नमाज़ और हज़ पड़ोसी या लोकप्रेम को बड़े पैमाने पर पैदा करने का सुन्दर अवसर है।" कुछ लोग धर्म का तात्पर्य समाज सेवा से समझते है और मनुष्य के आगे समाज सेवा ही सबसे बड़ा कर्तव्य अथवा धर्म रखते हैं।

यहाँ पर 'धर्म' और 'मत' के अन्तर की ओर संकेत कर देना आवश्यक जान पडता है। 'मत' से केवल एक विशिष्ट विचारधारा का बोध होता है। इसके विपरीत धर्म बहुत ही व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है और इससे मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति की ओर संकेत मिलता है। एक धर्म में कई मत या मतावलम्बी पाये जा सकते है जैसे ईसाई धर्म में 'कैथलिक', प्रॉटेस्टैएट, मेथडिस्ड आदि, इस्लाम धर्म में शिया और सुन्नी, हिन्दू धर्म में नानकपंथी, राधास्वामी, आर्य समाज आदि आदि।

'धर्म' शब्द के अर्थ के विषय में चाहे जितना मतभेद हो, परन्तु इतना तो सभी मानते हैं कि धर्म की सहायता से व्यक्ति आध्यात्मिकता की ओर जाकर परम सुख और शान्ति को प्राप्त कर सकता है। अतएव अधिकतर लोगों ने मानव-आत्मा से उच्चतर एक परम-आत्मा (अर्थात् ईश्वर) की कल्पना की है। ईश्वर सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी माना जाता है। सब कुछ इसी से आता है और सब कुछ फिर उसी

१. राहुल सांकृत्यायन, दर्शन-दिग्दर्शन, पृ० १३०, किताब महल, इलाहाबाद, १९४७।

के यहाँ चला जाता है। विश्व का प्रत्येक कण ईश्वर का ही अंश है। 'सत्यं शिवं और सुन्दरम्' ईश्वर का ही रूप है। मानव की उन्नति "सत्यं शिवं और सुन्दरम्" की अनुभूति से ही सम्भव है। धर्म के सहारे मनुष्य की आत्मा ईश्वर के निकट आती है और मनुष्य ईश्वर को पहिचानता है। अतः धर्म को ईश्वर-प्राप्ति अथवा परम सुख और शान्ति के पाने का सर्वोत्तम साधन माना गया है।

'इस्लाम' शब्द का अर्थ बड़ा ही दिव्य और गम्भीर है। 'इस्लाम' 'साल्म' शब्द से निकला है और इसका अर्थ 'शान्ति' अथवा शान्ति पूर्वक ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना है, अर्थात् शान्तिपूर्वक अपने को ईश्वर के सम्मुख अर्पण कर देना है। अपने अहंकार को छोड़कर ईश्वर के सार्वलौकिक प्रभाव को स्वीकार करना है। 'धर्म' शब्द का भी महत्व यही है। वस्तुतः विभिन्न व्यक्तियों को कौन सी वस्तु एक साथ बाँध सकती है? उस पारस्परिक कर्तव्यपरायणता के सहारे जिसमें दूसरे के लिए प्रेम और सहानुभूति कूट-कूट कर भरी हो लोग एक दूसरे से बँध सकते हैं। इस प्रकार प्रेम और सहानुभूति के बन्धन में बँधने से लोग अहंकार को छोड़ ईश्वर में ही विलीन हो जाने की कामना करेंगे। क्रिश्चियानिटी[1] का भी निचोड़ वही है जो कि 'धर्म' का है। 'क्रिस्टोस'[2] का अर्थ 'दैवी ज्ञान[3] में सना हुआ' होता है। वैदिक धर्म का अर्थ 'ज्ञान का[4] धर्म' होता है। सनातन धर्म का तात्पर्य निरन्तर जीवित रहने वाली आत्मा का धर्म[5] अथवा मानव धर्म[6] होता है। बौद्ध धर्म का अर्थ 'बुद्धि का धर्म' होता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि धर्म का अर्थ बहुत ही विस्तृत और व्यापक है। इसके अन्तर्गत सत्यं शिवं और सुन्दरम्, प्रेम, सहानुभूति तथा जीवन की अन्य महानतम मान्यतायें निहित हो जाती हैं। धर्म का यह दृष्टिकोण ही उसे सर्वकालीन तथा सार्वभौमिक बना सकता है।

---

1. Christianity. 2. Christos. 3. Bathed in Divine wisdom. 4. Religion of Knowledge. 5. Religion of the Eternal Self. 6. Religion of Humanty and Humanism.

इस दृष्टिकोण में विश्वास रखने से ही धर्म का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध जुड़ सकता है।

शिक्षा और धर्म में सम्बन्ध[1]

शिक्षा और धर्म में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि एक तरह से दोनों का अन्तिम उद्देश्य एक ही कहा जा सकता है। परन्तु अभी तक दोनों के सम्बन्ध को ठीक-ठीक नहीं समझा जा सका है। फलतः दोनों के सम्बन्ध में मतभेद पाया जाता है। कुछ लोग बालक के शिक्षा-क्रम में धर्म को कोई स्थान नहीं देना चाहते और कुछ लोग धर्म को उच्च स्थान देना चाहते हैं। अमेरिका तथा योरोप में शिक्षा-विशेषज्ञों का एक वर्ग धर्म को शिक्षा में ऊँचा स्थान देना चाहता है। इसके प्रयास के फलस्वरूप वहाँ पर सन्डे स्कूल मूवमेण्ट[2], रिलिजस एड्केशन मूवमेण्ट[3] तथा कैरेक्टर एड्केशन मूवमेण्ट[4] आदि आन्दोलन शिक्षा में धर्म के स्थान का समर्थन करते हैं। आज के भौतिकवाद में पगा हुआ मानव कभी-कभी आध्यात्मवाद की बात अवश्य सोच लेता है। अतः आज प्रायः सभी देशों में धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा की चर्चा होती है और यह विचार किया जाता है कि स्कूलों में इसे कैसे स्थान दिया जाय। परन्तु साथ ही एक ऐसा वर्ग है जिसकी भावना आर्थिक और राजनीतिक विचारों से वशीभूत है और वह धर्म को शिक्षा में कोई स्थान नहीं देना चाहता। नीचे पहले हम धार्मिक शिक्षा के आलोचकों के तर्क को समझने का प्रयत्न करेंगे।

धार्मिक शिक्षा की कुछ आलोचनायें

१—शिक्षा में धर्म को स्थान देना अव्यावहारिक है, क्योंकि स्कूलों में विभिन्न धर्म के मानने वाले होते हैं; तो बालकों को किस धर्म के अनुसार शिक्षा दी जाय? किसी विशिष्ट धर्म या मत का अनुसरण करने

---

1. The Relation between Education and Religion. 2. Sunday School Movement. 3. Religious Education Movement. 4. Character Education Movement.

से मतभेद और कलह की आशंका है और शिक्षा-क्रम में सभी लोगों का सहयोग नहीं प्राप्त हो सकेगा।

२—धार्मिक शिक्षा में उपदेश पर अधिक बल दिया जा सकता है और साथ ही उसके अनुसार आचरण की अवहेलना की जा सकती है। धर्म के सभी वाह्य रूपों अर्थात् प्रार्थना, पूजा-अर्चना और नमाज आदि को दिखलाते हुए भी व्यक्ति का व्यवहार बड़ा अधार्मिक हो सकता है। अतः इन सबों में शिक्षा पाने से ही कोई सच्चरित्र नहीं बन सकता, जब तक कि वह अच्छे वातावरण में नहीं रहता और उसके सामने अच्छा उदाहरण नहीं है।

३—अन्वेषणों[1] से पता चला है कि कोई आदमी किसी ठीक बात को सीख लेता है इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसका व्यवहार भी तदनुसार ही होगा। धार्मिक शिक्षा में व्यवहार के स्थान पर धार्मिक ज्ञान अथवा उपदेश पर अधिक बल दिया जा सकता है। इसका फल यह होगा कि व्यक्ति ज्ञान तो प्राप्त कर लेगा, परन्तु तदनुसार व्यवहार दिखलाने में समर्थ न होगा।

४—पाप-पुण्य तथा दैवी दण्ड और पुरस्कार की विवेचना से बालक में मानसिक द्वन्द्व उत्पन्न हो सकता है और इससे उसके नैतिक विकास में बाधा पड़ सकती है। किसी विशिष्ट मत के अनुसार धर्म की व्याख्या बालक के सामने उपस्थित करना धर्म के कार्य और उसके सामाजिक मान्यताओं का गलत अर्थ उसके सामने रखना होगा।

५—स्कूलों में पढ़ने वाले बालकों में ऐसा विवेक नहीं कि वे धर्म ऐसे दुरूह विषय के गूढ़ तत्वों और मर्मों को ठीक-ठीक समझ सकें। सामान्य अध्यापक के लिए धार्मिक शिक्षा देना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि निष्पक्ष होकर धार्मिक विचारों का विश्लेषण करना सरल नहीं। धर्म के सम्बन्ध में निष्पक्ष होकर वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना अत्यन्त

---

1. *Hugh Hartshorne* and *J. Quinter Miller*: Community Organization in Religious Education, p. XXVII. Yale University Press, New Haven, 1932.

आवश्यक है। धर्म के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपना सकना बड़ा ही कठिन होता है क्योंकि इससे अपनी निजी आस्था और विश्वास की नींव भी हिल जाती है। अतः धार्मिक शिक्षा के लिए एक सामान्य अध्यापक अयोग्य है। परन्तु धर्म का शिक्षक बालकों के घनिष्ठ परिचय में इस प्रकार नहीं आता कि वह उनके जीवन और व्यवहार की बातें समझ सकें और तदनुसार धार्मिक शिक्षा का सम्बन्ध उनमें जोड़ सके। इस सम्बन्ध के अभाव में धर्म-शिक्षक के उपदेश कोरी बातें रह कर बालकों पर विशेष प्रभाव न डालेंगी।

६—धर्म का प्रधान उद्देश्य मानव को प्रेम और सहानुभूति के बन्धन में बाँधना है। परन्तु वस्तुतः धर्म ने इसके विरुद्ध ही कार्य किया है। धर्म के नाम पर अनेक युद्ध लड़े गये हैं और अनेक व्यक्तियों का वध किया गया है। धर्म के नाम पर प्रेम और सहानुभूति के स्थान पर लोगों में आपसी बैर, साम्प्रदायिकता, संघर्ष और असहिष्णुता देखी जाती है। ऐसी वस्तु-स्थिति के कारण स्कूलों में धर्म को स्थान देने का अर्थ इन अवगुणों को बालकों में फैलाना होगा।

७—धर्म व्यक्तिगत अनुभूति की वस्तु है। व्यक्ति अपनी-अपनी विशिष्ट विधि से ईश्वर की उपासना में लीन होता है। अतः सामूहिक रूप से स्कूल में बालकों को धार्मिक शिक्षा देना ठीक नहीं।

अब नीचे हम उन लोगों की धारणों की ओर संकेत करेंगे जो स्कूल में धार्मिक शिक्षा के प्रतिपादक हैं।

धार्मिक शिक्षा का समर्थन

१—धर्म मानव जीवन का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है। पशु और मनुष्य में भेद है, क्योंकि मनुष्य धर्म के आधार पर आध्यात्मवाद का चिन्तन कर सकता है। आज के वैज्ञानिक और भौतिकवाद के युग में व्यक्ति को आध्यात्मकवाद की ओर अधिक आवश्यकता है। सांसारिक सुख के साधनों से ही व्यक्ति शान्ति नहीं पा सकता, क्योंकि सांसारिक सुख का कोई अन्त नहीं। सुख में पड़ने से व्यक्ति की तृष्णा और माया-

मोह बढ़ती ही जाती है। ऐसी स्थिति में शिक्षा में धर्म की प्रतिष्ठा बड़ी आवश्यक है, क्योंकि धर्म ही एक ऐसा विषय है जो कि व्यक्ति को इस सांसारिक सुख की क्षणभंगुरता से अवगत करा सकता है। इतिहास, भूगोल, विज्ञान तथा गणित आदि विभिन्न विषय जो स्कूल में पढ़ाये जाते हैं वे बालक की केवल भौतिक आवश्यकता की पूर्ति की ओर ही नियोजित होते हैं। उनसे केवल मानसिक विकास एवं ज्ञान वृद्धि होती है, परन्तु जीवन का आध्यात्मिक अंग एकदम अछूता रह जाता है। धर्म की शिक्षा से व्यक्ति में मानवता के गुण बढ़ते हैं और उसका सर्वांगीण विकास सम्भव हो सकता है।

२—धार्मिक भावना के अभाव से ही आजकल समाज में विभिन्न बुराइयाँ दिखलाई पड़ती हैं। इन बुराइयों का परिणाम वैमनस्य, असहिष्णुता तथा स्वार्थपरता के रूप में राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में दिखलाई पड़ता है। धर्म के सहारे ही हम अपने जीवन से इन दुर्गुणों को दूर कर सकते हैं।

३—धर्म का संकुचित अर्थ नहीं लेना चाहिए। धार्मिक शिक्षा का तात्पर्य किसी विशिष्ट धर्म में शिक्षा नहीं है, वरन् इसका अर्थ विभिन्न धर्मों के निचोड़, एकता तथा समानता के गुणों के आधार पर व्यक्ति के जीवन को उच्च बनाना है। यदि धर्म का व्यापक अर्थ लिया जाय तो लोगों का आपसी बैर दूर हो जायगा और विभिन्न धर्म के मानने वाले बालकों के बीच धर्म-चर्चा की जा सकती है। यदि धार्मिक शिक्षा के अन्तर्गत कर्मकाण्ड[1] की बात न लाकर विभिन्न धर्मों में निहित समान आदर्शों की चर्चा की जाय और उन आदर्शों की आन्तरिक अनुभूति पर बल दिया जाय तो धार्मिक शिक्षा से लाभ ही लाभ होगा।

४—आज लोगों में चारित्रिक गुणों का पतन दिखलाई पड़ रहा है, क्योंकि लोगों का ईश्वर तथा धर्म के प्रति विश्वास घटता जा रहा है। शिक्षा में चरित्र-निर्माण को हम स्थान देते ही हैं। धर्म चरित्र-निर्माण

---

1. Rituals.

का मूल स्रोत माना जा सकता है। अतः शिक्षा में धर्म की शिक्षा की अवहेलना नहीं की जा सकती।

५—भारतवर्ष प्रायः धर्मप्रधान देश रहा है। धार्मिक आदर्शों के सामने भौतिक जीवन के सुख को यहाँ सदैव नीचा समझा गया है। अतः हम अपने देश में धर्मविहीन शिक्षा की कल्पना कर ही नहीं सकते। किन्तु यह याद रखना है कि यह धार्मिक शिक्षा व्यापक और मानव धर्म पर आधारित होनी चाहिए।

६—आज के युग में वैज्ञानिक तर्क, बुद्धि और भौतिकवाद का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। वे देश जो भौतिक सुख के पीछे दौड़ रहे हैं और बहुत हद तक उन्हें प्राप्त भी कर चुके हैं उनमें वास्तविक सुख और शान्ति का अभाव दिखलाई पड़ता है। इसीलिए तो उन्हें दो महायुद्धों का सामना करना पड़ा और उनमें आपसी तनातनी सदा बनी रहती है। यह देखकर कभी विचार होता है कि अपने आध्यात्मिक आदर्श को भूलकर इन देशों के अनुकरण का हमारा प्रयत्न हमें किस किनारे लगाएगा। इसका तात्पर्य यह नहीं कि आध्यात्मिकता की लपेट में भूखों मरना हमें स्वीकार है। वस्तुतः यदि आध्यात्मिकता को प्राप्त करना चाहते हैं तो सर्वप्रथम हमें अपना पेट भरना ही होगा। कहा भी है कि "भूखे भजन न होंहिं गोपाला।" अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि हम अध्यात्मवाद और भौतिकवाद में एक संतुलन प्राप्त करें। यह संतुलन हमें शिक्षा के सहारे ही प्राप्त हो सकती है और इस शिक्षा में मानव-धर्म के पुट का होना अत्यन्त आवश्यक है।

७—हमारे देश के विभिन्न शिक्षा-विशेषज्ञों ने धार्मिक शिक्षा का समर्थन किया है। इसमें सर सैयद अहमद खाँ, मदन मोहन मालवीय, राधाकृष्णन् तथा महात्मा गान्धी, रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा अरविन्द आदि जैसे प्रमुख व्यक्तियों के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लोगों के अनुसार धार्मिक शिक्षा का आधार मानवधर्म होना चाहिए और इसका रूप मौन प्रार्थना, धार्मिक नेताओं का अध्ययन तथा धर्म के मूल सिद्धान्तों का परिचय होना चाहिए,

जिससे व्यक्ति अपने व्यावहारिक जीवन में सत्य, अहिंसा तथा प्रेम आदि को अपना सके।

धर्म-शिक्षण की कुछ कठिनाइयाँ[1]

धार्मिक शिक्षा के आलोचकों और समर्थकों के पक्षों को ऊपर देखने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शिक्षा में धर्म को स्थान देना बड़ा ही आवश्यक है। परन्तु धर्म-शिक्षण में कुछ कठिनाइयाँ भी हैं। इन कठिनाइयों के निवारण पर ही धार्मिक शिक्षा का कुछ अर्थ होगा, अन्यथा लाभ के स्थान पर उससे हानि होगी। धार्मिक अनुभूति और जागृति अन्दर की वस्तु है। अतः इसे बालकों के ऊपर बाहर से लादा नहीं जा सकता। स्पष्ट है कि स्कूल के पूरे वातावरण को ही हमें ऐसा बनाना है कि बालक इससे धार्मिकता की भावना पा सके। केवल प्रत्यक्षतः धार्मिक उपदेश और आदेश के ही आधार पर हमें धार्मिक शिक्षा नहीं देनी है। धार्मिक शिक्षा का उत्तरदायित्व केवल धर्म-शिक्षक पर ही नहीं छोड़ना चाहिए, अन्यथा धार्मिक शिक्षा का प्रभाव नगण्य होगा। स्कूल में एक धार्मिक वातावरण के निर्माण के लिए स्कूल के सारे अध्यापकों का योग अत्यन्त आवश्यक है। यह योग कैसे प्राप्त किया जा सकता है? इस योग के लिए विशेषतया धर्म-शिक्षक तथा स्कूल के सभी अध्यापकों को उपदेश के साथ-साथ आचरण द्वारा भी बालकों के सामने धार्मिक जीवन का उच्च आदर्श उपस्थित करना चाहिए। यदि धार्मिक उपदेश के साथ-साथ बालक अपने अध्यापकों के जीवन में धार्मिक जीवन का सच्चा उदाहरण नहीं पाते तो धार्मिक शिक्षा का एकदम उलटा परिणाम होगा। अतः स्कूल में धार्मिक वातावरण उपस्थित करने की कठिनाई को सुलझाने में प्रत्येक अध्यापक को अपना-अपना योग देना चाहिए।

धार्मिक शिक्षा द्वारा बालकों में धर्मान्धता, अन्धविश्वास, संकुचित मनोवृत्ति तथा द्वेष की वृद्धि न हो। धार्मिक शिक्षा में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अभाव का डर है। हमें प्रयत्न करना है कि यह अभाव न आने पावे

1. Some Difficulties of Religious Education.

और बालकगण आलोचना, तर्क तथा विश्लेषण के आधार पर ही किसी दृष्टिकोण को पकड़ें।

धार्मिक शिक्षा का तात्पर्य यह नहीं कि स्कूल, मन्दिर, मसजिद और गिरजाघर का स्थान ले ले। स्कूल शिक्षा-संस्था है, और उसे हमें धर्म-संस्था नहीं बनाना है। यदि स्कूल धर्म-संस्था का काम करने लगेगा तो उससे बालक के शोषण का भय है। अतः बालकों को किसी विशिष्ट मत की ओर झुकाने के लिए स्कूल में प्रयत्न नहीं करना चाहिए। स्कूल का कर्तव्य बालकों का सर्वांगीण विकास करना है, और इस कर्तव्य के पालन में उसे धर्म के कुछ मूल सिद्धान्तों को केवल साधन के रूप में अपनाना है।

यदि धर्म-संस्था को भी एक शिक्षा-संस्था के रूप में स्वीकार करें और धर्म-संस्थायें स्कूल की तरह व्यक्तियों के सर्वांगीण विकास पर बल दें तो हमारी उपर्युक्त कठिनाई स्वतः दूर हो जायगी। वस्तुतः व्यक्ति का आध्यात्मिक उन्नयन उसके सर्वांगीण विकास का ही तो द्योतक है। अतः शिक्षा की दृष्टि से हमें धर्म-संस्थाओं को शिक्षा-संस्थाओं के रूप में ही देखना है। इसके लिए हमें धर्म के कुछ शैक्षिक कर्तव्यों को स्वीकार करना होगा। इन कर्तव्यों की ओर ही नीचे अति संक्षेप में संकेत किया जायगा।

धर्म के कुछ शैक्षिक कर्तव्य

प्रायः यह देखा जाता है कि धर्म और धार्मिक संस्थाओं द्वारा शारीरिक स्वास्थ्य के महत्व पर समुचित ध्यान नहीं दिया जाता। उनकी ऐसी धारणा है कि शारीरिक स्वास्थ्य के चिन्तन में व्यक्ति सांसारिक सुख की ओर झुकता है, और सांसारिक सुख आध्यात्मिक उन्नति में बाधक है। धार्मिक संस्थाओं को उचित है कि वे बालकों के मन में शारीरिक स्वास्थ्य और शक्तिवर्द्धन के प्रति अनुराग उत्पन्न करें, क्योंकि शरीर ही धर्म का साधन है—शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।

जब हम इहलोक की सर्वथा उपेक्षा करके परलोक-चिन्तन की हो

भावना से आक्रान्त हो जाते हैं तो हमें दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में भी कठिनाई होने लगती है और केवल हमारा ही नहीं, वरन् सारे राष्ट्र की समृद्धि का ह्रास होता है और हमारा नैतिक पतन प्रारम्भ हो जाता है। हमारे देश की वर्तमान दशा इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। अतः हमारी दृष्टि में यह जान पड़ता है कि धार्मिक-संस्थाओं का यह प्रयत्न होना चाहिए कि जन्म लेते ही बालकगण परलोक के चिन्तक न बन जाँय। उन्हें उचित है कि वे बालक के सामने जीवन का पूरा दृष्टिकोण रक्खें, जिससे अपने वैयक्तिक[1] झुकाव के अनुसार सभी अपने-अपने पथ को चुनने में समर्थ हो सकें।

धार्मिक संस्थाओं को यह न सोचना चाहिए कि विचार-स्वातन्त्र्य, तर्क, विश्लेषण तथा निरीक्षण-शक्ति के विकास से बालक धर्म से विमुख हो जायँगे। वस्तुतः ज्ञान और धर्म में विरोध नहीं। जो धार्मिक भावना वास्तविक ज्ञान पर आधारित होती है वही स्थाई होती है। अतः धार्मिक संस्थाओं को उचित है कि वे बालकों में मानसिक गुणों के विकास को प्रोत्साहन दें और उन्हें अन्धविश्वासी होने के लिए अनुप्रेरित न करें।

जीवन में सौन्दर्य और कलात्मक भावनाओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भी इनका बडा महत्व है। मन्दिरों में चित्रित तथा स्थापित मूर्तियाँ इसकी अकाट्य प्रमाण हैं। सूर, तुलसी और मीरा की सरस वाणियाँ भी इस दृष्टिकोण का समर्थन करती हैं। अतः धार्मिक संस्थाओं को उचित है कि वे बालकों में सौन्दर्य तथा कलात्मक भावनाओं का विकास करें। इन भावनाओं के समुचित विकास से बालक सदैव 'सुन्दर' का ही चिन्तन करेगा; और उसका जीवन 'सत्यं शिवं और सुन्दरम्' मय हो जायगा।

देश की वर्तमान दशा से स्पष्ट है कि हमारा नैतिक और चारित्रिक पतन हो गया है। यदि हम इस पतन से ऊपर उठ सकें तो हमारी विविध समस्याओं का समाधान स्वतः और शीघ्र ही मिल जायगा। हमारे नैतिक और चारित्रिक स्तर को ऊपर उठाने में धार्मिक संस्थायें

1. Individual Aptitude.

बड़ा योग दे सकती हैं। इस ओर ऊपर भी संकेत किया जा चुका है। बालक हमारे भावी नागरिक हैं। यदि उनकी शिक्षा का आयोजन ठीक से किया जाय तो हमारे समाज की विविध समस्यायें अपने-आप सुलझती जाँयगी। अतः धार्मिक संस्थाओं का यह कर्तव्य है कि वे बालकों के नैतिक और चारित्रिक विकास में स्कूल का साथ दें।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बालक के शारीरिक, मानसिक तथा भावनात्मक विकास में हमारे देश की विभिन्न धार्मिक संस्थायें बड़ा योग दे सकती हैं। इन संस्थाओं का उद्देश्य बालकों को अपने मत का अनुयायी बनाने का प्रयत्न न होना चाहिए; वरन् उनका प्रयत्न तो बालक के सर्वांगीण विकास में योग देना चाहिए। सर्वांगीण विकास का तात्पर्य ईश्वरप्रदत्त विविध शक्तियों का समुचित विकास करना है। यदि बालक के इस विकास की ओर धार्मिक संस्थायें समुचित योग दे सकीं तो वे अपने महान् शैक्षिक कर्तव्य का पालन करती हुई अपने वास्तविक धार्मिक कर्तव्य का भी पालन करेंगीं।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

धर्म की आवश्यकता

अप्राकृतिक वस्तुओं के समझने के क्रम में धर्म की कल्पना।

आज के वैज्ञानिक युग के मानव को भी धर्म की आवश्यकता। धर्म के सहारे संसार की स्थिरता सम्भव। धर्म से मानव हृदय में शान्ति और प्रेरणादायक उद्देश्य। मानव संस्कृति में धर्म को स्थान।

धर्म और मानव जीवन में सम्बन्ध। धर्म द्वारा शिक्षा का कार्य। धर्म और शिक्षा में सम्बन्ध।

धर्म द्वारा व्यक्ति की शिक्षा में योग

ब्राह्मण और बौद्धकालीन शिक्षा का आधार धर्म। शिक्षा का तात्पर्य धार्मिक जीवन व्यतीत करने से। शिक्षा-संस्थायें धार्मिक संस्थायें होती

थीं। पाठशाला और मकतब का मन्दिरों और मसजिदों से घनिष्ट सम्बन्ध। पाठ्यक्रम में धार्मिक बातों की प्रधानता।

योरप में भी शिक्षा पर धर्म का प्रभाव। कैथीड्रल और मॉननेस्टिक पाठशालायें।

वर्तमान युग में धार्मिक संस्थाओं का शिक्षा में रुचि। ईसाई पादरियों और धर्म प्रचारकों का कार्य। योरप और अमेरिका में शिक्षा पर धर्म का प्रभाव।

धर्म के नाम पर अत्याचार

धर्म के नाम पर सभी देशों में अत्याचार। शिक्षा पर धर्म नियन्त्रण का विरोध। धार्मिक संस्थाओं के प्रति लोगों में घृणा।

धर्म का अर्थ

कई प्रकार से व्याख्या। धर्म-कर्मकाण्ड। कर्तव्य और अधिकार के बन्धन में बाँधने वाला। जो धारण करे वही धर्म। इस्लामी दर्शन में मज़हब लोगों को आचार की शिक्षा देने का तरीका। धर्म-समाज सेवा है।

धर्म और मत में अन्तर। मत से केवल एक विशिष्ट विचार धारा का बोध। धर्म बहुत व्यापक। इससे आध्यात्मिक उन्नति की ओर संकेत। धर्म की सहायता से परम सुख की प्राप्ति।

इस्लाम का अर्थ शान्ति और ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना। क्रिश्चियनिटी के निचोड़ और धर्म में समानता। धर्म में जीवन की महानतम मान्यतायें निहित।

शिक्षा और धर्म में सम्बन्ध

घनिष्ट सम्बन्ध। दोनों का अन्तिम उद्देश्य एक ही। कुछ लोग शिक्षा में धर्म को स्थान देना चाहते हैं और कुछ लोग नहीं। आज प्रायः सभी देशों में धार्मिक और नैतिक शिक्षा की चर्चा।

१८

ार्मिक शिक्षा की कुछ आलोचनायें

१—शिक्षा में धर्म को स्थान देना अव्यावहारिक। स्कूल में विभिन्न धर्मावलम्बी।

२—धार्मिक शिक्षा में उपदेश पर अधिक बल और आचरण की अवहेलना।

३—ज्ञान और व्यवहार में सहसम्बन्ध नहीं।

४—पाप-पुण्य तथा दैवीदण्ड और पुरस्कार की विवेचना से बालक में मानसिक द्वन्द्व आने का डर।

५—सामान्य अध्यापक धार्मिक शिक्षा देने में अयोग्य और धर्म शिक्षक बालकों के घनिष्ठ परिचय में नहीं आता।

६—धर्म से आपसी बैर और साम्प्रादायिकता के बढ़ने का डर।

७—धर्म व्यक्तिगत अनुभूति की वस्तु। इसका सामूहिक रूप ठीक नहीं।

धार्मिक शिक्षा का समर्थन

१—आज के भौतिक युग में धर्म की आवश्यकता। धर्म से मानवता के गुण की वृद्धि।

२—धर्म के सहारे जीवन के दुर्गुणों को दूर कर सकना।

३—विभिन्न धर्मों में निहित समान आदर्शों की चर्चा।

४—धार्मिक शिक्षा से चरित्र-निर्माण सम्भव।

५—भारत में धार्मिक आदर्शों को सांसारिक सुख के सामने बड़ा समझा गया है। अतः हमारी शिक्षा में धर्म को स्थान आवश्यक।

६—आध्यात्मवाद और भौतिकवाद में सन्तुलन की आवश्यकता। यह धार्मिक शिक्षा से सम्भव।

७—धार्मिक शिक्षा का आधार मानव धर्म।

धर्म-शिक्षण की कुछ कठिनाइयाँ

धार्मिक अनुभूति और जागृति अन्दर की वस्तु इसे बालकों के ऊपर

बाहर से लादा नही जा सकता। स्कूल के पूरे वातावरण को धार्मिक बनाना। केवल कोरा उपदेश ही नहीं। उत्तरदायित्व केवल धर्म शिक्षकों पर ही नहीं। सारे अध्यापकों का योग आवश्यक। आचरण द्वारा आदर्श उपस्थित करना।

धार्मिक शिक्षा मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अभाव का डर। यह अभाव न आने पावे।

बालको के शोषण का भय। अतः धर्म के मूल सिद्धान्तो को सर्वांगीण विकास के हित मे ही केवल साधन के रूप मे लेना।

धर्म-शिक्षा को शिक्षा-सस्था होना चाहिये।

धर्म के कुछ शैक्षिक कर्तव्य

बालकों के मन मे शारीरिक स्वास्थ्य और शक्ति वर्द्धन के लिए रुचि उत्पन्न करना।

बालको को परलोक-चिन्तन मे रत न करना। उनके सामने जीवन का पूरा दृष्टिकोण रखना।

मानसिक गुणों के विकास के लिए बालकों को उत्साहित करना। अन्ध विश्वास से बालको को बचाना।

बालको मे सौन्दर्य और कलात्मक भावनाओं का विकास करना।

बालको के नैतिक और चारित्रिक विकास मे स्कूल को स्थान देना।

बालक के सर्वांगीण विकास में योग देना।

सहायक पुस्तकें

१—रसेल, बरट्रैण्ड : एडूकेशन ऐण्ड द सोशल आर्डर, अध्याय ८, जार्ज एलेन ऐण्ड अनविन लि० लन्दन, १६३२।

२—ब्राउन, अर्लो आयर्स : ए हिस्ट्री ऑव् रेलिजस एडूकेशन इन रीसेण्ट टाइम्स, एबिङ्गडन प्रेस, १६२३।

३—बर्ट, ई० ए० : टाइप्स ऑव् रेलिजस फ़िलॉसॉफ़ी, हार्पर, न्यूयार्क १९३९।

४—डीवी, जॉन : ए कॉमन फेथ मेल, पु० प्रेस, १९३४।

५—ममफ़ोर्ड एल० : फ़ेथ फ़ॉर लिविङ्ग, हरकोर्ट, १९४०।

६—ट्रॉउट डी० एम० : रेलिजस बीहेवियर, मैकमिलन, १९३१।

७—भगवानदास : द एशेनशियल युनिटी ऑव् ऑल रेलिजिन्स, थियसाफ़िकल सोसाइटी, मद्रास, १९५५।

८—राहुल सांकृत्यायन : दर्शन-दिग्दर्शन, किताब महल, इलाहाबाद, १९४७।

११

शिक्षा और अन्तर्राष्ट्रीयता[1]

अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रभाव का बढ़ना

विश्व के विभिन्न देश आज पहले की अपेक्षा एक दूसरे के अधिक सन्निकट हैं। यह विज्ञान का फल है। विज्ञान ने एक देश से दूसरे देश की दूरी को बहुत ही कम कर दिया है, क्योंकि आज हम २४ घण्टे में पृथ्वी के किसी भी कोने में पहुँच सकते हैं। दूसरे, विभिन्न प्रकार के वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण हमारी परस्पर-निर्भरता[2] पहले से अब बहुत बढ़ गई है। अतः एक देश से दूसरे देश में लोगों का आवागमन बढ़ गया है और एक देश दूसरे देश पर कई बातों के लिए निर्भर करने लगा है। इस प्रकार राजनीति, अर्थनीति तथा संस्कृति के क्षेत्र में पृथकता को छोड़कर अब लोग अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता[3] और सहिष्णुता[4] की ओर बढ़ रहे हैं। वर्तमान युग राष्ट्रीयता की भावना से प्रारम्भ हुआ, परन्तु बीसवीं शताब्दी में हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। फलतः अब लोग समझने लगे हैं कि संसार के सभी देशों को अब एक साथ ही चलना होगा, क्योंकि उनकी उन्नति तथा अवनति का एक दूसरे पर प्रभाव पड़े बिना न रहेगा।

---

1. Education and Internationalism. 2. Interdependence. 3. Cooperation. 4. Tolerance.

अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध की समस्या[1]

परन्तु यह सब होते हुए भी हम यह नहीं कह सकते कि संसार में आज शान्ति का राज्य है। हम दो महायुद्धों को देख चुके हैं, और उनके कुपरिणामों से अभी हम मुक्त नहीं हो पाये हैं, परन्तु तीसरी महायुद्ध की बात हम वर्षों से सुन रहे हैं, और बहुत से देशों में आपसी तनातनी बनी हुई है। इस प्रकार विभिन्न देशों में युद्धों को रोककर शान्ति स्थापित करना हमारे लिये एक शाश्वत समस्या हो उठी है। फलतः अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध की समस्या हमारे लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है।

विश्व-शान्ति की समस्या पहले राजनीतिक और आर्थिक दृष्टिकोण से समझी जाती थी। संसार को प्रतियोगिता का एक बहुत बड़ा अखाड़ा समझा जाता था, और एक राष्ट्र दूसरे को दबा कर अपने हितों की रक्षा करना चाहता था। फलतः हमें प्रथम विश्वयुद्ध देखना पड़ा। 'लीग ऑव नेशन्स' की स्थापना से यह आशा की गई कि विश्व की समस्याओं का निराकरण एक दूसरे के सहयोग तथा 'परस्पर मध्यस्थता'[2] और बात-चीत से हो जायगा। परन्तु ऐसा सोचना हमारा केवल स्वप्न था, और हमें द्वितीय विश्व युद्ध भी देखना पड़ा। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद 'युनाइटेड नेशन्स[3] आर्गनाइज़ेशन' (यू० एन० ओ०) अर्थात् 'संयुक्त राष्ट्र संघ' की स्थापना हुई है। परन्तु यह संघ भी अपने उद्देश्यों में सफल होता नहीं जान पड़ रहा है। फलतः हमें कोरिया, इन्डोचायना तथा मध्यपूर्व देशों में युद्ध देखना पड़ा। आजकल विविध राष्ट्रों में तनातनी बनी हुई है और एक राष्ट्र दूसरे से सशंक होकर अन्य राष्ट्रों से सन्धि स्थापित कर रहा है अथवा गुटबन्दी कर रहा है और अपने सैनिक शक्ति के वर्द्धन में यत्नशील है। यदि संसार के विभिन्न राष्ट्र इस प्रकार होड़ में लगे रहे तो यह कहना कठिन है कि मानव सभ्यता और संस्कृति की नाव किस किनारे लगेगी। अतः अब हमें अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध को

1. The Problem of International Understading. 2. Mutual mediation and negotiation. 3. United Nations Organization (U.N O.).

फैलाने का प्रयत्न करना चाहिए, हमें अब मानवता के नाम पर अपने राजनीतिक और आर्थिक दावों को अब छोड़ देना पड़ेगा, तभी विश्व में शान्ति सम्भव हो सकेगी। अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध को फैलाने के लिए हमें मनोवैज्ञानिक[1] और शैक्षिक[2] साधनों का सहारा लेना पड़ेगा।

भग्नाशा और शोषण की प्रवृत्ति

मनोवैज्ञानिक अन्वेषणों[3] से पता चलता है कि भग्नाशा[4] ही युद्ध की जड़ है और यह भग्नाशा 'दूषित सामाजिक[5] संगठन' से उत्पन्न होती है। जब हमारी आवश्यकताओं[6] की संख्या बढ़ जाती है और 'उनकी पूर्ति के[7] साधनों' की प्राप्ति हमें नहीं होती तो हम भग्नाशा से पीड़ित होते हैं। आज हमारी आवश्यकताओं और साधनों में एक बड़ी खाई दिखलाई पड़ती है। वैज्ञानिक आविष्कारों से हमारी सुख-सम्बन्धी अपेक्षायें[8] बढ़ गई हैं, परन्तु उनकी प्राप्ति के लिए साधनों की उपलब्धि सब को नहीं होती। फलतः हमारे समाज में भग्नाशा-ग्रस्त व्यक्तियों की बाढ़ हो रही है। जो बात एक व्यक्ति के सम्बन्ध में कही जा सकती है वही एक राष्ट्र के सम्बन्ध में भी लागू होती है। विश्व के विभिन्न राष्ट्रों में भी हम भग्नाशा का चिन्ह पा रहे हैं, और 'एक' दूसरे का शोषण प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः करने में लीन दिखलाई पड़ता है। इस शोषण की प्रवृत्ति से कोई राष्ट्र सुखी नहीं है। किसी न किसी रूप में आन्तरिक अशान्ति तो प्रायः सभी राष्ट्रों में पाई जा सकती है।

शक्ति,[9] प्रतिष्ठा[10] और लाभ[11]-प्राप्ति की प्रेरणा

वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप आज हम उत्पादन में बड़े दक्ष हो चले हैं, परन्तु इस उत्पादन का प्रभाव मानव मस्तिष्क पर क्या पड़ेगा इसकी हम विशेष चिन्ता नहीं करते। विज्ञान ने हमारे ज्ञान में वृद्धि कर,

---

1. Psychological 2. Educational. 3. Investigations 4. Frustration and Impulse for Exploitation 5. Defective Social organization. 6. Needs. 7. Means to fulfil them. 8. Exepeclations. 9. Power-motive. 10. Prestige-motive. 11. Protit-motive.

दी है और अब हम प्रकृति पर भी पर्याप्त नियन्त्रण रख सकते हैं; परन्तु साथ ही हमें अभी उसी अनुपात में मानव मस्तिष्क (अर्थात् अपने मस्तिष्क) का ज्ञान नहीं हो सका है और अभी हम मानव मस्तिष्क पर नियन्त्रण प्राप्त करना नहीं सीख सके हैं। इस प्रकार आज की सभ्यता ऐसी है कि लोगों की अपेक्षायें बहुत बढ़ गई हैं, परन्तु उनकी पूर्ति के साधन केवल कुछ लोगों को ही उपलब्ध हैं। फलतः शक्ति-प्राप्ति[1] की प्रेरणा, प्रतिष्ठा-प्राप्ति[2] की प्रेरणा और लाभ-प्राप्ति[3] की प्रेरणा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों क्षेत्रों में बेतरह फैली हुई है।

शिक्षा का दायित्व

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध की समस्या का निराकरण हमें राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों दृष्टिकोण से करना है। यदि हमारा समाज प्रतियोगिता[4] के आधार पर संगठित न होकर सहकारिता[5] के राग में पग जाय और यदि वह वस्तुतः गणतन्त्रात्मक[6] सिद्धान्तों पर आधारित हो जाय तो हमारी समस्या का समाधान स्वतः हो जायगा। हमारे समाज की विभिन्न संस्थायें, जैसे उत्पादन और वितरण के राजकीय[7] साधन, गोष्ठियाँ, विद्यालय और कुटुम्ब आदि गणतन्त्रात्मक सिद्धान्तों पर आधारित होने चाहिए, तभी हमारे समाज से भग्नाशा भाग सकती है। हमारे राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में गणतन्त्रात्मक मान्यताओं[8] का राज्य होना चाहिए, तभी मानव का कल्याण सम्भव होगा। भाग्यवश, आज संसार के प्रायः सभी प्रमुख राष्ट्र गणतन्त्रात्मक मान्यताओं के अनुसार चलने का बचन देते हैं। परन्तु केवल बचन देने से ही काम न चलेगा। बचन का कार्यान्वित होना आवश्यक है। इस बचन के कार्यान्वित करने में शिक्षा का बड़ा भारी हाथ है। शिक्षा ही एक ऐसा साधन है जिससे व्यक्ति की प्रवृत्ति को वांछित दिशा

1. Power-motive. 2. Prestige-motive 3. Profit-motive 4. Competition. 5. Cooperation. 6. Democratic Principles. 7. The Government Means of Production and Distribution. 8. Democratic Values.

की ओर झुकाया जा सकता है। स्पष्ट है कि इस क्रम में शिक्षा का बड़ा भारी दायित्व है। नीचे हम देखेंगे कि शिक्षा इस दायित्व का पालन कैसे कर सकती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आज हमें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है कि व्यक्ति समस्त संसार को एक समझे और मानव एक ईकाई में बँध जाय। शिक्षा के सहारे हमें व्यक्ति के हृदय में विश्व-नागरिकता[1], अन्तर्राष्ट्रीयता तथा मानवता के प्रति प्रेम और सहानुभूति उत्पन्न करना है। अभी तक हम शिक्षा में अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना पर विशेष बल नहीं दे सके हैं। इतिहास, भूगोल, साहित्य और विज्ञान के शिक्षण में हमारा दृष्टिकोण राष्ट्रीय ही रहा है। ऐसी संकुचित राष्ट्रीयता का परिणाम बड़ा घातक सिद्ध हुआ है, क्योंकि इसके फल-स्वरूप 'हमारा देश सब देशों से श्रेष्ठ है'—"इस भावना के वशीभूत हो एक राष्ट्र अपने प्रभाव को दूसरे राष्ट्र पर लादने का प्रयत्न करता रहा है। फलतः शोषण और प्रतिद्वन्द्विता से संसार आच्छादित हो चला और हमें दो विश्व-युद्धों का सामना करना पड़ा जिसकी ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है। शिक्षा को इस दुर्भावना को दूर करना है।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि आज की परिस्थिति की यह माँग है कि अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास किया जाय और इसके विकास में शिक्षा का सहारा लिया जा सकता है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा का सिद्धान्त क्या होना चाहिए? प्रचलित पाठ्यक्रम द्वारा इस शिक्षा को देने के लिए हमें किस विधि का सहारा लेना चाहिए? अन्तर्राष्ट्रीय भावना के विकास-क्रम में अध्यापक किस प्रकार योग दे सकता है?—ये सब समस्यायें हमारे सामने आती हैं। नीचे इन्हीं सब बातों पर अति संक्षेप में विचार किया जायगा।

अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा का सिद्धान्त

(२) अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण के विकास के लिए सर्वप्रथम हमें बालकों में

1. World Citizenship.

स्वतन्त्र विचार तथा स्वतन्त्र निर्णय करने की शक्ति उत्पन्न करनी चाहिए। सिनेमा, रेडियो, प्रेस, पुस्तक तथा नाटक आदि के सहारे व्यक्ति के विचार को आज किसी ओर भी झुकाया जा सकता है। अतः यह बड़ा आवश्यक है कि व्यक्ति में स्वतन्त्र विचार करने की शक्ति हो। इस शक्ति के सहारे व्यक्ति सभी बातों को स्वयं तौल सकेगा और सत्य और असत्य का निर्णय करेगा।

इसी सिद्धान्त से सम्बन्धित एक और भी सिद्धान्त समान रूप से महत्वपूर्ण है। वह यह कि हमारे नवयुवकों को यह समझना चाहिए कि जो सिद्धान्त एक राष्ट्र तथा एक विशिष्ट आयोजन में मानव[1] सम्बन्ध के लिए उपयुक्त हैं वे ही सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र तथा अन्य आयोजन में मानव सम्बन्धों के लिए किस प्रकार उपयुक्त होते हैं। इस समझ के विकास से ही अन्तर्राष्ट्रीय सहानुभूति और सहिष्णुता चारों ओर फैल सकेगी।

अन्तर्राष्ट्रीय भावना के विकास के लिए हमें अपने राष्ट्र-प्रेम की भावना को बदल देना होगा। राष्ट्र-प्रेम का तात्पर्य यह नहीं कि अपने राष्ट्र के अवगुणों को भी गुण समझा जाय और दूसरे राष्ट्र की अच्छाइयों को भी बुरा समझा जाय। वस्तुतः ये सब बड़े ही संकीर्ण भाव हैं। दूसरों से गुणों को सीखकर अपने राष्ट्र में उन्हें फैलाना ही सच्चे राष्ट्र प्रेम का द्योतक है।

ऊपर हम इस प्रकार की परस्पर-निर्भरता की ओर संकेत कर चुके हैं। प्रत्येक राष्ट्र किसी न किसी वस्तु के लिए दूसरे पर निर्भर रहता है। हमारी अन्ध भावनाओं ने इस सिद्धान्तों को पनपने नहीं दिया है। अन्तर्राष्ट्रीयता के हित में इस भावना का विकास करना बड़ा ही आवश्यक है। बालकों के शिक्षा-क्रम में इस पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास के लिए हमारे व्यक्तिगत और राष्ट्रीय जीवन से भय का दूर होना बड़ा ही आवश्यक है। मनुष्य को मनुष्य का

1. Human Relation.

भय बना रहता है और राष्ट्र को राष्ट्र का। इसीलिए वह दूसरे के विरुद्ध अपनी शक्ति वर्द्धन में लगा रहता है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के भय से सेना का संगठन करता है अथवा किसी 'राजनीतिक गुट' का सदस्य होकर सैनिक सन्धियाँ करता है। भय की भावना युद्ध-भावना को भी जन्म देती है। अतः शिक्षा-क्रम में हमें बालकों को यह भावना देनी है कि मनुष्य को मनुष्य के प्रति विश्वास करना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीयता की शिक्षा सामूहिक[1] उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर आधारित होनी चाहिए। संसार में जो कुछ अच्छाइयाँ या बुराइयाँ हैं। उनके लिए प्रत्येक बालक को अपने को समान रूप से उत्तरदायी समझना चाहिए। हमें अपने बालकों के हृदय में यह भाव भर देना चाहिए कि यह संसार एक है और सभी व्यक्ति एक ही विश्व के नागरिक हैं हमें बालकों को यह भाव देना है कि वे संसार के प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही कुटुम्ब का एक सदस्य समझें और उनकी कठिनाई को अपनी कठिनाई समझें। यदि इस भावना ने उनके हृदय में घर कर लिया तो अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में देर न लगेगी।

हमें अपने बालकों को समझाना है कि मित्रता की सीमा केवल अपने ही राष्ट्र तक बँधी नहीं रहनी चाहिए। मित्रता स्थापित करने के लिए उन्हें समस्त संसार का द्वार अपने लिए खुला समझना चाहिए। यदि बालकगण इस भावना को अपना सके तो उनमे सामाजिक व्यवहार,[2] मानव कल्याण[3] तथा सामाजिक उत्तरदायित्व[4] की भावना का विकास होगा।

अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए पाठ्यक्रम और शिक्षण-विधि

अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना देने के लिए हमें पाठ्यक्रम तथा शिक्षण-विधि के संगठन में कुछ परिवर्तन लाना होगा। पाठ्यक्रम में विभिन्न देशों

---

1. Collective Responsibility. 2. Social Behaviour. 3. Human welfare. 4. Social Responsibility.

के निवासियों, उनकी रहन-सहन, संस्कृति, इतिहास तथा संसार के इतिहास में उनका स्थान आदि विषयों को उचित स्थान देना होगा। इन विषयों को पढ़ाते समय इनका ठीक-ठीक ज्ञान बालकों को देना चाहिए। इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की अतिरंजना गलत होगी। इतिहास, भूगोल, विज्ञान और साहित्य की सहायता से अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास किया जा सकता है, क्योंकि इनके सहारे बालक विस्तृत संसार में प्रविष्ट हो सकता है।

बालकों में अन्तर्राष्ट्रीय भावना का विकास बहुत अंगों में अध्यापक पर निर्भर करता है। अध्यापक का निजी विश्वास, दृढ़ता तथा पटुता बालक में आवश्यक गुणों को भर सकती है। अध्यापक को प्रत्येक विषय में से सत्य को खोजकर बालकों के सामने रखना चाहिए और इस कार्य में अध्यापक का दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीयता का होना चाहिए।

प्राथमिक कक्षाओं में अन्य देश के निवासियों, उनकी रहन-सहन संस्कृति और व्यवसाय आदि के विषय में कहानियों द्वारा विद्यार्थियों को सरलता से ज्ञान दिया जा सकता है। मानवीय भूगोल पर विशेष ध्यान देना चाहिए। मानवीय भूगोल के अन्तर्गत मनुष्य का जीवन, उसकी भौगोलिक दशा, जलवायु तथा व्यापार आदि बातें आ जाती हैं। मानवीय भूगोल की ही सहायता से हम यह समझ पाते हैं कि किसी विशिष्ट स्थान का मानव एक विशिष्ट प्रकार का क्यों है। भौगोलिक दशा के ज्ञान से अन्य राष्ट्रों की क्रियाओं और नीतियों पर प्रकाश पड़ता है। भूगोल की उचित शिक्षा से विभिन्न राष्ट्रों की परस्पर-निर्भरता को बालकों को अच्छी तरह समझाया जा सकता है। भूगोल-शिक्षण से बालकों के हृदय में अन्य व्यक्तियों के लिए मैत्री भावना का विकास किया जा सकता है। इस भावना के आधार पर ही विश्व-शान्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीयता का भवन खड़ा करना सम्भव होगा।

इतिहास के सहारे भी बालकों के हृदय में कुछ भावनाओं को जागृत किया जा सकता है। इतिहास को राष्ट्रीय भावना के जागरण का ही

साधन नहीं समझना चाहिए। यह दृष्टिकोण बड़ा ही संकीर्ण होगा। अन्तर्राष्ट्रीयता के हित में हमें इतिहास में राजनीतिक तथा विभिन्न राजाओं के संकीर्ण संघर्षों के स्थान पर इतिहास के सामाजिक और सांस्कृतिक अंगों पर विशेष ध्यान देना होगा। इतिहास में हमें मानवता से सम्बन्धित विषयों का समावेश करना चाहिए। युद्धों तथा राजाओं की वंशावली पर विशेष ध्यान देना विशेष लाभप्रद न होगा। इतिहास के पाठ्यक्रम में हमें विश्व के इतिहास को समुचित स्थान देना चाहिए, जिससे बालक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को समझें और उनका आदर करें। विद्यार्थियों को विभिन्न राष्ट्रों के सामाजिक तथा नैतिक उत्थान का ज्ञान देना चाहिए। उन्हें विश्व के महान पुरुषों के जीवन के आदर्शों को पढ़ाना चाहिए। इतिहास-शिक्षण के अन्तर्गत हमें विद्यार्थियों को बतलाना चाहिए कि वर्तमान वैज्ञानिक आविष्कार, साहित्य, अनुसन्धान तथा कला आदि सारे मानव जाति की सम्पत्ति है और यह उन महान आत्माओं के परिश्रम का फल है जो अपने को सारे विश्व का समझते हैं, न कि किसी विशिष्ट देश का। इस प्रकार के इतिहास-शिक्षण से बालकों में निश्चय ही अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास होगा।

साहित्य भी अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रसार का एक अच्छा साधन है। वस्तुतः साहित्य तो मानवता की सम्पत्ति है और उसमें विश्व-बन्धुत्व, सफलता-विफलता, सुख-दुख, जय-पराजय तथा जीवन के विभिन्न संघर्षों की झलक हम देख सकते हैं। सच्चा साहित्य किसी विशिष्ट देश की सीमा में बँधा नहीं रहता। वह तो सारे विश्व की सम्पत्ति होती है, क्योंकि उसमें मानव विचारों का स्रोत रहता है। मानव विचारों से अवगत होने पर बालक अवश्य ही अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं के वशीभूत होंगे और वे सारे विश्व को ही अपना और अपने को सारे विश्व का समझेंगे।

साहित्य की तरह कला को भी अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रचार का एक साधन माना जा सकता है, क्योंकि कला में भी मानव भावनाओं का स्रोत रहता है।

अर्थशास्त्र तथा विज्ञान आदि को भी अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के प्रचार का साधन बनाया जा सकता है। एक देश में युद्ध, अकाल तथा किसी प्रकार की विपत्ति का प्रभाव दूसरे देश पर किस प्रकार पड़ता है यह बालकों को समझाया जा सकता है। किस प्रकार खाद्य-समस्या का समाधान अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ही सम्भव होता है यह अर्थशास्त्र के अध्ययन का एक मुख्य अंग होना चाहिए। विभिन्न वैज्ञानिक आविष्कारों ने विभिन्न देश के निवासियों के जीवन को परस्परनिर्भरता के बन्धन में बाँध दिया है यह विज्ञान की कक्षा में बालकों को समझाया जा सकता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रचार में विभिन्न विषयों का उपयोग किया जा सकता है।

अध्यापक का योग

अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं के प्रचार में अध्यापक के योग की ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है। वस्तुतः अध्यापक का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है। बहुत कुछ उसी पर निर्भर करता है। किसी विषय को वह विद्यार्थियों के सामने कैसे उपस्थित करता है इसका बड़ा ही प्रभाव पड़ता है। सर्वप्रथम अध्यापक का अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं में विश्वास होना चाहिए; दूसरे, इन भावनाओं को बालकों को देने की उसकी उत्कट इच्छा होनी चाहिए। अध्यापक को बालकों से कहना चाहिए कि यह विश्व एक ही है और सब लोग एक ही विश्व के नागरिक हैं। अतः संसार के किसी भाग में जन्म लेने का कोई महत्व नहीं होता। अध्यापक को बालकों को समझाना चाहिए कि जाति, वर्ण तथा धर्म आदि व्यक्ति को एक दूसरे से अलग नहीं करते; अलग करने वाली बात तो अपने-अपने नैतिक विचार होते हैं। प्रेम और सहानुभूति की कमी, अनाचार, अत्याचार तथा अन्याय आदि एक दूसरे को पृथक करते हैं। यदि इन सब के वशीभूत हो व्यक्ति काम न करे तो वह जहाँ जायगा वहाँ अपने प्रेम को फैलायगा और वह सारे संसार को ही अपना समझने लगेगा। यदि अध्यापक बालकों को इस भावना में रंग सका तो अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना ही चारों ओर दिखलाई पड़ेगी।

स्कूल का वातावरण

बालकों में अन्तर्राष्ट्रीय भावना के फैलाने के लिए स्कूल के पूरे वातावरण पर हमें ध्यान देना होगा। स्कूल के दैनिक कार्य में हमें कुछ ऐसे आयोजन करने होंगे जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं का सन्निवेश हो, जैसे स्कूल में यू० एन० ओ० परिषद तथा अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठियों के स्थापन को प्रोत्साहित करना चाहिए। इनकी बैठकों मे विद्यार्थियों के समक्ष अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं का प्रकाशन किया जा सकता है। त्यौहारों, यन्तियों तथा अन्य उत्सवों के अवसर पर वर्तमान युग के दूषणों पर प्रकाश डालते हुये अन्तर्राष्ट्रीयता का गुण वर्णित किया जा सकता है। यू० एन० ओ० के बाल-विभाग में सदस्य बन जाने के लिए विद्यार्थियों को उत्साहित करना चाहिए।

यूनाइटेड नेशन्स

यूनाइटेड नेशन्स के प्रपत्र[1] के कुछ अंग जो कि २६ जून, १६४५ को सन फ्रैन्सिस्को में स्वीकृत किये गये शैक्षिक महत्वों से परिपूर्ण हैं। ये महत्व यूनाइटेड नेशन्स के उद्देश्यों में निहित हैं, जैसे :—

१—अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की रक्षा करना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सभी राष्ट्रों के योग से आवश्यक साधनों का अपनाना। न्याय और अन्तर्राष्ट्रीय नियम के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निपटारा करना, जिससे विश्व-शान्ति भंग न हो।

२—विभिन्न राष्ट्रों के समान अधिकार तथा अपनी नीतियों के निर्धारण की पूरी स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के आधार पर परस्पर-मैत्री का सम्बन्ध जोड़ना तथा सर्वव्यापक शान्ति की स्थापना के लिए अन्य साधनों का अपनाना।

३—जाति, भाषा, धर्म और लिङ्ग पर ध्यान न देते हुये आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक समस्याओं का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सुलझाव

---

1 Article 1, Chaper 1 of the Charter.

खोजना, जिससे मानव अधिकार और मानव स्वतन्त्रता के सिद्धान्त सर्वमान्य हो जाँय।

अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध के लिए यूनेस्को का प्रयास

यूनाइटेड नेशन्स के अन्तर्गत यूनेस्को[1] नामक अर्थात् (अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-विज्ञान-संस्कृति संस्था) एक संस्था स्थापित की गई है। यूनेस्को के उद्देश्य यू० एन० ओ के संविधान के इस वाक्य[2] से स्पष्ट है कि "युद्ध का प्रारम्भ मनुष्य के मस्तिष्क से ही होता है, अतः मनुष्य के मस्तिष्क में ही शान्ति की सुरक्षा का निर्माण करना चाहिए।"

तीन विधियों से यूनेस्को अपने इस उद्देश्य के पालन की चेष्टा कर रहा है:—

१—संसार के विभिन्न राष्ट्रों में पारस्परिक ज्ञान और अवबोध उत्पन्न करना।

२—संस्कृति और शिक्षा का प्रसार करना।

३—ज्ञान की रक्षा करना, उसे बढ़ाना तथा उसका प्रसार करना।

यूनेस्को का यह प्रयत्न है कि रचनात्मक कलाओं के सृजन में व्यक्ति किसी विशिष्ट राष्ट्र, भाषा वा संस्कृति के बन्धन से अवरोधित न हों। शैक्षिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक समस्यायें जिनका रूप सार्वलौकिक है उनके निराकरण का प्रयास यूनेस्को करता है। कृषि, स्वास्थ्य, खगोल तथा कला-सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं के सुलझाव में यूनेस्को सहायता करता है। यूनेस्को के विभिन्न कार्यों से इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि शिक्षा स्थानीय तथा राष्ट्रीय सीमा को पार कर सकती है। यूनेस्को अपने सभी कार्यों में विश्व-समाज की भावना का प्रसार करता है। इस प्रसार के लिए वह राज्य, जनता, शिक्षा-विशेषज्ञों, वैज्ञानिकों, और विद्वानों को रेडिओ, सिनेमा तथा प्रेस के क्षेत्र में

---

1. United Nations Educational Scientific and Cultural Organization (UNESCO). 2. Since wars begin in the minds of men, it is in the minds of men that the defences of peace must be constructed.

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सहकार्यता को प्रोत्साहन देता है। विशेषकर शिक्षा के क्षेत्र में यूनेस्को 'सारभूत[1] शिक्षा' का विश्व में प्रसार करना चाहता है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध के लिए शिक्षा क्षेत्र में प्रयास किया जाय। साथ ही, यूनेस्को सभी सदस्य-राष्ट्रों की शिक्षा का स्तर भी ऊँचा करता है।

सन् १९४७ ई० में यूनेस्को ने 'अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा' पर विचार-विनिमय के लिए एक गोष्ठी संगठित किया था। इस गोष्ठी ने निम्नलिखित दस सिद्धान्तों की ओर संकेत किया है जिन पर माध्यमिक स्कूलों में सामाजिक विज्ञान[2] के अध्ययन के माध्यम द्वारा अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा आधारित की जा सकती है :—

१—सामाजिक विज्ञानों के शिक्षण में विश्व के सभी प्रधान अंगों के अध्ययन पर ध्यान देना चाहिए।

२—सांसारिकसम स्याओं के किसी महत्वपूर्ण अंग में रुचि लेने के लिए विद्यार्थी को प्रोत्साहित करना चाहिए।

३—संसार के भूगोल के अध्ययन पर बल देते हुए राष्ट्र की प्राकृतिक सम्पत्तियों की ओर संकेत करना चाहिए। इसमें विश्व की खाद्य-समस्या की भी बात आनी चाहिए।

४—वांछित मानव-सम्बन्धों के विकास के हित में सामाजिक विज्ञान के अध्ययन में मानव व्यक्तित्व के विकास का भी अध्ययन करना चाहिए।

५—सामाजिक विज्ञान के अध्ययन में विभिन्न मानव-समुदायों के परस्पर सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों पर बल देना चाहिए, और, वर्ण, धर्म, तथा संस्कृति के कारण आर्थिक और शैक्षिक स्तर पर जो भेद भाव माना जाता है उसे दूर करना चाहिए।

६—सामाजिक विज्ञान के अध्ययन में अन्तर्राष्ट्रीय तनाव तथा सह-

1. Fundamental Education. 2. Social Studies.

कारिता-सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करना चाहिए, और साथ ही इस सम्बन्ध में यू० एन० ओ० के कार्यों पर भी ध्यान देना चाहिए।

७—सामाजिक विज्ञान के अध्ययन में सामयिक घटनाओं और समस्याओं पर विचार करना चाहिए।

८—सामाजिक विज्ञान के शिक्षण में ठीक-ठीक बातों को प्रस्तुत करना चाहिए, परन्तु साथ ही वांछित मनोवृत्ति[1] और कौशल[2] के विकास पर भी ध्यान देना चाहिए।

९—सामाजिक विज्ञान के अध्ययन में आलोचनात्मक तर्क-शक्ति के विकास पर विशेष बल देना चाहिए।

१०—सामाजिक विज्ञान के अध्ययन में नागरिकता की शिक्षा के लिए कक्षा, स्कूल तथा समाज को प्रयोगशाला[3] के रूप में प्रयोग करना चाहिए।

यूनेस्को के कार्य-विधि से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीयता की शिक्षा के लिए हमें किस प्रकार प्रयास करना चाहिए। अतः यदि इसकी कार्य-विधि को प्रत्येक शिक्षा-केन्द्र अपनाये तो अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार शीघ्र होगा।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रभाव का बढ़ना

वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप हम एक दूसरे के निकट। हमारी परस्पर-निर्भरता। अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता और सहकारिता की ओर। चारों ओर अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रभाव।

अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध की समस्या

परन्तु आज शान्ति का राज्य नहीं। देशों में आपसी-तनातनी। अन्तर्राष्ट्रीयता की अवबोध की समस्या महत्वपूर्ण।

यू० एन० ओ० अपने उद्देश्यों में सफल नहीं। विविध राष्ट्रों में तना-

1. Attitdues. 2. Skills. 3. Laboratories.

तनी। अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध के लिए मनोवैज्ञानिक और शैक्षिक साधनों का सहारा।

भग्नाशा और शोषण की प्रवृत्ति

भग्नाशा युद्ध की जड़। दूषित सामाजिक संगठन से भग्नाशा की उत्पत्ति। आज आवश्यकताओं और साधनों में खाई। वैज्ञानिक आविष्कारों से हमारी सुख-सम्बन्धी अपेक्षाओं का बढ़ना। भग्नाशा-ग्रस्त व्यक्तियों की बाढ़। शोषण की प्रवृत्ति।

शक्ति, प्रतिष्ठा और लाभ-प्राप्ति की प्रेरणा

वैज्ञानिक आविष्कारों से उत्पादन में हमारी दक्षता, प्रकृति पर हमारा नियन्त्रण। परन्तु मानव मस्तिष्क पर नियन्त्रण नहीं। शक्ति, प्रतिष्ठा और लाभ-प्राप्ति की प्रेरणा।

अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध की समस्या का निराकरण राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों दृष्टिकोण से। सहकारिता का और गणतन्त्रात्मक सिद्धान्तों का आधार।

शिक्षा का दायित्व

मानव को एक इकाई में बाँधना। विश्व-नागरिकता तथा मानवता के प्रति प्रेम उत्पन्न करना। संकुचित राष्ट्रीयता का परिणाम घातक।

अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा का सिद्धान्त

(क) स्वतन्त्र विचार और निर्णय करने की शक्ति उत्पन्न करना।
(ख) मानव सम्बन्धों के लिए उपयुक्त सिद्धान्तों को समझना।
(ग) राष्ट्र-प्रेम की भावना को बदलना आवश्यक।
(घ) परस्पर-निर्भरता की भावना पर बल देना।
(ङ) भय को दूर करना। भय की भावना से युद्ध-भावना का जन्म। मनुष्य को मनुष्य के प्रति विश्वास करना।

सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर अन्तर्राष्ट्रीयता की शिक्षा आधारित हो। समाज की अच्छाई तथा बुराई के लिए प्रत्येक व्यक्ति

उत्तरदायी। सभी व्यक्ति एक ही विश्व के नागरिक। दूसरों की कठिनाई को अपनी कठिनाई समझना।

मित्रता की सीमा अपने ही राष्ट्र की सीमा तक न बँधी हो।

अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए पाठ्य-क्रम और शिक्षण-विधि

विभिन्न देशों के निवासियों, उनकी रहन-सहन, संस्कृति, इतिहास आदि को पाठ्यक्रम में स्थान। इनका ठीक-ठीक ज्ञान बालकों को देना। इतिहास, भूगोल, विज्ञान और साहित्य का सहारा।

अन्तर्राष्ट्रीय भावना का विकास अध्यापकों पर निर्भर। बालकों के सामने सत्य को रखना।

कहानियों द्वारा प्राथमिक कक्षाओं में बालकों को अन्तर्राष्ट्रीय बातों का ज्ञान देना। मानवीय भूगोल पर विशेष ध्यान। भूगोल की उचित शिक्षा से परस्पर-निर्भरता का ज्ञान देना।

इतिहास में मानवता से सम्बन्धित विषयों का समावेश करना। विश्व के इतिहास को स्थान। विभिन्न राष्ट्रों के सामाजिक तथा नैतिक उत्थान का ज्ञान देना। महान् पुरुषों के जीवन चरित को पढ़ाना।

अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए साहित्य अच्छा साधन। साहित्य मानवता की सम्पत्ति। साहित्य में मानव विचारों का स्रोत।

कला भी अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रचार का साधन।

अर्थशास्त्र और विज्ञान अन्तर्राष्ट्रीयता-भावना के प्रचार का साधन।

अध्यापक का योग

अध्यापक पर ही बहुत कुछ निर्भर। उसका अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं में विश्वास होना आवश्यक।

स्कूल का वातावरण

स्कूल के पूरे वातावरण में अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं का संचार होना। यू० एन० ओ० परिषद् तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्लब। वर्तमान युग के दूषणों पर प्रकाश डालना।

यूनाइटेड नेशन्स

इसका प्रपत्र शैक्षिक महत्वों से परिपूर्ण।

अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध के लिये यूनेस्को का प्रयास

संसार के विभिन्न राष्ट्रों में पारस्परिक अवबोध उत्पन्न करना। संस्कृति और शिक्षा का प्रसार। ज्ञान की रक्षा करना। सार्वलौकिक शैक्षिक, सांस्कृतिक तथा वैज्ञानिक समस्याओं का निराकरण विश्व-समाज की भावना का प्रसार। सारभूत शिक्षा प्रसार।

सामाजिक विज्ञान के अध्ययन के लिए दस सिद्धान्तों का निर्माण।

यूनेस्को की कार्य-विधि से अन्तर्राष्ट्रीयता की शिक्षा-प्रणाली का हमें ज्ञान होता है।

सहायक पुस्तकें

१—कैन्ट्रिल, एच०, टेन्शसन्स दैट कॉज़ वार, यूनिव० ऑव् इलीन्वाय, १६५०।

२—एडूकेशन पॉलिसीज़ कमीशन : (एन ई ए) प्वाइन्ट फ़ोर ऐएड एडूकेशन, वाशिङ्गटन, डी० सी, १६५०।

३—क्लिनवर्ग, ओ० : टेशन्सन्स अफेक्टिङ्ग इन्टरनेशनल अण्डरस्टैडिङ्ग, बुलटिन नं० २, द सोशलसाइन्स रीसर्च कौन्सिल, १६५०।

४—यूनेस्को : फण्डामेण्टल एडूकेशन, मैकमिलन, न्यूयार्क, १६४७।

५—यूनेस्को : वर्ल्ड कम्यूनिकेशन, कोलम्बिया यूनिव० न्यूयार्क, १६५२।

६—मूर० सी० बो० ऐण्ड कोल, डब्लू० ई० : सोशियॉलॉजी इन एडूकेशनल प्रैक्टिस, अध्याय १३, हूफ्टन मिफ़्लिन कम्पनी, न्यूयार्क १६५२।

७—सईदीन, के० जी०, एडूकेशन फॉर इन्टरनेशनल अण्डरस्टैन्डिङ्ग, हिन्द किताब लि० बम्बई, १६४८।

२०

शिक्षा : चल-चित्र और नभवाणी[1]

अन्वेषणों से पता चला है कि चलचित्र देखने वाले नवयुवकों में अधिकांश लोग चलचित्र इसलिए जाते हैं, क्योंकि वह मनोरंजन का एक सरल और सस्ता साधन है। समाज की विषमता ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है और व्यक्ति का कार्य ज्यों-ज्यों अधिक विशेषित[2] रूप धारण करने लगता है, व्यक्ति को मनोरंजन की आवश्यकता का अत्यधिक अनुभव होने लगता है। यह मनोरंजन किसी प्रकार के खेल, इधर-उधर मनोरंजन के स्थान पर जाना अथवा चल-चित्र के द्वारा प्राप्त करने का व्यक्ति प्रयत्न कर सकता है। मनोरंजन द्वारा भग्नाशा, थकान तथा जीवन की अन्य कठिनाइयों से थोड़ी देर के लिए व्यक्ति अवकाश पा जाता है और उसे बड़े सन्तोष का अनुभव होता है। इस दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि चल-चित्र मानसिक स्वास्थ्य के हित में कुछ लाभप्रद है। परन्तु इस लाभ के अतिरिक्त कुछ हानियाँ भी हैं जिन पर हमारा ध्यान अवश्य जाना चाहिए। चल-चित्र से व्यक्ति कुछ ऐसे विचारों को ग्रहण कर सकता है जिससे उसके चरित्र पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है। चलचित्र से दूसरी हानि यह है कि अपने मनोरंजन के लिए व्यक्ति उस पर इस प्रकार निर्भर हो सकता है कि अन्य साधनों की प्राप्ति अथवा चिन्तन के लिए वह एकदम असमर्थ हो सकता है। इस अध्याय में हम चल-चित्र के विविध लाभ और हानियों पर दृष्टिपात नहीं कर सकेंगे।

1. Education : Motion Picture and Radio. 2. Specialized.

हमारा प्रयत्न यहाँ केवल स्कूल में उसके प्रयोग से लाभ और हानियों के संक्षिप्त विवेचन से ही रहेगा।

क—शिक्षा और चल-चित्र[1] या 'मोशन पिक्चर'

चल-चित्र का विकास बीसवीं शताब्दी की एक अद्भुत देन है। इसके आविष्कार से सारे संसार के मनोरंजन के साधनों में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है, और अब शिक्षा-क्षेत्र में भी इसके उपयोग की महत्ता को लोग स्वीकार करने लगे हैं। चल-चित्र के शैक्षिक उपयोगिता से इसके आविष्कारक बहुत पहले से ही परिचित थे, परन्तु अब तक इसका द्रुततम विकास मनोरंजन के ही क्षेत्र में हुआ है, तथापि शिक्षा के क्षेत्र में भी चल-चित्र का अब प्रयोग किया जाने लगा है। इस क्षेत्र में अमेरिका अग्रगण्य है। हमारे देश में तो केवल राजकीय संस्थाओं द्वारा ही कदाचित् कुछ स्कूलों को प्रयोग के लिए कुछ चल-चित्र मिल जाते हैं, परन्तु अभी तक विशेष चल-चित्र के उपलब्ध न होने से हमारे देश के स्कूलों में इसका प्रयोग नहीं के बराबर है।

शैक्षिक क्षेत्र में चल-चित्र के प्रयोग के लाभ[2] और सीमायें[3] दोनों उसी प्रकार से हैं जैसे किसी भी दूसरे विधि अथवा प्रणाली के होते हैं। नीचे हम इसके लाभ और सीमाओं पर ही दृष्टिपात करेंगे।

चल-चित्र से शैक्षिक लाभ

१—चल-चित्र की सहायता से 'ध्वनि'[4] और 'रंग'[5] दोनों कक्षा में आ जाता है और इससे एक ऐसी वास्तविकता[6] का बोध होता है जो और किसी विधि से सम्भव नहीं है।

२—जो प्रक्रियायें बहुत काल तक चलती रहती हैं और जो देश के विभिन्न स्थलों पर घटित होती हैं उन्हें कक्षा में लाने के लिए चल-चित्र के अलावा दूसरा कोई साधन नहीं है। किसी भी फैक्टरी, मिल, खान,

---

1. Education and Motion Picture. 2. Advantages. 3. Limitations. 4. Sound. 5. Colour. 6. Realism.

अथवा कार्य-क्षेत्र की प्रक्रिया को चल-चित्र की सहायता से कक्षा में लाकर विद्यार्थियों को तत्सम्बन्धी बातें बड़ी अच्छी तरह समझाई जा सकती हैं।

३—प्रकृति तथा कुछ उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में कुछ प्रक्रियायें इतनी शीघ्रता अथवा मन्द गति से चलती हैं कि हमारी आँखें उन्हें अच्छी तरह समझ नहीं सकतीं, परन्तु चल-चित्र की सहायता से इसे सम्भव किया जा सकता है।

४—सामान्य शिक्षण-क्रम में चल-चित्र की सहायता से छात्रों की रुचि बढ़ जाती है, क्योंकि चल-चित्र के विविध दृश्य तथा उसकी गतियाँ उनके ध्यान को बरबस अपनी ओर खींच लेती है। इस प्रकार सीखना उनके लिए मनोरंजन हो जाता है।

५—भूतकाल की घटनाओं को नाटक के रूप में चल-चित्र की सहायता से विद्यार्थियों को समझाया जा सकता है। जैसे पन्द्रहवीं शताब्दी में किसी विशिष्ट स्थल के निवासियों की रहन-सहन कैसी थी इसे नाटक के रूप में चल-चित्र द्वारा कक्षा में उपस्थित किया जा सकता है।

६—चल-चित्र की सहायता से आवश्यकतानुसार किसी वस्तु के आकार को बढ़ा अथवा घटा कर कक्षा में रक्खा जा सकता है। जैसे, चल-चित्र में हम केवल रक्त-संचार की प्रक्रिया को ही नहीं, वरन् रक्त में स्थित सफेद और लाल कीटाणुओं[1] को भी देख सकते हैं। इसी प्रकार दूरबीन से भी जो वस्तुएँ हम नहीं देख पाते उन्हें हम चल-चित्र की सहायता से कक्षा में दिखला सकते हैं।

७—प्रति व्यक्ति के हिसाब से कम ही दाम में चल-चित्र एक बड़ी संख्या के दर्शकों के यहाँ पहुँच जाता है। मान लीजिए, यदि किसी चल-चित्र के बनाने में एक लाख रुपया खर्च हुआ और उसे एक लाख बालकों को दिखाया जा रहा है तो प्रति व्यक्ति खर्च एक ही रुपया पड़ा और यदि वह चल-चित्र पाँच साल तक चले तो प्रति व्यक्ति खर्च $\frac{1}{5}$ रु० आया।

1. White and red corpuscles.

८—चल-चित्र की सहायता से अपढ़ के पास भी विचारों को पहुँचाया जा सकता है। कक्षा में सबसे मन्द विद्यार्थी भी यह बतला सकता है कि चल-चित्र में उसने क्या देखा। स्पष्ट है कि चल-चित्र की सहायता से तीव्र और मन्द बालकों के अनुभव में आवश्यकतानुसार वांछित समता लाई जा सकती है। यह ध्यान देने की बात है कि जनता को शिक्षित करने के लिए सोवियत रूस में चल-चित्र का बहुत ही उपयोग किया गया है।

९—चल-चित्र से कक्षा में छात्रों को सौन्दर्यबोधक और सुखद अनुभव दिये जा सकते हैं।

१०—चल-चित्र की सहायता से विद्यार्थियों को वस्तु, विचार और घटना के परस्पर-सम्बन्ध को समझाया जा सकता है। जैसे, चल-चित्र की सहायता से कपास की उपज, रुई का निकालना, कपड़ों का बुनना, उन्हें बाजार में बेचना तथा दर्जी के यहाँ उनका सीना दिखलाया जा सकता है।

अब नीचे चल-चित्र की सीमाओं पर विचार किया जायगा।

चल-चित्र की सीमाएँ[1]

१—शिक्षण में जिन साधनों का उपयोग किया जाता है उनमें चल-चित्र में सबसे अधिक दाम लगता है। अतः प्रत्येक स्कूल के लिए यह उपलब्ध नहीं हो सकता। ऊपर भी इस ओर संकेत किया जा चुका है।

२—चल-चित्र मनोरंजन का साधन है। अतः बहुत सम्भव है कि कुछ शिक्षक इसके शैक्षिक महत्व पर समुचित ध्यान न देकर इसे मनोरंजन का ही एक साधन मान लें।

३—चल-चित्रों से विद्यार्थियों को समय का गलत अनुमान हो सकता है। उदाहरणार्थ, यदि एक शताब्दी की कुछ घटनायें आधे घण्टे में उपस्थित की गईं तो विद्यार्थी यह अनुमान कर सकता है कि वास्तविक जीवन

1. Limitations.

में भी उनके घटने में आधा ही घण्टा लगा है। दूसरे, चल-चित्र घटना के बाद दूसरी घटना को देख कर विद्यार्थी गलत समझ सकता है कि उनके कारण में परस्पर-सम्बन्ध है।

४—चल-चित्र में छोटी-छोटी वस्तुओं को बड़े आकार में दिखलाया जाता है इससे विद्यार्थियों को आकार का गलत ज्ञान हो सकता है—वे सोच सकते हैं कि वे वस्तुएँ उतनी ही बड़ी होती हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक स्टैनली हॉल को यह ज्ञात हुआ कि एक स्कूल के प्रारम्भिक कक्षाओं के विद्यार्थी गाय को चूहे के बराबर बड़ा समझते थे, क्योंकि उनकी पाठ्य-पुस्तक में गाय का चित्र चूहे इतना बड़ा दिया गया था।

५—चल-चित्र के उपलब्ध रहने पर प्रत्यक्ष अनुभव के लिये सुयोग रहने पर भी शिक्षक उसी के उपयोग की ओर झुक सकता है। किसी फैक्टरी की प्रक्रिया-सम्बन्धी चल-चित्र दिखलाना व्यर्थ होगा जब पास की किसी फैक्टरी में वहाँ की प्रक्रियाओं को देखने के लिये विद्यार्थियों को भेजा जा सकता है। जीवन की वास्तविक परस्थिति अथवा अनुभव की बराबरी पुस्तक अथवा चल-चित्र नहीं कर सकते।

६—चल-चित्र सामूहिक अध्ययन का ही एक साधन है, परन्तु कभी-कभी किसी बात को समझने के लिये व्यक्तिगत अध्ययन भी आवश्यक हो सकता है। सम्भव है कि जब चल-चित्रों का आधिक्य हो जाय तो उनका व्यक्तिगत अध्ययन भी सम्भव हो जाय, परन्तु अभी तक तो यह इस प्रकार व्यावहारिक नहीं हो सका है।

स्कूल-कार्य में चल-चित्र से सहायता

अब तक पाश्चात देशों (विशेषकर अमेरिका) के स्कूलों में चल-चित्र का उपयोग बालकों को विभिन्न बातों सम्बन्धी ज्ञान देने के लिये किया गया है। बहुत से लोगों की धारणा है कि चल-चित्र की सहायता से स्वास्थ्य, सामयिक देशी और विदेशी घटनायें, राजनैतिक सिद्धान्त, सामाजिक और आर्थिक समस्यायें, तथा मानव-सम्बन्ध आदि विषयक बातें विद्यार्थियों को सरलता से समझाया जा सकता है। इस प्रकार चल-चित्र

बालकों को नये-नये अनुभव तथा सामाजिकता और नैतिकता की चेतनता दे सकता है।

अन्वेषणों से पता चला है कि घण्टों के पढ़ने से बालक जो बातें नहीं सीख पाते उन्हें वे आधे ही घण्टे में चल-चित्र की सहायता से समझ सकते हैं। संसार ज्ञान से इतना भरा हुआ है कि ज्ञान प्राप्त करने में समय की जो कुछ भी बचत होती वह बहुत ही मूल्यवान है।

चल-चित्र की सहायता से विभिन्न विचारों में एक सम्बन्ध सरलता से जोड़ा जा सकता है।

शिक्षा-विशेषज्ञ स्कूल में वास्तविकता के लाने पर बल देते हैं। चल-चित्र से कक्षा में कुछ वास्तविकता लाई जा सकती है।

चल-चित्र की सहायता से विद्यार्थी कला की रसानुभूति कर सकते हैं।

चल-चित्र मन्द और तीव्र दोनों प्रकार के विद्यार्थियों के लिये समान रूप से रुचिकर होता है। अतः इसकी सहायता से दोनों को पढ़ाया जा सकता है।

नेत्र-दोष, भाषा की कठिनाई, पढ़ने की गलत विधि, मन्द बुद्धि तथा संवेगात्मक धक्के आदि के कारण कोई विद्यार्थी किसी बात के समझने में असमर्थ हो सकता है। चल-चित्र की सहायता से इन कठिनाइयों को बहुत कुछ दूर किया जा सकता है। इसका अर्थ यह नहीं कि एक मन्द बुद्धि बालक चल-चित्र से उतना ही लाभ उठा सकता है जितना कि एक तीव्र बुद्धि बालक। तीव्र बुद्धि बालक स्वभावतः चल-चित्र से अधिक लाभ उठायेगा, क्योंकि अपेक्षाकृत उसकी पृष्ट-भूमि तथा समझने की शक्ति मन्द बुद्धि वाले से अच्छी है।

परन्तु हाँ, यह सत्य है कि पुस्तक पढ़ने की अपेक्षा मन्द बुद्धि बालक चल-चित्र से अधिक लाभ उठा सकता है।

कुछ शैक्षिक चल-चित्रों के प्रकार

शैक्षिक चल-चित्र प्रायः उन चल-चित्रों को कहा जाता है जिन्हें प्रायः विद्यार्थियों को शिक्षा देने के उद्देश्य से ही तैयार किया जाता है।

अमेरिका में तैयार किये जाने वाले शैक्षिक चल-चित्र प्रायः छः प्रकार के होते हैं :—१—कक्षा चल-चित्र[1], २—औद्योगिक चल-चित्र[2], ३ स्कूल में बनाया[3] हुआ चल-चित्र, ४—वास्तविक जीवन का चल-चित्र[4], ५—समाचार वाला[5] चल-चित्र और ६—चल-चित्र नाटक[6]। नीचे प्रत्येक के क्षेत्र की ओर संकेत किया जा रहा है। कक्षा चल-चित्र का सम्बन्ध कक्षा में किसी विषय के शिक्षण से रहता है। जो व्यक्ति स्कूल की आवश्यकताओं से अवगत रहते हैं वे ही इसे बना सकते हैं। औद्योगिक चल-चित्र का प्रधान उद्देश्य विज्ञापन होता है और इसमें फैक्टरी और मिल के मालिकों की रुचि काम करती है। औद्योगिक चल-चित्रों में विज्ञापन के क्रम में बालकों की दृष्टि में कुछ अवांछित बातें भी आ जाती हैं। अतः स्कूल में उनके उपयोग में सावधानी की आवश्यकता होती है। विद्यार्थियों के कार्य-सम्बन्धी (जैसे, खेल तथा बाहरी यात्रा) चल-चित्र कुछ स्कूलों द्वारा बनाये जाते हैं। कुछ स्कूल कक्षा-शिक्षण के लिए भी अपने यहाँ चल-चित्र बनाते हैं। देश के शासक विज्ञापन के लिए स्कूल में बनाये हुए चल-चित्रों का बड़ा उपयोग करते हैं। वास्तविक जीवन के चल-चित्रों का उपयोग युद्ध-काल में अधिक किया गया है, जैसे सैनिकगण और नागरिक एक दूसरे के कार्य के महत्व को युद्ध के सम्बन्ध में समझ सकें। अब इनका प्रयोग स्कूलों में भी किया जाता है। समाचार वाले चल-चित्र में देशी और विदेशी समाचार रहते हैं और स्कूल में उनका उपयोग सामाजिक विज्ञान की कक्षाओं में किया जाता है। चल-चित्र नाटक में प्रसिद्ध छोटे-छोटे नाटकों को स्थान दिया जाता है। इनका प्रयोग स्कूल में बड़े-बड़े समारोहों के अवसर पर किया जाता है।

चल-चित्र के कुछ विशेष उपयोग

कक्षा-शिक्षण के अतिरिक्त चल-चित्रों का प्रयोग स्कूल में कुछ अन्य कार्यों के लिए भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, व्यावसायिक[7]

1. Classroom films. 2. Industrial films. 3. School made films, 4. Documentary films. 5. Newsreel. 6. Photoplays. 7. Vocational Guidance,

निर्देशन के सम्बन्ध में चल-चित्रों की सहायता ली जाती है। इस सम्बन्ध में चलचित्रों द्वारा विद्यार्थियों को किसी उद्योग या धन्धे के बारे में इन सब बातों का ज्ञान दिया जाता है :—१—किसी उद्योग या धन्धे के लिए किस प्रकार की ट्रेनिङ्ग अथवा शिक्षण की आवश्यकता है, २—आवश्यक व्यक्तिगत गुण, ३—किस प्रकार के कार्य उस धन्धे में बहुधा करने होंगे, ४—धन्धे का सामाजिक महत्व क्या है, और ५—धन्धे में आगे बढ़ने के लिए क्या अवसर है ?

विद्यार्थियों को पाठ्यविष्यान्तर[1] क्रियाओं को सिखाने के लिए चल-चित्रों को सहायता ली जा सकती है। अमेरिका के स्कूलों में चल-चित्रों का इस प्रकार उपयोग किया जाता है। बेसबॉल, फुटबॉल, हॉकी और तैरना आदि सिखाने में चल-चित्र बड़े ही उपयोगी वहाँ माने जाते हैं।

अपने कार्यों का विज्ञापन करने अर्थात् अपने नाम बढ़ाने के लिए स्कूल चल-चित्रों की सहायता लेते हैं।

प्रौढ़[2] शिक्षा के क्षेत्र में चल-चित्र की सहायता बड़ी ही महत्वपूर्ण मानी जा सकती है। चल-चित्र में बहुत से ऐसे विचार और समस्यायें मिलते हैं जिन पर विचार-विमर्श किया जा सकता है। प्रौढ़ शिक्षा के लिए उपयुक्त अनेक चल-चित्र आजकल अमेरिका में उपलब्ध हैं, जैसे, स्वास्थ्य तथा नागरिकता आदि सम्बन्धी।

अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के प्रसार के लिये चल-चित्र की सहायता बहुत ही लाभप्रद है। युद्ध के लिये जिन-जिन नये अस्त्रों का आविष्कार किया गया है उन्हें समझना एक व्यक्ति के लिये आवश्यक समझा जा सकता है। स्कूल को यह उत्तरदायित्व लेना चाहिये कि वह भावी नागरिकों को युद्ध की निरर्थकता तथा उसमें नष्ट होने वाले अतुल धन को समझावें। इस सन्बन्ध में अमेरिका में कई रोचक चल-चित्र तैयार किये गये हैं।

चल-चित्र की सहायता से पढ़ाना

कक्षा में चल-चित्रों की सहायता से पढ़ाने के लिये कुछ सावधानी की

1. Extra-curricular Activities. 2. Adult Education.

आवश्यकता है। चल-चित्रों के सम्बन्ध में यह न सोचना चाहिये कि उन्हें विद्यार्थियों को केवल दिखला देने से ही काम चल जायगा। शिक्षक को यह देखना है कि विद्यार्थी चल-चित्र को कक्षा में मनोरंजन का एक साधन ही न समझ लें। अतः उसे सिखलाना होगा कि चल-चित्र को वह शिक्षण की एक विधि समझे। चल-चित्र के उपयोग में दो प्रधान उद्देश्यों को रखना चाहिये—(१) साधारण निष्कर्ष और (२) कुछ विशिष्ट बातों का ज्ञान उदाहरणार्थ, दक्षिण भारत सम्बन्धी कोई चल-चित्र दिखलाते समय निम्न-लिखित साधारण निष्कर्षों को निकालने के लिये विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित किया जा सकता है—

१—दक्षिण भारत के राज्यों की स्थिति को विद्यार्थियों को ठीक-ठीक समझाना।

२—इस भाग की पैदावार से उन्हें परिचित करना।

३—इस भाग की कुछ सामाजिक समस्याओं की ओर विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित करना।

४—इस भाग के कुछ प्रसिद्ध नेताओं से विद्यर्थियों को परिचित करना।

विशिष्ट बातों के सम्बन्ध में निम्नलिखित पर विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित किया जा सकता है—

१—इस भाग को वह उपज जो अन्य स्थानों को भेजी जाती है, तथा

२—वे वस्तुएँ जो यहाँ दूसरे भाग से मँगाई जातीं हैं आदि, आदि।

इस प्रकार बालकों के सामने कुछ विशिष्ट उद्देश्यों को स्पष्टतः रख-कर शिक्षक को चल-चित्र का प्रयोग करना चाहिये।

चलचित्र को कक्षा के सामने उपस्थित करने के पूर्व शिक्षक को उसका अलग से अच्छी तरह अध्ययन कर लेना चाहिए। उसे पहले ही यह समझ लेना चाहिये कि चल-चित्र में आये हुए किन दृश्यों, शब्दों तथा बातों की पुनर्व्याख्या बालकों के लिये करनी होगी। इस प्रकार की तैयारी से विद्यार्थियों का बड़ा ही लाभ होगा।

को यह समझना चाहिए कि शिक्षण के किस स्थान पर अर्थात्

प्रारम्भ, मध्य अथवा अन्त में—चल-चित्र का उपयोग करना चाहिये। उदाहरणार्थ 'अणुशक्ति'[1] पर वाला चल-चित्र पाठ के अन्त में ही दिखलाना उचित होगा, क्योंकि 'अणु शक्ति' के बारे में अच्छी तरह पढ़ लेने के बाद चल-चित्र से उसकी और पुष्टि की जा सकती है। बहुत सम्भव है कि प्रारम्भ में दिखलाने से विद्यार्थियों के समझ में ही अणुशक्ति-सम्बन्धी चल-चित्र न आवे।

जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है कि कुछ विद्यार्थी चल-चित्र को अपने मनोरंजन का एक साधन मान सकते हैं। अतः चल-चित्र को शिक्षण विधि का एक अंग मानने के लिए विद्यार्थियों को तैयार करना चाहिए। चल-चित्र के उद्देश्य और विषय के अनुसार विद्यार्थियों को कुछ लिखने, पढ़ने या करने को देना चाहिए। ऐसा करने से विद्यार्थियों के मन से यह धारणा जाती रहेगी कि कक्षा में प्रयुक्त चल-चित्र उनके मनोरंजन का साधन है।

शिक्षक को यह ध्यान रखना है कि जिस चल-चित्र के देखने से और आगे सीखने को प्रेरणा नहीं मिलती वह शिक्षण-विधि के रूप में निम्न कोटि का है। अतः विद्यार्थियों को आगे सीखने की उसे अवश्य प्रेरणा देनी चाहिए। इस प्रेरणा में किसी प्रकार का परीक्षण करना, यात्रा करना, कोई वस्तु बनाना, कुछ लिखना या पढ़ना हो सकता है। ऊपर भी इस ओर संकेत किया जा चुका है।

विद्यार्थियों के आदर्श, ज्ञान और अच्छी आदतों के निर्माण में जो चल-चित्र जितना ही योग देता है उसे उतना ही उपयुक्त समझना चाहिए। अतः विद्यार्थियों की परीक्षा के आधार पर यह निश्चय कर लेना चाहिए कि इस दृष्टिकोण से कोई विशिष्ट चल-चित्र उपयुक्त है वा नहीं।

(ख) शिक्षा और नभवाणी या रेडियो[2]

नभवाणी अथवा रेडियो कहने में जितना समय लगता है उससे कम

1. Atomic Energy. 2. Education and Radio.

ही समय में रेडियो सारे पृथ्वी की यात्रा कर लेता है, अर्थात् एक सेकेण्ड से भी कम समय में रेडियो की सहायता से हम संसार के किसी भी कोने में और से समाचार भेज और पा सकते हैं। अमेरिका में तो प्रायः घर-घर में रेडिओ है। हमारे देश के शहरों में अब तो रेडियो की संख्या बढ़ती जा रही है। देहातों में भी कुछ लोग बैटरी-रेडियो का उपयोग करने लगे हैं। ग्राम्य-सभा के द्वारा सरकार गाँवों में भी रेडियो का प्रचार कर रही है। हमारे देश के गाँव और शहर के हाई स्कूलों में भी रेडियो रखने की प्रथा चल पड़ी है। देश के विभिन्न रेडियो स्टेशन से स्कूलों के लिए विशेष कार्यक्रम का आयोजन किया जाता है। यहाँ हम यह समझने का प्रयास करेंगे कि स्कूल के कार्यक्रम अर्थात् शिक्षण-प्रणाली के क्रम में रेडिओ का क्या स्थान है। सर्वप्रथम हम रेडिओ से लाभ पर दृष्टिपात करेंगे।

रेडियो से शैक्षिक लाभ[1]

१—रेडियो की सहायता से किसी स्थल पर होने वाली घटना का वर्णन अथवा दूर से किसी की भी वाणी कहीं से भी सुनी जा सकती है। हमारे रेडिओ में रोज ही समाचार आते हैं। अपने देश के विभिन्न स्थलों से समाचार, भाषण अथवा संगीत आदि हम नित्य अपने रेडिओ पर सुनते हैं।

२—रेडियो से श्रोता में यह भाव पैदा होता है कि मानो घटना-क्रम में वह भी सम्मिलित है।

३—रेडिओ से हममें संवेगात्मक जागृति होती है। रेडियो द्वारा श्रोताओं में वांछित भाव उत्पन्न किया जा सकता है। रेडियो की सहायता से बच्चों में हम किसी वांछित आदर्श अथवा आदत की नींव डाल सकते हैं।

४—रेडियो की सहायता से देश-विदेश के विद्वानों, वैज्ञानिकों, शिक्षकों तथा स्वास्थ्य-विशेषज्ञों की वाणी को कक्षा में लाया जा सकता है।

५—रेडियो के आने से 'विचार-विनिमय' में 'स्थान की दूरी' कोई

---

1. Educational Advantages of Radio.

विशेष अड़चन नहीं डालती। अणुबॉम के जो विस्फोट किये जाते हैं उन्हें रेडियो की सहायता से संसार के करोड़ों व्यक्ति सुनते हैं।

६—रेडियो से कक्षा-शिक्षण-विधि में एक मनोरंजक परिवर्तन आ जाता है।

७—रेडियो का उपयोग बड़े-बड़े विद्यार्थी-समूह के लिए किया जा सकता है।

रेडियो की सीमायें

रेडियो की कुछ सीमायें भी हैं जिनके कारण इसका अत्यधिक प्रयोग अवरोधित हो जाता है। इन सीमाओं की ओर नीचे अति संक्षेप में संकेत किया जा रहा है:—

१—हमारे गरीब देश के लिए रेडियो इतना महँगा है कि अभी तक प्रत्येक स्कूल के लिए इसका रखना सम्भव नहीं हो सका है।

२—रेडियो के सारे कार्य-क्रम स्कूल के लिए सुलभ नहीं होते, क्योंकि जब रेडियो के प्रधान कार्य-क्रम चलते हैं उस समय स्कूल प्रायः बन्द ही रहता है, इसलिए तो कुछ स्टेशनों से स्कूल के लिए विशेष कार्य-क्रम का आयोजन किया जाता है। हाँ, यह ठीक है कि टेपरेकर्डर[1] से रेडियो के किसी भी कार्य-क्रम को रेकर्ड करके स्कूल में सुनाया जा सकता है। परन्तु टेपरेकर्डर इतना महँगा है कि बहुत कम ही स्कूल उसे खरीद सकते हैं।

३—रेडियो केवल 'एक ओर से वार्ता'[2] का साधन है। अतः श्रोता-गण रेडियो से पैदा हुई किसी जिज्ञासा का समाधान रेडियो पर बोलने वाले से नहीं कर सकते। अतः जब कोई अन्य अधिक प्रभावशाली साधन कक्षा के उपयोग के लिए उपलब्ध हों तो रेडियो का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

रेडियो द्वारा शिक्षण के कुछ उद्देश्य[3]

नीचे रेडियो द्वारा शिक्षण के उद्देश्यों की ओर संकेत किया जायगा।

1. Tape recorder. 2. One-way communication 3. Some Objects of Radio Instruction.

कक्षा कार्य को और परिपूर्ण बना सकना

रेडियो-शिक्षण 'शिक्षक-शिक्षण' का कभी स्थान नहीं ले सकता। शिक्षक के कार्य को और सरस और सारगर्भित बनाना ही इसका उद्देश्य हो सकता है। यदि रेडियो के कार्य-क्रम को ठीक से आयोजित किया जाय तो उससे पाठ्यपुस्तक की बातों के विश्लेषण तथा परस्पर-सम्बन्धीकरण में बड़ी सहायता मिल सकती है। हम देखते भी हैं कि शिक्षा के लिए विशेष आयोजित कार्यक्रमों में इतिहास, साहित्य, विज्ञान तथा भूगोल-सम्बन्धी बहुत सी बातों का ज्ञान दिया जाता है। यदि रेडियो स्टेशन सहयोग करें तो प्रसिद्ध लेखकों, कवियों, संगीतज्ञों, आलोचकों, भाषण-वक्ताओं, नाट्यकारों और पत्रकारों आदि की वाणी को स्कूल तक पहुँचाया जा सकता है। इन वाणियों से विद्यार्थियों के हृदय में वे भाव उत्पन्न हो सकते हैं जो पाठ्यपुस्तक के सहारे सम्भवतः उत्पन्न नहीं हो सकते।

रेडियो-कार्यक्रम की सहायता से विद्यार्थियों के लेखन-प्रणाली का ढङ्ग समझाया जा सकता है। साथ ही उन्हें रेडियो स्टेशन के अध्यक्ष के यहाँ अपने निजी कार्यक्रम तथा आलोचनायें भेजने के लिए उत्साहित किया जा सकता है।

विज्ञान की पाठ्य पुस्तक में जिस नये आविष्कार का उल्लेख न किया जा सका उसे रेडियो की सहायता से विद्यार्थियों को समझाया जा सकता है, क्योंकि रेडियो ताजी से ताजी खबर दे सकता है।

पाठ्य-पुस्तक की बहुत सी बातें प्रायः शास्त्रीय होती हैं और जीवन की वास्तविकताओं से वे कम सम्बन्ध रखती हैं। यदि रेडियो का कार्य-क्रम विशेष रूप से आयोजित किया जाय तो पाठ्य-पुस्तक की इस कमी को दूर किया जा सकता है।

इस प्रकार रेडियो की सहायता से कक्षा-कार्य को और परिपूर्ण बनाया जा सकता है।

अवकाश-काल के सदुपयोग के लिए शिक्षित करना

वर्तमान युग में व्यक्ति का अवकाश-काल बढ़ता जा रहा है। इस

अवकाश-काल के सदुपयोग के लिये विविध उपाय दिन प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं। इन उपायों में कुछ वांछित और कुछ अवांछित हैं। इन उपायों में से रेडियो भी एक है। अतः स्कूल का यह कर्तव्य है कि रेडियो को वह ऐसा बनाये कि वह अवकाश-काल के उपयोग का अवांछित साधन न हो सके। इसमें उसे विद्यार्थियों के सहयोग की आवश्यकता होगी। इस सहयोग का उनकी रुचियों से घनिष्ट सम्बन्ध होगा। प्रत्येक विद्यार्थी की कुछ न कुछ रुचि होती है। रेडियो के कार्यक्रम में भाग लेने के लिये उत्साहित करके इस रुचि को और परिष्कृत किया जा सकता है। यदि धीरे-धीरे सभी व्यक्तियों की रुचियाँ परिष्कृत हो जाँय तो रेडियो से अवांछित कार्यक्रम आयेंगे ही नहीं। इस प्रकार रेडियो की सहायता से व्यक्ति अवकाश-काल के सदुपयोग के लिए शिक्षित हो जायगा।

निर्णय-शक्ति का विकास करना

ऊपर यह संकेत किया जा चुका है कि रेडियो के कार्यक्रम में वांछित और अवांछित बातें दोनों रहती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वांछित कार्यक्रमों को चुन लेने के लिये श्रोता में निर्णय-शक्ति चाहिये। विद्यार्थियों को यह निर्णय-शक्ति देना स्कूल का कर्तव्य है। रेडियो के कार्यक्रमों में से सत्य और असत्य, तर्क और परिहास तथा उपयोगी और हानिकर आदि के पहचान की शक्ति विद्यार्थी में आनी चाहिये। यह शक्ति उसमें नहीं आ सकती यदि शिक्षक स्वयं उसके लिये निर्णय दे देता है। अतः शिक्षक को विद्यार्थियों को स्वयं निर्णय करने के लिये उत्साहित करना चाहिये।

स्कूल में रेडियो के सदुपयोग के लिए कुछ संकेत[1]

१—रेडियो-कार्यक्रम को शिक्षण-क्रम में एक सहायता मात्र समझना चाहिए, क्योंकि वह कक्षा-शिक्षण का स्थान कभी नहीं ले सकता। यह ठीक है कि रेडियो-कार्यक्रम के समय विद्यार्थियों का ध्यान एकदम उसी ओर चला जाता है। परन्तु किसी बात को समझाने का पूरा उत्तरदायित्व शिक्षक को अपने ही ऊपर लेना चाहिए।

1. Some Suggestions for utilization Radio in the school.

२—यथा सम्भव रेडियो-कार्यक्रम को कक्षा के अन्दर ही सुनना चाहिए। स्कूल के हाल में अथवा बाहर मैदान में उसे नहीं सुनना चाहिए। कक्षा में सुनने से कक्षा-शिक्षण का साधारण वातावरण बना रहता है। स्कूल के विभिन्न कक्षाओं के विद्यार्थियों के बड़े समूह में कक्षा की सन्नद्धता जाती रहती है।

३—रेडियो के उचित कार्य-क्रम को चुनना चाहिए जिससे विद्यार्थियों के ज्ञानार्जन में सहायता मिल सके। किसी कार्य-क्रम के चुनने में शिक्षक को निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए:—

(१) क्या यह कार्य-क्रम शिक्षा के उद्देश्य की पूर्ति में किसी प्रकार सहायक होगा?

(२) क्या इसमें आई हुई बातें सत्य हैं?

(३) क्या इसमें एक तारतम्य है?

(४) क्या इस कक्षा के लिए यह उपयुक्त है?

(५) क्या इससे और आगे पढ़ने के लिए विद्यार्थी अभिप्रेरित होगा।

(६) क्या वह अन्त में सभी बातों का सारांश निकालकर उस ओर विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित करता है?

(७) क्या वह रोचक है?

(८) क्या इससे भावात्मक और बौद्धिक दोनों जागृतियाँ विद्यार्थियों में आयेंगी।

(९) क्या इसकी अवधि उपयुक्त है।

रेडियो के कार्य-क्रम के चुनाव में विद्यार्थियों की उम्र और कक्षा पर विशेष ध्यान देना चाहिए, क्योंकि उम्र और कक्षा के अनुसार उनके समझने की शक्ति में विभेद पाया जाता है। रेडियो स्टेशन द्वारा जो सूचना-पुस्तिकायें प्रकाशित हुआ करती हैं उनकी सहायता से शिक्षक इसका निर्णय कर सकता है और तदनुसार कार्यक्रम को सुनने और समझने के लिये वह विद्यार्थियों को पहले से ही तैयार कर सकता है।

४—यथासम्भव कक्षा-शिक्षण के क्रम में ही रेडियो का उपयोग करना चाहिए। यदि पाठ्य-पुस्तक से सम्बन्धित किसी रेडियो के कार्यक्रम को पाया जा सका तो बड़ा अच्छा होगा। भाग्यवश, कुछ रेडियो स्टेशन इस दृष्टिकोण से भी स्कूलों के कार्यक्रम का आयोजन करते हैं।

५—रेडियो-कार्यक्रम के समय शिक्षक को यह देखना चाहिये कि विद्यार्थी शान्ति रखें। यदि विद्यार्थियों को यह अच्छी तरह समझा दिया जाय कि रेडियो-कार्यक्रम छोटी अवधि का होता है और एक बार कही हुई बात को दुबारा दोहराया नहीं जाता तो सम्भवतः वे स्वयं अपना ध्यान कार्यक्रम की ओर केन्द्रित कर लेंगे। कार्यक्रम के समय नोट लेने को प्रोत्साहित नहीं करना चाहिए, क्योंकि जब तक विद्यार्थी एक बात को लिखेगा तब तक सम्भव है कि वह किसी बात को ठीक से सुन न सके। अतः उसे अपने ध्यान एकाग्रीकरण के लिए उत्साहित करना चाहिये; और यदि कुछ लिखना हो तो कार्यक्रम समाप्त होने के बाद उसे लिखने को उससे कहना चाहिये।

६—रेडियो-कार्यक्रम को आगे और सीखने के लिए प्रेरक समझना चाहिये।

७—रेडियो-कार्यक्रम का स्कूल में अत्यधिक प्रयोग नहीं करना चाहिये। अपनी आवश्यकता के आधार पर शिक्षक इस अत्यधिकता का निर्णय कर सकता है।

८—रेडियो स्टेशन के संचालक को अपनी शिक्षा-सम्बन्धी आवश्यकता अवगत करने में शिक्षक को संकोच न करना चाहिये।

आपने ऊपर क्या पढ़ा?

क—शिक्षा और चलचित्र

चलचित्र बीसवीं शताब्दी की अद्भुत देन। मनोरंजन के साधनों में क्रान्तिकारी परिवर्तन। शिक्षा-क्षेत्र में इसका उपयोग। अमेरिका अग्रगण्य। हमारे देश के स्कूलों में इसका उपयोग नहीं के बराबर।

चलचित्र से शैक्षिक लाभ

१—'ध्वनि', और 'रंग' और वास्तविकता का कक्षा में आना।

२—विभिन्न कार्यों के रूप को कक्षा में ला सकना।

३—अति द्रुत अथवा अति मन्द प्रक्रियाओं को कक्षा में ला सकना।

४—छात्रों की रुचि। सीखना मनोरंजन।

५—भूतकाल की घटनाओं को नाटक के रूप में उपस्थित कर सकना।

६—आवश्यकतानुसार चलचित्र की सहायता से किसी वस्तु के आकार को घटा या बढ़ा कर कक्षा में उपस्थित किया जा सकता है।

७—प्रति व्यक्ति कम ही खर्च।

८—अपढ़ के लिए उपयोगी। मन्द और तीव्र विद्यार्थी में कुछ समता ला सकना।

९—सौन्दर्यबोधक और सुखद अनुभव।

१०—वस्तु, विचार और घटना के परस्पर-सम्बन्ध को समझा सकना।

चलचित्र की सीमायें

१—दाम अधिक। प्रत्येक स्कूल के लिए उपलब्ध नहीं।

२—मनोरंजन का ही साधन मान बैठना।

३—समय का गलत अनुमान।

४—आकार का गलत अनुमान।

५—प्रत्यक्ष अनुभव के लिए सुयोग रहने पर भी चलचित्र की ही ओर झुक जाना।

६—व्यक्तिगत अध्ययन सम्भव नहीं।

स्कूल-कार्य में चलचित्र से सहायता

बालकों को नये-नये अनुभव। सामाजिक और नैतिकता की चेतनता।
ज्ञान प्राप्त करने में समय की बचत।

विभिन्न विचारों में सम्बन्ध जोड़ सकना।

कक्षा में वास्तविकता।

कला की रसानुभूति।
मन्द बुद्धि बालक को विशेष लाभ।

कुछ शैक्षिक चलचित्रों के प्रकार

छः प्रकार के शैक्षिक चलचित्र।

चलचित्र के कुछ विशेष उपयोग

व्यावसायिक निर्देशन के क्षेत्र में।
पाठ्यविषयान्तर क्रियाओं में।
अपने कार्यों के विज्ञापन में।
प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में।
अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के प्रसार के लिए।

विद्यार्थी चलचित्र को मनोरंजन का साधन न समझ लें। चलचित्र को शिक्षण की एक विधि समझना। साधारण निष्कर्ष निकाल सकना और कुछ विशिष्ट बातों का ज्ञान होना।

चलचित्र कक्षा में दिखलाने के पूर्व अध्यापक को उसका अध्ययन कर लेना चाहिये।

शिक्षक को यह समझना कि चलचित्र प्रारम्भ, मध्य या अन्त में दिखलाना चाहिये।

चलचित्र के उद्देश्य और विषय के अनुसार विद्यार्थियों को काम देना। आगे सीखने के लिये प्रेरणा देना।

विद्यार्थियों के आदर्श, ज्ञान और अच्छी आदतों के निर्माण में योग।

ख—शिक्षा और नभवाणी

रेडियो का उपयोग बढ़ता जा रहा है।

रेडियो से शैक्षिक लाभ

१—कहीं की भी वाणी सुन सकना।
२—श्रोता मानो घटनाक्रम में सम्मिलित।

३—संवेगात्मक जागृति, बालक में वांछित भाव उत्पन्न कर सकना।
४—विभिन्न क्षेत्र के विशेषज्ञों की वाणी कक्षा में लाई जा सकती है।
५—'विचार-विनिमय' में 'स्थान की दूरी' द्वारा अड़चन नहीं।
६—शिक्षण-विधि में मनोरंजन परिवर्त्तन।
७—बड़े समूह में उपयोग।

रेडियो की सीमायें

१—महँगा।
२—सारे कार्यक्रम स्कूल के लिए सुलभ नहीं।
३—केवल एक ओर से वार्ता का साधन।

रेडियो शिक्षण के कुछ उद्देश्य

कक्षा-कार्य को और परिपूर्ण बना सकना

शिक्षक के कार्य को और सरस और सारगर्भित बनाना। पाठ्यपुस्तक की बातों का विश्लेषण और परस्पर-सम्बन्धीकरण। विभिन्न विशेषज्ञों की वाणी ला सकना।

लेखन-प्रणाली का ढङ्ग समझना। कक्षा-शिक्षण में वास्तविकता लाना।

अवकाश-काल के सदुपयोग के लिए शिक्षित करना

अवकाश-काल का बढ़ना।
रेडियो को अवकाश-काल के सदुपयोग का साधन बनाना।

निर्णय शक्ति का विकास करना

शिक्षक वांछित और अवांछित बातों के पहचान में निर्णय न दें।

स्कूल में रेडियो के सदुपयोग के लिए कुछ संकेत

१—शिक्षण-क्रम में एक सहायता मात्र समझना।
२—रेडियो को कक्षा के अन्दर ही सुनना।
३—उचित कार्यक्रम को चुनना।

४—यथासम्भव कक्षा-शिक्षण के क्रम में
५—कार्यक्रम के समय शान्ति रखना और ध्यान देने के लिए विद्यार्थियों से कहना।
६—आगे सीखने के लिए प्रेरक समझना।
७—अत्यधिक प्रयोग नहीं
८—रेडियो स्टेशन संचालक से अपनी आवश्यकता कहना।

सहायक पुस्तकें

१—लेन, ई०, मोशन पिक्चर ऐण्ड रेडिओ, मैग्राहिल, १९३८।
२—ब्राउन, एफ० जे०, सोशियलॉजी ऑव चाइल्डहूड, अध्याय, १८, प्रेन्टिस हॉल, १९३९।
३—रूसेक, जे० एस०, सोशियलाजिकल फ़ाउन्डेशन्स ऑव् एडूकेशन, अध्याय २५ और २७, टॉमस वार्ड क्रोवेल कम्पनी, १९४२।
४—मैकोन एण्ड राबर्ट्स: आडियो-बिजुवल एड्स टु इन्सट्रक्शन, द्वि० सं०, अध्याय ९ और १३, मैग्राहिल, १९४९।
५—डेल, इ० आडियो-विज़ुवल मेथड्स इन टीचिङ्ग; अध्याय ७ और १०, ड्राइडेन, न्यूयार्क, १९४६।
६—हैरिसन, एम०, रेडिओ इन क्लासरूम, पेन्टिस हाल, १९३७।
७—डेण्ट ई० सी० द आडियो-विज़ुवल हैण्डबुक, पृष्ठ ६७—१११, १२७, १३२, सोसाइटी फॉर विज़ुवल एडूकेशन,इङ्क, शिकागो, १९०९।
८—बैक, एल०, रेडिओ ऐण्ड चिल्ड्रेन, एडूकेशन भाग, ६०, पृ० ६४६—६४८, जून १९४०।
९—फ़र्न, जी० एच, टीचिङ्ग विद फिल्म्स, द ब्रूस पब्लिशिङ्ग कम्पनी, मिलवाकी, १९४६।

२१

संस्कृति और शिक्षा[1]

संस्कृति का स्वरूप और अर्थ[2]

संस्कृति क्या है ?[3]

संस्कृति का अर्थ लोग विभिन्न रूप से किया करते हैं। कुछ के अनुसार संस्कृति का अर्थ प्राचीन जातियों और परम्पराओं का ज्ञान है। कुछ इसका अर्थ रहन-सहन और पहनावे आदि में कृत्रिम सौन्दर्य लाने से समझते हैं और कुछ के अनुसार इसका तात्पर्य 'जीवन का सार्वभौमिक दृष्टिकोण' है। कुछ लोगों के अनुसार वह व्यक्ति बहुत संस्कृत समझा जायगा जो कई भाषायें बोल सकता है। कुछ के अनुसार संस्कृत व्यक्ति वह है जो खूब ठाट-बाट से अपना अवकाश-काल बिताता है; और कुछ अन्य लोगों के अनुसार संस्कृत व्यक्ति वह है जिसे कला, साहित्य और संगीत का पर्याप्त ज्ञान है। इस प्रकार 'संस्कृति' शब्द के अर्थ के बारे में बड़ा ही मतभेद है। इस अध्याय में हम 'संस्कृति' का तात्पर्य उन सभी वस्तुओं से समझेंगे जिसे मनुष्य ने अपने शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास के क्रम में बनाया है; अर्थात् 'संस्कृति' के अन्तर्गत प्रकृति द्वारा बनाई हुई वस्तुओं को हम नहीं समझेंगे। इस प्रकार संस्कृति के अन्तर्गत मनुष्य द्वारा बनाई हुई सभी वस्तुएँ तथा उनके द्वारा सोचे हुये सभी विचार आ जाते हैं। स्पष्ट है कि 'संस्कृति' शब्द वर्तमान और भूत दोनों काल में मानव के प्रयास और विकास के

1. Culture and Education. 2. The nature and meaning of culture. 3. What is culture ?

इतिहास की ओर संकेत करता है। भूत तथा वर्तमान काल में अपने विकास के क्रम में मानव जिन-जिन बातों और अवस्थाओं से गुजरा है, भूतकाल तथा वर्तमान काल में उसने जो कुछ प्राप्त किया है वह संस्कृति के अन्तर्गत आ जाता है।

उप-संस्कृति[1]

व्यक्ति अकेले अथवा समूह में विभिन्न कार्यों के करने की नई विधियों का आविष्कार किया करता है; अर्थात् वातावरण में अपने को व्यवस्थित करने के लिये वह विविध उपायों की रचना किया करता है। वातावरण में अपने को व्यवस्थित करने तथा सुख से जीवन व्यतीत करने के लिये संसार के विभिन्न देशों में मानव ने विभिन्न प्रकार के उपायों की कल्पना की है। अतः इससे संस्कृति का एक दूसरा अर्थ भी निकलता है। इस अर्थ के अनुसार किसी एक स्थान विशेष के किसी एक काल के मानव की पूरी रहन-सहन से संस्कृति का तात्पर्य समझा जाता है। इस प्रकार संस्कृति के अन्तर्गत किसी समाज के विश्वास[2], मान्यतायें[3], परम्परायें[4], विविध क्रियायें[5] तथा भौतिक[6] वस्तुयें आ जाती हैं। संस्कृति का यह एक संकुचित अर्थ है और यह अर्थ किसी विशिष्ट देश की संस्कृति के लिए समझा जाता है। ऐसी ही संस्कृति को उप-संस्कृति का नाम दिया जा सकता है। कहना न होगा कि विभिन्न देशों अथवा स्थानों के अनुसार विभिन्न प्रकार की उप-संस्कृतियाँ पाई जा सकती हैं।

संस्कृति का सार्वभौमिक रूप[7]

संस्कृति के कुछ तत्व सार्वभौमिक माने जा सकते हैं, क्योंकि सामान्यतः वे सभी समाज में पाये जाते हैं, यद्यपि उनके विषय, अर्थ, कार्य और रूप में कुछ भेद अवश्य पाया जाता है। उदाहरणार्थ, भाषा मानव[8] साहचर्य का आधार है और किसी भी संस्कृति के अस्तित्व के लिए इसका होना आवश्यक है प्रायः प्रत्येक देश के लोगों का कोई न कोई प्रकार का

1. Sub-culture 2. Beliefs. 3. Values. 4. Traditions. 5. Activities. 6. Material things. 7. Universal nature of Culture. 8. Human association.

'कौटुम्बिक जीवन'[1] होता है, सभी जीवन का अपना-अपना एक दृष्टिकोण रखते हैं, सभी किसी न किसी प्रकार की कुछ 'अमानवीय सत्ता[2] की पूजा' या आराधना करते हैं, सभी समाज में किसी न किसी प्रकार की आर्थिक व्यवस्था[3] होती है और सभी में नियंत्रण[4] कायम रखने का एक साधन होता है। सभी व्यक्तियों को समाज के प्रायः कुछ भौतिक वस्तुओं से प्रेम होता है। सभी की कुछ मान्यतायें, परम्परायें, मनोवृत्तियाँ और रीति-रिवाज होती हैं। उपर्युक्त ये सभी संस्कृति के सार्वभौमिक तत्व माने जा सकते हैं

संस्कृत का कार्य[5]

संस्कृति के जो विभिन्न तत्व होते हैं वे किसी न किसी प्रकार मानव आवश्यकताओं की पूर्ति में अपना-अपना योग देते हैं, अर्थात् मानव-आवश्यकतों की पूर्ति में संस्कृति का योग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अब यहाँ हम यही समझने की चेष्टा करेंगे कि संस्कृति मानव-आवश्यकताओं की पूर्ति में किस प्रकार योग देती है, अर्थात् संस्कृति का कार्य क्या है।

१—संस्कृति की सहायता से मनुष्य अपने को प्राकृतिक वातावरण में व्यवस्थित करने में समर्थ होता है। किसी समाज की संस्कृति के निर्माण पर उसकी भोगोलिक स्थिति का बड़ा प्रभाव पड़ता है, अर्थात् मनुष्य पर प्रकृति का प्रभाव पड़ता है। साथ ही मनुष्य भी अपने व्यवस्थापन के क्रम में अपनी आवश्यकतानुसार अपने प्राकृतिक वातावरण में परिवर्तन लाता है। उदाहरणार्थ, पहाड़ियाँ काटकर सड़कें बना दी जाती हैं, नदी के पेंदे के नीचे से रास्ते निकाले जाते हैं। बञ्जर भूमि उपजाऊ बनायी जाती है, दलदल सुखा दिया जाता है, जंगल काटकर मैदान बना लिया जाता है तथा नदी पर पुल बनाये जाते हैं, आदि, आदि। जिन विधियों से प्राकृतिक वस्तुओं पर इस प्रकार परिवर्तन लाये जाते हैं वे संस्कृति-विकास के अंग मानी जा सकती हैं; और इन अंगों में से कुछ ऐसे जटिल होते हैं कि उनके विकास में कई वर्ष लग जाते हैं। अतः किसी समाज ने अपने

---

1. Family life. 2. Worship of the supernatural. 3. Economic system. 4. Means of Control. 5. The Function of culture.

प्राकृतिक वातावरण पर किस हद तक नियन्त्रण प्राप्त कर लिया है इसमें उस समाज की संस्कृति के विकास की सीमा का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

२—संस्कृति की सहायता से व्यक्ति अपने को अपने सामाजिक वातावरण में व्यवस्थित कर पाता है। जिस प्रकार मनुष्य अपने प्राकृतिक वातावरण पर नियन्त्रण प्राप्त करने का प्रयत्न करता है उसी प्रकार अन्य व्यक्तियों के साथ अपने सम्बन्ध को सुव्यवस्थित करने के लिए उसे विविध उपायों की कल्पना करनी होती है। रीति-रिवाज, रहन-सहन तथा अन्य सामाजिक नियम व्यक्ति के व्यवहार पर आवश्यक नियन्त्रण हेतु ही विकसित होते हैं। युद्ध, जीत, सन्धि तथा व्यापार आदि से अन्य लोगों के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित किया जाता है और साथ ही व्यवहार पर नियन्त्रण की विधियों का निश्चय किया जाता है। स्पष्ट है कि संस्कृति सामाजिक नियन्त्रण का एक उत्तम साधन है।

३—संस्कृति व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास में सहायक होती है। संस्कृति का यह कार्य संस्कृति के उपर्युक्त सामाजिक कार्य से सम्बन्धित है। जैसे-जैसे व्यक्ति समाज के अन्य लोगों के सम्पर्क में आता है वैसे-वैसे उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। शारीरिक, मानसिक और संवेगात्मक वंशानुक्रम का व्यक्ति के व्यक्तित्व-विकास का घनिष्ठ सम्बन्ध है और इस वंशानुक्रम पर व्यक्ति के समाज अथवा संस्कृति का प्रभाव पड़ता है। स्पष्ट है कि जैसे-जैसे व्यक्ति संस्कृति के विभिन्न अंगों के संघर्ष में आता है वैसे-वैसे उसके व्यक्तित्व का विकास निखरता जायगा।

साधारण से साधारण संस्कृति इतनी जटिल हो जाती हैं कि कोई भी व्यक्ति उसके सभी अंगों में भाग नहीं ले सकता। लिन्टन[1] के अनुसार व्यक्ति तीन प्रकार से संस्कृति के अंगों में भाग ले सकता है :—१—सार्वलौकिक रूप में—अर्थात् उन आदतों, विचारों और संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं को अपनाना जिन्हें समाज के प्रायः सभी प्रौढ़ व्यक्ति अपनाते

1. *Linton, Ralph, The Study of Man,* p. 272, D. Appleton-century, New york, 1936.

हैं; २—विशेष रूप में—अर्थात उन तत्वों को अपनाना जिन्हें समाज का एक विशिष्ट अङ्ग अथवा विशेष व्यवस्था वाले वा एक विशेष लिङ्ग[1] वाले अपनाते हैं; ३—वैकल्पिक[2] रूप में--अर्थात् संस्कृत के वे तत्व जिन्हें समाज के कुछ ही व्यक्ति भाग्यवश अपना पाते हैं। जो व्यक्ति जितना ही अधिक संस्कृति के ऐसे वैकल्पिक अङ्गों को अपना पाता है उसे उतना ही अधिक संस्कृत कहते हैं; अर्थात् उसका व्यक्तित्व उतना ही अधिक सुविकसित समझा जाता है। इन वैकल्पिक अङ्गों को अपना सकने के जो साधन हैं उनमें शिक्षा का स्थान बड़ा ही महत्वपूर्ण है।

व्यक्ति संस्कृत कैसे होता है ?

व्यक्ति जो कुछ सीखता है उस पर वातावरण का बड़ा प्रभाव पड़ता है। परन्तु वातावरण का प्रभाव पड़ते ही वह अपने एक ऐसे व्यक्तित्व अथवा आत्म[3] का विकास कर पाता है जो सामाजिक मान्यताओं के प्रायः अनुकूल होता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति के व्यवहार की परीक्षा संस्कृति के विभिन्न तत्वों की कसौटी पर की जाती है।

जार्ज एच० मीड[4] के अनुहार संस्कृति को अपनाने के क्रम में 'आत्म' को तीन अवस्थाओं से गुजरना होता है। इन तीन अवस्थाओं को सीखने अथवा शिक्षा का क्रम कहा जा सकता है

पहली अवस्था वह है जब व्यक्ति अपने चारों ओर के व्यक्तियों का अनजान में अनुकरण करने लगता है। वह दूसरों की क्रियाओं को देख अनुकरण में मुस्कराता है, हँसता है, कुछ बातें कहता है, अथवा अन्य कार्य करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि बच्चा अपने को दूसरों की तरह बनाने का प्रयत्न कर रहा है।

दूसरी अवस्था 'खेल' की कही जा सकती है जब व्यक्ति खेल में विभिन्न लोगों, जैसे, पुलिस, डाक्टर, शिक्षक तथा इञ्जीनियर आदि के

---

1. Particular sex group. 2. Alternatives. 3. Self.
4. *George H, Mead. Mind, Self, and Society* pp. 144-64., The Univ. of Chicago, Chicago, 1934.

कार्य का स्वाङ्ग रचता है। इस स्वाङ्ग की सहायता से तथा अपने साथियों के सम्पर्क में आने से संस्कृति के विभिन्न तत्वों को वह अपने व्यक्तित्व में अपनाता है। अपने मस्तिष्क में अभी वह विभिन्न तत्वों के परस्पर-सम्बन्ध को नहीं देख पाता।

तीसरी अवस्था सुसंगठित खेल की है जिसमें व्यक्ति अपने व्यवहार में संयतता और अनुरूपता लाने में समर्थ होता है। इस अवस्था में उसे अपने साथियों की मनोवृत्तियों और अपेक्षाओं का ध्यान रखना होता है। इस प्रकार धीरे-धीरे सामाजिक मान्यताओं के अनुसार व्यक्ति व्यवहार दिखलाना सीखता है। अब वह उन आदर्शों, सिद्धान्तों, विश्वासों को अपनाने लगता है जो संस्कृति द्वारा ठीक ठहराये गए हैं। फलतः अब व्यक्ति का व्यवहार लोगों की अपेक्षाओं के अनुकूल होने लगता है और अब यह कहा जा सकता है कि वह संस्कृत हो गया है। अब यह कहा जा सकता है कि 'संस्कृति[1] विशेष' में व्यक्ति एक क्रियाशील 'इकाई' हो गया है।

संस्कृति और शिक्षा

किसी समाज की संस्कृति का उस समाज की शिक्षा-व्यवस्था पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। कुछ अर्थों में शिक्षा-व्यवस्था समाज की विविध आवश्यकताओं की ओर संकेत करती है, क्योंकि उनकी पूर्ति के लिए शिक्षा का आयोजन किया जाता है। जिस समाज की संस्कृति का रूप प्रधानतः भौतिक रहता है वहाँ की शिक्षा-व्यवस्था प्रतियोगिता पर आधारित रहती है और शिक्षा-क्षेत्र में व्यक्ति का श्रम भौतिक उद्देश्यों की प्राप्ति की ओर नियोजित रहता है, न कि आध्यात्मिक अथवा सौन्दर्यात्मक मान्यताओं की ओर। जिस समाज की संस्कृति में व्यक्तिवाद का बोलबाला रहता है उसकी शिक्षा-व्यवस्था में भी व्यक्तिवाद का ही रंग चढ़ा रहता है।

शिक्षा के फलस्वरूप हम जो कुछ सीखते हैं उस पर संस्कृति का बड़ा

1. The individual has become a functioning unit in the culture pattern.

प्रभाव रहता है। बारलेट[1] का कहना है कि हमारे सोचने, याद करने, कल्पना करने और हमारे रचनात्मक कार्यों में हमारी सामाजिक संस्थाओं और रीति-रिवाजों का सीधा प्रभाव पड़ता है। जो वस्तु किसी संस्कृति का अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग समझती जाती है और जिसे अपने जीवन-क्रम में अपनाने से व्यक्ति को प्रतिष्ठा मिलती है उसे वह सीख लेना चाहता है और अन्य साधारण बातों को वह भुला देना चाहता है। स्पष्ट है कि संस्कृति के विभिन्न तत्व हमें केवल सीखने के लिए ही नहीं वरन् इसके लिये भी प्रेरणा देते हैं कि कौन सी वस्तु सीखने के बाद मस्तिष्क में धारण की जाय और किसे भुला दिया जाय।

जिस समाज की संस्कृति का पर्याप्त विकास नहीं हुआ रहता वहाँ की शिक्षा-व्यवस्था बहुत ही साधारण होती है, क्योंकि तब सीखने[2] के क्रम में बहुत ही साधारण प्रतिक्रियायें आती हैं। ऐसे समाज में सविधिक[3] शिक्षा का प्रायः अभाव देखा जाता है, क्योंकि तब 'सीखने' अर्थात् 'शिक्षा' का तात्पर्य सामुदायिक जीवन के अति साधारण रूपों के अनुसार व्यवहार को व्यवस्थित करना होता है, अर्थात् तब जीवन का प्रधान उद्देश्य प्रायः अपनी जाति की रक्षा करना, जीविकोपार्जन करना, पड़ोसियों तथा अन्य शत्रुओं से अपनी रक्षा करना, तथा मान्य देवी और देवताओं की पूजा करना आदि होता है। इन सब बातों को सीखने के लिये सविधिक शिक्षा की आवश्यकता नहीं होती। ये सब बातें तो निजी अनुभव से ही सीख ली जाती हैं। परन्तु जब संस्कृति जटिल[4] हो जाती है तो विभिन्न तत्वों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाने के लिये 'शिक्षा की विशेषित संस्था'[5] का विकास करना आवश्यक हो जाता है। इस 'विशेषित शिक्षा-संस्था' को 'स्कूल' कहते हैं।

ऊपर हम देख चुके हैं कि व्यक्तित्व के विकास पर संस्कृति का बड़ा प्रभाव पड़ता है। शिक्षा का सम्बन्ध व्यक्तित्व के विकास से है; अतः शिक्षा

---

1. *Barlett*, F. C. *Remembering*, 244, Combridge Univ. Press, Combridge, England, 1932.

2. Learning Process. 3. Formal Education. 4. Complex. 5. Specialized Educational Institution.

का स्वरूप समाज की संस्कृति के स्वरूप पर निर्भर करता है। हमें यह ध्यान देना है कि 'स्कूल' शिक्षा देने का केवल एक स्रोत है। स्कूल के अतिरिक्त समाज में अन्य भी कई शिक्षा के स्रोत होते हैं जो कि विकसित होते हुये बच्चे पर अपना प्रभाव डालते रहते हैं। शिक्षा के इन स्रोतों में संस्कृति के वे अंग ही प्रभावशाली होते हैं जिन्हें हम सभी लोगों ने मान्यता दे रक्खी है। हमें यह न भूलना चाहिये कि अपनी शिक्षा के क्रम में व्यक्ति स्वयं अपने विविध अनुभवों में से चुनाव करता है। अपने अनुभवों के बल पर कभी-कभी वह वातावरण में कुछ परिवर्तन लाना चाहता है और कभी-कभी वातावरण के अनुसार अपने को ढाल भी लेता है। दूसरे शब्दों में, समाज व्यक्ति को बनाता है और व्यक्ति समाज को बनाता है। एक ही समाज में विभिन्न बालक विभिन्न प्रकार के अनुभव प्राप्त करते हैं। ये अनुभव उसके घर[1] तथा विशिष्ट वातावरण[2] की संस्कृति पर भी निर्भर करते हैं। अतः किसी बालक के सम्बन्ध में हमें तुरन्त ही किसी निर्णय पर नहीं पहुँच जाना चाहिये। कोई निर्णय करने के पूर्व हमें यह समझना चाहिये कि संस्कृति के किस श्रेणी से वह आ रहा है। विभिन्न सामाजिक समूह के बालक किसी समस्या के सुलझाव में विभिन्न प्रकार की मनोवृत्तियों का प्रदर्शन करेंगे। स्पष्ट है कि व्यक्ति उसी प्रकार से चिन्तन करना सीखता है जैसे उसका समाज 'चिन्तन' की परिभाषा करता है।

घर और वातावरण के अनुसार एक ही समाज के बालकों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में विभेद पाया जा सकता है। इसीलिए तो एक बृहद संस्कृति के अन्तर्गत कई उप-संस्कृतियों[3] की चर्चा की जाती है। अतः बालक के अच्छी प्रकार निर्देशन के लिए शिक्षक को उसकी उप-संस्कृति के विविध तत्वों अर्थात उसके घर, और वातावरण को समझना अत्यन्त आवश्यक है। शिक्षक को बालक के माता-पिता के सांस्कृतिक[4] प्रेरणाओं को भी समझना चाहिए। उनकी सांस्कृतिक प्रेरणाओं का सम्बन्ध शिक्षा-सम्बन्धी उनकी अपेक्षाओं से है। साधारणतः यह माना जा सकता है

1. Home. 2. Environment. 3. Sub-Cultures. 4. Cultural Motivations.

कि किसी समाज के सभी व्यक्ति शिक्षा के उद्देश्यों से सहमत होते हैं। यदि शिक्षा के उद्देश्यों के सम्बन्ध में एकमत न रहे तो समाज के विकास की गति अविरिल न हो सकेगी। किन्तु आज हमारे देश में शिक्षा के उद्देश्य के सम्बन्ध में कई मत दिखलाई पड़ते हैं। शिक्षा के उद्देश्य की यह भिन्नता नागरिकों के विभिन्न जीवन दृष्टिकोण की ओर संकेत करती है। लोगों में जीवन का विभिन्न दृष्टिकोण होना स्वाभाविक है। परन्तु कुछ सर्वस्वीकृत सामाजिक मान्यताओं के अनुसार हमें अपने जीवन को चलाना ही होगा और शिक्षा इन मान्यताओं के अनुसार ही संचालित होनी चाहिऐ।

दूसरी संस्कृति को हेय समझने की भावना और शिक्षा[1]

ऊपर यह संकेत किया जा चुका है कि संसार के विभिन्न संस्कृतियों में विभेद पाया जाता है। उदाहरणार्थ, किसी के लिए किसी पक्षी का मांस खाना बहुत बुरा ससझा जाता है और कोई उसी को बहुत ही अच्छा मानता है। कुछ लोग अपना भोजन पका कर खाते हैं, और दूसरे उसे कच्चा ही खाते हैं। संस्कृति की विभिन्नता के कारण कुछ लोग अपने विचार को दूसरों पर लादना चाहते हैं, और इसमें असफल होने पर आपस में युद्ध करते हैं। स्पष्ट है कि संस्कृति की विभिन्नता हमारे आपसी मनमुटाव, तनाव और वैमनस्य का कारण हो सकती है, क्योंकि एक संस्कृति के मानने वाले दूसरी संस्कृति को हेय समझते हैं और अपनी को सर्वश्रेष्ट। जब कि लोग सहिष्णुतावश दूसरी सस्कृति को ठीक समझते हैं, तब भी अपनी संस्कृति के मापदण्ड से ही दूसरी संस्कृति की बातों पर अपना निर्णय देते हैं। इसका कदाचित् मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि वे लोग अपने व्यवहार को स्वाभाविक मानने लगते हैं और उसी व्यवहार को दूसरे में देखते हैं तो उसे निम्नकोटि का समझते हैं। दूसरे, प्रत्येक संस्कृति में कुछ ऐसी बातें होती हैं जो कि उस संस्कृति की श्रेष्ठता पर बल देती हैं। उदाहरणार्थ; देश-भक्ति की भावना अपनी संस्कृति को पूर्ण और निर्दोष समझने लगती है। चर्च मिशनरी आन्दोलन में भाग लेने वाले व्यक्ति केवल अपने ही धर्म को ठीक मानते हैं और दूसरों को गलत। अतः वे दूसरों को अपने धर्म की ओर खींचना चाहते हैं।

1. Ethnocentrism and Education.

शिक्षा के सामने यह एक कठिन समस्या है कि लोगों के मन से अपनी संस्कृति के सम्बन्ध में उपर्युक्त गलत भावना को कैसे दूर किया जाय। यह भावना पहले केवल किसी विशिष्ट जन-समुदाय, क्षेत्र अथवा राष्ट्र तक ही सीमित थी, परन्तु अब यह एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या हो गई है। इस भावनावश स्कूल में विभिन्न विद्यार्थियों में पर्याप्त सहयोग नहीं दिखलाई पड़ता और इससे शिक्षा-क्रम में बड़ी कठिनाई आ जाती है। जब अपने समाज के लिए कुछ त्याग करना सिखाना होता है तो यह भावना लाभप्रद भी हो सकती है। परन्तु अच्छा तो यही होगा कि व्यक्ति के मन से अपने संस्कृति को श्रेष्ठतर मानने की भावना को निकाल दिया जाय।

जो अपनी संस्कृति को श्रेष्टतर मानने की भावना से ग्रस्त रहते हैं उन्हें कदाचित प्रारम्भ से ही संस्कृति के विषय में गलत धारणायें दी जाती हैं; और फलतः उनका दृष्टिकोण बड़ा ही संकुचित हो जाता है। व्यक्ति को गलत बातों के बतलाने से ही उनका दृष्टिकोण संकुचित हो जाता है; इसलिए शिक्षा व्याक्ति के इस दोष को दूर करने में अवश्य सहायता कर सकती है। वस्तुतः इस दोष को दूर करना शिक्षा का एक कर्तव्य हो जाता है। इस दोष को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि विद्यार्थियों को अन्य संस्कृतियों के सम्बन्ध में ठीक-ठीक बातें बतलाई जाँय और उन्हें अन्य संस्कृतियों के अध्ययन के लिए उत्साहित भी किया जाय। हमें विद्यार्थियों को समझाना चाहिए कि अन्य संस्कृतियों के प्रति सहिष्णुता दिखलाने का तात्पर्य अपनी संस्कृति के प्रति अभक्ति नहीं दिखलाना है। हमें विद्यार्थियों के सामने इस बात पर बल देना है कि गणतन्त्र राज्य का स्थायित्व विभिन्न संस्कृति वाले जन समुदाय के सहयोग पर ही निर्भर करता है; अतः इस सहयोग का रास्ता सदैव खुला रहना चाहिए—अर्थात् अन्य संस्कृतियों के प्रति सहिष्णुता दिखलानी चाहिए। अल्पसख्यक वर्ग और अन्तर्वर्ग शिक्षा के अध्याय में इस पर कुछ और प्रकाश डाला जायगा।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

संस्कृति का स्वरूप और अर्थ

संस्कृति क्या है ?

संस्कृति का अर्थ विभिन्न रूप में। अर्थ के बारे में मतभेद। 'संस्कृति' के

अन्तर्गत मनुष्य द्वारा बनाई हुई सभी वस्तुएँ और विचार । संस्कृति शब्द वर्तमान और भूत दोनों काल के इतिहास की ओर संकेत करता है ।

उपसंस्कृति

संस्कृति के अन्तर्गत किसी समाज के विश्वास, मान्यताएँ, परम्परायें विविध क्रियायें तथा भौतिक वस्तुएँ आदि ।

संस्कृति का सार्वभौमिक रूप

सार्वभौमिक तत्वः—भाषा, कौटुम्बिक जीवन, अमानवीय सत्ता की पूजा, आर्थिक व्यवस्था ।

संस्कृति का कार्य

१—प्राकृतिक वातावरण में व्यवस्थापन का साधन, मनुष्य पर प्रकृति का प्रभाव और प्रकृति पर मनुष्य का प्रभाव ।

२—सामाजिक वातावरण में व्यवस्थापन का साधन ।

३—व्यक्तित्व विकास का साधन ।

तीन प्रकार से संस्कृति के अंगों में भाग । सार्वलौकिक, विशेष रूप में, और वैकल्पिक रूप में ।

व्यक्ति संस्कृत कैसे होता है ?

व्यक्ति के व्यवहार की परीक्षा संस्कृति के विभिन्न तत्वों की कसौटी पर ।

संस्कृति के अपनाने के क्रम में 'आत्म' को तीन अवस्थाओं से गुजरना होता है ।

अनुकरण, खेल तथा सुसंगठित खेल की तीन अवस्थायें ।

संस्कृति और शिक्षा

संस्कृति का शिक्षा पर प्रभाव । शिक्षा से हम जो कुछ सीखते हैं उस पर संस्कृति का प्रभाव । संस्कृति के विभिन्न तत्व हमें सीखने की प्रेरणा देते हैं ।

संस्कृति के अविकसित होने से—शिक्षा व्यवस्था साधारण। सविधिक शिक्षा का प्रभाव। संस्कृति के जटिल होने पर सविधिक शिक्षा के लिए शिक्षा की विशेषित संस्थाओं का विकास।

शिक्षा का स्वरूप समाज की संस्कृति के रूप पर निर्भर। स्कूल शिक्षा देने का केवल एक स्रोत। शिक्षा के अन्य स्रोत भी।

एक ही समाज के बालक अपने घर तथा विशिष्ट वातावरण के अनुसार विभिन्न अनुभव प्राप्त करते हैं, अतः बालक को समझने के लिए उसकी संस्कृति को समझना।

कुछ सर्व स्वीकृत सामाजिक मान्यताओं के अनुसार शिक्षा का संचालन।

दूसरी संस्कृति के हेय समझने की भावना और शिक्षा

संस्कृति की विभिन्नता आपसी तनाव का कारण। लोग अपनी संस्कृति को श्रेष्ठ मानते हैं और दूसरी को हेय। इस भावना को निकालना शिक्षा के लिए एक समस्या।

विद्यार्थियों को अन्य संस्कृतियों के बारे में ठीक-ठीक ज्ञान देना।

सहायक पुस्तकें

१—लिन्टन, आर० : द स्टडी ऑव् मैन, पृष्ठ ३२६-७ डी-अपिल्टन, न्यूयार्क, १९३६।

२—बेनडिक्ट, रुथ : पैटर्न्स ऑव कल्चर, हूफ़टन मिफ्लिन, १९३४।

३—मीड जी०एच : माइण्ड, सेल्फ़ ऐण्ड सोसाइटी, शिकागो युनि०, शिकागो, १९३८।

४—मर्फ़ी, जी ऐण्ड अदर्स : एक्सपेरिमेण्टल् सोशल साइकॉलॉजी हार्पर, १९३४।

५—विन्स्टन, एस० : कल्चर ऐण्ड ह्यूमन बिहेवियर, द रोनाल्ड प्रैस १९३१।

६—रूसेक, जे०: सोशियलॉजील फ़उण्डेशन्स ऑव् एडूकेशन, अध्याय २ और ९, टॉमस वाई, क्रोवेल, १९४२।

७—मूर ऐण्ड कोल : सोशियलोजी इन एडूकेशनल प्रैक्टिस, अध्याय २, हूफ्टन मिफ्लिन, १९५२।

२२

अल्पसंख्यक वर्ग और अन्तर्वर्ग[1] शिक्षा

अल्पसंख्यक की समस्या शिक्षा का विषय

किसी भी देश में अल्पसंख्यक लोगों की समस्या बड़ी ही महत्वपूर्ण होती है, क्योंकि उनके व्यवहार के कारण बहुमत के लोगों को और बहुमत लोगों के व्यवहार के कारण अल्पसंख्यक लोगों को कष्ट हो सकता है। अतः अल्पसंख्यक और बहुमत लोगों के परस्पर-सम्बन्ध की समस्या किसी देश के सरकार के लिये कठिन हो जाती है। उदाहरणार्थ; हमारे देश में मुसलमानों, सिक्खों तथा हरिजनों आदि को अल्पसंख्यक कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न राज्यों में भी अपने-अपने रुचि विशेष के कारण कुछ लोग अल्पसंख्यक या बहुमत वाले बन जाते हैं।

जैसे बम्बई में महाराष्ट्रियों का बहुमत है और गुजरातियों का अल्पमत। मद्रास में तेलगू-भाषा भाषियों का अल्पमत था, इसलिए उन्होंने अपना आन्ध्रदेश का राज्य मद्रास से अलग कर दिया। कहना न होगा कि अल्पसंख्यक लोग अपनी अवदशा को दृढ़ करने के चक्कर में सदैव पड़े रहते हैं। कुछ अर्थों में वे बहुमत वालों से अपने को छोटा समझते हैं और बहुमत वाले अपने को उनसे कुछ बातों में श्रेष्ठतर और दृढ़तर समझते हैं। अल्पसंख्यक लोग अपनी स्थिति को बदलना चाहते हैं और बहुमत के लोग इसका विरोध करते हैं। इस विरोध के कारण दोनों वर्गों में अन्तर्द्वन्द्व, परस्पर घृणा, द्वेष, झगड़ा तथा जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अवसर की अस-

1. Minority Groups and Inter Group Education.

मानता उत्पन्न हो जाती है। ऐसी स्थिति के कारण अल्पसंख्यक की समस्या शिक्षा के लिए एक महत्वपूर्ण विषय हो जाता है, क्योंकि शिक्षा ही एक ऐसा साधन है जिससे समाज की इस बुराई को दूर किया जा सकता है।

बहुत सी ऐसी बातें हैं जिनसे यह इच्छा होती है कि अल्पसंख्यक लोगों की स्थिति में सुधार हो जाय और दोनों वर्गों की परस्पर-वैमनस्य दूर हो जाय। शिक्षा के द्वारा हमारा यह प्रयास रहता है कि लोग जीवन के नये-नये और अच्छे-अच्छे मापदण्ड को सीखें जिससे गणतन्त्रात्मक समाज की नींव दृढ़तर हो जाय। गणतन्त्रात्मक समाज के सदस्य होने के नाते हम प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान अवसर देने की कामना करते हैं। हमारा यह उद्देश्य है कि लोगों को समान अधिकार प्राप्त हों और जाति, वर्ग, धन, तथा लिङ्ग आदि के कारण किसी को आकांक्षा-पूर्ति में कोई बाधा न आने पावे। हमारे इन उच्च उद्देश्यों के कारण अल्पसंख्यक की समस्या शिक्षा का एक विषय हो जाता है और यह समस्या उठती है कि समाज के विभिन्न वर्गों की शिक्षा का आयोजन किस प्रकार किया जाय कि अल्पसंख्यकों की कठिनाइयों का सरलतापूर्वक समाधान हो जाय।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अल्पसंख्यक की समस्या

जिस प्रकार किसी समाज के विभिन्न वर्गों के बीच अल्पसंख्यक की समस्या खड़ी हो जाती है उसी प्रकार विश्व के विभिन्न देशों के बीच अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय पड़ोसियों में उनकी भौगोलिक, आर्थिक और राजनैतिक दशा तथा जनसंख्या के कारण अल्पसंख्यक की समस्या अन्तर्राष्ट्रीय रूप ले लेती है। इसीलिए तो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अल्पसंख्यक की समस्याओं को सुलझाने के लिए बहुत सी संस्थायें काम कर रही हैं—जिनमें 'यूनाइटेट नेशन्स[1]' का 'कमीशन[2] आन ह्यूमन राइट्स' तथा यूनेस्को[3] के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। अतः शिक्षा का कार्य और बढ़ जाता है और हमारे सामने यह समस्या आती है कि विद्यार्थियों अर्थात् भावी नागरिकों

1. United Nations. 2. Commission on Human Rights. 3. Unesco.

को किस प्रकार शिक्षित किया जाय कि उनमें सहिष्णुता, भ्रातृत्व, प्रेम और सहानुभूति के भाव कूट-कूट कर भर जाँय।

नीचे हम यह समझने का प्रयास करेंगे कि अल्पसंख्यक लोगों तथा अन्य वर्गों में मनमुटाव तथा तनाव पैदा होने के क्या कारण होते हैं।

अन्तर्वर्गों में अहेतुक धारणा के कुछ कारण[1]

यदि बहुमत वर्ग के लोग अल्पसंख्यक लोगों के हितों पर कुठाराघात करने का प्रयत्न न करें तो अल्पसंख्यक की समस्या ही न उठेगी, परन्तु कुछ अहेतुक धारणाओं के कारण इन दो वर्गों में वैमनस्य आ जाता है और बिना तर्क किये हुये वे एक दूसरे के सम्बन्ध में एक निर्णय पर पहुँच जाते हैं। दोनों वर्गों में समझौता के उपायों की ओर संकेत करने के पूर्व यह समझ लेना आवश्यक जान पड़ता है कि उनके परस्पर-द्वेष तथा एक दूसरे के सम्बन्ध में अहेतुक धारणा कर पहुँच जाने के प्रधान स्रोत क्या होते हैं।

अहेतुक धारणा यकायक नहीं उत्पन्न हो जाती। अनुभव के आधार पर इसकी जड़ व्यक्ति में धीरे-धीरे जमती है। कुछ अहेतुक धारणायें तो लोग अपने घरेलू[2] परिस्थितियों अथवा माता-पिता की[3] मनोवृत्तियों से सीखते हैं। जब बच्चे बड़े हो जाते हैं तो उनके व्यवहार उनके शिक्षक, माता-पिता तथा पूरे समाज के दर्पण हो जाते हैं। बच्चों की अहेतुक धारणायें उनके माता-पिता और शिक्षकों की धारणाओं की ओर भी संकेत करती हैं। अहेतुक धारणायें सीखी जाती हैं। अतः हम यह भी कह सकते हैं कि वे भुलाई भी जा सकती हैं।

फ्रेंनकिल[4] ब्रन्सविक ने अपने अन्वेषण में देखा कि निजी संस्कृति को सर्वश्रेष्ठ[5] मानने की भावना वाले बच्चों के माता-पिता अपनी

---

1. Some Causes of Prejudices in Intergroups. 2. Home situations. 3. Parental attitudes.

4. *Else Frenkel Brunswick* "A Study of Prejudice in Children" *Human Relations*, Research Centre for Group Dynamics, 1-295-306, Michigan, 1948.

5. Ethnocentricism.

सामाजिक प्रतिष्ठा को कायम रखने में बड़े यत्नशील रहते हैं और उदार बच्चों के माता-पिता की अपेक्षा वे अधिक कठोर नियन्त्रण रखने की चेष्टा करते हैं, ऐसे माता-पिता तथा बच्चों में स्नेह की भावना अपेक्षाकृत कम होती है, बच्चों को अपने आत्म-प्रकाश का कम अवसर मिलता है। फलतः उनका व्यक्तित्व संकुचित और कठोर हो जाता है। इसके विपरीत उदार बच्चों में प्रेम की भावना अधिक होती है, शक्ति प्राप्ति की ओर वे कम झुकते हैं। उन्हें अपने माता-पिता से अधिक स्नेह मिला रहता है, इसलिये वे दूसरों को अधिक स्नेह दे भी सकते हैं। वे लोगों को समझने में उनकी वास्तविक योग्यता पर ध्यान देते हैं; न कि कुछ विशिष्ट सामाजिक मान्यताओं के आधार पर उनको परख करना चाहते हैं।

प्रत्येक वर्ग अपनी-अपनी मनोवृत्तियों की कल्पना कर लेता है, और इन्हीं मनोवृत्तियों के आधार पर अपने वर्ग के बाहर के लोगों को देखने के लिए वह एक दूसरे प्रकार की मनोवृत्ति बना लेता है। पहले प्रकार की मनोवृत्ति को 'आन्तरिक वर्ग मनोवृत्ति'[1] और दूसरी प्रकार को 'वाह्य[2] वर्ग मनोवृत्ति' कहा जा सकता है। वर्गों में परस्पर व्यवहार इन्हीं मनोवृत्तियों द्वारा निर्धारित होते हैं। निजी संस्कृति की श्रेष्ठता की भावना[3] अपनी चरम सीमा को पहुँच जाती है जब लोग दूसरे वर्ग के लोगों का मूल्याङ्कन अपनी संस्कृति के मापदण्डों के अनुसार करने लगते हैं। इस प्रकार आन्तरिक वर्ग और वाह्य-वर्ग मनोवृत्तियों के कारण आपस में कुछ तनाव आ जाता है।

कुछ व्यक्ति दूसरे वर्ग के विरुद्ध अहेतुक धारणा और विरोध का रुख दिखलाते हैं, क्योंकि उन्हें उस वर्ग के विषय में ठीक-ठीक ज्ञान नहीं रहता। कुछ लोग मूलजाति[4] अथवा वंश-सम्बन्धी अनुदार भावनावश दूसरे को छोटा समझने लगते हैं, परन्तु जब मूलजाति के गुण के सम्बन्ध में उन्हें सभी बातें मालूम हो जाती हैं तो उनकी मनोवृत्ति बदल जाती है।

---

1. In-group attitudes. 2. Out-group attitudes. 3. Ethnocentricism. 4. Race.

कभी वर्ग के किसी व्यक्ति के साथ कोई कटु अनुभव के आधार पर व्यक्ति पूरे वर्ग के विरुद्ध कोई विचार अपना लेता है; यद्यपि समान कटु अनुभव अपने ही वर्ग में होने पर मन में वैसे बुरे विचार नहीं भी आ सकते। इस प्रकार एक कटु अनुभव के आधार पर व्यक्ति सारे वर्ग के विरुद्ध हो जाता है। वस्तुतः ऐसा विचार बड़ा ही अन्यायपूर्ण है।

हमारे भारत देश में विभिन्न वर्ग के लोग पाये जाते हैं। एक राज्य के लोगों के निवासियों में विभिन्न उपसंस्कृतियों वाले लोग होते हैं। हिन्दुओं में विभिन्न जातियों का विकट जाल व्यक्ति को दूसरी जाति के विरुद्ध बनाता है और एक ही व्यक्ति के साथ किसी अनुभव के आधार पर लोग सारी जाति के बारे में अपनी अहेतुक धारणा बना लेते है। फलतः हमारे देश के निवासियों में परस्पर-सद्भावना की कुछ कमी अवश्य दिखलाई पड़ती है। इस सद्भावना की कमी के कारण ही तो हमारा देश वर्षों तक विदेशियों के नियन्त्रण में रहा; और यह कमी अब भी हमारी सामाजिक उन्नति में कभी-कभी बाधक बन जाती है।

कुछ लोग अपने को इतना अरक्षित और निर्बल समझते है कि अपनी भग्नाशा को मिटाने के लिए दूसरों को दबाने की चेष्टा किया करते हैं। निर्बल अर्थात् अल्पसंख्यक वर्ग इस भग्नाशा का बहुधा अभियुक्त हुआ करता है।

जब जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग भग्नाशा का अभियुक्त हो जाता है तो एक बड़े विद्रोह के रूप में फल भयानक हो सकता है। व्यक्ति अथवा वर्ग की अपने को अरक्षित समझने की भावना ही प्रायः अहेतुक धारणा का आधारभूत कारण होती है और यह भावना अपर्याप्त योग्यता, अपर्याप्त अवसर, बचपन में अनुभूत असुविधाएँ, तथा सामाजिक कारणवश अन्य व्यक्तियों द्वारा त्यक्त होने आदि के कारण आ सकती हैं। हमारे देश के हरिजनों को इन सब कठिनाइयों का अनुभव हो सकता है। अतः उनमें किसी वर्ग के विरुद्ध अहेतुक धारणा का आ जाना स्वाभाविक है।

अहेतुक धारणा की गहनता की मात्रा[1]

जहोदा[2] के अनुसार अहेतुक धारणा की गहनता की मात्रानुसार उसका निम्नलिखित वर्गीकरण किया जा सकता है—

१—वह अहेतुक धारणा जिससे व्यक्ति वर्ग के व्यक्तियों से सम्बन्ध नहीं रखना चाहता, परन्तु स्पष्टतः कुछ कहता नहीं।

२—वह अहेतुक धारणा जिससे व्यक्ति अपने अन्दर एक मनमुटाव रखता है और जिसका प्रदर्शन अपने कुछ व्यवहारों में करता है, जैसे वर्ग के प्रति उदासीनता की भावना दिखलाना; परन्तु इससे कोई झगड़ा नहीं खड़ा होता।

३—वह अहेतुक धारणा जिससे वर्ग का कानूनी अधिकार तो नहीं छिन जाता, परन्तु उसमें एक वर्ग के लोग दूसरों वर्ग के लोगों का सामाजिक बहिष्कार करते हैं।

४—वह अहेतुक धारणा जिससे एक वर्ग के लोग अपने कानूनी अधिकार को खो बैठते हैं और एक वर्ग दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखता है।

५—वह अहेतुक धारणा जिससे केवल सामाजिक बहिष्कार ही नहीं किया जाता, वरन् किसी वर्ग के विरुद्ध कटु प्रचार भी किया जाता है।

६—वह अहेतुक धारणा जिससे लोग एक वर्ग के लिए दूसरे पर हिंसात्मक प्रहार करते हैं, और अधिकारी इस दुर्व्यवहार पर विशेष ध्यान नहीं देते।

विभिन्न वर्गों में व्याप्त आन्तरिक द्वेष और अहेतुक धारणा कैसे दूर होगी अर्थात् समाज में अन्तर्वर्ग अवबोध कैसे आयेगा, यह हमारे सामने एक समस्या है। अन्तर्वर्ग अवबोध को लाने में शिक्षा हमारी कहाँ तक सहायता कर सकती है इसी पर हम नीचे विचार करेंगे।

---

1. Degrees of Intensity of Prejudice.

2. *Marie Jahoda and others* : *Research Methods in Social Relations* Part I, *Basic Processes*, Society for the Psychological Study of Social Issues, p. 366, Dryden Press 1951. Quoted in "Sociology in Educational Practice" by Cole and More, Houghton Mufflin Co. New York 1952, p. 254.

अन्तर्वर्ग अवबोध और शिक्षा[1]

अन्तर्वर्ग अवबोध के लाने में शिक्षा हमारी सहायता अवश्य कर सकती है, परन्तु इसमें कुछ देर लगेगी, क्योंकि स्कूल में शिक्षा पाये हुए बच्चे जब प्रौढ़ नागरिक होंगे तभी तो अन्तर्वर्ग अवबोध के हित में शिक्षा कहाँ तक सफल हुई इसका ठीक-ठीक अनुमान किया जा सकता है। स्कूल की सहायता के अतिरिक्त कुछ ऐसी तात्कालिक समितियाँ स्थापित की जा सकती हैं जो प्रचार तथा उपयुक्त भाषणों के आयोजन से अन्तर्वर्ग अवबोध लाने का प्रयास कर सकती हैं और इस प्रयास में उन्हें सम्भवतः शीघ्रतर सफलता भी मिलेगी। इस प्रकार शिक्षा अन्तर्वर्ग अवबोध की 'समस्या' का कोई तात्कालिक हल हमें नहीं दे सकती। हाँ, यह सत्य है कि शिक्षा के सहारे ही लोगों की मनोवृत्तियों में आवश्यक और स्थायी वांछित सुधार लाया जा सकता है; परन्तु जैसा ऊपर कहा गया है इन परिवर्तित मनोवृत्तियों का फल हमें तभी दिखलाई पड़ेगा जब कि स्कूल में शिक्षा पाया हुआ विद्यार्थी प्रौढ़ हो उपर्युक्त समितियों का सदस्य होकर कार्य करने लगेगा। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि स्कूल के विद्यार्थी और शिक्षक इन समितियों के कार्य में सहायता देकर अन्तर्वर्ग अवबोध के हित में काम न करें। वस्तुतः इस प्रकार की सहायता देने के लिए सभी कक्षा के विद्यार्थियों और शिक्षकों को प्रोत्साहित करना चाहिए।

नीचे हम यह समझने की चेष्टा करेंगे कि अन्तर्वर्ग अवबोध लाने के लिए अन्तर्वर्ग शिक्षा में कौन-कौन सी बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

अन्तर्वर्ग शिक्षा के कुछ सिद्धान्त[2]

१—अन्तर्संस्कृति[3] अथवा अन्तर्मूलजातीय[4] शिक्षा के स्थान पर अब 'अन्तर्वर्ग शिक्षा' शब्द का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि अन्तर्वर्ग अवबोध लाने के लिए शिक्षा का कर्तव्य जातीय, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक अवरोधों को दूर करना है।

---

1. Intergroup Understanding and Education. 2. Some Principles of Inter group Education. 3. Intercultural. 4. Interracial.

२—प्रधानतः प्राइमरी कक्षाओं के लिए कुछ विषयों में अन्तर्वर्ग-सम्बन्धी बातें सम्मिलित करनी चाहिए। अन्तर्वर्ग सम्बन्ध[1] अथवा अन्तर्वर्ग समस्यायें[2] नाम के विषय पाठ्यक्रम में नहीं रखने चाहिए।

३—अन्तर्वर्ग अध्ययन में केवल उन्हीं शिक्षकों से सहायता लेनी चाहिए जो इसके लिए इच्छा प्रगट करें। अनिच्छुक शिक्षकों को कार्यक्रम में भाग लेने के लिए बाध्य नहीं करना चाहिए।

४—अन्तर्वर्ग तनाव से सम्बन्धित विभिन्न बातों का अध्ययन करना चाहिए और इस अध्ययन में निकटवर्ती वर्गों सम्बन्धी बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

५—अन्तर्वर्ग विद्यार्थियों की मनोवृत्तियों का अध्ययन करना चाहिए और यह समझने की चेष्टा हो कि किन नई बातों को विद्यार्थियों को सीखना चाहिए और किन सीखी हुई बातों को उन्हें भुला देना चाहिए।

६—उन परिस्थितियों और वस्तुओं का आयोजन करना जिनकी सहायता से विद्यार्थियों की अन्तर्वर्ग-सम्बन्धी अवांछित मनोवृत्तियों को बदला जा सके। इन परिस्थितियों और वस्तुओं में अच्छे चित्रों, चलचित्र, नाटक, रेडिओ, यात्रा, अन्तर्संस्कृति प्रदर्शन, सामाजिक समारोह, कुछ संगठित क्रियाशीलतायें तथा विचार-विनिमय हेतु सभाओं का नाम लिया जा सकता है।

७—अभिक्षेप-पद्धति[3], प्रत्यक्ष[4] निरीक्षण तथा चित्र-विधियों[5] से यह जानने का प्रयत्न करना चाहिए कि विद्यार्थियों की मनोवृत्तियों में किस हद तक वांछित परिवर्तन आ सका।

८—अन्तर्वर्ग-सम्बन्ध को सुधारने के लिए अन्तर्वर्ग-शिक्षा-कार्यक्रम को स्थानीय वर्ग के शिक्षा-कार्यक्रम में मिला देना चाहिए।

---

1. Intergroup Relation. 2. Intergroup Problems. 3. Projective Technique. 4. Direct Observation. 5. Pictorial Devices.

कुक[1] के अनुसार "अन्तर्वर्ग शिक्षा अपने आकार में पिरामिड[2] की तरह नहीं हैं। अन्तवर्ग शिक्षा एक ऐसा निर्माण-कार्य है जिसकी चोटी पर वर्ग के लोगों के विषय में सारी बातें रखी जा सकती हैं। सारी बातों के अन्तर्गत् उनकी रहन-सहन तथा उनके लिए सबसे हितकर बातें आदि को लिया जा सकता है। इस निर्माण-कार्य के एक आधार[3] पर अध्ययन-विधियाँ रखी जा सकती हैं, जिससे किसी आयोजित कार्यक्रम की उपयोगिता को भी मापा जा सके। दूसरे आधार पर हम वर्ग[4]-प्रबन्ध को रक्खेंगे जिससे वर्ग अपने उद्देश्यों की पूर्ति में आगे बढ़ता जाता है। अन्तर्वर्ग शिक्षा के इस कार्यक्रम में स्कूल और कालेजों को समाज की उन संस्थाओं से सीखना चाहिए जो अन्तर्वर्ग अववोध के लिए यत्नशील रहती हैं। इन संस्थाओं में धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं, मजदूर और कृषकों के संघों तथा प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों के नाम लिये जा सकते हैं।"

स्कूल के अन्तर्वर्ग शिक्षा देने के फलस्वरूप जो परिवर्तन विद्यार्थियों की मनोवृत्ति में आयेंगे उसे स्वीकार करने के लिए समाज को तैयार होना चाहिए, अर्थात् यदि स्कूल में शिक्षा पाने के कारण बालकगण अपने व्यवहार में अन्तर्संस्कृति द्वेष और अलगाव न दिखावें तो माता-पिता को इसका विरोध नहीं करना चाहिए।

बालकों को अन्तर्वर्ग शिक्षा देने के साथ-साथ स्कूल को भी अपने प्रबन्ध-सम्बन्धी कार्यों पर दृष्टिपात करते हुये ये प्रश्न पूछने चाहिए: क्या स्कूल के विभिन्न प्रबन्ध-कार्य गणतन्त्रात्मक सिद्धान्तों पर पहले से अधिक आधारित हैं? क्या शिक्षा-संगठन सम्बन्धित समितियों में अन्तर्वर्ग अथवा अल्पसंख्यक वर्ग के व्यक्तियों को रक्खा गया है? क्या अध्यापक के वेतन और उनकी पदोन्नति में जाति, वर्ग, लिङ्ग तथा धर्म आदि पर ध्यान नहीं दिया जाता? यदि इन सब प्रश्नों का उचित उत्तर स्कूल दे सकेगा तो इसका अर्थ यह हुआ कि अन्तर्वर्ग द्वेष को मिटाने के लिए स्कूल वास्तव

1. *Lloyd Cook*, "Intergroup Education" *Review of Educational Research*, 17; 266-278, October, 1947.

2. Pyramid. 3. Base. 4. Group Management.

में प्रयत्न कर रहा है। कहना न होगा कि स्कूल के इस प्रयत्न का विद्यार्थियों के चरित्र बड़ा वांछित प्रभाव पड़ेगा।

अन्तर्वर्ग परस्पर-द्वेष को मिटाकर उनमें सद्भावना पैदा करने की समस्या शिक्षा के अन्तर्गत अभी थोड़े ही दिनों से ली गई है। अतः अन्तर्वर्ग शिक्षा की विधियाँ अभी अपने विकास के क्रम में ही हैं। अतः हमें परीक्षण के आधार पर नई-नई विधियों की कल्पना करनी है। आशा है उपर्युक्त सुझाव के आधार पर कुछ नई विधियों का निर्माण किया जा सकेगा।

अन्तवर्ग अवबोध के लिए पाठ्यवस्तु[1]

अन्तवर्ग अवबोध के लिए सर्व प्रथम विद्यार्थी को विश्व के विभिन्न जाति, वर्ग, धर्म तथा निवासियों का अच्छी तरह ज्ञान देना चाहिए। इसके बाद अपने देश में रहने वाले विभिन्न वर्ग, धर्मावलम्बी तथा निवासियों का ज्ञान देना आवश्यक होगा। साथ ही, विभिन्न वर्ग के उद्योग-धन्धे तथा आर्थिक अवस्था से भी विद्यार्थियों को अवगत करना चाहिए।

जाति और वर्ग की समानता की समस्या का अच्छी प्रकार अध्ययन करने के लिए विद्यार्थियों को उत्साहित करना चाहिए। इस अध्ययन से विद्यार्थी जो कुछ सीखें उन पर कक्षा में अच्छी प्रकार विचार-विनिमय होना चाहिए, जिससे वे कोई गलत धारणा न अपना लें। एक जाति अथवा वर्ग की दूसरे से श्रेष्ठता की भावना एकदम भ्रम है। पाठ्यवस्तु में कुछ ऐसी बातें अवश्य होनी चाहिए जिससे यह भ्रम दूर किया जा सके। किसी वर्ग के जीवन में धर्म का क्या स्थान हो सकता है इसे भी विद्यार्थियों को अच्छी तरह समझाना चाहिए।

अल्पसंख्यक वर्ग की समस्या का अध्ययन इन तीन प्रश्नों के आधार पर करना चाहिए :—१—समाज में कौन कौन से विभिन्न जातीय और धर्मिक वर्ग हैं ? २—अल्पसंख्यक लोगों की अपेक्षायें क्या हैं ? ३—इन अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए क्या-क्या किया जा सकता है ? इन प्रश्नों के

1. Curriculum content for intergroup understanding.

उत्तर जानने के लिए विद्यार्थियों को उत्साहित करना चाहिए और उनके सामने ऐसी सामग्रियाँ रखनी हैं जिनके अध्ययन से वे इन सब बातों को समझ सकें।

विद्यार्थियों को यह भी अन्वेषण करने के लिए उत्साहित करना चाहिए कि राष्ट्रीय संस्कृति के निर्माण में अल्पसंख्यक वर्ग किस प्रकार योग दे सकता है और उनके साथ सहानुभूति और भ्रातृत्व के व्यवहार से राष्ट्र को क्या-क्या लाभ हो सकते हैं। इन सब बातों के ज्ञान से विद्यार्थियों में एक सद्भावना का संचार होगा और अन्तर्वर्ग शिक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति होगी। अतः इन सब बातों को ध्यान में रखकर हमें पाठ्यवस्तु में विविध सामग्रियों का संगठन करना है।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

अल्पसंख्यक की समस्या शिक्षा का विषय

अल्पसंख्यक लोगों की समस्या महत्वपूर्ण। अपनी दशा को दृढ़तर करने की चिन्ता। बहुमत वालों से अल्पसंख्यक अपने को छोटा समझते हैं। अल्पसंख्यक और बहुमत वालों में परस्पर विरोध। अल्पसंख्यक की समस्या शिक्षा के लिए महत्वपूर्ण विषय।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अलपसंख्यक की समस्या

भौगोलिक, आर्थिक और राजनैतिक दशा तथा जनसंख्या के कारण।

अन्तर्वर्गों में अहेतुक धारणा के कुछ कारण

यकायक नहीं। अनुभव का आधार। घरेलू परिस्थितियाँ और माता-पिता की मनोवृत्तियाँ भी कारण।

आन्तरिक और वाह्य वर्ग मनोवृत्ति के कारण अपसी तनाव। गलत ज्ञान से भी अहेतुक धारणा। मूल जाति अथवा वंश-सम्बन्धी अनुदार भावना।

वर्ग के किसी व्यक्ति विशेष के साथ कटु अनुभव के आधार पर पूरे वर्ग

के विरुद्ध अहेतुक धारणा बना लेना। हमारे देश के निवासियों में परस्पर-सद्भावना की कमी।

अरक्षित समझने की भावना से उत्पन्न भग्नाशा अहेतुक धारणा का कारण।

अहेतुक धारणा की गहनता की मात्रा

१—वर्ग के व्यक्तियों से सम्बन्ध न रखना, परन्तु स्पष्टतः कुछ कहना नहीं।

२—मन से मनमुटाव का प्रदर्शन कुछ व्यवहारों द्वारा करना।

३—एक वर्ग का दूसरे वर्ग द्वारा सामाजिक वहिष्कार।

४—एक वर्ग का कानूनी अधिकार चला जाना

५—वर्ग के विरुद्ध कटु प्रचार।

६—एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर हिंसात्मक प्रहार करना।

अन्तर्वर्ग अवबोध और शिक्षा

शिक्षा द्वारा सहायता। परन्तु सफलता देर से। कुछ तात्कालिक समितियों द्वारा भी सहायता लेना। परन्तु शिक्षा की सहायता से मनोवृत्तियों में स्थायी सुधार सम्भव।

अन्तर्वर्ग शिक्षा के कुछ सिद्धान्त

१—'अन्तर्वर्ग शिक्षा' शब्द का प्रयोग।

२—पाठ्यक्रम में अन्तर्वर्ग सम्बन्धी बातें सम्मिलित हों।

३—इच्छुक शिक्षकों से ही सहायता।

४—अन्तर्वर्ग तनाव-सम्बन्धी बातों का अध्ययन।

५—अन्तर्वर्ग विद्यार्थियों की मनोवृत्तियों का अध्ययन।

६—विद्यार्थियों की मनोवृत्ति-परिवर्तन के लिये कुछ विशिष्ट परिस्थितियों का आयोजन करना।

७—विद्यार्थियों की मनोवृत्ति में आये हुए परिवर्तन का अध्ययन।

८—स्थानीय वर्ग के शिक्षा-कार्यक्रम के साथ अन्तर्वर्ग शिक्षा का कार्यक्रम।

अन्तर्वर्ग शिक्षा अपने आकार में पिरामिड की तरह नहीं।

विद्यार्थियों में आई हुई अच्छी मनोवृत्ति का माता-पिता को विरोध न करना।

स्कूल को अपने प्रबन्ध-सम्बन्धी कार्यों में गणतन्त्रात्मक सिद्धान्तों को अपनाना।

अन्तर्वर्ग शिक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्त अभी अपने विकास-क्रम में।

अन्तर्वर्ग अवबोध के लिए पाठ्यवस्तु

विश्व तथा अपने देश के विभिन्न जाति, वर्ग, धर्म तथा निवासियों का ज्ञान। विभिन्न वर्ग के उद्योग-धन्धे तथा आर्थिक अवस्था का ज्ञान। जाति और वर्ग की समानता की समस्या का अध्ययन।

अल्पसंख्यक वर्ग की समस्या का अध्ययन।

राष्ट्रीय संस्कृति के निर्माण में अल्पसंख्यक वर्ग के योग का अध्ययन।

सहायक पुस्तकें

१—बेरी, बी : रेस रीलेशन्स, हूफटन मिफ्लिन, बोस्टन, १९५१।
२—ब्रैमेल्ड, टी० बी० : मायनॉरिटी प्राबलेमस इन द पब्लिक स्कूल, हार्पर, न्यूयार्क, १९४६
३—कोन्ट्रिल, एच० (सम्पादक) : टेन्शन्स दैट कॉज़ वार्स, यूनिव् इलिन्वॉय, अरबाना, १९५०।
४—कनिङ्घम ऐण्ड अदर्स : सम गुड प्रैक्टिसेज़ इन इण्टरकल्चरल एडूकेशन, नेशनल कॉन्फेरेन्स ऑव् क्रिश्चियन्स ऐण्ड ज्यूज, न्यूयार्क १९४४।
५—ल्यूविन, के० : रिसौलविङ्ग सोशलकॉनाफ्लिक्ट्स, हार्पर न्यूयार्क, १९४८।
६—रोज़, अरनॉल्ड, रेस प्रेजिड्युस ऐण्ड डिसक्रिमीनेशन, अल्फ्रेड ए० नॉफ, न्यूयार्क, १९५१।
७—मूर एण्ड कोल : सोशियॉलॉजी इन एडूकेशनल प्रैक्टिस, अध्याय ११, हूफ्टन, मिफ्लिन, न्यूयार्क, १९५२।

———

२३

सामाजिक परिवर्तन और शिक्षा[1]

परिवर्तन की निरन्तरता[2]

यह एक सत्य है कि यह जगत् परिवर्तनशील है। 'अतः परिवर्तनशीलता सनातन और सार्वलौकिक है। प्रत्येक वस्तु परिवर्तन के क्रम में है। कदाचित् 'तत्व[3]' और शक्ति[4] ही जिससे सभी वस्तुएँ निकलती हैं वे ही परिवर्तन के परे हैं। इनको छोड़ कर आज जो वस्तु हमारे सामने हैं वह कल या पहले जैसी थी उससे अब भिन्न है[5]'। परन्तु हमारा यहाँ प्रधान तात्पर्य सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तनों और शिक्षा में उनके सम्बन्ध से है। शताब्दियों से मानव अपनी रहन-सहन, अपने हथियार, अस्त्र तथा सुख के विभिन्न साधनों में परिवर्तन लाते रहने की सतत चेष्टा में रहता है। भाषा जो मानव की अद्वितीय शक्ति है वह सदैव परिवर्तन और विकास के क्रम में रहती है। ज्यों-ज्यों मनुष्य में नये-नये विचारों का विकास होता है त्यों-त्यों भाषा में उन नये विचारों को व्यक्त करने के लिए नये शब्दों का भी आविष्कार किया जाता है। विभिन्न सामाजिक संस्थायें भी मानव-विकास के साथ अपने संगठन, रूप और कार्य के सम्बन्ध में बदलती रहती हैं। इस प्रकार मानव की आवश्यकताओं और इच्छाओं के अनुसार सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तन होते रहते हैं।

---

1. Social Change and Education. 2. Continuity of Change 3. Matter 4. Energy.

5. *MacIver*, R. M. *Social Causation*, p. 10, Ginn, New York, 1942.

सामाजिक बनावट और कार्यों में जो परिवर्तन होते हैं उन्हें सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। सांस्कृतिक परिवर्तन के तात्पर्य और बृहद् होते हैं। इनके अन्तर्गत कला[1], विज्ञान[2] तथा यन्त्रविद्या[3] में आने वाले परिवर्तन आ जाते हैं।

परिवर्तन के अन्तर्गत तीन बातें देखी जा सकती हैं—१ वह जो परिवर्तित होती है, २—जो स्थिर रहती है, और ३—समय का वह विस्तार जिसमें परिवर्तन घटित होता है।

मनुष्य ही परिवर्तन लाता है[4]

कहना न होगा कि 'मनुष्य ही इन सब परिवर्तनों को लाता है। मनुष्य ही वैज्ञानिक आविष्कारों के सृजन से अपने व्यवस्थापन-क्रम में प्रकृति में नाना प्रकार का परिवर्तन लाता है। मनुष्य अपनी सामाजिक संस्थाओं का संगठन करता है, और फिर उनमें परिवर्तन करता है।'[5] वह एक संस्कृति का विकास करता है, और फिर वह उन साधनों का विकास करता है जिनसे संस्कृति के विभिन्न तत्व इधर-उधर फैलाये जा सकें। मनुष्य विविध बीमारियों का शिकार होता है और फिर उनसे मुक्ति पाने के लिए चिकित्सा-विद्या का विकास करता है। वह प्रकृति में परिवर्तन लाता है और फिर इस परिवर्तन का कुफल भी उसे भोगना पड़ता है।

आज का मानव विभिन्न सांस्कृतिक और सामाजिक तत्वों में इस प्रकार घिरा हुआ है कि उनमें आते रहने वालों परिवर्तनों को समझना उसके लिए अत्यन्त कठिन हो रहा है। इन तत्वों में से कुछ तो बहुत ही धीरे-धीरे विकसित होते हैं और कुछ एक दिन या रात में परिवर्तित हो जाते हैं। वातावरण में अपने को व्यवस्थित करने के लिए व्यक्ति नई मनोवृत्तियों, आदर्शों और उद्देश्यों को बड़े शीघ्र विकसित कर लेता है। साथ ही प्राकृतिक और सामाजिक दोनों दृष्टि से अपने वातावरण में कुछ हद

1. Art. 2. Science. 3. Technology. 4. Man Brings Changes.

5. *Abbott, P. Herman : An Approach to Social Problems*, P. 56, Ginn, Boston, 1949.

तक वह परिवर्तन ला सकता है। प्राकृतिक क्षेत्र में विज्ञान का वह सहारा लेता है, जैसे बंजर भूमि को उपजाऊ बनाने, पौधों और पशुओं को अधिक अच्छा बनाने, जंगल के परिवर्तन करने तथा नदियों के उपयोग करने में।

अपने को परिवर्तित करने तथा सामाजिक संगठनों का विकास करने के लिए मनुष्य को शिक्षा का सहारा लेना होगा। इस शिक्षा का रूप सविधिक[1] और अविधिक[2] दोनों होगा। सविधिक शिक्षा में स्कूल और कालेजों का नाम लिया जा सकता है और अविधिक शिक्षा में, प्रचार, विज्ञापन, रेडिओ, समाचार-पत्र, सभा, नाटक, तथा विचार-विनिमय के लिए गोष्ठियों के नाम लिये जा सकते हैं। परन्तु बहुत से सामाजिक परिवर्तन बिना किसी पूर्व योजना अथवा विचार के स्वतः चले आते हैं। इन परिवर्तनों के कारण को समझना बड़ा कठिन है। परन्तु उन्हें व्यक्ति स्वीकार करता है, क्योंकि उनसे उसे सन्तोषजनक और सुखद सामाजिक अनुभव मिलते हैं।

आविष्कार से सामाजिक परिवर्तन[3]

अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति की चेष्टा-क्रम में मनुष्य ने अनेक ऐसे आविष्कारों का निर्माण किया है जिनसे उसकी रहन-सहन में भारी परिवर्तन आया है। एक समय वह था जब मनुष्य आग का उपयोग नहीं जानता था और तब उसने आग का और लकड़ी और पत्थर के अस्त्र का प्रयोग करना सीखा। तब के मानव से आज के मानव की तुलना करते हैं तो हमें आश्चर्य होता है कि वह अब इतनी लम्बी यात्रा तय कर चुका है कि उसके लिए २४ घण्टे में सारी पृथ्वी की परिक्रमा कर लेना सरल हो गया है। कदाचित् मनुष्य अपने आविष्कार की गति रोक न सकेगा, क्योंकि एक आविष्कार के आने पर दूसरे आविष्कार का खोज निकालना उसके लिए आवश्यक हो जाता है, क्योंकि दूसरे आवि-ष्कार बिना पहला आविष्कार उसे अपूर्ण सा लगता है। फलतः

1. Formal. 2. Informal. 3. Social Change by Invention.

आविष्कारों की संख्या इतनी बढ़ती जा रही है कि उन्हें याद करना अथवा उनसे अवगत होना किसी भी सामान्य व्यक्ति के लिए असम्भव सा हो रहा है। इस प्रकार हमारे समाज में आविष्कारों की संख्या दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही हैं, और साथ ही समाज भी प्रगतिशील हो उन परिवर्तनों को अपनाता जा रहा है।

सामाजिक परिवर्तन और शिक्षा

समाज की प्रगतिशीलता के लिए एक ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जो व्यक्तियों को उदार दृष्टिकोण का बनावे। परन्तु इस उदार दृष्टिकोण का तात्पर्य यह नहीं कि किसी वस्तु को बिना किसी परीक्षा और पहचान किए व्यक्ति स्वीकार कर ले। वस्तुतः प्रगतिशील समाज में अन्वेषण, अनुसन्धान और परीक्षण को प्रोत्साहित करना चाहिये, जिससे नये नये सत्यों की पहचान कर व्यक्ति अपने विकास को और आगे बढ़ावे। अनुसन्धान, अन्वेषण और परीक्षण की सुविधा रहने पर सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तन बड़ी तीव्र गति से चलता है। तब शिक्षा की भी व्यवस्था इस प्रकार की जाती है कि उससे आवश्यक सामाजिक परिवर्तन को प्रोत्साहन मिले। शिक्षा का स्वरूप प्रयोजनात्मक हो जाता है। संयोग पर निर्भर रहना बुरा माना जाता है, अतः परिवर्तन की गति पर कुछ नियन्त्रण रखा जाता है जिससे परिवर्तन के प्रभावस्वरूप अवांछित चरित्र के व्यक्ति न पैदा हो जाँय। शिक्षा एक ऐसा साधन है जिसका उपयोग एक नये समाज की स्थापना के लिए अथवा पुराने की रक्षा के लिये किया जाता है। बड़ी-बड़ी राजकीय, धार्मिक व्यापारिक तथा वैज्ञानिक संस्थायें अपने-अपने विश्वास के आधार पर सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए शिक्षा की ही ओर झुकती हैं।

परिश्रम और कल्पना के आधार पर सांस्कृतिक विकास जो होता है केवल उसी के आधार पर मनुष्य सुखी नहीं हो सकता। यदि वह इस विकास का सदुपयोग करता है तो उसे कुछ सन्तोष और सुख का आभास हो सकता है। परन्तु बिना उचित निर्देशन अर्थात् शिक्षा के वह अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास को नहीं प्राप्त कर सकता। शिक्षा व्यक्ति को

एक निर्दिष्ट दिशा की ओर नियोजित करती है जिससे वह विभिन्न योग्यताओं को प्राप्त कर अपना पूर्णतम विकास कर सके। समाज के प्रतिनिधिगण कुछ ऐसे उद्देश्यों को सामने रखते हैं जिनके प्राप्त करने से व्यक्ति का पूर्णतम विकास होता है और साथ ही उत्तम सामाजिक सम्बन्ध भी विकसित होता है। ये उद्देश्य व्यक्ति की उम्र, योग्यता तथा वातावरण के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं, परन्तु सभी सामाजिक परिवर्तन के स्वरूप पर प्रभाव डालते हैं। उदाहरणार्थ; एक प्राइमरी स्कूल के बालक के सामने जो उद्देश्य रक्खे जाते हैं वे एक विश्वविद्यालय के विद्यार्थी के सामने रक्खे जाने वाले उद्देश्य से भिन्न होंगे।

भौतिक संस्कृति-सम्बन्धी जो विभिन्न वस्तुएँ हैं वे शिक्षा के ही फल हैं। परन्तु भौतिक संस्कृति-सम्बन्धी वस्तुओं के अतिरिक्त जो अन्य वस्तुएँ हैं वे शिक्षा पर अधिक निर्भर करती हैं। उदाहरणार्थ; भाषा का जो एक अभौतिक[1] वस्तु मानी जा सकती है और जिसका सामाजिक मूल्य बहुत ही अधिक है—बिना शिक्षा के अधिक उपयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि बिना शिक्षा के व्यक्ति के भाषा-शक्ति का विकास ही नहीं हो सकेगा। इस प्रकार शिक्षा का प्रभाव और क्षेत्र बहुत ही व्यापक है।

वर्तमान ज्ञान और नए अन्वेषण अथवा अनुसन्धान के परस्पर-सम्बन्ध को शिक्षा द्वारा प्रभावित किया जा सकता है। प्रत्येक नए अन्वेषण का मानव के जीवन तथा अन्य वर्ग के व्यक्तियों के साथ उसके सम्बन्ध पर सीधा प्रभाव पड़ता है। नये-नये अन्वेषणों तथा विचारों के आगमन में अर्थात् सामाजिक परिवर्तन में शिक्षा दो प्रकार का कार्य करती है :—

१—संस्कृति के भौतिक और अभौतिक वस्तुओं की रक्षा करना, तथा

२—भौतिक संस्कृति-सम्बन्धी नए अन्वेषणों को आगे बढ़ाना और मानव के सामाजिक जीवन में नये-नये विचारों को विकसित करना। फलतः सामाजिक संगठनों के विकास में शिक्षा का कार्य बड़ा ही महत्वपूर्ण है। सामाजिक जीवन में कुशलता प्राप्त करने के लिए व्यक्ति शिक्षा की सहायता के लिए ही झुकता है। हाँ, यह सत्य है कि शिक्षा व्यक्ति के

1. Non-Material.

व्यक्तित्व का विकास करती है, परन्तु इस विकास के साथ शिक्षा यह भी ध्यान रखती है कि व्यक्ति को ऐसा बनाया जाय कि वह विभिन्न सामाजिक संगठनों के सुकार्यों में अपना योग दे सके। वस्तुतः इस प्रकार का योग दे सकना उसके व्यक्तित्व-विकास के अन्तर्गत ही आता है।

गत पृष्ठों में विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सामाजिक परिवर्तन का होना आवश्यक है। इस सामाजिक परिवर्नन का रूप उन लोगों द्वारा निर्धारित किया जाता है जो कि इसकी आवश्यकता को समझते हैं। गणतन्त्रात्मक राज्य में अपने प्रतिनिधियों और नेताओं द्वारा जनता इस परिवर्तन पर अपना प्रभाव डालती रहती है। ऊपर हम कह चुके हैं कि सांस्कृतिक परिवर्तन का प्रभाव सामाजिक परिवर्तन पर पड़ता है, और यह सामाजिक परिवर्तन स्वतः बिना किसी लक्षित योजना और उद्देश्य के आ जाता है। इस सामाजिक परिवर्तन में एक वांछित योजना और उद्देश्य डालने के लिए यह आवश्यक है कि लोग उसका अध्ययन करें और एक निश्चित योजनानुसार कार्य करें। अतः किसी सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध में जनता की उदासीनता की अवहेलना नहीं की जा सकती। इस उदासीनता को दूर करने का हमारा प्रयत्न होना चाहिए। तभी हम जनता का पूरा-पूरा सहयोग प्राप्त कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में शिक्षा-संस्थाओं का दो उत्तरदायित्व जान पड़ता है—१—वांछित सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता की चेतना जनता में उत्पन्न करना, तथा २—ऐसे योग्य नेताओं का तैयार करना जो कि यह समझ सकें कि कौन से परिवर्तन वांछित हैं और उन्हें कैसे लाया जा सकता है।

जनता में 'आवश्यकता' की चेतना उत्पन्न करने के लिए एक संगठित शिक्षा-व्यवस्था होनी चाहिए। बहुत से लोग अच्छी सरकार, क्रय और विक्रय की अच्छी व्यवस्था, स्वास्थ्य, रक्षा के लिए अच्छे अवसर तथा मनोरंजन के अच्छे साधन आदि का ठीक-ठीक अर्थ नहीं समझते। इन सबके सम्बन्ध में हमारी आवश्यकता की पूर्ति अपने-आप नहीं हो जायगी। उसके लिए हमें आयोजित प्रयास करते रहने पड़ेंगे और इस प्रयास में

सभी लोगों का सहयोग मिलना चाहिये। सुव्यवस्थित शिक्षा ही हमें यह सिखा सकेगी कि यह प्रयास हम कैसे करें और इसमें जनता का हार्दिक सहयोग कैसे प्राप्त करें। शिक्षा ही हमें यह समझा सकेगी कि इसके लिए हमें वर्षों तक ही नहीं, वरन् सतत प्रयास करते रहना चाहिए।

यह सत्य है कि पहले किसी भी सामाजिक परिवर्तन का साधारण जनता विरोध करती है। हम सब लोगों का यह अनुभव है कि हम लोग अपना पुराना जूता भी फेंकने में एक बार हिचकते हैं। इसी प्रकार यह जानते हुए भी कि परिवर्तन हमारे लाभ के लिए ही है हम उसका पहले विरोध करते हैं। जब हमें परिवर्तन की आवश्यकता का ज्ञान नहीं रहता तो हम उसके विषय में कुछ भी नहीं करते। हमें अपनी आवश्यकता का ज्ञान देना और उसकी पूर्ति के साधनों से अवगत करना तथा उच्च उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उनका उपयोग करना सिखाना शिक्षा का उत्तरदायित्व है।

उपर्युक्त विचारधारा से स्पष्ट है कि यदि शिक्षा बालकों को सद्बुद्धि, अच्छी मनोवृत्ति, आदर्श, और योग्यतायें दें तो आने वाले सामाजिक परिवर्तन को कुछ सीमा तक हम अपनी आवश्यकता तथा इच्छानुसार मोड़ सकते हैं।

सामाजिक परिवर्तन लाने की दो विधियाँ हो सकती हैं:—१—संगठित रूप से धीरे-धीरे परिवर्तन लाना, अथवा २—आन्दोलन या क्रान्ति से तुरन्त परिवर्तन लाना। दूसरी विधि में घृणा, अत्याचार तथा गहन संवेगों का मिश्रण होता है। अतः दूसरी विधि से लाये हुये परिवर्तन के फलस्वरूप बहुत से लोगों को यातनायें भोगनी पड़ती हैं। १६८८-१६८६ की इंगलैण्ड की क्रान्ति, फ्रान्स की राजक्रान्ति, १७७५-१७८३ की अमेरिका की क्रान्ति तथा रूस की राजक्रान्ति आदि इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। आज के युग में सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए हमें ऐसी क्रान्ति की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। अब हमें मानव-विकास की प्रगति का इतना बोध हो गया है कि एक योजनानुसार जनता के सहयोग

के साथ क्रमिक रूप से हम सामाजिक परिवर्तन ला सकते हैं। इसमें हमें तीन प्रकार से शिक्षा की सहायता की आवश्यकता है:—१—सामाजिक परम्पराओं और रूढ़ियों के सदुपयोग के लिए व्यक्ति को विवेक देना जिससे व्यक्ति यह समझ सके कि उसे किन परम्पराओं और रूढ़ियों को स्वीकार करना है और किन का त्याग करना है; २—व्यक्ति को ऐसा ज्ञान और शक्ति देना कि वह निर्भय होकर सामाजिक बातों की आलोचना कर सके; और ३—व्यक्ति को ऐसा बनाना कि वह सुनिश्चित और सुयोजित योजना में अपना पूरा सहयोग दे सके।

शिक्षा को भूत काल की सम्पत्ति को अगली पीढ़ी को देते चलना है। शिक्षा का यह कार्य बहुत ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि बिना भूत के ज्ञान के हम अपनी वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को चला ही नहीं सकते। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि भूत काल को सारी बातों को बिना तर्क और विवेक की कसौटी पर कसे ही हम मान लें। भूतकाल की हमारी इस प्रवृत्ति ने ही आज की सामाजिक व्यवस्था को कुछ डॉवाडोल बना दिया है। अब हमें अपनी सामाजिक परम्पराओं और रूढ़ियों की विश्लेषणात्मक परीक्षा करनी चाहिए। हमें इनमें से अज्ञान तथा अन्धविश्वास को निकाल देना चाहिए। इन्हें निकालने के क्रम में इतिहास का अध्ययन हमारी बड़ी सहायता कर सकता है। वर्तमान सामाजिक रचना को सहिष्णुता के दृष्टिकोण से हम तब तक नहीं देख सकते जब तक हमें उसके मूल का ज्ञान नहीं है। इतिहास द्वारा ही हम उसके मूल का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इसी प्रकार सामाजिक बुराइयों और अपर्याप्तता के ज्ञान के आधार पर ही हम सामाजिक सुधार के लिये कार्य कर सकते हैं। इनका ज्ञान हमें इतिहास के अध्ययन से ही हो सकता है। इस ज्ञान के प्राप्त कर लेने के बाद अन्य सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन से हमें वर्तमान सामाजिक व्यवस्थाओं का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इसके लिये हमें राजनीति-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र तथा नागरिक-शास्त्र आदि विषयों का अध्ययन करना चाहिए।

ऊपर संकेत किया गया है कि यह बतलाना शिक्षा का उत्तरदायित्व है कि समाज में शान्तिपूर्वक आवश्यक सुधार लाने के लिए किस प्रकार

कदम उठाया जाय। शिक्षा की सहायता से ही हम अपने समाज और संस्कृति में आवश्यक सुधार ला सकते हैं और हाइड्रोजन बॉम से उसकी रक्षा कर सकते हैं। यदि शिक्षा हमारे समाज और संस्कृति की रक्षा नहीं करती तो शिक्षा स्वयं नष्ट हो जायगी।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

परिवर्तन की निरन्तरता

जगत परिवर्तनशील। मानव परिवर्तन लाने की सतत चेष्टा में। सामाजिक संस्थायें भी बदलती रहती हैं। मानव की आवश्यकताओं और इच्छाओं के अनुसार सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तन।

मनुष्य ही परिवर्तन लाता है

मनुष्य ही परिवर्तन लाता है। परन्तु आते हुए कुछ परिवर्तनों को ठीक-ठीक समझना उसके लिए कठिन।

परिवर्तन में शिक्षा का सहारा। बहुत से परिवर्तन बिना किसी पूर्व योजना के।

आविष्कारों से सामाजिक परिवर्तन

आविष्कारों के साथ समाज की प्रगतिशीलता।

व्यक्ति को उदार बनाने वाली शिक्षा की आवश्यकता। अन्वेषण, अनुसन्धान और परीक्षण को प्रोत्साहन देना। सामाजिक परिवर्तन के लिये शिक्षा का सहारा।

शिक्षा से व्यक्ति एक निर्दिष्ट दिशा की ओर नियोजित। शिक्षा से व्यक्तित्व विकास। शिक्षा का प्रभाव और क्षेत्र बहुत ही व्यापक।

वर्तमान ज्ञान और अन्वेषण का परस्पर-सम्बन्ध शिक्षा द्वारा प्रभावित। सामाजिक संगठनों के विकास में शिक्षा का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण।

सामाजिक परिवर्तन आवश्यक। एक वांछित योजना और उद्देश्य का होना आवश्यक। इसमें शिक्षा-संस्थाओं का उत्तरदायित्व।

जनता में आवश्यकता की चेतना उत्पन्न करने के लिए एक सुसंगठित शिक्षा-व्यवस्था।

परिवर्तन का जनता पहिले विरोध करती है। परिवर्तन की आवश्यकता का ज्ञान जनता को देना।

सामाजिक परिवर्तन लाने की दो विधियाँ। क्रमिक रूप में जनता के सहयोग से परिवर्तन के लिए शिक्षा से तीन प्रकार की सहायता आवश्यक।

सामाजिक परम्पराओं और रूढ़ियों का विश्लेषणात्मक परीक्षा करना। अज्ञान तथा अन्धविश्वास को छोड़ना। इतिहास का अध्ययन सहायक। अन्य सामाजिक विज्ञानों का भी अध्ययन आवश्यक।

सहायक पुस्तकें

१—बीयर, आर० एम०, द सोशल फंक्शन्स ऑव् एडूकेशन, अध्याय १३, मैकमिलन, न्यूयार्क, १९३७।

२—काउण्टस, जी० एस० : द सोशल फ़ॉउण्डेशन्स ऑव् एडूकेशन, चार्ल्स स्क्रिबनर्स ऐण्ड सन्स, न्यूयार्क, १९३४

३—मैकआइवर, आर० एम०, सोशल काजेशन, गिन, बोस्टन, १९४२।

४—मीड, एम०, ऐण्ड कीप, योर पाउडर ड्राई, विलियम मारो ऐण्ड कम्पनी, १९४२

५—रूसेल, जे० एम० सोशियलॉजिकल फाउण्डेशन्स ऑव् एडूकेशन, अध्याय ११, टॉमस वाई० क्रोवेल कं० न्यूयार्क, १९४२।

६—ओरवे, ए० के० सी० एडूकेशन ऐण्ड सोसाइटी, अध्याय ३, रूटलेज़ ऐण्ड केगनपॉल, लन्डन, १९५३।

———

चतुर्थ खण्ड

शिक्षण सिद्धान्त

२५

शिक्षक[1]

शिक्षा की सफलता सदा शिक्षक पर निर्भर होती है। पाठ्य-क्रम का संगठन कितना ही अच्छा क्यों न हो, पर यदि शिक्षक योग्य न हुआ तो सारा परिश्रम व्यर्थ जायगा। शिक्षा प्राप्त करने के बाद व्यक्ति विधि और संगठन की अपेक्षा अपने शिक्षक को अधिक याद करता है। अतः शिक्षक का स्थान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। शिक्षा रूपी नाव का माझी शिक्षक ही है। वह बालक को चाहे जिस ओर झुका सकता है। उसे अच्छा अथवा बुरा बनाने में उसका बड़ा हाथ है। शिक्षक ही बालक के भव्य जीवन और मस्तिष्क का निर्माता है। यदि शिक्षक का व्यक्तित्व[2] आदर्श हुआ तो वैज्ञानिक विधि का ज्ञान न रखते हुए भी वह बालक के उचित पथ-प्रदर्शन में सफल होगा। इसका यह तात्पर्य नहीं कि उसे वैज्ञानिक विधि सीखने की आवश्यकता ही नहीं। यदि चरित्र, बुद्धि, नेतृत्व की शक्ति तथा स्वास्थ्य के साथ-साथ उसे शिक्षण की वैज्ञानिक विधियों का भी ज्ञान है तो मानो सोने में सुगन्ध भी आ गई। जैसे कविता और संगीत एक कला है उसी प्रकार शिक्षण भी एक कला है। जैसे कवि या संगीतज्ञ विभिन्न प्रकार के हुआ करते हैं, वैसे ही शिक्षक भी कई कोटि के होते हैं। कहा जाता है कि कविता और संगीत की शक्ति दैवी होती है। अपनी प्राप्त शक्ति के अनुसार ही कोई कविता या संगीत-क्षेत्र में बढ़ सकता है। यदि दैवी शक्ति न हुई तो शब्दों के जोड़ने से न तो कोई कवि हो सकता है और न गला फाड़-फाड़ कर चिल्लाने से संगीतज्ञ। यही बात शिक्षक के

1. The Teacher. 2. Personality.

सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। कुछ लोग शिक्षण-कार्य के लिए इतने अयोग्य होते हैं कि उन्हें शिक्षक बना देना उनके ही प्रति नहीं वरन् सारे बालक-समाज अर्थात् राष्ट्र के प्रति अन्याय करना है।

आजकल शिक्षा-प्रसार के कारण हमारे देश में लाखों शिक्षकों की आवश्यकता है। हमारे देश में शिक्षकों का स्तर दिन पर दिन गिरता ही जा रहा है। उनमें से बहुत से तो कक्षा में भली-भाँति अपने विचार व्यक्त भी नहीं कर सकते और न उनका आचार-व्यवहार ही ऐसा दिखलाई पड़ता है कि उनके निरीक्षण में भावी संतान के शिक्षा-कार्य को सौंपा जाय। वे अपने कर्तव्य की गुरुता को समझते ही नहीं। इसे देश का दुर्भाग्य नहीं तो और क्या कहा जाय? देश की आर्थिक और सामाजिक परिस्थित ऐसी है कि जिसे कहीं ठिकाना नहीं मिलता, वह शिक्षक बनने की सोच लेता है और सौ प्रयत्न कर शिक्षक बन जाता है, मानो शिक्षण-कार्य सबसे निकृष्ट और सरल है। इस पतन के लिए हमारी सामाजिक व्यवस्था भी कुछ हद तक उत्तरदायी है। शिक्षक को वेतन इतना कम मिलता है कि योग्य व्यक्तियों की रुचि शिक्षण-कार्य की ओर कम होती है। फलतः हम यह नहीं कह सकते कि आजकल हमारे स्कूलों में वास्तविक योग्य शिक्षकों का प्रवेश हो रहा है। यहाँ शिक्षण-शास्त्र पर विचार करने के पहले शिक्षक के कुछ गुणों पर दृष्टिपात करना आवश्यक जान पड़ता है, क्योंकि शिक्षा की सफलता का सबसे अधिक उत्तरदायित्व उसी पर है।

शिक्षक बालक के लिए सभी गुणों का प्रतीक है। इस भावना से जो शिक्षक अभिभूत रहते है वास्तव में उन्हीं का शिक्षक होना सार्थक है और उन्हीं से बालक सबसे अधिक सीखता है। ऐसे ही शिक्षकों को वह स्कूल छोड़ देने के बाद भी स्मरण करता है। ऐसे ही शिक्षक अपनी गम्भीर वाणी से बालकों का कुछ ऐसे विचार देते हैं जो उनके कानों में आजीवन गूँजा करते हैं। शिक्षक को बालक के व्यवहार में विनय[1] लाने का प्रयत्न करना चाहिए। बालक मूल-प्रवृत्त्यात्मक[2] प्राणी होता है। यदि उसमें विनय लाने की चेष्टा न की गई तो उसका जीवन पशुवत् हो जायगा।

1. Discipline. 2. Instinctive Creature.

यदि उस पर आवश्यक नियन्त्रण न रखा जाय तो शिक्षण का सारा कार्य विफल हो जायगा। कक्षा में विनय स्थापित करने का यह तात्पर्य नहीं कि बालक अपना व्यक्तित्व ही खो दे और अपनी जिज्ञासाओं को भीतर ही मसोस बैठे। ऐसा अर्थ लगाना तो उसके विकास को एकदम कुण्ठित करना होगा। कक्षा मे पाठ्य-वस्तु-सम्बन्धी अपनी शंकाओं के समाधान के लिए बालक को पूरी स्वतन्त्रता देनी होगी, अन्यथा उसका व्यक्तित्व पनप न सकेगा। अब प्रश्न यह है कि कक्षा में विनय स्थापित करने के लिए शिक्षक क्या करे।

बहुधा यह देखा जाता है कि जो बालक पढ़ने-लिखने में मन नहीं लगाता विशेषकर वही कक्षा में अविनय का कारण होता है, अथवा बेकार रहने पर कक्षा के सभी बालक अविनय लाने में सहयोग देते हैं। अतः सर्व प्रथम यह आवश्यक है कि शिक्षक बालक को सदा किसी न किसी काम में लीन रखे। बेकारी ही अविनय की जड़ है। यदि बालक किसी न किसी काम में लगा रहा तो अविनय का विचार ही उसमें न आयेगा। चंचल रहना बालक का स्वभाव है। उसे कुछ न कुछ सदा करते रहना चाहिये। शिक्षक को अपने पाठ की तैयारी इतनी चतुरता से करनी चाहिये कि वह सदा यह जानता रहे कि दूसरे क्षण उसे क्या करना है। शिक्षक की इस प्रकार की तैयारी बालकों को सदा एक न एक कार्य में लगाये रहेगी। उचित तो यह है कि अवकाश के समय भी बालकों का अपना समय एक निश्चित योजना के अनुसार ही बिताना हो। पर यह योजना ऐसी हो कि उनकी स्वतन्त्रता का सर्वथा अपहरण न हो जाय। उदाहरणार्थ, अवकाश के समय विभिन्न कक्षा के बालकों के लिए, भाँति-भाँति के खेल के आयोजन किये जॉय तो प्रत्येक कक्षा अपनी ही सीमा के अन्तर्गत रहेगी और बालकों में हर समय कुछ न कुछ करते रहने की प्रवृत्ति आ जायगी। जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए यह प्रवृत्ति बहुत ही आवश्यक है, क्योंकि क्रियाशील व्यक्ति की ही सफलता सदैव दासी बनी रहती है। पर यह ध्यान रखना है कि सभी बालकों को एक ही प्रकार की क्रियाशीलता प्रिय नहीं होती, अर्थात् उनकी वैयक्तिक

भिन्नता पर भी ध्यान देना आवश्यक है और उसी के अनुरूप उन्हें कार्य देना है।

कक्षा-शिक्षण में भी वैयक्तिक भिन्नता पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। पर यह बालक की मनोवृत्ति के ज्ञान बिना सम्भव नहीं। इसके लिए शिक्षक को मनोविज्ञान का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। इस ज्ञान के सहारे, शिक्षा की विभिन्न विधियों को समझ कर वह यह जान सकेगा कि कब किस विधि का प्रयोग आवश्यक है। इसके लिए शिक्षा की प्रगति से उसका पूरा परिचय होना चाहिए, जिससे वह किसी शिक्षाप्रणाली का अन्वेषण कर उसकी उपादेयता को समझ सके और अपने बालकों की शिक्षा के लिये उचित विधि चुन सके। शिक्षक का कर्तव्य बालकों की मानसिक उन्नति में योग देने तक ही सीमित नहीं है। उसे बालकों के शारीरिक परीक्षण और शारीरिक अंगों के विकास से भी पूरा परिचय रखना चाहिए, जिससे वह उनके कक्षा में बैठने, उठने तथा खड़े होने आदि विधियों पर उचित ध्यान दे सके। मानसिक विकास का शारीरिक उन्नति से घनिष्ठ सम्बन्ध है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार व्यक्ति मनः शारीरिक प्राणी है, अर्थात् व्यक्ति का विकास उसकी शारीरिक और मानसिक दोनों उन्नति पर निर्भर होता है। जब तक बालक स्कूल में है, शिक्षक को यह ध्यान रखना है कि गलत ढङ्ग पर बैठने, खड़े होने अथवा खेलने के कारण बालक अपने किसी अंग को विकृत न बना ले।

ऊपर हम यह संकेत कर चुके हैं कि शिक्षक बालकों के लिए सभी दृष्टिकोण से आदर्श रूप होता है। बालक के आचार और व्यवहार पर शिक्षक का प्रभाव बड़ा गहरा पड़ता है। बालक अपनी बहुत सी आदतें शिक्षकों तथा अन्य बड़ों से ही सीखता है। अतः शिक्षकों और अभिभावकों को ध्यान रखना है कि वे बालकों के सामने कहीं गलत उदाहरण न रख दें। जो शिक्षक बालकों की उन्नति में सच्ची रुचि रखते हैं उनके प्रति बालकों की बड़ी श्रद्धा होती है। ऐसे ही शिक्षक बालकों के जीवन में स्थायी परिवर्तन ला सकते हैं। केवल शिक्षा-सिद्धान्तों में ही रुचि रखने वाला अध्यापक आदर्श शिक्षक नहीं। ऐसा अध्यापक तो स्टेशन के उस

कुली के समान है जो पार्सल का बण्डल लाकर धड़ाधड़ गाड़ी में पटक देता है और यह ध्यान नहीं रखता कि पार्सल का सामान टूटेगा या बचेगा। ऐसे अध्यापकों की जितनी निन्दा की जाय थोड़ी है। शिक्षक को यह न भूलना चाहिए कि विशेषज्ञों द्वारा प्रतिपादित विभिन्न शिक्षण-विधियाँ केवल कुछ सामान्य सिद्धान्त की बातें करती हैं। स्थल पर तो शिक्षक ही है। किस अवसर पर क्या करना चाहिए इसे शिक्षक ही सरलता के साथ समझ सकता है। अतः परिस्थिति के अनुसार विविध विधियों के प्रयोग करने की शिक्षक में पूरी क्षमता होनी चाहिए। शिक्षक को बालक की तात्कालिक आवश्यकता, जिज्ञासा और विकसित प्रवृत्ति का पूरा ज्ञान होना चाहिए। इस ज्ञान से ही वह बालकों को अधिक से अधिक लाभ पहुँचा सकता है।

आज का समाज इतना विकसित हो गया है कि व्यक्ति को समाज से अलग किया ही नहीं जा सकता। व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता देने के पक्षपाती भी साथ ही साथ समाज हित की अवहेलना करने के लिए तैयार नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति-हित और समाज-हित दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं। ऐसी स्थिति में बालक के विकास की ओर ध्यान देने वाले शिक्षकों का कर्तव्य बालक की केवल शारीरिक और मानसिक उन्नति तक ही सीमित नहीं है, वरन् उन्हें बालकों को ऐसी शिक्षा देनी है कि वे समाज-हित में भी समुचित योग दे सकें। इसके लिए शिक्षकों को विभिन्न सामाजिक आवश्यकताओं से परिचय प्राप्त करना आवश्यक है।

बालक अपने पूर्वजों के ज्ञान और अनुभव का उत्तराधिकारी होता है, अर्थात् पूर्वजगण अपनी थाती वंशजों के रूप में छोड़ जाते हैं। इस थाती की रक्षा का उत्तरदायित्व शिक्षकों पर आता है। यदि शिक्षक ने उनका ठीक पथ-प्रदर्शन किया तो यह थाती केवल सुरक्षित ही नहीं रहेगी, वरन् इसका आगे विकास भी होगा। इसलिए तो सभ्यता का उत्तरोत्तर विकास होता जा रहा है। हमारे पूर्वज जिन वस्तुओं से एकदम अपरिचित थे वे हमारे लिए आज सुलभ हो रही हैं। सभ्यता के उत्तरोत्तर

विकास में शिक्षक का योग बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। बालक ही भावी नवयुवक है। यदि उसका विकास उचित न हो सका तो वह सभ्यता के विकास में क्या योग देगा? बालकों का उचित विकास कैसे किया जा सकता है? यदि शिक्षक पढ़ाने में ही मस्त रहा तो वह अपना उत्तरदायित्व सफलता से नहीं निभा सकता। शिक्षक को यह जानना चाहिए कि 'पढ़ाने' के साथ-साथ 'सीखने' का भी तात्पर्य निहित रहता है। शिक्षक पढ़ाता है और बालक सीखता है। यदि पढ़ाने की धुन में बालक की 'सीखने की क्रिया' पर उचित ध्यान न दिया गया तो वह पढ़ाना किसी काम का नहीं, क्योंकि इससे बालक के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सम्भव नहीं। इस प्रकार 'पढ़ाने' और 'सीखने' में घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह भी कहा जा सकता है कि 'पढ़ाना' 'सीखने की क्रिया' के नियन्त्रण के अतिरिक्त और कुछ नहीं। शिक्षा का तात्पर्य जो कुछ शिक्षक करता है उसी से नहीं है, वरन् विद्यार्थी के भीतर शिक्षा के फलस्वरूप क्या होता है, उससे भी है। शिक्षक की सफलता की सच्ची कसौटी विद्यार्थियों के अन्दर उत्पन्न होने वाली भावनायें हैं। यदि शिक्षक अच्छा है तो वह अपना अधिक समय और परिश्रम यह जानने में देगा कि विद्यार्थी क्या अनुभव कर रहे हैं और उनकी आवश्यकताएँ क्या हैं।

बालकों की आवश्यकता का पता लगाना बड़ा ही कठिन है, क्योंकि उनमें समानता से अधिक भिन्नता होती है। योग्यता, स्वभाव और अनुभव में वे एक दूसरे से भिन्न होते हैं। उनकी रुचियाँ समान नहीं होतीं। कोई किसी विषय में तेज़ होता है और कोई मन्द। इन वैयक्तिक भिन्नताओं के साथ उचित रूप से बर्तना सरल नहीं। वस्तुतः शिक्षक की यहीं परीक्षा होती है। शिक्षक को बालक की केवल वर्त्तमान अवस्था को ही नहीं देखना है, वरन् उसके भविष्य पर भी उसे ध्यान देना है। उसे स्कूल के सारे काम को उनके जीवन का एक कार्य समझना है। ऐसा करने से ही उनकी स्वाभाविक रुचि और भिन्नता के अनुसार कुछ काम किया जा सकता है, अर्थात् उनके व्यक्तित्व की रक्षा की जा सकती है। इस प्रकार स्कूल का एक एक क्षण किसी न किसी उपयोगी कार्य में ही

लगाना चाहिए। यह सच है कि शिक्षक अपना कार्य इस प्रकार का नहीं बना सकता कि उससे सभी बालकों को समान रूप से लाभ पहुँचे। पर यह भी मानना पड़ेगा कि चतुर शिक्षक जिसे अपने विद्यार्थियों के हित की चिन्ता रहती है अपने सम्पर्क से प्रत्येक को कुछ न कुछ लाभ अवश्य पहुँचाता है। हाँ, किसी को कम लाभ होगा और किसी को अधिक। स्पष्ट है कि शिक्षक का कार्य बड़ा ही महान् है। इसे सभी लोग सफलतापूर्वक नहीं कर सकते। जिसमें इसके लिये प्राकृतिक झुकाव है, और जिसने इस कार्य के सम्पादन की शिक्षा पाई है वही इसे सफलता से कर सकता है। इसलिये अध्यापकों के लिए शिक्षण[1] की व्यवस्था की गई है।

अपने कर्त्तव्य-पालन के लिये शिक्षकों को कुछ बातें जानना आवश्यक है। शिक्षक बालक को जीवन के लिये तैयार करता है। अतः जीवन की सभी समस्याओं से उसका कुछ न कुछ परिचय होना चाहिये। साधारणतः यह देखा जाता है कि शिक्षकों का जीवन केवल स्कूल तक ही सीमित रहता है। बाह्य-जगत में क्या हो रहा है इससे उनका अधिक परिचय नहीं। किसी शिक्षक की ऐसी स्थिति वास्तव में दयनीय है। ऐसा शिक्षक बालकों के पथ-प्रदर्शन के योग्य नहीं। शिक्षक के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास होना आवश्यक है। जीवन की सरसता में उसका पूरा-पूरा विश्वास होना चाहिये। उसके अनुभव का क्षेत्र इतना विस्तृत हो कि बालक को सभी विषयों में वह उपयुक्त राय दे सके। उसमें सभी प्रकार के भाव और विचार के समझने की क्षमता होनी चाहिये। इस क्षमता के सहारे वह बालकों की भावनाओं को कुछ समझ सकेगा। यदि शिक्षक स्वयं कुछ नहीं जानता तो वह दूसरों के विषय में क्या जानेगा? उसे मानव स्वभाव का अच्छा ज्ञान होना चाहिये। बालकों के दृष्टिकोण से संसार की ओर देखने की उसमें योग्यता होनी चाहिये। उसे यह जानना चाहिये कि किसी विषय को बालकों के लिये रुचिकर बनाकर उनका सहयोग शिक्षाक्रम में कैसे प्राप्त किया जा सकता है।

---

1. Training.

वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली में शिक्षक का उत्तरदायित्व पहले से बहुत बढ़ गया है। उसे केवल कक्षा के कार्य कर लेने पर ही सन्तोष की साँस नहीं ले लेनी है। उसे अब बालक के बारे में पूरी जानकारी रखनी है। बालक की बुद्धि, विशिष्ट योग्यता, व्यावसायिक, सामाजिक और व्यक्तिगत रुचि, उसके घर का वातावरण तथा उसके सभी प्रकार के अनुभव से शिक्षक को परिचित होना है। इस जानकारी के बिना वह ठीक पथ-प्रदर्शक नहीं बन सकता। यही कारण है कि स्कूलों में अब बालक की विभिन्न योग्यताओं[1] के मापने की व्यवस्था की जा रही है। बालक के बारे में पूरी जानकारी के बाद ही वह उसकी ओर उचित वैयक्तिक[2] ध्यान देने में समर्थ होगा। यह सत्य है कि शिक्षकगण अभी तक अपने उत्तरदायित्व के गुरुता की इस सीमा को नहीं समझ सके हैं। पर यदि राष्ट्र अन्य अग्रगण्य राष्ट्रों का समकक्षीय होना चाहता है तो शिक्षकों को अपने कर्त्तव्य की व्याख्या उपरोक्त विधि से करनी होगी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि शिक्षक केवल किसी विषय का ही अध्यापक नहीं है, वरन् वह जीवन का शिक्षक है। यदि शिक्षक इस दृष्टिकोण से अपने कर्त्तव्य को समझे तो कर्तव्य-पालन हेतु सारा ज्ञान उसे सुलभ हो जायगा और वह अपने जीवन को एक तपस्या समझेगा, जिससे राष्ट्र के भावी कर्णधार उत्पन्न होते रहेंगे।

ऊपर हम यह संकेत कर चुके हैं कि शिक्षक केवल पाठ्यवस्तु के ज्ञान से ही अपना उत्तरदायित्व नहीं निभा सकता। अब यहाँ पर हम यह देखेंगे कि विषय-ज्ञान के अतिरिक्त शिक्षक के अन्य आवश्यक गुण क्या-क्या हैं। शिक्षा एक बढ़ता हुआ विज्ञान है। इसमें परीक्षणों के आधार पर सदा कुछ न कुछ नई बातें निर्धारित होती रहती हैं। प्रगतिशील होने के लिये शिक्षक को इन सभी नवीन बातों से परिचित होना चाहिये। उसमें एक ऐसी मानसिक योग्यता की आवश्यकता है जिससे वह प्रस्तुत विषय का सूक्ष्म विश्लेषण कर सके और यह समझ सके कि उसके नियंत्रण में रहने वाले बालकों के लिये क्या अधिक उपयोगी होगा। यदि उसमें स्वयं विश्लेषण की शक्ति नहीं है तो बालकों में वह उसकी वृद्धि नहीं कर सकता। शिक्षक को यह जानना चाहिये कि उसके ज्ञान का उपयोग क्या

1. Measurement of various abilities. 2. Individual Attention.

है। उसके उपयोग को समझने के लिये अपने विषय के अतिरिक्त उसे कुछ अन्य विषयों का भी ज्ञान आवश्यक है। तभी वह विभिन्न विषयों में समन्वय[1] दिखला सकता है। यदि शिक्षक इस सम्बन्ध को स्थापित करने में सफल हो सका तो बालकों के सभी ज्ञान एक ही अनुभव के विभिन्न अंग होंगे। इस प्रकार विभिन्न विषय के अध्ययन में उन्हें एक सामञ्जस्य दिखलाई पड़ेगा।

विभिन्न विषयों के परस्पर सम्बन्ध को समझने के लिये आलोचनात्मक शक्ति की आवश्यकता है। यह शक्ति बालकों में पर्याप्त होती है। बालक जो कुछ भी करता है उसे पहले अपनी आलोचना की कसौटी पर कस लेता है। इसीलिये तो छोटा बालक भी 'यह' न करके 'वह' करते देखा जाता है। कुछ लोग कहेंगे कि जो ही सबसे पहले सामने आ जाता है उसी ओर बालक आकर्षित हो जाते हैं। पर ऐसी बात नहीं। किसी कार्य के करने के पहले बालक उसकी उपयोगिता पर अवश्य विचार कर लेता है। यदि ऐसी बात न होती तो वह कुछ सीख ही न पाता। शिक्षकों को उचित है कि वे बालकों में स्थित आलोचनात्मक शक्ति को और आगे बढ़ावें। इसके लिये बालकों को सदा प्रश्न पूछने के लिये उत्साहित करते रहना चाहिये। कुछ शिक्षक बालकों के प्रश्न पूछने पर घबड़ा जाते हैं और इसे उनकी अविनय का चिन्ह समझते हैं। इस प्रवृत्ति के शिक्षक अयोग्य होते हैं। उन्हें अपने ज्ञान पर भरोसा नहीं रहता और एक ही प्रश्न पर अटपटा से जाते हैं।

अपने विचार से असहमत होने पर योग्य शिक्षक विद्यार्थी से अप्रसन्न नहीं होता, वरन् उसे इस बात की प्रसन्नता होती है कि बालक की आलोचनात्मक शक्ति बढ़ रही है। शिक्षक का दृष्टिकोण उदार होना चाहिये। उसका अपने ही विचार पर हठ करना वांछित नहीं। बालक के व्यक्तित्व का आदर कर जीवन में सफलता प्राप्त करने के कई रास्तों के अस्तित्व को उसको स्वीकार करना चाहिये। बौद्धिक स्वतन्त्रता व्यक्ति का सबसे बड़ा गुण है। यदि शिक्षक इस गुण की प्राप्ति की ओर बालक

1. Correlation.

का झुकाव कर सका तो उसका शिक्षक होना सफल है। कुछ शिक्षक अपनी ही विचार-धारा बालकों पर लादना चाहते हैं। वे अन्य सिद्धान्तों और विचारों की घोर निन्दा करते हैं। बहुत से ऐसे शिक्षक हैं जो संगीत, चित्रकला, साहित्य, खेल अथवा व्यायाम आदि के विपक्ष में अपना मत देते हैं और अपने विषय की भूरि-भूरि प्रशंसा करते नहीं थकते। अपनी विचार-धारा में वे भूल जाते हैं कि शिक्षा-क्षेत्र में बालक का अपना निजी अनुभव और विवेक दूसरों की बात चुपचाप मान लेने की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

शिक्षक में धैर्य का होना उतना ही आवश्यक है जितनी कि बौद्धिक योग्यता का। प्रायः यह देखा जाता है कि कुछ शिक्षकों में धैर्य की बड़ी कमी होती है। वे बालकों के किसी अबोध प्रश्न पर ऐसा झिड़क उठते हैं कि बालक आत्म-विश्वास खो बैठता है और वह फिर कभी प्रश्न करने का साहस नहीं करता। बुद्धि न रहने पर उसे प्राप्त करना सन्देहात्मक हो सकता है, पर धैर्य के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं। अभ्यास से 'धैर्य' का गुण प्राप्त किया जा सकता है। जिनमें विद्यार्थियों के अबोध प्रश्नों के साथ धैर्य दिखलाने की क्षमता न हो उन्हें अध्यापन-कार्य कभी न देना चाहिए। तीव्र बालकों को ही भली-भाँति पढ़ा देना अच्छे अध्यापन का लक्षण नहीं। अच्छे अध्यापन में तो सभी बालकों को कुछ न कुछ कहने अथवा करने का अवसर दिया जाता है और इस प्रकार नए अनुभव प्राप्त करने में सबका कुछ न कुछ योग रहता है। ऐसा करने पर सभी बालक यह अनुभव करते हैं कि जो कुछ उन्होंने सीखा है अपनी आलोचनात्मक शक्ति और परिश्रम से, न कि शिक्षक के भाषण से। इस प्रकार का अनुभव ही उनका स्थायी संस्कार होता है।

शिक्षक को मानव स्वभाव का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। वह विभिन्न प्रकार के बालकों के सम्पर्क में आता है। अतः मानव स्वभाव का उसका ज्ञान किसी मनोविज्ञान की पुस्तक में पाये जाने वाले ज्ञान से अधिक जीवित होगा। बालकों का जितना ही वह अध्ययन करेगा उनमें वह उतनी ही भिन्नता पायेगा। भिन्नता समझने की क्षमता न होने पर वह

शिक्षक होने योग्य नहीं। बालक को बिना अच्छी तरह समझे वह उसे कैसे प्रेरणा दे सकता है? शिक्षक में बहुत दूर तक सोचने की शक्ति चाहिए। उसमें एक ऐसी अन्तर्दृष्टि हो जो उसे असफलता और निराशा में भी उत्साहित करती रहे। इस अन्तर्दृष्टि के बिना तो वह फ़ैक्ट्री के उस साधारण कार्यकर्त्ता के समान है जिसका सम्बन्ध केवल अपने निर्धारित समय से ही रहता है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सभी लोग शिक्षक नहीं बन सकते। शिक्षक के लिए कुछ ऐसे गुणों की आवश्यकता होती है जो स्वाभाविक और अर्जित दोनों प्रकार के होते हैं। जिनमें ये गुण नहीं है उन्हें शिक्षक बनकर राष्ट्र का अहित न करना चाहिए।

आपने ऊपर क्या पढ़ा?

शिक्षक

बालक के विकास का पूरा उत्तरदायित्व शिक्षक पर, कवि और चित्रकार की भाँति शिक्षक, हमारे स्कूलों में अयोग्य शिक्षकों का प्रवेश।

बालक के लिए शिक्षक सभी गुणों का प्रतीक, शिक्षक का दायित्व, बालक पर मनोवैज्ञानिक नियन्त्रण, विनय-स्थापन बालक के विकास के लिए आवश्यक।

बालक को हर समय क्रियाशील रखना, शिक्षक की तैयारी, बालक की वैयक्तिक भिन्नता पर शिक्षक का ध्यान देना।

शिक्षक को बाल-मनोविज्ञान का ज्ञान आवश्यक, शिक्षा की प्रगति से उसका परिचय, बालक के शारीरिक विकास पर भी दृष्टि रखना आवश्यक।

बालकों के सामने गलत उदाहरण न रखना, बालकों की उन्नति में सच्ची रुचि रखना, परिस्थिति के अनुसार विभिन्न विधियों के प्रयोग करने की शिक्षक में क्षमता, बालक की आवश्यकता का पूरा ज्ञान।

सामाजिक आवश्यकताओं से शिक्षक का परिचय आवश्यक, शिक्षक की सफलता की कसौटी बालक में उत्पन्न भावनायें।

बालक के केवल वर्त्तमान पर ही नहीं वरन् भविष्य पर भी ध्यान, शिक्षक में अध्यापन के लिये प्राकृतिक झुकाव आवश्यक।

जीवन की सभी समस्याओं से शिक्षक का परिचय, शिक्षक के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास, बालकों के दृष्टिकोण से संसार को देखने की क्षमता।

बालक के बारे में पूरी जानकारी, शिक्षक जीवन का अध्यापक।

शिक्षा की नवीन प्रगतियों से परिचित होना, विश्लेषण की शक्ति, विभिन्न विषयों में समन्वय दिखलाने की क्षमता, दृष्टिकोण उदार।

शिक्षक में धैर्य, सभी छात्रों को भाव-प्रकाशन के लिये अवसर देना।

मानव स्वभाव का ज्ञान, व्यक्तिगत भिन्नता समझने की क्षमता।

सहायक पुस्तकें

१—वार्ड ऐण्ड रॉसक्—द अप्रोच टु टीचिङ्ग, अध्याय २।
२—सिडनी हुक—एडूकेशन फ़ॉर मॉडर्न मैन, अध्याय ६।
३—ई० आर० हैमिल्टन—द टीचर ऑन द थ्रेशहोल्ड, अध्याय १ और २।
४—टी रेमाण्ट—द प्रिन्सीपुल्स ऑव ऐडूकेशन, अध्याय १७ और १८।
५—जे एच० बैण्टन—मॉडर्न टीचिङ्ग प्रैक्टिस ऐण्ड टेकनिक, अध्याय, १३।
६—ऑलसेन ऐण्ड अदर्स—स्कूल ऐण्ड कम्यूनिटी, अध्याय २०।
७—फ़िण्डले—फ़ाउण्डेशन्स ऑव् एडूकेशन—भाग १, अध्याय ८।

———

पाठ्य-क्रम का संगठन[1]

१—कुछ साधारण बातें

शिक्षा-क्षेत्र में पाठ्य-क्रम के संगठन से अधिक महत्त्वपूर्ण कोई और समस्या नहीं। देश की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक स्थिति के कारण भी इसमें परिवर्तन होते रहते हैं। वस्तुतः राष्ट्र की नीति के अनुसार ही किसी देश की शिक्षा का पाठ्य-क्रम संगठित किया जाता है। स्पार्तनों का प्रधान उद्देश्य अपनी जाति के सौन्दर्य और राष्ट्र की रक्षा था। अतः उनके पाठ्य-क्रम में कुश्ती, कृत्रिम युद्ध, निश्चित विधि से सबको व्यायाम कराना और सैनिक शिक्षा की प्रधानता थी। उनके शिक्षा-क्रम में नैतिक विकास पर पूरा ध्यान दिया जाता था। प्राचीन वीरों का उदाहरण, स्पर्धा तथा संगीत आदि की सहायता से उनमें देशभक्ति और वीरता के भाव उत्पन्न करने की चेष्टा की जाती थी। एथेन्सवासियों का आदर्श स्पार्तनों से भिन्न था। अतः उनकी शिक्षा में पाठ्य-क्रम का संगठन दूसरे प्रकार का था। वे व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के पक्षपाती थे। उनके शिक्षा-क्रम में विभिन्न कलाओं को स्थान दिया गया। सुधार-युग में धार्मिक प्रवृत्ति के प्राबल्य होने के कारण पाठ्य-क्रम में धार्मिक विषयों को प्रधानता दी गई। इसी प्रकार किसी भी देश और काल की प्रगति उसकी शिक्षा के पाठ्य-क्रम को देख कर समझी जा सकती है, क्योंकि समाज की माँग के अनुसार ही बालकों में शिक्षा द्वारा कुछ भावना भरने का प्रयास किया जाता है।

1. The organization of curriculum.

एक दिन था जब कि भारत में गुरुकुलों का बड़ा सम्मान था और बालक की शिक्षा का सारा उत्तरदायित्व उन्हीं पर सौंपा जाता था। वर्ण-व्यवस्था के प्रचार के फलस्वरूप विभिन्न वर्ण वाले अपने-अपने बालकों को अपने व्यवसाय में तैयार करते थे और पिता अपने पुत्र का पाठ्य-क्रम स्वयं बना लेता था। राज्य अथवा राष्ट्र उसमें हस्तक्षेप न करता था। ब्राह्मण-काल के बाद बौद्ध काल में राजकीय पदों के लिये बौद्ध होना आवश्यक था। अतः पाठ्य-क्रम में बौद्ध धर्म की शिक्षा पर विशेष बल दिया गया। मुसलमान कालीन भारत में धार्मिक भाव को उत्पन्न करना ही शिक्षा का विशेष उद्देश्य रहा। इसलिए मकतब और पाठशालाओं में विशेषकर धर्म की चर्चा प्रधान रहती थी। अंग्रेजी काल में साम्राज्यवाद की नींव दृढ़ करनी थी। अतः शिक्षा के कर्णधारों ने पाठ्य-क्रम का संगठन इस प्रकार किया कि साम्राज्य की नींव दृढ़ करने में योग मिल सके। पीछे भी हम इस ओर संकेत कर चुके हैं।

आज हमारा राष्ट्र स्वतन्त्र है और हम अपनी गणना अन्य बड़े राष्ट्रों में करना चाहते हैं। फलतः हमारे सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक सभी क्षेत्रों में एक प्रकार की क्रान्ति सी दिखलाई पड़ती है। धार्मिक क्षेत्र में भी हमें अब पहले से कम कट्टरता जान पड़ती है। विज्ञान की आशातीत गति को देख यह भय सा लगता है कि व्यक्ति कहीं भौतिकवाद[1] में ही न फँस जाय और जीवन की सरसता न खो बैठे। फलतः अब शिक्षा-विशेषज्ञों में यह भी चर्चा चल पड़ी है कि धार्मिक और नैतिक शिक्षा की व्यवस्था के लिये भी कोई ऐसा उपाय ढूँढ़ना चाहिए जो कि सर्वमान्य हो। इन सब बातों को देखने से यह स्पष्ट है कि पाठ्य-क्रम के संगठन का प्रथम सिद्धान्त देश की तात्कालिक आवश्यकता तथा जाति के आदर्श का अध्ययन करना है। केवल वही व्यक्ति पाठ्य-क्रम के संगठन में योग दे सकता है जिसे देश की आवश्यकता और जाति के आदर्शों का ठीक-ठीक बोध हो। अतः पाठ्य-क्रम का संगठन बड़ा उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य है और राष्ट्र के कर्णधारों को इसकी अवहेलना न करनी चाहिए। रूस

1. Materialism.

और संयुक्त राज्य अमेरिका में पाठ्य-क्रम के संगठन को भारी राष्ट्रीय महत्व दिया जाता है और अतुल धन व्यय कर योग्यतम व्यक्तियों को ही इसका उत्तरदायित्व दिया जाता है।

केवल देश की आवश्यकता और जाति के आदर्शों के ज्ञान से ही पाठ्य-क्रम के संगठन में सफलता नहीं प्राप्त हो सकती। संगठन में विभिन्न विषयों के चुनने की कसौटी का भी पाठ्य-क्रम-कर्त्ता को ज्ञान होना चाहिये। इस कसौटी के आधार पर ही किसी विषय को स्वीकार अथवा अस्वीकार करना ठीक होगा। यों तो किसी भी विषय को स्वीकार करने के पक्ष में बहुत सी बातें कही जा सकती हैं। किसी हस्तकला के पढ़ाने का समर्थन उतने ही गम्भीर शब्दों में किया जा सकता है जितना कि गणित के। पर समस्या यह है कि बचपन के छोटे काल का किस प्रकार पथ-प्रदर्शन किया जाय कि परिश्रम का अधिक से अधिक फल मिले और भावी कर्तव्य-पालन के लिए व्यक्ति तैयार हो जाय। स्पष्ट है कि हमारे पास विभिन्न विषयों के मूल्यांकन की एक ऐसी कसौटी होनी चाहिए जिससे उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिये आवश्यक विषय चुने जा सकें। नीचे हम यही विचार करेंगे कि यह कसौटी क्या हो।

पाठ्य-क्रम–संगठन के कुछ सिद्धान्त

१—मानसिक विनय[1] ?

कुछ विद्वानों ने मानसिक विनय को विभिन्न विषयों के मूल्यांकन की एक कसौटी माना है। उनका कहना है कि मानसिक विनय से व्यक्ति की सभी मानसिक शक्तियों का विकास हो जाता है और इस विकास से वह किसी भी कार्य को करने में समर्थ हो सकता है। विद्वानों के अनुसार 'मानसिक विनय' के विकास के लिये विभिन्न मानसिक शक्तियों की सूची बनाकर यह निश्चय कर लेना चाहिए कि किसी शक्ति के विकास के लिये किस विषय के अध्ययन की आवश्यकता होगी।

1. Mental Discipline.

२—निरीक्षण-शक्ति के विकास के लिए विज्ञान ?

कुछ लोगों का कहना है कि निरीक्षण-शक्ति[1] के विकास के लिये विज्ञान का पढ़ाना आवश्यक है। विज्ञान के अध्ययन से आँख तथा हाथ के प्रयोग से निरीक्षण-शक्ति की वृद्धि होती है। पर ऐसा कहना ठीक नहीं जान पड़ता। क्या रसायनशास्त्र का वेत्ता जीव-विज्ञान के क्षेत्र में अपनी निरीक्षण-शक्ति का उपयोग कर सकता है ? वस्तुतः निरीक्षण-शक्ति का सम्बन्ध रुचि[2] से है। जिस विषय में व्यक्ति की रुचि होती है उसी में उसकी निरीक्षण-शक्ति भी तीव्र होती है। अरुचिकर विषय में व्यक्ति की उदासीनता ही दिखलाई पड़ती है। हाँ, यह बात मानी जा सकती है कि जो एक विषय में अच्छा निरीक्षण-शक्ति रखता है वह उस विषय से सम्बन्धित किसी अन्य क्षेत्र में भी किसी अनभिज्ञ व्यक्ति से अधिक निरीक्षण शक्ति का प्रदर्शन करेगा। सभी वस्तुओं को समान रूप से निरीक्षण करने की कोई शक्ति नहीं होती। अपनी-अपनी रुचि के विषय में सभी लोग अच्छे निरीक्षक होते हैं। अतः रुचि के विकास का प्रयत्न करना चाहिए, न कि निरीक्षण-शक्ति का। रुचि के विकास से निरीक्षण-शक्ति का विकास स्वतः हो जाता है।

३—तर्क-शक्ति के विकास के लिए गणित ?

कुछ लोगों का कहना है कि तर्क-शक्ति[3] के विकास के लिए गणित का पढ़ाना आवश्यक है। पर गणित के लिए किसी विशेष तर्क-शक्ति की आवश्यकता नहीं। तर्क-शक्ति सदा एक ही प्रकार की होती है चाहे वह साहित्य, इतिहास अथवा अन्य किसी भी विषय की हो। कुछ लोग कह सकते हैं कि गणित में अंकों और निष्कर्षों का सदा एक मान होता है। अतः उसमें तर्क-शक्ति की प्रखरता अधिक होती है। पर ऐसा किसी भी विषय के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। अतः तर्क-शक्ति की वृद्धि के लिए गणित का पढ़ाना युक्तिसंगत नहीं, इसके लिए तो तर्क-शास्त्र[4]

1. Observation Power. 2. Interest. 3. Power of Reasoning. 4. Logic.

का पढ़ाना अधिक उपयुक्त होगा। पर जीवन में गणित की उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। व्यक्ति के लिये उसका कुछ न कुछ ज्ञान तो आवश्यक ही है।

४—स्मृति-शक्ति के विकास के लिये इतिहास तथा भाषा ?

कुछ लोगों के अनुसार स्मृति-शक्ति[1] की वृद्धि के लिए इतिहास तथा भाषा का अध्ययन करना चाहिए। यहाँ भी निरीक्षण की तरह रुचि की ही बात आ जाती है। अपनी रुचि के विषय में सब की स्मृति-शक्ति तेज होती है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि धारण-शक्ति[2] स्वाभाविक होती है और उसमें विशेष परिवर्तन नहीं किया जा सकता। मस्तिष्क वही वस्तुएँ याद करता है जिसकी व्यक्ति को आवश्यकता होती है। आवश्यकता बीत जाने पर याद की हुई बातें भूल भी जाती हैं, पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि पहले से व्यक्ति की स्मृति-शक्ति खराब हो गई। उदाहरणार्थ, जिन गणित के प्रश्नों को व्यक्ति बचपन में याद कर लेता था उसे युवावस्था में कंठ करने में उसे बड़ी कठिनाई होती है। गणित में विशेष रुचि न रखने वाले प्रायः सभी व्यक्तियों का ऐसा अनुभव होगा। क्या बचपन से युवावस्था में उसकी स्मृति कम हो जाती है ? नहीं, बात यह है कि युवावस्था में उसे उन बातों की आवश्यकता नहीं, उसकी अब उधर बहुत कम रुचि रह गई है। अतः उसे वह भूल जाता है।

५—कल्पना-शक्ति के विकास के लिये साहित्य ?

कल्पना-शक्ति के विकास के ध्येय से साहित्य का पढ़ाना ठीक नहीं। साहित्य का उद्देश्य केवल इतना ही मान लेना भ्रम होगा। कल्पना-शक्ति का विकास अन्य विषयों के द्वारा भी किया जा सकता है। कल्पना-शक्ति प्रत्येक में दैवी होती है। शिक्षा द्वारा केवल यह चेष्टा की जाती है कि उसका उपयोग बुरी बातों में न होकर अच्छी बातों के लिए हो। अतः हमारा उद्देश्य अच्छी रुचि उत्पन्न करना है। व्यक्तित्व का विकास अच्छी

1. Memory. 2. Power of Retention.

रुचि पर ही निर्भर करता है। साहित्य तथा इतिहास आदि के अध्ययन से अच्छी रुचियों के विकास की आशा की जा सकती है। उनमें मानव हित के विभिन्न अंगों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और व्याख्या रहती है। अतः साहित्य और इतिहास का अध्ययन कल्पना-शक्ति के विकास के लिए नहीं, वरन पहले ही से प्राप्त कल्पना-शक्ति को अच्छी दिशा की ओर लगाने के उद्देश्य से किया जाता है।

६—किसी विषय से किसी मानसिक शक्ति विशेष का विकास नहीं

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि किसी विषय के सीखने में किसी मानसिक शक्ति विशेष की वृद्धि नहीं होती। मस्तिष्क की विभिन्न शक्तियाँ अलग-अलग काम नहीं करतीं। किसी कार्य में सारी शक्तियाँ एक साथ मिलकर काम करती हैं। यदि विधि अच्छी हुई तो अधिक से अधिक शक्तियों का विकास होगा। अतः मानसिक शक्तियों का विकास सीखने अथवा पढ़ाने की विधि पर निर्भर करता है। यदि विधि मनोवैज्ञानिक न हुई तो विज्ञान और साहित्य के अध्ययन में व्यक्ति दूसरों की कही बात को शीघ्र मान लेगा और अपनी कल्पना-शक्ति का उपयोग न करेगा। जहाँ अपनी कल्पना-शक्ति का अभ्यास नहीं होता वहाँ अन्य मानसिक शक्तियों का विकास भी रुक जाता है। स्वयं सोची हुई बात पर अच्छा तर्क किया जा सकता है और वह शीघ्र स्मृति-पटल पर जम जाती है।

७—मानसिक शक्ति का विकास विधि पर निर्भर[1]

इन सबसे यह न समझना चाहिये कि शिक्षा में 'मानसिक विनय' अथवा विकास का महत्व नहीं। वस्तुतः मानसिक विनय प्राप्त करना तो शिक्षा के प्रधान उद्देश्यों में से है। परन्तु इसी उद्देश्य से किसी विषय का पाठ्य-क्रम में लेना भ्रान्तिसूचक होगा, क्योंकि किसी विषय के चुनाव में जीवन में उसकी उपयोगिता पर ध्यान दिया जाता है, न कि उससे सम्बन्धित किसी विशेष मानसिक शक्ति का। मानसिक शक्ति का विकास पठन-पाठन की विधि पर अधिक निर्भर रहता है। कहने का तात्पर्य यह

---

1. Mental development dependent on the method.

नहीं कि व्यक्ति के विकास में सभी विषयों का समान महत्व है, अर्थात् विज्ञान पढ़ने से वही बात सीखी जा सकती है जो इतिहास के अध्ययन से, अतः किसी एक का ही अध्ययन पर्याप्त होगा। स्पष्ट है कि प्रत्येक विषय का मनोवैज्ञानिक मूल्य अलग-अलग उसी प्रकार होता है जैसे जीवन में प्रत्येक की विभिन्न उपयोगिता।

८—पाठ्य-क्रम का रूप बहुत विस्तृत हो[1]

कुछ लोग जीवन में उपयोगिता की दृष्टि से पाठ्य-क्रम का संगठन करना चाहते हैं। परन्तु अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सब की आवश्यकता भिन्न-भिन्न होगी। अतः इस विषय में किसी सामान्य सिद्धान्त पर आना बड़ा कठिन मालूम पड़ता है। क्या बिना किसी की रुचि का ध्यान दिये ही सामान्य रूप से पाठ्य-क्रम का संगठन कर दिया जाय? कुछ लोग कहते हैं कि प्राथमिक शिक्षा का रूप नींव सदृश होना चाहिए। इसमें बालक को लिखने, पढ़ने और साधारण अंकगणित का ज्ञान दे देना चाहिये। परन्तु माध्यमिक शिक्षा में व्यक्ति की जीवन की आवश्यकता पर ध्यान देना चाहिए। पाठ्य-क्रम का रूप इतना विस्तृत हो कि बालक अपनी रुचि के अनुसार शिक्षा पाकर जीवन-संग्राम के लिए तैयार हो जाय। कुछ दूसरे लोगों का कहना है कि स्कूलों में किसी व्यवसाय के योग्य बनाने के लिए बालकों को शिक्षा देना उचित नहीं, परन्तु प्राथमिक और माध्यमिक दोनों शिक्षा-काल के अन्तिम एक या दो साल में कुछ ऐसी बातें अवश्य सिखलानी चाहिये, जिनका बालक के भावी व्यवसाय से कुछ सम्बन्ध हो।

९—पाठ्य-क्रम में बालक और समाज की आवश्यकताओं का समन्वय[2]

अपने जीवन-यापन के लिये सभी को कुछ न कुछ करना पड़ता है। इस बात की अवहेलना नहीं की जा सकती। पर यह भी न भूलना चाहिए

1. The curriculum should be very wide in scope. 2. The correlation between the needs of the child and those of the society in the curriculum.

कि शिक्षा का तात्पर्य केवल भाषा, इतिहास अथवा विज्ञान आदि पढ़ाना ही नहीं है, वरन् उसका सम्बन्ध तो सम्पूर्ण जीवन से है। आजकल हम इस बात को भूल गए हैं, इसीलिए हमारे देश की शिक्षा-प्रणाली में समूल परिवर्तन करने की आवश्यकता जान पड़ती है। पाठ्य-क्रम के संगठन में हमें 'बालक' और 'समाज' को प्रधान अंग मानना चाहिये। गत पृष्ठों में हम इस ओर कई बार संकेत कर चुके हैं। हमें पहले बालक के स्वभाव और रुचि का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। इसके बाद बालक के प्रधान वातावरण अर्थात् उसके समाज पर ध्यान देना होगा। जन्मते ही बालक समाज का सदस्य हो जाता है। समाज से लाभ उठाने के कारण उसके प्रति उसका कुछ उत्तरदायित्व हो जाता है। अतः पाठ्य-क्रम में बालक और समाज की आवश्यकताओं का समन्वय होना चाहिये। उसका रूप ऐसा हो कि बालक के व्यक्तित्व-विकास के साथ समाज-हित का भी उद्देश्य जीवित रहे। एक की भी अवहेलना दोनों के लिए हानिकर सिद्ध होगी।

१०—अपने तथा दूसरे सामाजिक आदर्शों का ज्ञान देना

बालक का वातावरण बड़ा विस्तृत होता है। इसमें से जो अधिक महत्वपूर्ण होता है उसी का उपयोग उसकी अवस्था और आवश्यकता-नुसार करना ठीक होगा। प्रत्येक समाज का अपना अलग-अलग आदर्श होता है। उस आदर्श के प्रतिकूल जाने से व्यक्ति अयोग्य कहा जाता है। इस आदर्श का संसार के अन्य समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, क्योंकि मानव स्वभाव में बहुत सी बातें सामान्य हैं। इसलिए बालक को अपने साथ संसार के अन्य देशों के इतिहास को पढ़ना आवश्यक है। बालक अपने पूर्वजों का उत्तराधिकारी है। अतः उनकी कृतियों से उसका परिचय होना चाहिए। उनके विचार और भावनायें क्या रही हैं इन्हें जानने से बालक के विकास में बड़ा योग मिलता है। मनुष्य का जीवन इतना बड़ा नहीं कि सब कुछ वह अपने परीक्षण के आधार पर समझे। अतः जो कुछ सिद्ध किया जा चुका है उसे जानने का वह पूरा अधिकारी है। इस दृष्टिकोण से उसे साहित्य तथा विज्ञान का अध्ययन करना चाहिये। इसके लिए उसे पढ़ना-लिखना और गणित का ज्ञान आवश्यक होगा।

अतः उसे भाषा और गणित भी पढ़ाना चाहिये। अपने वातावरण का ज्ञान भी बालक के लिए आवश्यक है। अतः उसे प्राकृतिक विज्ञानों का भी ज्ञान देना चाहिए।

११—बहुरुचि का विकास

बालक को बहुत से विषयों को पढ़ाने का ध्येय 'बहु-रुचि'[1] का विकास करना है। ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि शिक्षा का उद्देश्य रुचि का विकास करना है। रुचि के विकास से ही व्यक्ति में अच्छे-अच्छे आदर्श उत्पन्न हो सकते हैं। बहु-रुचि के विकास से उदारता आती है। इससे व्यक्ति सभी बातों के विषय में निष्पक्ष निर्णय करने में समर्थ होता है। बचपन में अधिक से अधिक विषयों को पढ़ाने का तात्पर्य यह नहीं कि उनमें बालक को प्रवीण कर देना है और न इसका यही अर्थ है कि विभिन्न विषयों में उसे पल्लवग्राही कोटि का ज्ञान देना है। बचपन में बालक की जिज्ञासा बड़ी प्रबल होती है। इस मूलप्रवृत्ति के सहारे उसे कई बातें सिखलाई जा सकती हैं। यदि बचपन में ही विभिन्न विषयों में उसकी जिज्ञासा उत्पन्न की जा सकी तो वह अपना मार्ग अवश्य ढूँढ़ लेगा। अपनी रुचि का केन्द्रीकरण उसके लिए कठिन न होगा। अव्यवस्थित चित्त के विपरीत कहीं न कहीं उसका ध्यान अवश्य केन्द्रित होगा और इस प्रकार उसके व्यक्तित्व के विकास में सुगमता होगी।

यदि बचपन में बालक को उचित अवसर नहीं मिलता तो उसकी विभिन्न मूलप्रवृत्तियाँ[2] दब कर अविकसित रह जाती हैं और उनकी शक्तियाँ अवांछित दिशा की ओर केन्द्रित हो जाती हैं। मनोविज्ञान के विद्यार्थी मूलप्रवृत्तियों के दमन का कुपरिणाम भली-भाँति समझ सकते हैं। उचित समय पर अवसर न मिलने से बाद में किसी चीज़ को सीखने में बड़ी कठिनाई होती है। बचपन में पढ़ना-लिखना न सीखने से बाद में पढ़ने में कितनी कठिनाई होती है इसका प्रायः सभी को अनुभव है। बचपन में अधिक से अधिक अवसर देने से बालक की प्रायः सभी

1. Many-sided Interests. 2. Instincts.

मूलप्रवृत्तियों का वांछित विकास और समुचित शोधन[1] होता है। वातावरण में स्थित प्रायः सभी चीज़ों से कुछ परिचय हो जाने से उसे अपनी रुचि के निर्धारण में सरलता होती है। उसकी मनोवृत्ति संकुचित नहीं होती, क्योंकि इस प्रकार उसे प्रारम्भ से समाज की विभिन्न आवश्यकताओं का थोड़ा अनुमान हो जाता है। इस प्रकार पाठ्य-क्रम का संगठन केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नहीं करना है, वरन् सामाजिक दृष्टिकोण को भी उतना ही महत्त्व देना है। केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसका संगठन करना व्यक्तिवाद के आगे समाज-हित को ठुकराना होगा। अतः समाज-हित की अवहेलना करना समाज के लिये ही घातक नहीं, वरन व्यक्ति के लिये भी हानिकर होगा, क्योंकि व्यक्ति-हित समाज-हित पर ही निर्भर है।

१२—ज्ञानाय ज्ञानम्[2]

शिक्षा की दृष्टि से पाठ्य-क्रम के कई रूपों की चर्चा शिक्षा-शास्त्रियों ने की है:—उदाहरणार्थ; साहित्यिक और वैज्ञानिक इत्यादि। साहित्यिक कोटि में भाषा, साहित्य, धर्म, नीति, इतिहास, राजनीति आदि विषय आ जाते हैं। वैज्ञानिक श्रेणी में गणित तथा सभी प्राकृतिक विज्ञानों को गणना की जा सकती है। भूगोल का सम्बन्ध साहित्य और विज्ञान दोनों से मालूम पड़ता है। भूगोल में वातावरण तथा उसका मानव-जीवन पर प्रभाव का वर्णन रहता है। अतः भूगोल एक ऐसा पुल है जिस पर खड़ा होकर विज्ञान और साहित्य दोनों ओर देखा जा सकता है।

कुछ लोग "ज्ञानाय ज्ञानम्" के सिद्धान्त पर पाठ्य-क्रम का संगठन करना चाहते हैं। इनके अनुसार साहित्य, व्याकरण, गणित और विज्ञान आदि विषयों का अध्ययन उनके ज्ञान के लिए करना चाहिए। जीवन में उनके उपयोग पर कुछ भी चर्चा नहीं की जाती। यह दशा ठीक नहीं। इस प्रकार की शिक्षा से व्यक्ति यह नहीं समझ पाता कि उसके ज्ञान का प्रयोजन क्या है। परीक्षा पास कर लेने के बाद बेकारों की सूची में वह

1. Sublimation. 2. Knowledge for the sake of Knowledge.

अपना नाम लिखा लेता है, या कहीं ऐसे स्थान नौकरी कर लेता है जिसका उसकी शिक्षा से विशेष सम्बन्ध नहीं होता। ऐसे उदाहरणों की हमारे देश में कमी नहीं। अनेक बी० एस-सी० तथा एम० एस-सी० पास किए हुए युवक दफ्तर में क्लर्की करते देखे जाते हैं। साहित्य, इतिहास और गणित के एम० ए० पास करने के बाद अपने क्षेत्र को छोड़कर दूसरे क्षेत्र में लोग नौकरी करने चले जाते हैं। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि उन्हें अपने विषय से प्रेम नहीं, और केवल डिग्री प्राप्त करने के लिए ही उन्होंने कुछ साल तक कालेज में समय व्यतीत किया है।

हमारी प्रचलित शिक्षा-प्रणाली की एक यह भी विशेषता है कि साहित्य अथवा गणित आदि का कहा जाने वाला विद्वान् बहुधा जीवन के बहुत से अंगों में शून्य रहता है। कुछ लोग केवल किसी एक कौशल की प्राप्ति पर ही ध्यान रखते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार शिक्षित व्यक्ति सभी दृष्टि से पूर्ण नहीं कहा जा सकता। उसकी स्थिति कूप-मण्डूक की तरह होती है। ज्ञानाय ज्ञानम् का यही परिणाम होता है। पाठ्य-क्रम के संगठन में सबसे अधिक ध्यान देने वाली बात यह है कि विषयों का चुनाव ऐसा हो कि बालक जो कुछ सीखे उसका उपयोग वह कर सके। किसी विषय की उपयोगिता कितनी है इसका निर्णय करना बड़ा कठिन है, क्योंकि इसमें विद्वानों का मत एक नहीं। वस्तुतः कोई ऐसा पाठ्य-क्रम नहीं बनाया जा सकता जो सभी स्कूलों के लिए सभी समय के लिए उपयुक्त हो। इतना ही नहीं, वरन् हम यह भी कह सकते हैं कि एक साल के लिए बनाया हुआ पाठ्य-क्रम दूसरे साल के लिये ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि हर साल विभिन्न श्रेणी के बालक आते हैं और उनकी वैयक्तिक भिन्नता के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था करने में हर साल पाठ्य-क्रम में कुछ न कुछ परिवर्तन आवश्यक है।

१३—पाठ्य-क्रम[1] के संगठन का दायित्व स्कूल पर छोड़ना

अतः उचित तो यह है कि शिक्षा के उच्च अधिकारीगण पाठ्य-क्रम

1. The responsibility of the curriculum organization to be left on the school.

बनाने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर न लें। यह कार्य स्कूल के योग्य शिक्षकों पर ही वे छोड़ दें। शिक्षक बालक के सम्पर्क में आता है, अतः यह आशा करना भ्रम न होगा कि स्कूल पाठ्य-क्रम के संगठन का कार्य अधिक सफलतापूर्वक कर सकता है। स्कूल के पथ-प्रदर्शन के लिए केवल कुछ मोटे-मोटे सिद्धान्तों का निर्धारण किया जा सकता है, जिससे सभी स्कूल एक अपेक्षित स्तर तक पहुँचने की चेष्टा करें और वे अपनी मनमानी में न लग जाँय। ऐसी व्यवस्था कि वैयक्तिक भिन्नता के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था अधिक से अधिक की जा सकती है।

हमारे उपर्युक्त संकेत का यह तात्पर्य नहीं कि प्रत्येक बालक के लिए अलग-अलग पाठ्य-क्रम होना चाहिये; यद्यपि आदर्श यही होता, पर यह सम्भव नहीं। हमारा अर्थ केवल इतना ही है कि स्कूल को अपने क्षेत्र में अधिक से अधिक स्वतन्त्रता होनी चाहिये। पर इसके साथ ही यह भी देखना चाहिए कि वह अपनी स्वतन्त्रता का अनुचित लाभ न उठावे। संयुक्त-राज्य-अमेरिका के स्कूलों को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता दी जाती है। वहाँ पाठ्य-क्रम के निर्धारण में स्कूलों का बड़ा भारी हाथ रहता है। वे एक ऐसे बोर्ड के नियन्त्रण में होते हैं जो केवल कुछ पाठ्य-क्रम के सिद्धान्त और साधारण नीति-निर्धारित कर देता है। अन्य बातें स्कूल अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार स्वयं ठीक कर लेते हैं। इस स्वतन्त्रता का फल बड़ा ही अच्छा हुआ है। इसमें शिक्षक को अधिक स्वतन्त्रता होती है। वह अपनी पाठन-विधि में कुछ मौलिक परिवर्त्तन करने के लिए स्वतन्त्र होता है। इस प्रकार वहाँ पाठ्य-क्रम का स्वरूप ऐसा होता है कि उसमें अधिक सरलता से परिवर्त्तन किया जा सकता है।

हमारे देश में पाठ्य-क्रम के परिवर्त्तन अथवा संशोधन में वर्षों लग जाते हैं। इसी बीच शिक्षक की मौलिकता पर काफी ठेस लगती है और वह निरुत्साह होकर बैठ जाता है। अतः सिद्धान्ततः प्रत्येक सरकार को पाठ्य-क्रम की केवल रूप-रेखा ही निर्धारित करनी चाहिए। पढ़ाये जाने वाले विभिन्न विषयों का नाम दे देना ही पर्याप्त है। विभिन्न विषयों का चुनाव किस प्रकार करना चाहिये इसी का विवेचन हम नीचे करेंगे। गत

पृष्ठों में जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि उन सिद्धान्तों पर ही पाठ्य-क्रम का निर्धारण ठीक न होगा।

१४—कुछ विषयों का सार्वभौमिक महत्त्व[1]

कुछ विषयों का सार्वभौमिक महत्त्व होता है। उनमें मनुष्य की सभी रुचियों का प्रतिनिधित्व आ जाता है। कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो भाषा, साहित्य, गणित, प्राकृतिक विज्ञान और भूगोल का कुछ न कुछ ज्ञान प्राप्त करना न चाहता हो? संगीत और कला में प्रेम न होने से व्यक्ति का जीवन नीरस कहा जाता है। अतः इन विषयों के किसी न किसी अंग से परिचित होना भी आवश्यक ही कहा जा सकता है। कुछ विषयों का पढ़ाना तो अच्छी प्रकार जीवन बिताने के लिए आवश्यक होता है और दूसरों की आवश्यकता सभ्यता के विकास में योग देने या समाज का नेतृत्व करने के लिए होती है।

१५—स्कूल-काल की अवधि के अनुसार

इन विभिन्न क्षेत्रों में से किसी विषय के अध्ययन की सीमा कहाँ तक रखी जाय यह बालक के स्कूल-काल की अवधि पर निर्भर करेगा। दस-ग्यारह वर्ष की अवस्था तक तो बालक को मातृभाषा, अंकगणित, अपने देश का इतिहास, प्रारम्भिक बीजगणित, रेखागणित तथा प्रकृति-अध्ययन[2] का ही पढ़ाना उपयुक्त होगा। इससे आगे भौतिक और रसायन-विज्ञान का भी ज्ञान दिया जा सकता है। इसके साथ एक विदेशी भाषा का भी पढ़ाना ठीक होगा। हमारे देश में यह विदेशी भाषा अंग्रेजी होगी। बालक के विकास की अवस्था के अनुसार विभिन्न विषयों को अधिक विस्तृत बनाना होगा।

१६—जीवन-यापन में सहायता[3]

ऊपर हम कई बार कह चुके हैं कि बालक को शिक्षा इस प्रकार दी

1. Universal importance of some subjects. 2. Nature study.
3. Help in earning a living.

जाय कि उसे अपने जीवन-यापन में कठिनाई न हो। इसके लिए स्कूल के अन्तिम वर्षों में उसकी रुचि के अनुसार शिक्षा-क्रम में कुछ व्यावसायिक रंग भी लाया जा सकता है। पर इसका अभिप्रायः यह नहीं कि आवश्यक विषयों की उपेक्षा की जाय। इन सब बातों पर ध्यान रख कर नीचे हम कुछ ऐसी बातों का उल्लेख करेंगे जिन पर पाठ्य-क्रम के संगठन में विशेष ध्यान देना होगा।

१७—स्कूल को स्वतन्त्रता

ऊपर हम शिक्षक को अध्यापन-कार्य में पहले से अधिक स्वतन्त्रता देने की बात कह चुके हैं। हमने यह कहा है कि राज्य को केवल कुछ साधारण सिद्धान्तों का निर्धारण कर देना है, जिससे देश के स्कूल राष्ट्र के आदर्शों के विरुद्ध न जाँय। हम यह भी संकेत कर चुके हैं कि विभिन्न स्कूलों के आदर्शों में समानता होते हुए भी उन्हें अपने कार्य-क्षेत्र में पूरी स्वतन्त्रता देनी चाहिये।

'सब धान बाइस पसेरी' का हिसाब स्कूलों में नहीं लाया जा सकता। भिन्न-भिन्न स्कूलों में तरह-तरह के बालक आते हैं। उनकी शक्तियों और आवश्यकताओं में बड़ा भेद होता है। अतः पाठ्य-क्रम की सूक्ष्म बातों के निर्धारण में प्रत्येक स्कूल अथवा शिक्षक को अपने क्षेत्र में पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। स्कूल अथवा शिक्षकों के लिए इतती स्वतन्त्रता की माँग ने का अर्थ उनके उत्तरदायित्व को बहुत आगे बढ़ा देना होगा। स्पष्ट है कि आज का शिक्षक इस उत्तरदायित्व को सँभालने में सफल न हो सकेगा। अतः उसके लिए नये शिक्षण प्राप्त अध्यापकों की ही आवश्यकता न होगी, अपितु सामाजिक और आर्थिक स्थिति में भी समुचित परिवर्तन करना अपेक्षित होगा। यहाँ पर हम देखेंगे कि अभूत-पूर्व स्वतन्त्रता प्राप्त स्कूलों को अथवा नए शिक्षाधिकारियों को पाठ्य-क्रम के संगठन में किन-किन बातों पर ध्यान देना चहिए।

शिक्षक को पीछे वर्णित सुविधा देने में कुछ लोग यह आपत्ति कर सकते हैं कि वह अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा करेगा और प्राप्त पुस्तकों के

सहारे ही वह किसी प्रकार काम चलाने की सोचेगा। संयुक्त-राज्य-अमेरिका में शिक्षक को जब ऐसी सुविधा दी गई तो पहले पहल शिक्षा-व्यवस्था में कुछ ऐसी गड़बड़ी अवश्य हुई और शिक्षा-क्रम बालकों के लिए विशेष रुचिकर और लाभदायक सिद्ध न हुआ। इसके कारण दो थेः—१ योग्य शिक्षकों का अभाव और २—आवश्यक सुविधाओं का न मिलना। इन सब कठिनाइयों के दूर कर देने पर वहाँ की शिक्षा-प्रणाली बड़ी सफल सिद्ध हो रही है। यों तो दोषमुक्त तो संसार में कोई नहीं; परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि संयुक्त-राज्य-अमेरिका के वर्त्तमान ऐश्वर्य का कारण उसकी आधुनिक शिक्षा-व्यवस्था भी है।

१८—बालक की शक्ति, आवश्यकता और रुचि[1]

बालक की शक्ति, आवश्यकता और रुचि की उपेक्षा कर पाठ्य-क्रम के उद्देश्य को पहले ही निर्धारित कर देने का अर्थ कुछ सीमित बालकों की ही सुविधा पर ध्यान देना होगा। इससे बहुत से बालकों का वांछित विकास न हो सकेगा और शिक्षक का परिश्रम भी उन पर व्यर्थ जायगा। बालक की रुचि पर ध्यान देना सीखने के एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार चलना होगा :—वह यह कि "बालक जहाँ पर है वहीं से उसकी शिक्षा प्रारम्भ करनी चाहिए[2]"। इन सब बातों पर ध्यान देने के लिए बुद्धि-माप[3], प्रवणता-माप[4] तथा अन्य उचित उपायों से बालक की शक्ति, आवश्यकता और रुचि का पता लगा लेना आवश्यक होगा।

१९—अन्य पाठ्य-विषयों से सम्बन्ध[5]

पाठ्य-क्रम के किसी अंग को निर्धारित करने के पूर्व उसका अन्य विषयों से सम्बन्ध समझ लेना ठीक होगा, जिससे बालक जो कुछ सीखे वह एक ही अनुभव का अंग हो। ऐसा करने से उसका विकास-क्रम ठीक चलता रहेगा। इस सिद्धान्त के अनुसार चलने से एक कक्षा की पढ़ाई

---

1. Ability, need and interest of the child. 2. Education of the child should begin from where he is. 3. Intelligence Testing. 4. Aptitude Testing. 5. Correlation with other subjects.

का दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध रहेगा। इस सिद्धान्त के आगे पुस्तकों का अथवा पाठ्य-क्रम का जल्दी-जल्दी बदलना बड़ा हानिकारक होगा। शिक्षक को सदा यह ध्यान रखना है कि पाठ्य-क्रम एक साधन है, साध्य नहीं। उसकी उपयोगिता बालक के विकास-क्रम में केवल आंशिक ही है। इस बात को समझने के लिए बालक को विभिन्न विषयों का परस्पर-सम्बन्ध समझाना चाहिये, अर्थात् यथासम्भव शिक्षक विषयों में समन्वय स्थापित करने का एक अवसर भी न खोवे। इसकी चर्चा आगे अधिक विस्तृत रूप में की जायगी।

२०—**शिक्षा की अवधि**

शिक्षा की अवधि के अनुसार भी पाठ्यक्रम का संगठन करना चाहिए। कभी-कभी ऐसा होता है कि बालक को आगे की कक्षा में तरक्की दे दी जाती है, पर यह नहीं सोचा जाता कि पढ़ाये हुए विषय से वह भली-भाँति लाभ उठा सका, अथवा नहीं। यदि वैयक्तिक भिन्नता पर ध्यान देने की व्यवस्था हो, अर्थात् मन्द बालकों पर कुछ विशेष ध्यान दिया जाय तो परिस्थिति में काफी परिवर्तन लाया जा सकता है। ऐसा करना असम्भव नहीं। यदि कक्षा के शिक्षक की राय के अनुसार मन्द बालकों की कमी को पूरी करने का स्कूल में अलग कुछ प्रबन्ध हो तो समस्या का समाधान कठिन नहीं।

२१—**पाठ्य-पुस्तकें तथा सहायक सामग्री**[1]

पाठ्य-क्रम निर्धारित करने के पहले यह देख लेना चाहिए कि उससे सम्बन्धित पाठ्य-पुस्तकें तथा सामग्री मिल सकती है या नहीं, अन्यथा पाठ्य-क्रम का कुछ अर्थ न होगा। शिक्षा से हम बालकों को अनुभव देना चाहते हैं। इसके लिए कुछ साधन अपेक्षित हैं। विज्ञान, भूगोल और इतिहास आदि के अध्ययन के लिये आवश्यक यन्त्र व चित्र तथा मानचित्र की व्यवस्था किये बिना ही उनका पढ़ाया जाना मानो बिना आग जलाये ही भोजन पकाने का उपक्रम करना है। इन सब साधनों के अभाव में परिश्रम का वांछित फल न मिलेगा। अतः इनके आयोजन की उचित

1. Text-books and material aids.

व्यवस्था आवश्यक है। कहने का अभिप्राय यह कि प्राप्त साधनों के अनुसार ही पाठ्य-क्रम की व्यवस्था करनी चाहिए। पर इसका अर्थ यह नहीं कि साधनों को बढ़ाने का प्रयत्न न कर उपस्थित उपकरणों से ही काम चलाना चाहिए।

२२—पाठ्य-क्रम साध्य नहीं साधन[1]

बालक के ज्ञान विकास के लिए पाठ्य-क्रम को एक साधन मानना चाहिए। अब 'ज्ञानाय ज्ञानम्' का सिद्धान्त मान्य नहीं। पाठ्य-क्रम का प्रधान उद्देश्य बालकों में कुछ वांछित शक्तियाँ ला देना है, जिससे वे स्व-कालीन सभ्यता के विभिन्न अंगों को समझ सकें और अपना उत्तरोत्तर विकास करते रहें। अतः हमारा किसी विशेष विषय को पढ़ाने का उद्देश्य नहीं। पाठय-क्रम से हम बालकों को ऐसा अनुभव देना चाहते हैं जिससे वे सभ्यता के विकास में योग दे सकें। इस प्रयत्न में हमें बालकों की रुचि पर विशेष ध्यान देना होगा। सभी विषयों को पढ़ाने की विधि ऐसी हो कि बालक उनमें उतनी ही रुचि ले जितनी वह खेल में लेता है।

२३—शरीर, मस्तिष्क और आत्मा तीनों के विकास पर ध्यान[2]

हम ऊपर कई बार संकेत कर चुके हैं कि पाठ्य-क्रम में इतने अधिक विषय न हों कि शिक्षक उन्हें किसी प्रकार समाप्त करने की शीघ्रता में लगा रहे। ऐसी स्थिति से कुछ लाभ नहीं होता, क्योंकि शिक्षक बहुधा नोट लिखाने की चिन्ता में रहते हैं और विद्यार्थी भी परीक्षा में पास होने की इच्छा से प्रत्याशित प्रश्नों का अनुमान लगाने लगता है। शिक्षा से हम बालक के भावी जीवन की नींव दृढ़ कर देना चाहते हैं। अर्थात् प्राथमिक शिक्षा-स्तर में जो कुछ किया जाय उसका माध्यमिक से और माध्यमिक का उच्चतर-माध्यमिक अर्थात् कॉलेज और विश्वविद्यालय की शिक्षा से सम्बन्ध हो। पर इसका अर्थ यह न लगा लेना चाहिए कि प्राथमिक शिक्षा, माध्य-मिक शिक्षा की तैयारी का अखाड़ा है और माध्यमिक विश्वविद्यालय की

1. The curriculum is a means, and not an end. 2. Attention on the development of body, mind and soul.

शिक्षा का। प्राथमिक अथवा माध्यमिक शिक्षा के काल में बालक का अपना ऐसा जीवन होता है जिसे पूर्ण समझा जा सकता है। यदि इस जीवन को पूर्ण रूप से बिताने में स्कूल उसकी सहायता कर सका तो उसके भावी जीवन की नींव अपने आप दृढ़ हो जायगी। स्कूल में बालकों के लिये एक ऐसा वातावरण उपस्थित कर देना है कि वे अपनी रुचि और विकास की अवस्थानुसार बढ़ सकें। स्कूल यदि इतना कर सका तो बालक का व्यक्तिगत और सामाजिक विकास अविरल गति से चलता रहेगा। स्पष्ट है कि स्कूल का उद्देश्य बालक को अपनी शक्ति के अनुसार रहना सिखलाना है। डीवी के सिद्धान्त का सार यही है। रहना सिखलाने का अर्थ उसकी विभिन्न शक्तियों का अथवा व्यक्तित्व के विकास करने से है; अर्थात् स्कूल का उद्देश्य, शरीर मस्तिष्क और आत्मा तीनों का विकास करना है। अतः पाठ्य-क्रम के संगठन में हमें शरीर, मस्तिष्क और आत्मा तीनों के समुचित विकास पर ध्यान देना हैं।

यहाँ यह समझना भ्रम होगा कि व्यक्तित्व के इस प्रकार तीन भाग किये जा सकते हैं। केवल पाठय-क्रम के विभिन्न अंगों को समझने की सुविधा की दृष्टि से ही हम ऐसा विभाजन करते हैं। क्योंकि कुछ ऐसे विषय होंगे जिनका शारीरिक विकास से अधिक सम्बन्ध होगा और दूसरों का विभिन्न मानसिक शक्तियों, चरित्र, रुचि और आध्यात्मिक शक्ति आदि से। यहाँ पाठ्य-क्रम के उद्देश्य की ओर संकेत कर देना ठीक जान पड़ता है। बालक की विभिन्न शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों का विकास करके उसे समाज-हित की रक्षा के योग्य बना देना ही संक्षेप में पाठ्य-क्रम का उद्देश्य माना जा सकता है।

२४—पाठ्य-क्रम मनुष्य की तीन प्रधान वृत्तियों का प्रतिनिधि हो[1]

गत पृष्ठों में कही हुई बातों का यहाँ मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी समर्थन किया जा सकता है। इस समर्थन में ऊपर कही हुई बातों को ही यहाँ संक्षेप में दोहरा दिया जाना है। मनुष्य की क्रियाओं के तीन भाग किये जा सकते हैं :—जानना[2], अनुभव करना[3] और चेष्टा करना[4]।

1. The Curriculum should be a representative of three principal tendencies of man. 2. Knowing. 3. Feeling. 4. Willing.

पाठ्य-क्रम को मनुष्य की इन तीनों वृत्तियों का प्रतिनिधि होना चाहिए। अर्थात् पाठ्य-क्रम में मनुष्य जो कुछ जानना चाहता है उसका समावेश होना चाहिए। इस दृष्टि से, जैसा हम पहले संकेत कर चुके हैं, भाषा, साहित्य, विज्ञान, गणित, इतिहास, भूगोल आदि विषयों की गणना की जा सकती है। मनुष्य की भावना के सम्बन्ध में कला, कविता और संगीत की चर्चा आ जाती है, क्योंकि इन्हीं तीन प्रधान साधनों द्वारा मानव सभ्यता के आदि काल से आज तक अपनी भावनाओं का प्रदर्शन करता रहा है। महामति प्लैतो ने भी कहा है कि जो शिक्षा घृणित वस्तु से घृणा और प्यार करने योग्य वस्तु से प्यार करना सिखलाती है वही वास्तविक शिक्षा है। मनुष्य अपने सामान्य जीवन में जो कुछ करता है उसका भी प्रतिनिधित्व पाठ्य-क्रम को करना है। अपने जीवन-यापन के लिए व्यक्ति जो कुछ करता है उसकी भी शिक्षा पाठ्य-क्रम के सहारे कुछ अवश्य हो जानी चाहिए। भोजन, वस्त्र तथा आश्रय आदि के लिए उसे जो कुछ कार्य करने पड़ते हैं उनका थोड़ा सा आभास पाठ्य-क्रम के आधार पर होने वाली स्कूल की क्रियाओं में आ जाना आवश्यक है। पीछे स्कूल के उद्देश्य का निर्धारण किया जा चुका है। उसके आधार पर यहाँ कहा जा सकता है कि पाठ्य-क्रम का संगठन इस प्रकार करना चाहिए कि स्कूल में बालक पूरे सामाजिक जीवन का अनुभव करे। रहने की पूरी कला बालक को स्कूल में ही सीख लेनी चाहिए। पाठ्य-क्रम के संगठन में इन सब बातों का पूरा ध्यान रखना होगा।

२५—योग्य नागरिक बनाना[1]

स्कूल में बालक अपनी रुचि के अनुसार भावी जीवन की तैयारी करता है। इस जीवन की तैयारी में उसे युवक के कर्त्तव्यों में शिक्षा नहीं देनी है। भावी जीवन की तैयारी का अभिप्राय यह नहीं कि स्कूलों को व्यावसायिक क्षेत्र बना दिया जाय। भावी जीवन की तैयारी में पहले हमें बालक की रुचि पर ही ध्यान देना है। वस्तुतः विकास की अवस्था के अनुसार उससे काम कराना ही उसे भावी जीवन के लिए तैयार करना है।

1. To make a worthy citizen.

आज का बालक कल का नागरिक है। अतः शिक्षा का आयोजन अर्थात् पाठ्य-क्रम का संगठन इस प्रकार हो कि बालक गणतन्त्र राज्य के संचालन के लिए योग्य नागरिक होकर सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास में योग दे सके।

२६—अवकास का सदुपयोग सिखलाना[1]

आधुनिक वैज्ञानिक युग में व्यक्ति का अवकाश-समय बढ़ता जा रहा है। पहले जिस काम को कई आदमी मिलकर बहुत देर में करते थे उसे मशीन की सहायता से एक ही आदमी पहले से शीघ्र कर लेता है। फलतः व्यक्ति का अवकाश-काल बढ़ता जा रहा है। बेकारी बहुत से रोगों की जड़ होती है। अतः व्यक्ति को इस प्रकार शिक्षा देनी है कि वह अपना समय किसी न किसी अच्छे कार्य में ही लगावे। अपने अवकाश-समय का व्यक्ति किस प्रकार उपयोग करता है इससे उसके विकास का अनुमान लगाया जा सकता है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि "अवकाश का सदुपयोग करना सिखलाना ही शिक्षा का उद्देश्य है।" अतः पाठ्य-क्रम में रचनात्मक कार्य, हस्तकला, संगीत तथा साहित्य आदि को उपयुक्त स्थान देना चाहिए, जिससे व्यक्ति अवकाश का सदुपयोग करना सीख सके।

२७—रचनात्मक शक्ति का विकास करना[2]

पाठ्य-क्रम में बालक की रचनात्मक शक्ति के बढ़ाने का पूरा प्रबन्ध होना चाहिए, अन्यथा उसका विकास ठीक न हो सकेगा। अतः कुछ ऐसे विषयों को पढ़ाना आवश्यक है जिनसे उनकी रचनात्मक शक्ति बढ़ सके। इससे उसकी रुचि का भी विकास होता रहेगा। ऐसी व्यवस्था के होने से बालक अवकाश का सदुपयोग करना सीखेगा और स्कूल छोड़ देने के बाद भी कुछ विषयों में उसकी सच्ची रुचि होगी। उचित वातावरण के पाने पर वह अपनी रुचि को और भी आगे बढ़ाने की चेष्टा करेगा। रचनात्मक शक्ति के विकास के लिए पाठ्य-क्रम में किसी विशिष्ट विषय का समावेश आवश्यक होगा। कुछ लोग कह सकते हैं कि किसी भी विषय

---

1. Utilization of Leisure. 2. To develop creative ability.

में रचनात्मक प्रवृत्ति का विकास किया जा सकता है। पर यह तर्क यहाँ ठीक नहीं। प्रथम दस या बारह वर्ष तक बालकों में क्रियाशीलता अधिक होती है इस क्रियाशीलता के लिए उचित अवसर न मिलने पर बालक का स्वाभाविक विकास रुक जाता है और भविष्य भी अन्धकारमय हो जाता है। अतः किसी हस्तकला में दस-बारह वर्ष के बालकों को शिक्षा देना बड़ा मनोवैज्ञानिक होगा। इससे उनकी रचनात्मक प्रवृत्ति जाग्रत रहेगी और स्कूल उन्हें हउआ न मालूम होगा।

२८—ज्ञान और अनुभव को संचित करना[1]

पाठ्य-क्रम के संगठन में यह भी देखा जाता है कि भूतकाल में किन-किन बातों से मनुष्य को लाभ पहुँचा है। अपने पूर्व अनुभव के अनुसार यह निर्धारित किया जाता है कि किन-किन विषयों से बालकों का अधिक लाभ हो सकता है। पर यह सिद्धान्त सर्वथा ठीक नहीं, क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि जो पहले ठीक था वह अब भी ठीक ही है। अतः विभिन्न विषयों का ठीक चुनाव आवश्यक है। आँख मूँद कर पूर्ववत् सब कुछ मान लेना हानिकर हो सकता है। उपर्युक्त सिद्धान्त बालक की ओर न देख कर केवल विषय की ही ओर देखता है। आधुनिक शिक्षा-सिद्धान्त बाल-केन्द्रित[2] है। इसमें बालक की रुचि और आवश्यकता पर ही विशेष ध्यान दिया जाता है। उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार हम यह मान सकते हैं कि कुछ विषयों की उपयोगिता सिद्ध होती है, क्योंकि पूर्व अनुभव यही बतलाता है। उदाहरणार्थ; पढ़ना, लिखना और गिनना—ज्ञान प्राप्त करने के प्रधान साधन हैं। अतः बालक को नये साधन देने ही होंगे।

२९—क्रियाशीलता के लिए अवसर देना[3]

बालक क्रियाशील होता है। वह हर समय कुछ न कुछ करना ही चाहता है। क्रियाशीलता बिना उसका समुचित विकास सम्भव नहीं। अतएव पाठ्य-क्रम का रूप ऐसा हो कि बालक की क्रियाशीलता के लिए

1. To acquire knowledge and experience. 2. Child-centred. 3. To give opportunity for activity.

पूरा-पूरा अवसर मिले। यह क्रियाशीलता शरीर और मस्तिष्क दोनों के लिए हो। आधुनिक शिक्षा-विशारदों का विश्वास है कि 'पठन-पाठन की विधि'[1] विषय से अधिक महत्वपूर्ण है। बालक 'क्या सीखता है' उतना महत्त्वपूर्ण नहीं जितना कि "कैसे सीखता है।" 'सोचने'[2] और 'रहने'[3] की जो 'शिक्षा' स्कूल में दी जाती है उसी पर विशेष ध्यान देना है। गणित के इतने प्रश्न हुए कि नहीं अथवा भाषा, भूगोल और इतिहास की पुस्तक अद्योपान्त समाप्त हुई कि नहीं आदि बातें गौण हैं। बालक के विकास से उनका अधिक सम्बन्ध नहीं। पाठ्य-क्रम के संगठन में हमें केवल उतने ही विषय रखने हैं जिनसे बालक की उत्सुकता जागृत हो जाय और भावी बौद्धिक विकास निश्चित सा हो जाय। टी०पी० नन भी कहते हैं कि "स्कूल को ज्ञान सीखने का केन्द्र न समझना चाहिए। स्कूल तो एक ऐसा स्थान है जहाँ बालक कुछ ऐसी क्रियाओं में अभ्यस्त किए जाते हैं जिनका वास्तविक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इन क्रियाओं के दो भाग किये जा सकते हैं :—१—एक तो वे जिनसे व्यक्तिगत और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए उनमें एक सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की जाती है। उदाहरणार्थ, स्वास्थ्य, शारीरिक सौन्दर्य, सामाजिक आचार, नीति और धर्म आदि; और २—दूसरी वे जिनमें सभ्यता के सभी अंशों का समावेश हो जाता है।"

३०—स्वास्थ्य पर ध्यान[4]

शिक्षा में शारीरिक स्वास्थ्य पर समुचित ध्यान देना होगा। यदि बालक का स्वास्थ्य ठीक न रहा तो वह कुछ भी न कर सकेगा। अतः प्रत्येक कक्षा के बालकों को शारीरिक शिक्षा देनी होगी। बालक के शारीरिक स्वास्थ्य के सम्बन्ध में माता-पिता या अभिभावक का उत्तरदायित्व कम नहीं। पर स्कूलों में कुछ ऐसी बातें बताई जा सकती हैं जिन्हें बालक घर पर सरलता से नहीं सीख सकता। शारीरिक स्वास्थ्य अच्छी आदतों पर निर्भर होता है। उठने, बैठने, चलने, खाने-पीने और सोने आदि की

1. The method is more important than the subject. 2. To think. 3. To live. 4. Attention on health.

अच्छी आदत होनी आवश्यक है। इन सबकी बालक में अच्छी आदत डालने के सम्बन्ध में स्कूल का उत्तरदायित्व विशेष है। स्कूल में कोई ऐसा निश्चित समय अवश्य होना चाहिए जिसमें बालक को ये सब बातें समझाई जा सकें। इन आदतों के अतिरिक्त उसे व्यायाम में भी कुछ शिक्षा देनी आवश्यक होगी। इसके लिए प्रत्येक बालक के स्वास्थ्य का सूक्ष्म अध्ययन कर उचित व्यायाम में उसे शिक्षा देनी चाहिए। इस अध्ययन में यह देखा जायगा कि बहुत से बालक एक ही श्रेणी में आ जायेंगे और इस प्रकार उन्हें शिक्षा देने में कठिनाई न होगी।

बहुत छोटे बालकों की शारीरिक शिक्षा का प्रधान अंग खेल ही होगा। खेल का आयोजन ऐसा सुसंगठित हो कि प्रत्येक बालक कुछ न कुछ भाग ले सके। बड़े बालकों से कुछ कसरतें करानी आवश्यक होंगी और उनमें उन्हें विशेषज्ञ द्वारा ठीक-ठीक शिक्षा मिलनी चाहिए। इस प्रकार स्कूल में स्वास्थ्य शिक्षा की अवश्य कुछ व्यवस्था होनी चाहिए। अब तक स्कूलों में स्वास्थ्य के लिए जो कुछ किया जाता है वह अपर्याप्त है। कदाचित् ही कोई ऐसा स्कूल होगा जिसमें बालकों के स्वास्थ्य पर उचित ध्यान दिया जाता हो। अब हमें यह नीति बदलनी होगी। जिस प्रकार अन्य विषयों के लिए विशेषज्ञों की नियुक्ति की जाती है उसी प्रकार स्वास्थ्य के विशेषज्ञ की भी नियुक्ति करनी होगी और साथ ही साथ प्रत्येक स्कूल में व्यायामशाला का आयोजन करना होगा जहाँ बालक आकर आवश्यक कसरतें सीखें और करें।

कुछ लोग कहेंगे कि व्यायाम के पहले स्वस्थकर भोजन का प्रबन्ध करना होगा। बात बिल्कुल ठीक है। पर क्या जो कुछ भोजन मिलता है उससे शरीर अधिकतम लाभ उठा पाता है? शरीर-विज्ञान और स्वास्थ्य-विज्ञान के ज्ञाता इसका उत्तर 'नहीं' में देंगे। वस्तुतः ऐसी बातें वे लोग किया करते हैं जो आलस्यवश कसरत से अपनी जान छुड़ाते हैं। यह देखा गया है कि उचित व्यायाम करते रहने से व्यक्ति जो कुछ भी खाता है उसका शरीर अधिक से अधिक लाभ पाता है। यदि आवश्यक व्यायाम कर के व्यक्ति अपना शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य ठीक कर

ले तो वह वांछित वस्तु को अवश्य ही पा जायगा, चाहे वह गरीब के घर पैदा हुआ हो या धनी के। स्पष्ट है कि जीवन में सफलता की कुञ्जी अच्छा स्वास्थ्य ही है। अतः स्कूल को इस सम्बन्ध में कुछ उठा न रखना चाहिए।

३१—धार्मिक शिक्षा पर ध्यान[1]

आज के भौतिकवादी संसार को धार्मिक प्रवृत्ति की बहुत आवश्यकता हो गई है। इसीलिए प्रायः सभी शिक्षा-शास्त्री धर्म और नीति-शास्त्र के नाम पर स्कूल में कुछ करने के पक्षपाती दिखलाई पड़ते हैं। भौतिकवाद में पड़कर व्यक्ति कहीं 'अपने' को अर्थात् अपनी 'आत्मा' को न भूल जाय। इसलिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति का ध्यान 'परमशक्ति' और उसकी 'आत्मा' के सम्बन्ध की ओर आकर्षित किया जाय। बिना ऐसा किये कदाचित् ही व्यक्ति समझ सकता है कि उसका अपना एक 'संदेश' है जिसे लोकहितार्थ उसे दूसरों को देना है। बिना धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति यह नहीं मान सकता कि जगत में कुछ ऐसी सार्वभौमिक सत्य की वस्तुएँ हैं जिनके प्रति उसका पूरा सम्मान होना चाहिए। व्यक्ति के इस धार्मिक प्रवृत्ति का स्रोत कला, सत्य और सेवा-भाव में दिखलाई पड़ सकता है। कला, सत्य और सेवा से प्रेम करने वाले सदा धार्मिक प्रवृत्ति के होते हैं, चाहे वे मन्दिर, मसजिद अथवा गिरजाघर में जाँय या नहीं।

अब प्रश्न यह है कि 'बालकों में इस धार्मिक प्रवृत्ति की नींव कैसे डाली जाय? क्या किसी एक धर्म के सिद्धान्तों में उनको शिक्षा दी जाय? आज के लोकतन्त्र-राज्य में यह सम्भव नहीं। राज्य में विभिन्न धर्मों के मानने वाले होते हैं। तो किस धर्म में शिक्षा दी जाय? ऐसी स्थित में भूगोल, भाषा और गणित की तरह धर्म के लिए निश्चित घण्टा निर्धारित करने की आवश्यकता नहीं। धार्मिक शिक्षा उन्हें तो प्रत्येक घण्टे और कक्षा में प्रसंगानुसार दी जा सकती है। इसके लिए शिक्षकों को तैयार रहना चाहिए। अच्छा होगा कि देश में प्रचलित विभिन्न धर्मों के सार की एक पुस्तिका बनायी जावे और उसी के अनुसार बालकों में

---

1. Attention on religious education.

धार्मिक प्रवृत्ति लाने की चेष्टा की जाय। इस सार-पुस्तिका के निर्माण में कठिनाई अवश्य होगी, क्योंकि मतभेद होने का बड़ा भय है पर अधो-लिखित विचारों के आधार पर इस पुस्तिका की रचना की जाय तो कदाचित कोई भी धर्मावलम्बी उससे आपत्ति न करेगा; क्योंकि इसमें अधिकतर धर्मों के आवश्यक सार निहित हो जाते हैं :—

"एक ऐसी शक्ति में विश्वास करना जो लोकहितार्थ सदा काम किया करती है। मनुष्य की भावनाएँ, परिश्रम और आकांक्षायें संसार को अच्छा बनाने में योग देती हैं। लोकहित आचार जगत की पहली माँग है। विश्वबन्धुत्व का अनुभव करना प्रत्येक का धर्म है। लोकहितार्थ ही सारा कार्य करना उचित है। परमार्थ के आगे स्वार्थ को त्याग देना मनुष्यत्व का द्योतक है। मनुष्य अमर है। ईश्वर सत्यं शिवं सुन्दरम् है। जो जैसा बोता है, वैसा काटता है। मृत्यु नये जीवन का द्वार है, अतः उससे डरना ठीक नहीं। अपने लिये नहीं, वरन् दूसरे के लिए जीना है। दूसरों की सदा यथाशक्ति सहायता करनी चाहिए। सभी जीवों पर दया करनी चाहिए।"

इस प्रकार सार्वभौमिक सत्य को बालक सरलता से समझ सकता है और उससे कोई धर्मावलम्बी असहमत भी न होगा। धार्मिक शिक्षा का तात्पर्य किसी विशेष पूजा-विधि में बालक को शिक्षा देना नहीं है, क्योंकि पूजा-विधि और दैनिक आचार से विशेष सम्बन्ध नहीं।

३२—शारीरिक परिश्रम के लिए आदर उत्पन्न करना[1]

क्रियाशीलता बालक की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। अतः उसकी प्राथमिक शिक्षा में क्रियाशीलता का अंश रहना आवश्यक है। किसी रचनात्मक कार्य में उसकी रुचि उत्पन्न करना आवश्यक है। यह हस्तकला-सम्बन्धी कार्यों से सम्भव हो सकता है। अन्य विषयों में भी रचनात्मक कार्य के लिए स्थान अवश्य रहता है, पर वह छोटे बालकों की शक्ति के परे हो सकता है, क्योंकि उसमें अधिक कल्पना की आवश्यकता होती है। इस रचनात्मक कार्य का तात्पर्य बालकों को व्यावसायिक शिक्षा देने से नहीं है,

1. To create a sense of dignity for manual labour.

क्योंकि स्कूलों से निकलने के बाद अपनी छोटी अवस्था में वे किसी व्यवसाय के योग्य नहीं माने जा सकते। वस्तुतः रचनात्मक कार्य में शिक्षा का महत्व उनके मस्तिष्क और शरीर के सह-शिक्षा से है। रचनात्मक कार्य में हाथ और आँख की जो शिक्षा होती है उसका बालक के विकास में भारी महत्त्व है। हमारे देश में परिश्रम को उचित सम्मान नहीं प्राप्त है। कुछ पढ़े-लिखे लोग अपने हाथ से कुछ काम करना अपने सम्मान के प्रतिकूल समझते हैं। देश को समृद्धिशाली बनाने के लिए 'परिश्रम' का सम्मान करना ही होगा। संयुक्त-राज्य-अमेरिका के धन-धान्य का प्रधान कारण यही है कि वहाँ के लोग 'परिश्रम' का सम्मान करना जानते हैं। वहाँ के विश्वविद्यालय और कालेजों के विद्यार्थी अवकाश के समय होटलों और दफ्तरों में किसी प्रकार का भी परिश्रम करने में अपने को अपमानित अनुभव नहीं करते। ऐसी ही प्रवृत्ति अपने देश में भी लाने के लिए यह आवश्यक है कि बहुत प्रारम्भ से ही बालकों को कुछ न कुछ कार्य कराया जाय। इसकी नींव प्रारम्भिक स्कूलों में ही 'हस्तकला' के द्वारा डाली जा सकती है। यादि प्रारम्भ में ही यह आदत न डाली गयी तो बाद में कठिनाई होगी।

३३—मातृ भाषा के ज्ञान पर विशेष बल[1]:

प्रारम्भ में मातृभाषा की पढ़ाई पर विशेष ध्यान देना चाहिये। अन्य विषयों की भी पढ़ाई कुछ हद तक मातृ-भाषा के ही ज्ञान पर निर्भर है, क्योंकि सभी विषय मातृ-भाषा में ही पढ़ने होते हैं। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि सभी शिक्षक मातृभाषा के शिक्षक हैं और बालक प्रत्येक विषय के साथ मातृभाषा का भी ज्ञान प्राप्त करते हैं। मातृ-भाषा का ज्ञान जितना अच्छा होगा बालक में उतने ही अधिक विचारों का केन्द्रीकरण होगा। प्रायः यह देखा जाता है कि भाषा-ज्ञान में मन्द बालक पढ़ने-लिखने में अच्छा नहीं होता और वह कभी-कभी सामान्य कोटि से भी नीचे गिर जाता है। इसके विपरीत श्रेष्ट बालक का भाषा-ज्ञान अच्छा

1. Emphasis on the knowledge of mother tongue.

पाया जाता है। उसे अपने विचारों के स्पष्टीकरण में अपेक्षाकृत कम कठिनाई मालूम होती है। अतः प्रारम्भ में बालक का भाषा-ज्ञान बढ़ाने पर ही जोर देना चाहिए। प्राथमिक स्कूल के पाठ्य-क्रम में उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त अंकगणित, साधारण-विज्ञान, भूगोल, इतिहास और नागरिक-शास्त्र और संगीत को स्थान देना चाहिए। माध्यमिक स्कूल में भी प्राथमिक स्कूलों के ही विषय पढ़ाये जायेंगे। पर उनका विस्तार बढ़ाना होगा। मातृ-भाषा के अतिरिक्त इस श्रेणी में एक और भारतीय भाषा तथा कोई विदेशी भाषा पढ़ानी होगी। यह विदेशी भाषा हमारे देश में अंग्रेजी हो सकती है। हस्तकला का भी पाठ्य-क्रम में पहले ही जैसा स्थान रहेगा। रचनात्मक प्रवृत्ति को यथासम्भव प्रोत्साहन दिया जायगा।

३४—पाठ्य-क्रम का वास्तविक जीवन से सम्बन्ध[1]

पाठ्य-क्रम का वास्तविक जीवन से सम्बन्ध स्थापित करने का हर समय प्रयत्न होना चाहिए, अन्यथा स्कूल समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर ध्यान न दे सकेगा। माध्यमिक स्कूल के पाठ्य-क्रम का उद्देश्य विश्वविद्यालय के लिए तैयारी का नहीं होना चाहिये। इस काल की शिक्षा अपने में पूर्ण होनी चाहिए, क्योंकि इसके बाद बहुत से बालकों की शिक्षा छूट जाती है। इस स्तर पर गणित, विज्ञान तथा भाषा की शिक्षा पहले से इस प्रकार कठिन कर देनी चाहिए कि विश्वविद्यालय में जाने वाले विद्यार्थियों को कठिनाई न मालूम हो।

३५—गाँव और शहर के पाठ्य क्रम में भेद[2] ?

क्या गाँव व शहरों के पाठ्य-क्रम में भेद होना चाहिए ? सिद्धान्ततः तो दोनों में भेद होना ठीक नहीं। पर स्थानीय आवश्यकतानुसार इस में कुछ भेद भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, शहर और गाँव के स्कूल के वातावरण में भेद के कारण हस्तकला के प्रकार में भिन्नता हो सकती

1. The curricueum should be related with actual life.
2. Should there be a difference between the rural and urban curriculum ?

है। शहर के बालकों की परिस्थिति गाँव वालों से भिन्न होती है। अतः नागरिक-शास्त्र में शहर के बालकों को सड़क और गलियों आदि की सफाई की बातें बतलाई जा सकती हैं और गाँव के बालकों को पशु, आस-पास के गढ़ों, रास्ते और नालियों आदि को स्वच्छ रखने की शिक्षा दी जा सकती है। कहने का तात्पर्य यह कि बालक की शिक्षा में उसकी आवश्यकता पर भी ध्यान देते रहना है। वस्तुतः हमें बालक के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करना है। हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि गाँव के बालक को अपना जीवन गाँव में बिताना होगा और शहरी बालक का शहर में। इस प्रकार गाँव और शहर के स्कूल का उद्देश्य भिन्न-भिन्न न होगा। वातावरण के अनुसार समान उद्देश्यों की पूर्ति के साधन में भेद आ सकता है।

३६—बालकों और बालिकाओं के पाठ्यक्रम में भेद[1] ?

क्या बालकों और बालिकाओं का पाठ्य-क्रम समान होना चाहिए? दोनों की प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा के पाठ्य-क्रम में सिद्धान्ततः भेद न होना चाहिये, क्योंकि लिङ्गभेद के कारण दोनों के मानसिक विकास में अन्तर नहीं होता। बाल-काल में दोनों की रुचियाँ और आवश्यकताएँ भी समान ही दिखलाई पड़ती हैं। पर किशोरावस्था में दोनों की रुचियों में भिन्नता आ जाती है, अतः इस समय लड़कियों के पाठ्य-क्रम में गृह-विज्ञान बढ़ाया जा सकता है।

पाठ्य-क्रम पर विचार कर लेने के बाद यह जानना आवश्यक है कि पाठ्य-क्रम को कार्यान्वित कैसे किया जाय। अतः अगले अध्यायों मे शिक्षण-कला के विभिन्न अंगों पर विचार किया जायगा।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

१—कुछ साधारण बातें

पाठ्य-क्रम के संगठन में राष्ट्र की नीति का प्रभाव, पाठ्य-क्रम का सिद्धान्त, तात्कालिक आवश्यकता जाति और आदर्श का अध्ययन, योग्यतम व्यक्तियों द्वारा इसका निर्धारण

---

1. Should there be a difference between the curriculum for the boys and that of the girls.

विभिन्न विषयों के चुनने की कसौटी का ज्ञान।

पाठ्यक्रम-संगठन के सिद्धान्त

१—मानसिक विनय

रुचि के विकास का प्रयत्न।

२—निरीक्षण-शक्ति के विकास के लिए विज्ञान

३—तर्क शक्ति के विकास के लिए गणित

तर्क शक्ति की वृद्धि

४—स्मृति-शक्ति के विकास के लिए इतिहास तथा भाषा

स्मृति-शक्ति की वृद्धि।

५—कल्पना-शक्ति के विकास के लिए साहित्य

कल्पना-शक्ति का विकास।

६—किसी विषय से किसी मानसिक शक्ति विशेष का विकास नहीं

किसी विषय के पढ़ने में किसी विशेष मानसिक शक्ति की वृद्धि नहीं।

७—मानसिक शक्ति का विकास विधि पर निर्भर

किसी विषय का चुनाव जीवन में उसकी उपयोगिता के आधार पर, मानसिक शक्ति का विकास विधि पर निर्भर।

८—पाठ्य-क्रम का रूप विस्तृत

किसी सामान्य सिद्धान्त पर आना कठिन।

९—पाठ्यक्रम में बालक और समाज की आवश्यकता का समन्वय

बालक और समाज दोनों पर ध्यान।

१०—अपने तथा दूसरे सामाजिक आदर्शों का ज्ञान देना

सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण वातावरण के अंगों का ज्ञान देना, अन्य देशों की संस्कृति का भी परिचय देना।

११—बहुरुचि का विकास

बहु-रुचि का विकास नितान्त आवश्यक, पाठ्य-क्रम का संगठन मनोवैज्ञानिक और सामाजिक दोनों ढंग से।

१२—ज्ञानाय ज्ञानम्

पाठ्य-क्रम के कई रूप।

वही विषय सिखलाना जिसका बालक जीवन में उपयोग कर सके, सर्वमान्य पाठ्य-क्रम का बनाना असम्भव, इसके बनाने का दायित्व स्कूल शिक्षकों पर छोड़ना उचित, स्कूल को अधिक से अधिक आवश्यक स्वतन्त्रता देना।

१३—पाठ्यक्रम के संगठन का दायित्व स्कूल पर छोड़ना

१४—कुछ विषयों का सार्वभौमिक महत्व

१५—स्कूल काल की अवधि के अनुसार

१६—जीवन यापन में सहायता

१७—स्कूल को स्वतन्त्रता

योग्य शिक्षक और आवश्यक सुविधायें।

१८—बालक की शक्ति, आवश्यकता और रुचि

इसके अनुसार चलने से ही उसका वांछित विकास सम्भव।

१९—अन्य पाठ्य-विषयों से सम्बन्ध

विभिन्न विषयों का ज्ञान एक ही अनुभव के समन्वित अंग।

२०—शिक्षा की अवधि

काफी लम्बी होना, वैयक्तिक भिन्नता पर ध्यान।

२१—पाठ्य पुस्तकें तथा सहायक सामग्री।

प्राप्त साधनों के अनुसार पाठ्य-क्रम की व्यवस्था करना पर साधनों को बढ़ाने की व्यवस्था करना।

२२—पाठ्य-क्रम साध्य नहीं साधन

वांछित शक्तियाँ उत्पन्न करने का उद्देश्य।

२३—शरीर, मस्तिष्क और आत्मा-तीनों के विकास पर ध्यान

पाठ्य-क्रम में अत्यधिक विषय नहीं, प्रत्येक श्रेणी का एक दूसरे से सम्बन्ध, प्रत्येक श्रेणी अपने में पूर्ण; शरीर, मस्तिष्क और आत्मा तीनों के समुचित विकास पर ध्यान।

२४—पाठ्य-क्रम मनुष्य की तीन प्रधान वृत्तियों का प्रतिनिधि हो

पाठ्य-क्रम के संगठन में किन-किन बातों पर ध्यान हो ?

२५—योग्य नागरिक बनाना

अवकाश का सदुपयोग करना सिखलाना।

२६—अवकाश का सदुपयोग सिखलाना

२७—रचनात्मक शक्ति का विकास करना

विशिष्ट विषय का समावेश, हस्तकला।

२८—ज्ञान और अनुभव को संचित करना

आँख मूँद कर सब कुछ पूर्ववत् मान लेना ठीक नहीं।

२९—क्रियाशीलता के लिए अवसर देना

'क्या सीखता है' से 'कैसे सीखता है' अधिक महत्वपूर्ण।

३०—स्वास्थ्य पर ध्यान

शारीरिक स्वास्थ्य पर ध्यान।

३१—धार्मिक शिक्षा पर ध्यान

धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता और उसकी रूप-रेखा।

३२—शारीरिक परिश्रम के लिये आदर उत्पन्न करना

३३—मातृभाषा के ज्ञान पर विशेष बल

३४—पाठ्यक्रम का वास्तविक जीवन से सम्बन्ध

३५—गाँव और शहर के पाठ्यक्रम में भेद ?

नागरिक शास्त्र, ग्रामीण और शहरी बालकों की शिक्षा-उद्देश्य में भेद नहीं।

३६—बालकों और बालिकाओं के पाठ्यक्रम में भेद ?

बालक और बालिका की शिक्षा में शिक्षान्ततः भेद नहीं, किशोरावस्था में बालिकाओं के पाठ्यक्रम में गृह-विज्ञान।

सहायक पुस्तकें

१—टी० रेमॉन्ट—द प्रिन्सीपुल्स ऑव् एडूकेशन, अध्याय ६।

२—हार्पर—एडवेन्चर इन अमेरिकन एडूकेशन, भाग २—"एक्सप्लोरिङ्ग द करीकुलम"।

३—रिस्क—प्रिन्सीपुल्स ऐण्ड प्रैक्टिसेज़ ऑव् टीचिङ्ग इन सेकण्डरी-स्कूल्स, अध्याय १३।

४—गाइबर्न—द प्रिन्सीपुल्स ऑव् टीचिङ्ग, अध्याय ७।

५—स्टर्ट ऐण्ड ओकडेन—मैटर ऐण्ड मेथड इन एडूकेशन, अध्याय २।

६—रेन—द इण्डियन टीचर्स गाइड—द थियरी ऑव् एडूकेशन।

७—वेलटन—प्रिन्सीपुल्स ऐण्ड मेथड ऑव् टीचिङ्ग, अध्याय २।

२६

विनय की समस्या[1]

सबसे पहले शिक्षक को यह जानना चाहिए कि वह क्या पढ़ाने जा रहा है। विषय-ज्ञान के बाद उसे यह जानना है कि विषय को बालक के सामने किस प्रकार रखा जाय कि वह उसे सरलता से समझ सके और साथ ही साथ उसका विकास भी मनोवैज्ञानिक क्रम से चलता रहे। इसी के साथ विनय-व्यवस्था की भी बात आ जाती है। यदि कक्षा में शिक्षक विनय स्थापित न कर सका तो उसका सारा परिश्रम व्यर्थ जायगा। इस शिक्षण-कला के अन्तर्गत विषय-ज्ञान, विधि और विनय-व्यवस्था का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है। पहले यहाँ हम विनय-व्यवस्था पर विचार करेंगे।

शिक्षक के कार्य की सफलता कक्षा में विनय से मापी जा सकती है। यदि उसका कार्य मनोवैज्ञानिक हुआ तो उसमें बालक स्वभावतः रुचि लेंगे और विनय व्यवस्था की समस्या ही न आयेगी। कक्षा में विनय के अभाव से ट्रेनिङ्ग कॉलेज के विद्यार्थी हतोत्साह हो जाते हैं और उन्हें सन्देह होने लगता है कि कदाचित् उन्होंने अपने जीवन का गलत उद्देश्य चुना है। प्रायः यह सुनने में आता है कि छोटे लड़कों की कक्षा में विनय स्थापित करना असम्भव है, क्योंकि वे हर समय कुछ न कुछ किया करते हैं। वस्तुतः विनय-व्यवस्था की समस्या बड़ी टेढ़ी है। शिक्षक अपने सारे ज्ञान और विधि को लेकर कुछ भी नहीं कर सकता, यदि वह कक्षा में विनय न स्थापित कर सका। लड़कों का कक्षा में शोर मचाना और शिक्षक का गला फाड़-फाड़ कर चुप करने के लिए चिल्लाना अथवा

1. The Problem of Discipline.

आत्महीनता-भावना से दबे रहने के कारण चुप करने के लिए बिल्ली की तरह बोलना, बड़ा दयनीय है।

प्राचीन काल में हमारे देश के गुरुकुलों अथवा पाठशालाओं में विनय की समस्या ही न थी, क्योंकि उस समय शिक्षक और शिक्षार्थी का सम्बन्ध आज का सा न था। गुरू और शिष्य में पिता और पुत्र का सा व्यवहार होता था। शिष्य गुरू का पक्का भक्त होता था और उसकी कृपा-दृष्टि के लिए तरसता रहता था। एकलव्य और उपमन्यु की कथायें इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। शिष्यगण तन, मन और धन से गुरू को प्रसन्न करने की चेष्टा किया करते थे। अतः वे सदैव विनम्र रहते थे और उनका आचरण भी शुद्ध रहता था। घर से नया आया हुआ बालक भी गुरुकुल के वातावरण से शीघ्र ही प्रभावित हो जाता था और पवित्रता, शान्ति और सदाचार में पग जाता था।

अब स्थिति ऐसी न रही। अब तो अध्यापकगण छात्रों को अपना देवता मानते हैं और उन्हें प्रसन्न करने के लिए कभी-कभी उनकी इच्छानुसार कार्य करने लगते हैं। अध्यापक के कठोर वर्त्ताव पर छात्रगण कभी-कभी हड़ताल कर बैठते हैं और अध्यापक अपनी नौकरी के लिए चिन्तित हो जाता है। कुछ प्रधानाध्यापकों को तो साल भर छात्रों की चापलूसी ही करते बीतता है, जिससे परीक्षा के समय तथा अन्य किसी बात पर वे हड़ताल न बोल दें। जिस स्कूल में चापलूसी के कारण हड़ताल नहीं होती वहाँ के प्रधानाध्यापक डींग हाँकते सुने जाते हैं। "मेरी कक्षा में लड़के चूँ तक नहीं बोलते" ऐसी बातें तो किसी न किसी अध्यापक से रोज ही सुनी जाती हैं।

आजकल छात्रों की मनोवृत्ति में भी बड़ा परिवर्तन आ गया है। छात्र सोचते हैं कि हम फीस देते हैं इसलिए अवश्य पढ़ेंगे। अध्यापक भी सोचता है कि "मुझे केवल १२० रु० मिलते हैं; अतः मैंने १२० रु० का काम कर दिया, इससे अधिक क्यों करूँ?" इस दृष्टि से स्कूल या कॉलेज के पुराने अध्यापक की मनोवृत्ति कुछ और भी आगे बढ़ी हुई है। पुराना अध्यापक समझता है कि "मैंने २५ साल तक काम किया। अपने

जीवन का सबसे अच्छा काल यहीं बिता दिया। अब मैं अधिक परिश्रम क्यों करूँ ? अब परिश्रम करना नये लोगों का काम है।" इस मनोवृत्ति का प्रभाव यह पडा है कि नये अध्यापक प्रायः भुनभुनाया करते हैं और कहते हैं कि "हमसे अधिक काम लिया जाता है। अतः कक्षा में हम गप मारेंगे।" छात्रों और अध्यापकों मे उपर्युक्त भावनायें स्कूलों में प्रचलित अविनय को और भी प्रोत्साहन देती है।

शिक्षा में विनय-समस्या से अधिक महत्वपूर्ण और दूसरी समस्या नहीं। अभिभावक अपने बालक को स्कूल मे केवल परीक्षा ही पास करने के लिए नहीं भेजता, वरन् उसे आदमी बनाने के लिए भी भेजता है, और वह आदमी ऐसा हो जिसका समाज में आदर हो। इसके लिए बालक को विनय सिखाना बड़ा ही आवश्यक है। कुछ लोगों की धारणा है कि जिस स्कूल के बालक सदा एक कतार में होकर चलते हैं और कक्षा में चुपचाप बैठे रहते हैं वहाँ की विनय अच्छी होती है। पर विनय का तात्पर्य यह नहीं, क्योंकि इस विनय के स्थापन में प्रधानाध्यापक और अध्यापक डण्डे का प्रयोग करते देखे जाते हैं। मनोविज्ञान का इतना प्रचार हो जाने पर भी प्रधानाध्यापक गण बेंत के प्रयोग में अपना अभिमान समझते हैं। डण्डे के बल से रखी हुई विनय झूठी और दिखावटी होती है। इससे बालक के हृदय को नहीं जीता जा सकता। अतः हमें कोई ऐसा साधन ढूँढ़ निकालना है जिससे वास्तविक विनय स्थापित हो सके। वास्तविक विनय से ही बालकों मे संयम, सदाचार, त्याग, सेवा आदि भाव उत्पन्न हो सकते हैं। वस्तुतः उसे शिक्षा देने का यही उद्देश्य भी है। विनय का इतना वृहद् रूप लेने से यह स्पष्ट है कि 'विनय' सीखने की वस्तु है। जैसे शिक्षा मे बालक को किसी विषय का ज्ञान कराया जाता है उसी प्रकार उसे 'विनय' में भी शिक्षा दी जा सकती है।

आज विनय का तात्पर्य पहले से कुछ भिन्न समझा जाता है। पहले विनय का अर्थ बालक को आज्ञाकारी बनाने का था। जैसे अन्य सैनिक सेना के कप्तान का अक्षरशः बिना सोचे आज्ञा पालन करते हैं वैसे ही बालक को अपने माता-पिता, अभिभावक अथवा शिक्षक का आज्ञापालन

करना 'विनय' उत्पन्न करने का एक मात्र उद्देश्य समझा जाता था। बालक तनिक भी चूँ नहीं कर सकता था। अरुचिकर कार्य कराना उसे 'विनयी' बनाने का अच्छा साधन माना जाता था। बालक को छोटी उम्र से ही पढ़ाना-लिखाना और सिखाना आरम्भ किया जाता था। भाषा, व्याकरण तथा गणित के नियम उसे कण्ठाग्र करने पड़ते थे और असफलता पर उसे मार भी खानी पड़ती थी। सफल शिक्षक वही समझा जाता था जो अपनी इच्छानुसार बालक को झुका सकता था। बालकों पर अपना पूरा नियन्त्रण स्थापित करने के लिए शिक्षक अपने में एक शक्ति समझता था। इस शक्ति के प्रयोग में वह अपने को स्वच्छन्द समझता था। शिक्षक अपने को ऐसा बनाना चाहता था कि विद्यार्थी उसका भय करें और उसकी आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करें।

विनय का उपर्युक्त रूप अब एक दम बदल दिया गया है। इस परिवर्तन में मनोवैज्ञानिक प्रगति ने सबसे अधिक योग दिया है। अब आज्ञा पालन का साधन भय न मानकर प्रेम मान लिया गया है। शिक्षक ऐसा हो कि बालक उससे प्रेम और श्रद्धा करें और इसी भावना से अभिभूत होकर वे उसकी आज्ञाओं का हँसते-हँसते पालन करें। शिक्षक का व्यक्तित्व ऐसा हो कि बालक उससे सहज ही प्रभावित हो जाँय। ऐसे शिक्षकों को विनय-व्यवस्था में बेंत की आवश्यकता नहीं होती। वास्तव में यदि बालक को डराया न जाय तो वह स्वतः विनयी हो जायगा और उसका कोई भी व्यवहार असामाजिक न होगा।

विनय का तात्पर्य केवल कक्षा-विनय से ही नहीं है, वरन् पूरे जीवन से है, शिक्षक को दोनों प्रकार की विनय को समझना आवश्यक है, क्योंकि उसका सम्बन्ध दोनों से है। कक्षा में विनय न रहने से वह कुछ पढ़ा-लिखा न सकेगा। कक्षा में विनय का अर्थ यह है कि पढ़ाई के समय लड़के आपस में बातचीत तथा किसी प्रकार का उपद्रव न करें। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि कक्षा में बालक एकदम मूर्ति के सदृश् बैठे रहें। चंचलता का नाम अविनय नहीं। वस्तुतः बालक को चंचल होना चाहिये। जब कक्षा में कुछ पढ़ाई नहीं होती तो बालकों का ऊधम मचाना एकदम

स्वाभाविक है। इसके लिए उन्हें दण्ड देना अनुचित है। छोटी कक्षाओं के शिक्षक बहुधा कहा करते हैं कि उनकी कक्षा में लड़के बड़ा ऊधम मचाते हैं और छोटे लडकों में विनय की बडी कमी होती है। पर बात ऐसी नहीं। छोटे बच्चे हर समय कुछ न कुछ करना चाहते हैं। जब उनकी स्वाभाविक क्रियाशीलता को जारी रखने में शिक्षक की पढ़ाई योग नहीं देती तो वे कुछ इधर-उधर किया करते हैं, और इसे अविनय का नाम दे दिया जाता है।

जो शिक्षक विनय-स्थापन पर जितना ही अधिक जोर देता है उसकी कक्षा में उतनी ही अधिक अविनय दिखलाई पडती है। बालकों में संकेत-योग्यता[1] अधिक होती है। यदि शिक्षक की मुद्रा में उन्हें शैथिल्य झलकता दिखाई देता है तो फिर क्या पूछना! वे शिक्षक को अपनी वाली एक न करने देंगे। यदि शिक्षक बार-बार चिल्ला कर चुप रहने के लिए आदेश देता है तो निश्चय है कि वह विनय-स्थापन में सफल न होगा। बालकों को विनय-स्थापन विषयक जितना कम आदेश दिया जाय उतना ही अच्छा है। यदि शिक्षक की उद्योगशीलता और व्यक्तित्व की छाप बालकों पर पड गई तो 'विनय-समस्या' उपस्थित ही न होगी।

प्रायः पाठ के प्रारम्भ अथवा अन्त में विनय की समस्या नये अध्यापकों को अधिक तंग किया करती है, क्योंकि प्रारम्भ में विषय को रुचिकर बनाना कठिन होता है और अन्त में बालक थकान के कारण स्वयं अरुचि दिखलाते हैं। परन्तु यदि शिक्षक मनोवैज्ञानिक विधि से काम ले तो वह किसी भी विषय को रुचिकर बना सकता है और बालक उसके साथ थोड़ी देर के लिए भी थकान का अनुभव न करेंगे। जब बालकों से अस्वाभाविक चीजें करने के लिए कहा जाता हैं तभी विनय की समस्या टेढ़ी होती है। बालकों के अविनय में अभिभावकों का भी कुछ हाथ रहता है, क्योंकि वे अपना अधिकांश समय उन्हीं के साथ व्यतीत करते हैं। विनय-स्थापन में शिक्षक को दो प्रकार के बालकों का सामना करना होता है—१–वे जिनकी घर पर अवहेलना की जाती है और मार

1. Suggestibility.

पड़ती है; २—वे बालक जिनको अत्यधिक लाड़-प्यार दिया जाता है। आत्म-विश्वास और शान्ति से काम लेने पर इन दोनों प्रकार के बालकों पर शिक्षक सरलता से नियन्त्रण प्राप्त कर सकता है।

कुछ लोगों का कहना है कि कक्षा की विनय शिक्षक के व्यक्तित्व पर निर्भर होती है। कुछ अंश में यह ठीक भी है। कुछ शिक्षकों का व्यक्तित्व ऐसा होता है कि बालक उनकी ओर स्वतः आकर्षित हो जाते हैं। विषय में रुचि के कारण लड़के कक्षा में शान्ति नहीं रखते, वरन् शिक्षक की मुद्रा, व्यवहार और वाणी ऐसी प्रिय, आकर्षक और सौम्य होती है कि बालक कक्षा में दत्तचित्त हो सब कुछ सुनते रहते हैं। ऐसे शिक्षक चरित्रवान् होते हैं। उनमें इतना आत्म-विश्वास भरा रहता है कि कक्षा में अविनय का डर उनके मन में आता ही नहीं। अतः उनकी कोई मुद्रा ऐसी नहीं होती जिससे बालक कक्षा में मनमानी करने की सोचें।

शिक्षक को अपने भावों पर पूरा नियन्त्रण रखना चाहिये। कुछ शिक्षक किसी बात के कहने में इतनी बार मुँह सिकोड़ते हैं, हाथ इधर-उधर नचाते हैं और कक्षा में इस प्रकार इधर-उधर हिला करते हैं कि बालक उन्हें बड़ा बुरा समझते हैं और मुँह दबा-दबा कर उन पर छिपे-छिपे हँसते हैं। अतः शिक्षक जो कुछ कहता है उसका समुचित असर उन पर नहीं पड़ता। फलतः वे शिक्षक की मुद्रा पर हँसते, बातचीत करते या कक्षा-कार्य से उदासीन हो ऊँघते हुये पाये जाते हैं। इतना ही नहीं, वे शिक्षक का व्यंगात्मक उपहास भी उड़ाते हुए देखे जाते हैं। शिक्षक के व्यवहार और भाव-भंगिमा के अनुरूप वे उनका कोई नामकरण भी कर देते हैं।

कुछ लोगों की धारणा है कि पुरस्कार[1] और दण्ड[2] से विनय-स्थापन में बड़ी सहायता मिलती है। विनय-स्थापन में पुरस्कार अथवा दण्ड का कोई सैद्धान्तिक स्थान नहीं। बालक का पथ-प्रदर्शन इस प्रकार किया जा सकता है कि ठीक काम करना ही उसका स्वभाव हो जाय और बुरे से वह स्वभावतः घृणा करे। ऐसा होने से उसमें वांछित स्थायीभाव[3]

1. Reward. 2. Punishment. 3. Sentiments.

उत्पन्न हो जायेंगे और उसे दण्ड देने की आवश्यकता ही न होगी। बालक हर समय अपने अनुभव के आधार पर सीखने की चेष्टा में रहता है। अतः समय-समय पर उसे अच्छा रास्ता दिखलाना है, और इस सम्बन्ध में यदि दण्ड देना आवश्यक है तो उसे देने में हिचकिचाहट न होनी चाहिए। किन्तु योग्य शिक्षक को इसे बुद्धिमत्तापूर्वक अन्तिम अस्त्र की भाँति ही प्रयोग में लाना चाहिए।

अध्यापन-सम्बन्धी सहायक वस्तुओं के प्रबन्ध में बालकों को कुछ उत्तरदायित्व दे दिया जाय तो विनय-स्थापना में काफी सहायता मिल सकती है। किसी उत्तरदायित्व को निभाने में बालक विनय-स्थापन की आवश्यकता को भली-भाँति समझ लेता है और विनय-स्थापन हेतु बड़ों के नियन्त्रण-विधि की आवश्यकता मान लेता है। अपनी अधिकार-भावना के प्रदर्शन के लिए शिक्षक का बालकों को डाँटना या रोब जमाना विनय-स्थापन के विरुद्ध जाता है। शिक्षक के नियन्त्रण से यही मालूम हो कि विनय-स्थापन बालकों की भलाई के लिए ही आवश्यक है। इस बात की उपेक्षा से यह देखा गया है कि कक्षा में लड़के शिक्षक का विरोध कर बैठते हैं।

शिक्षक को यह न भूलना चाहिए कि उपदेश से उदाहरण कहीं अच्छा है। यदि शिक्षक लम्बी-लम्बी बातें कह जाता है और उन्हें कार्यान्वित करने में अपनी असफलता दिखलाता है तो उसका शिक्षक होना सार्थक नहीं; क्योंकि बालक उससे कुछ सीख न सकेंगे। ऐसे शिक्षकों से बालकों को हानि होने की अधिक सम्भावना रहती है, क्योंकि उनकी अधिक बातों का विरुद्ध-संकेत[1] सदृश् बालकों पर प्रभाव पड़ता है। ऐसे शिक्षक जो कुछ कहते हैं उसका उलटा ही करने की प्रवृत्ति बालकों में आ जाती है। उदाहरणार्थ, यदि धूम्र-पान करने अथवा खूब ठाट-बाट से रहने वाला शिक्षक बालकों को सिगरेट-बीड़ी न पीने के लिए अथवा सादगी से रहने के लिए शिक्षा देता है तो उसका बालकों पर उलटा प्रभाव पड़ेगा।

1. Contra-suggestion.

शिक्षक का व्यवहार, चरित्र तथा उसके सम्बन्ध में सारी बातें ऐसी हों कि उनका बालकों पर सदा अच्छा ही प्रभाव पड़े। यदि इस आदर्श तक पहुँचने की चेष्टा कोई शिक्षक करता है तो उसकी कक्षा में विनय-समस्या कभी आवेगी ही नहीं। ऐसे ही शिक्षक को बालक स्कूल छोड़ देने के बाद भी याद करते हैं। ऐसे ही शिक्षक बालकों को कुछ ऐसे विचार देने में समर्थ होते हैं जो उनके कानों में सदा गूँजा करते हैं। शिक्षक को नित्य यह सोचना चाहिये कि अगले दिन वह बालकों को कौन-सा नया विचार देगा। इसकी सतत चिन्ता करने से ही वह सफल हो सकता है। जो जितना ही इस चिन्ता में सच्चे हृदय से मग्न रहता है वह अपने कार्य में उतना ही सफल कहा जा सकता है। वास्तव में शिक्षक की सफलता की माप इसी में है। खेद है कि आज का शिक्षक वर्ग इस आदर्श से बहुत दूर है।

कुछ शिक्षक अध्यापन-कार्य को बड़ा ही सरल समझते हैं। कुछ तो उसे हेय भी मानते हैं। घर पर वे सोचते ही नहीं कि कल वे क्या पढ़ायेंगे। हर समय बैठ कर गप मारा करते हैं या किसी अन्य कार्य में लगे रहते हैं। स्कूल का समय आने पर किसी प्रकार जल्दीबाजी में तैयार होकर इस प्रकार रवाना होते हैं मानों फैक्टरी में कार्य करने कोई मजदूर जा रहा हो। अर्थात् ऐसा शिक्षक बालकों के प्रति अपने महान् उत्तरदायित्व को नहीं सोचता। वह स्कूल में बालकों के जीवन को सुधारने नहीं जाता परन्तु अपनी रोटी कमाने जाता है। ऐसे शिक्षकों को शिक्षा-क्षेत्र से निकाल बाहर किये बिना देश का कल्याण सम्भव नहीं। ऐसे शिक्षक या तो डण्डों के बल कक्षा में विनय-स्थापित करते हैं या लड़के उनका कान चूमने तक तैयार रहते हैं। अर्थात इस दृष्टि से दो प्रकार के शिक्षक दिखलाई पड़ते हैं :—१—एक तो वे जो कि बाहर अपने सहयोगियों के सामने दम्भ भरते हैं कि उनकी कक्षा में किसी को चूँ करने का भी साहस नहीं होता। कक्षा में ऐसे शिक्षक की भौंहें सदा तनी रहती हैं। ऐसे शिक्षक में बालक कभी विश्वास नहीं करता। वह अपनी कठिनाई उनके सामने कभी नहीं रखता। २—दूसरे प्रकार का शिक्षक

सदा मुँह लटकाये रहता है। कक्षा में लड़कों की दया का वह पात्र होता है। उसके व्यवहार और हाव-भाव ऐसे होते हैं कि लड़के कक्षा में ऊधम मचाया करते हैं। ऐसे शिक्षकों का अपना कोई आदर्श नहीं होता। जैसे तिनका जल की धार के साथ बह जाता है उसी प्रकार वे भी संसार की गति के साथ बह जाते हैं। वे परिस्थिति के जीव होते हैं। वे बालकों को भीरुता के अतिरिक्त और कुछ नहीं सिखला सकते। इनकी कक्षा में विनय-स्थापन की समस्या का कोई हल नहीं।

ऊपर हम कई बार संकेत कर चुके हैं कि कक्षा में बालकों द्वारा स्वतः स्थापित विनय-व्यवस्था[1] सर्वोत्तम है। अध्यापकों को उनका इस प्रकार पथ-प्रदर्शन करना है कि वे विनय-स्थापन की आवश्यकता का अनुभव कर स्वयं उसमें योग दें। बालकों द्वारा स्थापित विनय-व्यवस्था स्थायी और पठन-पाठन में सहायक होती है। पर बालक बिना शिक्षक के पथ-प्रदर्शन के स्वयं विनय-स्थापन में सफल नहीं हो सकते। यदि 'विनय' का सारा उत्तरदायित्व बालकों पर ही छोड़ दिया जाय तो कदाचित् वे उसके स्थापन में सफल न हो सकेंगे। शिक्षक को यह न भूलना चाहिए कि विनय-स्थापन साध्य नहीं, वरन् साधन है। विनय किस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये साधन है? सबसे पहले हम यह चाहते हैं कि स्कूल के वातावरण अथवा स्वर[2] का समुचित प्रभाव बालक पर पड़े। बालकों में सामूहिकता[3] की मूल-प्रवृत्ति विशेष रूप से जाग्रत रहती है। यदि स्कूल अच्छा हुआ तो उसके प्रभाव की ओर बालक स्वतः आकर्षित हो जाते हैं। स्कूल के स्वर की व्याख्या करना कठिन है, क्योंकि प्रत्येक स्कूल का अपना अलग-अलग स्वर होता है। भिन्नता रहते हुए भी हम उन्हें "अच्छे स्वर वाला" कह सकते हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उस स्कूल का स्वर अच्छा है जिसमें बालक यह अनुभव करें कि वे एक ऐसे समाज में रह रहे हैं जहाँ "सत्यं शिवं और सुन्दरम्"[4] का साम्राज्य है। अर्थात् जहाँ शारीरिक, मानसिक, नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक

1. Self-established discipline. 2. Tone. 3. Gregariousness. 4. Truth, Good, and Beauty.

सभी दृष्टिकोण से बालकों के विकास में योग देने का प्रयास किया जाता है।

यद्यपि स्कूल के "स्वर" के अन्तर्गत अध्यापकों के व्यक्तित्व का प्रभाव आ जाता है, पर कुछ शिक्षक व्यक्तिगत रूप से भी बालकों के हृदय में स्थायी स्थान प्राप्त कर लेते हैं। बालकों के चरित्र-निर्माण[1] में योग देने के लिये यह आवश्यक है कि शिक्षक में इस हेतु उत्कट कामना हो और उसकी पूर्ति के लिए वह सतत् चिन्तन में लगा रहे। अतः उसमें बालकों के प्रति सहानुभूति और प्रेम का होना आवश्यक है। उसका मस्तिष्क इतना तीव्र हो कि समस्या के हल पर वह शीघ्र पहुँच जाय और बालक के पथ-प्रदर्शन में वह किसी भी हिचकिचाहट में पड़े। इन गुणों से सम्पन्न शिक्षक का प्रभाव बलाकों के चरित्र पर बिना पड़े नहीं रहता और उसका व्यक्तित्व स्कूल के 'साधारण वातावरण' से एक अलग ही अस्तित्व रखता है। बालक में 'विनय' लाने का अभिप्राय यह भी है कि वह ऐसे आदर्श-शिक्षकों के व्यक्तित्व से प्रभावित हो अपने चरित्र को सुदृढ़ बनावे। पर कुछ बालकों का पथ-प्रदर्शन इतने अमनोवैज्ञानिक ढंग से किया जाता है कि उन पर शिक्षकों के व्यक्तित्व का कुछ प्रभाव ही नहीं पड़ता।

विनय आ जाने पर बालक स्कूल में पढ़ाये हुये विषयों पर पूरा ध्यान देता है। वह उनसे अधिक से अधिक लाभ उठाता है। धीरे-धीरे उसमें दूसरों की अच्छाइयों को समझने की योग्यता और प्रवृत्ति आ जाती है। ऐसा हो जाने से उसके पथ-भ्रष्ट हो जाने की आशंका कम होती है। उसमें आत्म-संयम आ जाता है। इन सब गुणों के फलस्वरूप स्कूल में उसका सारा व्यवहार बड़ा सयत होता है। बहुत अंशों में दूसरे लड़कों के लिये वह आदर्श हो जाता है।

कक्षा में 'विनय' स्थापित करने का काम इतना सरल नहीं कि वहाँ पहुँचते ही शिक्षक इसमें सफल हो जाय। जिस प्रकार व्यक्ति में किसी गुण का विकास धीरे-धीरे होता है उसी तरह कक्षा में विनय का स्थापन

को　1. Character formation.

क्रमशः होता है। विनय-स्थापन में सबसे पहले शिक्षक को यह याद रखना है कि लड़कों को यह न विदित हो सके कि वह 'विनय' स्थापित करने के लिए चिन्तित है। आत्म-विश्वास के साथ कक्षा में जाने से विनय-स्थापन की समस्या आती ही नहीं। ट्रेनिंग-कॉलेज के छात्राध्यापक[1] कक्षा में अविनय की शिकायत करते नहीं थकते। इसका कारण यह है कि वे पहले ही मान लेते हैं कि लड़के उन्हें छात्राध्यापक समझकर कक्षा में ऊधम मचायेंगे। अवसर पर डाँटने या उचित दण्ड देने में उन्हें सदा हिचकिचाहट बनी रहती है। यही कारण है कि कक्षा की 'अविनय' से वे सदा परेशान रहते हैं। अतः शिक्षक अथवा छात्राध्यापक में आत्म-विश्वास का अनुभव करना बड़ा आवश्यक है। आत्म-विश्वास रखने के लिए सबसे पहले यह आवश्यक है कि छात्राध्यापक कक्षा में अपना अधिकार किसी से कम न समझे और आवश्यकता पड़ने पर बालकों को उचित दण्ड देने में उसी प्रकार न हिचके जैसे कभी-कभी पिता पुत्र को दण्ड देने में अपने एक उत्तरदायित्व का ही पालन करता है।

आत्म-विश्वास के अनुभव के लिए शिक्षक को अपने पाठ की भली-भाँति तैयारी करनी चाहिए। पाठ ठीक तैयार रहने से वह बालकों की सभी शंकाओं का समाधान करने में सफल होता है और इस प्रकार वह उनके विश्वास का पात्र हो जाता है। यदि बालकों के किसी प्रश्न का उत्तर नहीं आता तो शिक्षक को स्पष्ट रूप से अपनी असमर्थता प्रकट कर देनी चाहिए। ऐसा करना गलत बतलाने से कहीं अधिक नैतिक और सुरक्षित है। जो शिक्षक ऐंठ में आकर जान बूझ कर लड़कों को गलत बात बतलाते हैं वे अक्षम्य अपराध करते हैं। ऐसे शिक्षकों की जितनी अधिक निन्दा की जाय थोड़ी है। गलत बात बतलाने वाले शिक्षक की कक्षा में सदा अविनय ही देखी जाती है।

कक्षा में 'विनय' स्थापित करने के लिए आवश्यक है कि शिक्षक अपना आदेश स्पष्ट और गम्भीर शब्दों में दे। कुछ शिक्षक अपने आदेश के पालन के लिए बार-बार उसे दोहराया करते हैं। कुछ अपना मुँह चुरा

1. Pupil-teachers.

कर इतना धीरे से बोलते हैं कि किसी-किसी लड़के को सुनाई भी नहीं पड़ता। कुछ झुड़कने की मुद्रा में थोड़ा मुस्कराते हुए लड़कों को आदेश देते हैं। इन प्रकार के आदेशों का बालकों पर ठीक प्रभाव नहीं पड़ता। बालक शिक्षक की कमजोरी को उसी प्रकार पकड़ लेते हैं जैसे किसान बैल मोल लेते समय उसके दोष और गुण पहचान लेता है। यदि एक बार कहने पर सभी लड़के न सुन सकें तो बार-बार दुहराने से भी आदेश न पालन करने वाले बालकों की मुद्रा की प्रतीक्षा करना अधिक मनोवैज्ञानिक है। यदि कक्षा में बहुत शोर होने लगे तो चिल्ला-चिल्ला कर चुप रहने के लिए कहना अमनोवैज्ञानिक है। अच्छा यह होगा कि शिक्षक बहुत धीमे स्वर में बोलने लगे। ऐसा करने से लड़के यह जानने के लिए उत्सुक हो जाते हैं कि "मास्टर साहब क्या कह रहे हैं।"

शिक्षक को यह याद रखना चाहिए कि काम न रहने पर ही लड़के कक्षा में अव्यवस्था मचाते हैं। पाठ्य-वस्तु के न समझने पर वे उसमें रुचि नहीं लेते। फलतः वे बातचीत या झगड़ा करते हुए कक्षा में पाये जाते हैं। यदि उन्हें किसी न किसी काम में हर समय लगाकर रखा जाय तो उनके कारण अविनय न होगी। शिक्षक को उचित है कि प्रत्येक लड़के पर वह दृष्टि रखे और वैयक्तिक योग्यतानुसार[1] प्रत्येक से काम ले। यदि कोई कमजोर बालक किसी प्रश्न के उत्तर देने में असफल होता है तो उसे दूसरे के दिए हुए ठीक उत्तर को दुहराने के लिए ही कहना चाहिए। इस प्रकार सभी विद्यार्थियों से कुछ न कुछ कार्य लेना चाहिए। तेज विद्यार्थी को ही बार-बार अवसर देना और कमजोर की अवहेलना करना सभी दृष्टि से अमनोवैज्ञानिक है। इससे कक्षा-विनय में बड़ी गड़बड़ी आ जाती है। पाठ्य-वस्तु में शिक्षक को स्वयं बड़ी रुचि लेनी चाहिए, अन्यथा वह उसे लड़कों के लिए रुचिकर न बना सकेगा। पढ़ाने में उसे ऐसा दत्तचित्त रहना चाहिए कि उसे मालूम ही न हो कि घण्टा कैसे बीत गया।

३ कक्षा में लड़कों के कई प्रकार की शरारतों को अविनय का रूप

1 According to individual ability.

दिया जा सकता है। इनका वर्गीकरण हम निम्नलिखित रूप से कर सकते हैं :—

कुछ साधारण शरारतें

१—दूसरों को चिढ़ाना, बाल खींचना या चिकोटी काटना।

२—कुछ खटपट करते रहना।

३—दूसरों से बातचीत करना।

४—दूसरों पर बोली काटना।

५—दूसरों की गलती पर हँस देना।

६—कान में फुस-फुस कुछ कहना।

इन शरारतों से कक्षा में यदाकदा अविनय आ जाया करती है। इनसे अव्यवस्था नहीं उत्पन्न होती। इनका रूप वैयक्तिक होता है। बालक जान-बूझकर कक्षा में अविनय नहीं लाना चाहता। अतः इस प्रकार की गड़बड़ी का अधिकतर उत्तरदायित्व शिक्षक पर ही है, क्योंकि उसके पढ़ाने की अमनोवैज्ञानिक प्रणाली के कारण बालकों का ध्यान इधर-उधर बँट जाता है।

दूसरे तरह की शरारतें जान बूझकर बालकों द्वारा कक्षा में की जाती हैं, और उनसे व्यक्तित्व पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

जान-बूझकर शरारत करना

१—कागज़ या चॉक का टुकड़ा आदि दूसरों के ऊपर फेंकना।

२—आज्ञा का उल्लंघन करना।

३—अशिष्टता की बात कहना।

४—हड़ताल करना अर्थात् काम करने से मुख मोड़ लेना।

कुछ व्यक्तिगत समस्यायें—(इनका सम्बन्ध व्यक्तिगत कठिनाइयों से होता है) जैसेः—

१—झूठ बोलना, धोखा देना अथवा चोरी करना,

२—क्रोध दिखलाना,

३—आलसी बालक,

४—दुश्चरित्र बालक आदि।

'साधारण शरारत' तथा 'जान-बूझ कर शरारत' से उत्पन्न अविनय-समस्या का समाधान सामूहिक रूप से किया जा सकता है, क्योंकि उनमें प्रायः व्यक्तित्व की विकट समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ता। कुछ तात्कालिक कारणवश ही अविनय उत्पन्न हो जाती है और चतुर शिक्षक इसका निराकरण बड़ी सरलता से कर सकता है। पर व्यक्तिगत समस्याओं का समाधान कुछ कठिन हो जाता है। यह ध्यान रहे कि ये समस्यायें कहीं सामूहिक रूप न धारण कर लें। उदाहरणार्थ, चोरी करने, झूठ अथवा धोखा देने वाले लड़के के चरित्र का सूक्ष्म अध्ययन कर उसके दोष को दूर करने की चेष्टा करनी चाहिए। इस प्रयत्न में कक्षा-वातावरण का सहारा न लेना ही मनोवैज्ञानिक होगा, क्योंकि ये सब कक्षा-अविनय की समस्यायें नहीं हैं।

शिक्षक की योग्यता तथा अन्य आवश्यक बातों के होते हुए भी कभी-कभी कक्षा में विनय स्थापित करने में कठिनाई होती है। किसी विषय में रुचि का विकास प्रायः परिश्रम करके किया जाता है। कुछ दिन तक पढ़ लेने के बाद बालक किसी विषय में रुचि दिखलाता है। इसके अतिरिक्त किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए विषय के अरुचिकर होने पर भी कुछ व्यक्ति अथवा बालक अपना ध्यान उस पर लगा सकते हैं। जहाँ रुचि अथवा उद्देश्य का अभाव रहता है वहीं अविनय की समस्या उपस्थित होती है। क्योंकि स्वस्थ बालक चुपचाप नहीं बैठ सकता। कक्षा-कमरे की कुछ स्थितियाँ भी बालकों के ध्यान लगाने में विघ्न डालती हैं। उदाहरणार्थ, अधिक गर्मी अथवा सर्दी, हवा और प्रकाश का ठीक न आना, बैठने की अव्यवस्था, समय-सारिणी का अमनोवैज्ञानिक होना तथा कमरे का अति आकर्षक होना आदि बातें विनय-स्थापन में रोड़े का काम करती हैं। अधिक गर्मी अथवा सर्दी होने के कारण बालकों का मन काम में न लगना स्वाभाविक है। शरीर के कष्ट में रहने से ध्यान का आकर्षित होना बड़ा कठिन होता है। फलतः ऐसी स्थिति में लड़कों का इधर-उधर करना आश्चर्यजनक नहीं। स्कूल-काल में विभिन्न विषयों का समय-सारिणी में इस प्रकार संगठन हो कि बालकों का मस्तिष्क शीघ्र

थक कर ऊब न जाय। आकर्षक चित्रों आदि के टँगे रहने से बालकों का ध्यान बहुधा उन्हीं की ओर जाया करता है और प्रस्तुत विषय में उनकी अरुचि हो जाती है। इस प्रकार की आवश्यक सुविधा के अभाव में शिक्षक को कक्षा में विनय रखने में कठिनाई का सामना करना हो तो आश्चर्य नहीं।

विनय-समस्या की अवहेलना कभी न करनी चाहिये। अवसर के अनुसार उचित साधन का अवलम्बन लेना आवश्यक है। इसमें तनिक भी देरी और अवहेलना भविष्य के लिए हानिकर सिद्ध हो सकती है। यदि सारी कक्षा में गड़बड़ी मच गई हो तो तत्काल उसी स्थल पर समस्या का समाधान करना चाहिए। पर यदि समस्या का सम्बन्ध कुछ थोड़े ही बालकों से है तो उसका निराकरण कक्षा के बाहर किया जा सकता है। बहुत साधारण बात के होने पर शिक्षक ऐसा व्यवहार करे कि विनय ठीक करने में पूरी कक्षा का कम से कम समय नष्ट हो। कभी सर का हिला देना या आँखों से घूर देना ही पर्याप्त हो सकता है। कभी किसी एक लड़के से कुछ कहने की आवश्यकता हो सकती है। कभी पूरी कक्षा से गम्भीर शब्दों में विनय की आवश्यकता पर कुछ कहना आवश्यक हो सकता है। समस्या के समाधान में शिक्षक को ध्यान रहे कि उसकी मुद्रा से तनिक भी क्रोध का आभास न मिले। यदि विनय के स्थापन में शिक्षक शान्ति से काम लेता है तो सारी गड़बड़ी पानी के बुलबुले के सदृश् शीघ्र ही लुप्त हो जाती है। अवसर पर विनय स्थापित कर बाद में कुछ विशेष बालकों से अलग बातचीत करना विनय के हित में शिक्षक के लिए आवश्यक हो सकता है, जिससे भविष्य में वह गड़बड़ी फिर न दोहराई जाय।

विनय-स्थापन के लिए किन-किन उपायों का सहारा लेना लाभप्रद है और किनका हानिकर—यह सरलता से नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जो साधन एक अवसर पर उपयुक्त सिद्ध होता है वही दूसरे स्थल पर हानिकर भी हो सकता है। तथापि यहाँ कुछ ऐसे साधनों का उल्लेख किया जाता है जो कभी-कभी सहायक सिद्ध हो सकते हैं :—

विनय-स्थापन के कुछ अच्छे साधन

१—कक्षा से निकाल देना।
२—किसी काम से कक्षा के बाहर भेज देना।
३—कुछ सुविधायें छीन लेना।
४—कक्षा के अन्य बालकों से अलग कर देना।
५—कक्षा ही में कुछ दूसरा काम करने के लिये कहना।
६—बैठने का स्थान बदल देना।
७—अभिभावक और बालक से अलग-अलग बात करना।
८—बालक को अलग बुलाकर व्यक्तिगत रूप से समझाना।
९—विनय के महत्त्व को समझाना।

कुछ कम प्रयोग में लाये जाने वाले साधनः—

१—सारी कक्षा के सामने लज्जित करना।
२—शारीरिक दण्ड देना।
३—बालक को प्रधानाध्यापक के पास भेज देना।
४—कक्षा से कुछ दिन के लिये निकाल देना।
५—करने के लिए कुछ कठिन कार्य देना।
६—स्कूल-काल के बाद रोक रखना।

कुछ अवांछित साधन (जिनका बहुत कम प्रभाव पड़ता है):—

१—कुछ के अपराध के लिए सारी कक्षा को दण्ड देना।
२—हठात् क्षमा-याचना के लिए बालक को बाध्य करना।
३—धमकी देना।
४—कार्य करने से रोकना।
५—विषाक्त व्यंग करना।

हानिकर साधन (जिनका उल्टा प्रभाव पड़ता है):—

१—बालक का मजाक उड़ाना या उसे बहुत घुड़कना।

२—अपशब्द कहना अथवा व्यक्तिगत दोषों की ओर बार-बार संकेत करना।

३—कोसना अथवा लज्जित करने के लिए अनुचित बातें कहना।

शिक्षक के व्यवहार और स्वभाव पर भी विनय-स्थापन बहुत कुछ निर्भर रहता है। प्रायः यह देखा गया है कि एक ही प्रकार के साधन के अवलम्बन में एक शिक्षक विनय-स्थापन में सफल होता है और दूसरा असफल। सबसे अच्छा तो यही होगा कि शिक्षक अपने अनुभव से अच्छे अथवा बुरे साधन का निराकरण कर ले। पर सदा ऐसा सम्भव नहीं। अतः यहाँ कुछ ऐसे उपायों की ओर संकेत किया जाता है जिनका सहारा लेने से शिक्षक को विनय-स्थापन में सरलता हो सकती है:—

विनय-स्थापन के कुछ सरल उपाय

१—अवसर पर बालक की प्रशंसा करना। यदि सम्भव हो तो स्कूल तथा उसके प्रतिनिधियों की भी प्रशंसा करना।

२—यदाकदा बालकों से उनकी रुचियों पर बात करना, पर उनसे घनिष्ठ सम्बन्ध न स्थापित करना।

३—आवश्यकता पर बालक को उचित संकेत द्वारा सहायता देना। यह संकेत ऐसा हो कि बालक अपने उत्तरदायित्व को समझे।

४—बालक के स्कूल-कार्य में रुचि दिखलाना। दूसरी कक्षा में किये हुए उसके कार्य पर भी समय-समय पर आवश्यक बात कर लेना।

५—कहीं भी भेंट होने पर बालक से प्रसन्नचित होकर बोलना। उसके प्रणाम-संकेत का मुस्कराते हुए उत्तर देना।

६—बालकों से गप न मारना। उनसे बातचीत में मर्यादा का उल्लंघन न करना।

७—अपने व्यवहार और बातचीत में ईमानदारी का परिचय देना।

८—अपनी शक्ति के बाहर वचन देकर झूठा न बनना, और बालकों को विश्वास देना कि शिक्षक के शब्द सदा विश्वसनीय होते हैं।

९—पहनावा ऐसा हो कि बालक उससे अरुचि न दिखलावे।

१०—दूसरे शिक्षकों की बालकों के सामने निन्दा न करना।

११—यथासम्भव स्कूल के कार्य में योग देना जिससे बालकों में शिक्षक के प्रति विश्वास आ जाय।

१२—बालकों के साथ ऐसा कोई व्यवहार न करना जिससे मालूम हो कि उन्हें लज्जित अथवा उनके साथ अन्याय किया जा रहा है।

१३—अपने सभी व्यवहार में ईमानदारी दिखलाना और गलती हो जाने पर उसे स्वीकार कर लेना।

१४—बालकों की सारी बात सुन लेना और पूर्ण अन्वेषण के बाद चतुरता से न्यायपूर्वक अपनी राय देना।

१५—बालकों से वाद-विवाद न करना। उनकी बात सुन लेना और तब अपनी सीधे-सीधे कह देना।

१६—कक्षा-कार्य इस प्रकार आयोजित करना कि कहीं भी समय गँवाने का अवसर न हो।

१७—कक्षा-कमरे का प्रबन्ध ऐसा हो कि हवा, प्रकाश, गर्मी अथवा सर्दी के कारण बालकों का मन न उचटे।

१८—बात-बात पर तुनक उठना ठीक नहीं। यदि किसी बात से कक्षा-कार्य में विशेष विघ्न न पड़े तो उसकी अवहेलना करना, पर ऊधम के संकेत को प्रारम्भ में ही दबा देना।

१९—मनोवैज्ञानिक विधियों से विषय में बालकों की रुचि उत्पन्न करना।

२०—कक्षा में ऐसे स्थान पर खड़ा होना कि सारे बालकों को सरलता से देखा जा सके। शिक्षक के खड़े होने से श्यामपट अथवा मानचित्र बालकों की दृष्टि से छिप न जाय।

२१—यह याद रहे कि जिस बालक की क्रिया से अविनय का संकेत मिलता है, वही सदा प्रधान दोषी नहीं होता।

२२—कक्षा में बालकों की वैयक्तिक आवश्यकतानुसार व्यवहार करना।

२३—जिस बालक में अविनय का चिह्न दिखलाई पड़े उसे योग्यतानुसार कुछ निश्चित कार्य देना।

२४—कक्षा में अविनय का अन्य शिक्षकों में विज्ञापन न करना। अवसर पर नीतिपूर्वक बर्तना। बाद में कुछ बालकों से आवश्यक बात कर कठिनाई को दूर करना।

२५—शिक्षक की तत्कालीन नीति-कुशलता। समय और परिस्थिति के अनुसार शिक्षक को शीघ्र और स्वयं अपनी कार्य-प्रणाली निर्धारित कर लेनी चाहिये।

२६—अवसर विशेष पर आत्म-संयम के आधार पर उचित रूप से बर्तना विनय की सच्ची परीक्षा है।

२७—विनय-स्थापन के लिए निश्चित किये हुए नियम स्पष्ट हों और अवसर पर उनके प्रयोग में तनिक भी हिचकिचाहट न दिखलाना। यदि नियम में कुछ गलती मालूम हो तो उसे शीघ्र बदल देना।

२८—अपराध के अन्वेषण में व्यक्तिगत भावों से प्रभावित न होना। सत्य का आदर करना। नियम के सामने सभी बालकों को बराबर समझना।

२९—यदि अपराध का अन्वेषण और उचित दण्ड का निर्णय अवसर पर न हो सके तो रुक जाना। पर निर्णय हो जाने पर दण्ड शीघ्र दे देना।

३०—बड़े बालकों को सबके सामने दण्ड न देना। दण्ड व्यक्तिगत और विश्वस्त हो।

३१—निश्चित नियम के पालन में सभी शिक्षकों का एकमत होना। उसके बर्तने में सबको सहयोग देना।

३२—दण्ड के निर्धारण में सम्भावित क्षति, बालक की अवस्था तथा भावी प्रभाव पर ठीक से ध्यान देना।

३३—विनय-स्थापन में प्रत्येक शिक्षक को अपना-अपना उत्तरदायित्व समझना आवश्यक है। केवल एक के उद्योग से विनय-स्थापन सम्भव नहीं।

३४—बालकों को उपदेश से उदाहरण अधिक अच्छा लगता है।

३५—स्वतः प्रेरणा से उत्पन्न विनय सर्वश्रेष्ठ होती है।

३६—किसी स्कूल की विनय-सम्बन्धी नीति का निर्माण छोटी कक्षाओं से ही धीरे-धीरे होता है। अतः प्रारम्भ से ही उस पर ध्यान देना आवश्यक है। इस प्रकार एक विशिष्ट परम्परा को जन्म देना चाहिए।

३७—बालकों में उत्तरदायित्व ढोने की शक्ति उत्पन्न करना विनय-स्थापन का सरलतम साधन है।

आपने ऊपर क्या पढा?

विनय की समस्या

बिना विनय-स्थापन के शिक्षक का परिश्रम व्यर्थ।

विनय की समस्या कठिन, प्राचीन आदर्श और वर्त्तमान शिक्षकों और छात्रों की मनोवृत्ति।

दण्ड के बल पर आश्रित विनय झूठी, विनय सीखने की वस्तु।

विनय का पुराना रूप।

बालक को डराना अनुचित, विनय का सम्बन्ध जीवन में भी, चंचलता का नाम अविनय नहीं, विनय-स्थापन विषयक कम से कम आदेश, बालकों की रुचि पर ध्यान, आत्म-विश्वास और शान्ति से काम लेना।

शिक्षक की रहन-सहन और मुद्रा का प्रभाव।

पुरस्कार और दण्ड का स्थान।

बालक को उत्तरदायित्व देना, शिक्षक का अधिकार-भावना-प्रदर्शन ठीक नहीं, उपदेश से उदाहरण अच्छा।

शिक्षक का चरित्र और आचरण आदर्श हो, विनय-स्थापन की दृष्टि से दो प्रकार के शिक्षक।

विनय-स्थापन साधन, स्कूल के शुद्ध वातावरण का प्रभाव।
आदर्श शिक्षक के व्यक्तित्व का स्थायी प्रभाव।
विनय से आत्म-संयम।
शिक्षक का आत्म-विश्वास बड़ा सहायक।
पाठ की पूरी तैयारी।
स्पष्ट आदेश देना, बालकों की मुद्रा का अध्ययन करना।
सभी बालकों को क्रियाशील रखना, पढ़ाने में रुचि लेना।

कुछ साधारण शरारतें

जान-बूझ कर शरारत करना

व्यक्तिगत समस्याओं को कक्षा की सामूहिक समस्या से न मिलाना।
रुचि और उद्देश्य का अभाव, कक्षा-कमरे की कुछ वस्तुएँ बाधक।
समस्या का समाधान शीघ्रातिशीघ्र, व्यक्तिगत समस्याओं पर कक्षा के बाहर विचार।

विनय स्थापन के कुछ अच्छे साधन

कुछ कम प्रयोग में लाये जाने वाले साधन

कुछ अवांछित साधन (जिनका बहुत कम प्रभाव पड़ता है)

हानिकर साधन (जिनका उल्टा प्रभाव पड़ता है)

अपने अनुभव पर अच्छे और बुरे साधन का निराकरण।

विनय-स्थापन के कुछ सरल उपाय

सहायक पुस्तकें

१—डब्लू० एम० राइबर्न—द प्रिन्सीपुल्स ऑव् टीचिङ्ग, अध्याय १, २, ३।
२—जेम्स, वेल्टन—प्रिन्सीपुल्स ऐण्ड मेथड्स ऑव् टीचिङ्ग (१६२६), पृष्ठ २६-२८, २६-३०।
३—ग्रूग्स—लर्निङ्ग ऐण्ड टीचिङ्ग, पृष्ठ १६२-५, ३८८, ४३६-४१।
४—जे० एच० पेन्टन—मॉडर्न टीचिङ्ग प्रैक्टिस ऐण्ड टेकनिक, पृष्ठ ७८, २६०, २६८।

५—स्टर्ट ऐण्ड ओकडेन—मैटर ऐण्ड मेथड् इन एडूकेशन, पृष्ठ २४६-२८१ ।
६—रिस्क—प्रिन्सीपुल्स ऐण्ड प्रैक्टिस ऑव् टीचिङ्ग इन सेकेण्डरी स्कूल, पृष्ठ ७०२-७१८ ।
७—टी० रेमॉन्ट—प्रिन्सीपुल्स ऑव् एडूकेशन पृष्ठ, ६३, १७६, ३४६ ।
८—वार्ड ऐण्ड रॉसक्यू—द अप्रोच टु टीचिङ्ग, अध्याय ५ ।
९—केथिन एम० रोच—आइ वान्ट टु टीच, पृष्ठ ३६-४४ ।
१०—जे० इड्स—फ़ॉर टीचिर्स ऑव् टुडे, अध्याय ७ ।
११—ऑलसेन ऐण्ड अदर्स—स्कूल ऐण्ड कम्युनिटी, पृष्ट, ३६ ।
१२—महाय ऐण्ड रॉबर्टसन—द साइन्स ऐण्ड आर्ट ऑव् टीचिङ्ग, पृष्ठ, ४६७-४७२ ।
१३—ऐमेहेल डॉ० उडरफ—द साइकॉलॉजी ऑव् टीचिङ्ग, पृष्ठ ५३, १४६ ।
१४—मरसेल जेम्स एल०—द साइकॉलॉजी ऑव् सेकेण्डरी स्कूल टीचिङ्ग, अध्याय १६ ।
१५—स्कॉलिङ्ग, रैले—स्टूडेण्ट टीचिङ्ग, अध्याय ३ ।
१६—प्रेसी, एस० एल—साइकॉलॉजी ऐण्ड द न्यू एडूकेशन—अध्याय ६ ।
१७—गैरिसन, नोबुल ली—द टेकनिक ऐण्ड ऐडमिनिस्ट्रेशन ऑव् टीचिङ्ग, अध्याय १६ ।
१८—रिवलिन, हैरी एन०—एडूकेटिङ्ग फ़ॉर ऐडजेस्टमेण्ट, अध्याय १३ ।
१९—स्ट्रक एफ० थ्योडोर—क्रिएटिव् टीचिङ्ग, अध्याय ४ ।
२०—विकमैन, ई० के—चिल्ड्रेन्स बिहेवियर ऐण्ड टीचर्स ऐटीट्यूड्स ।

२७

पाठ के कुछ प्रकार[1]

१—कुछ साधारण बातें

शिक्षा के आचार्यों ने शिक्षा की विभिन्न विधियों का उल्लेख किया है। पर हमें यह न भूलना चाहिए कि ये विधियाँ एक ही साध्य के विभिन्न साधन हैं। सफल शिक्षक होने के लिये इन साधनों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक समझा जाता है। परिस्थिति के अनुसार शिक्षक को इन सभी विधियों का अवलम्बन लेना पड़ता है। विज्ञान, इतिहास, गणित, भाषा तथा भूगोल आदि विषयों के अध्यापन में समयानुसार हमें विभिन्न विधियों की आवश्यकता होती है। शिक्षण-कला के पूर्ण ज्ञान वाला अध्यापक यह शीघ्र समझ लेता है कि कब किस विधि का सहारा लिया जाय। हमें बालकों को इस प्रकार शिक्षा देनी है कि उनका मन न ऊबे—विषय चाहे कितना ही कठिन क्यों न हो। इस अध्याय में हम यही देखेंगे कि वे विधियाँ कौन-सी हैं जिनसे पाठ्य-वस्तु बालक के लिए रोचक बनायी जा सकती है।

हम पीछे कई बार संकेत कर चुके हैं कि शिक्षा में बालक का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। जो कुछ ज्ञान उसे देना है वह गौण है, सबसे प्रधान बालक ही है। अतः विषय को रोचक बनाने के लिए सबसे पहले हमें बालक के स्वभाव पर ध्यान देना है। बालक का स्वभाव हर समय कुछ न कुछ करते रहना है। स्वस्थ अवस्था में वह कभी सुस्त नहीं बैठा

1. Some Types of Lessons.

रहना। शान्त होकर किसी बात के सुनने में उसकी कम रुचि होती है। अतः पहली बात यह ध्यान में रखनी चाहिए कि हम बालकों को क्रियाशील रखें। सब कुछ स्वयं कहते या करते जाना वर्त्तमान मनोवैज्ञानिक शिक्षण-विधियों का गला घोंटना है। बहुत से शिक्षक ऐसे होते हैं जो ग्रामोफ़ोन के रेकार्ड की तरह बोलना प्रारम्भ कर देते हैं। उन्हें अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन का अधिक मोह रहता है और बालकों को कुछ सिखाने का कम। शिक्षा देने का प्रधान ध्येय बालक के चरित्र का विकास करना है, अर्थात उसे, रहना सिखाना है। बालक 'करने' से ही सीखता[1] है, क्योंकि उसका स्वभाव ही क्रियाशीलता का द्योतक है। इसलिए ज्ञान उसे इस प्रकार देना है कि वह उसके अनुभव का अंग हो जाय, अर्थात् उसका वह दैनिक कार्य में उपयोग कर सके। पुस्तकीय ज्ञान का मूल्य बहुत कम होता है। वह बहुत दिन तक स्थिर नहीं रहता, क्योंकि उसका दैनिक जीवन से सम्बन्ध नहीं होता।

हम अपने पुराने अनुभव के आधार पर ही नया ज्ञान प्राप्त करते हैं। यदि नये ज्ञान का सम्बन्ध पुराने अनुभव से कुछ न हुआ तो वह समझ में न आयेगा। इसलिए मनोवैज्ञानिकों ने कहा है कि बालक की रुचि "शुद्ध[2] नवीनता" में नहीं होती; अर्थात् उसे यदि कोई एकदम नवीन बात सिखलाई जाय तो वह उसके समझ में न आयेगी। यदि नये ज्ञान को उसके पुराने अनुभव का एक अंग बना दिया जाय तो उसके लिए वह रुचिकर हो जायगा। बालक का सीखना स्कूल आने से बहुत पहले ही प्रारम्भ हो जाता है। बालक कोरी पटिया नहीं कि उस पर चाहे जो बातें लिख दी जाँय। बालक अपने विचार, बुद्धि और तर्क-शक्ति द्वारा स्वयं निर्णय करता है। इसलिए तो इस काम को न कर वह उस काम को करता है।

कुछ लोगों की धारणा है कि बालक अनुकरणशील होता है और बिना समझे बूझे दूसरों का अनुकरण किया करता है। पर ऐसा सोचना

---

1. The child learns by doing. 2. The child is not interested in anything wholly new.

गलत है, क्योंकि बालक में एक प्रौढ व्यक्ति की सभी मानसिक शक्तियाँ वर्त्तमान रहती हैं। अन्तर केवल 'मात्रा' का रहता है, 'प्रकार' का नहीं। नए ज्ञान को यदि बालक के पुराने ज्ञान से सम्बन्धित न किया गया तो उसे नया ज्ञान देना व्यर्थ होगा।

बालक अपनी मूलप्रवृत्तियों[1] के आधार पर कुछ अनुभव प्राप्त करता है। मूलप्रवृत्त्यात्मक इच्छाओं की पूर्ति जिन बातों से होती है उसमें उसकी रुचि हो जाती है। अतः नए विषय को किसी न किसी प्रकार बालक की मूलप्रवृत्यात्मक इच्छा का अंग बनाना आवश्यक है। शिक्षक बालक की युयुत्सा[2], जिज्ञासा[3], आत्म-प्रदर्शन[4] अथवा विधायकता[5] मूलप्रवृत्ति की सरलता से सहारा ले सकता है। बालक के विकास में मूलप्रवृत्तियों का बड़ा भारी हाथ रहता है। आरम्भ में वह मूलप्रवृत्यात्त्मक जीव होता है। अतः शिक्षक उसकी मूलप्रवृत्यात्मक इच्छाओं की अवहेलना नहीं कर सकता।

प्रायः यह देखा जाता है कि शिक्षक बिना कुछ निश्चित उद्देश्य लिए ही पढ़ाने चले जाते हैं। इससे यह मालूम होता है कि अध्यापन-कार्य में उनकी रुचि कम हो गई है और इसलिये पढ़ाने के पहले वे विषय की तैयारी नहीं करते। यदि प्रस्तुत विषय के पढ़ाने का उद्देश्य पहले से ही निश्चित कर लिया जाय तो अध्यापन बालकों के लिए निश्चित ही रुचिकर हो जायगा, क्योंकि तब उन्हें भी अपने परिश्रम का उद्देश्य ज्ञात रहेगा और वे स्वभावतः उसकी प्राप्ति की ओर अग्रसर होंगे। कभी-कभी ऐसा होता है कि बालक समझते ही नहीं कि वे क्या पढ़ रहे हैं और प्रस्तुत विषय का ज्ञान उन्हें किस ओर ले जायगा। ऐसी स्थिति में वे कक्षा की पढ़ाई में रुचि नहीं लेते। इसलिये पाठ का उद्देश्य बता देना बड़ा आवश्यक है। कुछ शिक्षक कहेंगे कि कभी-कभी विषय ऐसा होता है कि उसका उद्देश्य बतलाना कठिन है। कठिन अवश्य है, पर असम्भव नहीं। प्रस्तुत विषय का मुख्य उद्देश्य बतलाने के प्रयत्न में पढ़ाने के लिए

1. Instincts. 2. Combat. 3. Curiosity. 4. Self-display. 5. Constructiveness.

शिक्षक की पूरी तैयारी हो जाती है। यदि हम जानते हैं कि हम क्या करने जा रहे हैं तो हमारी उसमें अधिक रुचि हो जाती है। बालक भी अपने सामने एक निश्चित उद्देश्य चाहता है। उद्देश्य का ज्ञान होने से वह अपनी शक्ति उसके प्राप्ति के लिए केन्द्रित कर देता है।

शिक्षक को सबसे पहले पाठ्य-क्रम को समझने की चेष्टा करनी चाहिए। यह सच है कि निर्धारित पाठ्य-क्रम में वह किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं ला सकता, पर निश्चित सीमा के अन्दर उसे उपयुक्त पाठ्य-वस्तु चुनने की कुछ स्वतन्त्रता अवश्य होती है। बालकों के विकास के अनुसार वह किसी विषय का उद्देश्य अच्छी तरह निर्धारित कर सकता है और यह भी समझ सकता है किसी विषय को कितना पढ़ाया जाय। पर इन बातों को समझने के लिए उसे निम्नलिखित बातें जाननी आवश्यक हैं :—

१—बालकों की उम्र और उनकी शक्तियाँ।

२—उनकी रुचियाँ और आवश्यकताएँ।

३—कक्षा की कठिनाइयाँ और समस्यायें।

४—अध्यापन के लिए प्राप्त सहायक सामग्री।

५—पहले कितना काम हो चुका है।

६—आगे क्या काम करना है।

बालकों ने जितना काम कर लिया है उससे यह न समझना चाहिए कि वह उन्हें अच्छी तरह आ गया है। इसलिए नया काम प्रारम्भ करने के पहले बालकों के पूर्व ज्ञान[1] की परीक्षा कर लेनी चाहिए। जैसे बिना दृढ़ नींव का भवन बाद में धराशायी हो जाता है उसी प्रकार पीछे का पाठ बिना अच्छी तरह सीखे आगे का पाठ पढ़ने से वांछित सफलता नहीं मिलती।

ऊपर हमने शिक्षण के कुछ साधारण सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। अब हमें यह देखना है कि किसी पाठ का संचालन शिक्षक को किस

1. Previous knowledge.

प्रकार करना चाहिए। पाठ-संचालन में लगने के पहले उसे ऊपर कही हुई बातों पर ध्यान दे लेना होगा।

साधारणतः यह कहा जा सकता है कि पाठ तीन प्रकार के होते हैं: (१) ज्ञान,[1] (२) कौशल[2] और (३) रसानुभूति[3] सम्बन्धी। उदाहरणार्थ, इतिहास का पाठ ज्ञान सम्बन्धी, चित्रकला अथवा किसी विदेशी भाषा का सीखना कला सम्बन्धी और कविता का पाठ रसानुभूति सम्बन्धी कहा जा सकता है। इन तीनों प्रकार के पाठों के लिए विभिन्न प्रकार की विधि और दक्षता की आवश्यकता होती है। नीचे हम यही विचार करेंगे कि इन तीन प्रकार के पाठों को किस प्रकार पढ़ाना चाहिये।

१—ज्ञान का विकास[4]

कुछ समय पहले बालक को ज्ञान देने की धुन में शिक्षक यह न देखता था कि बालक के लिए उस ज्ञान की उपयोगिता क्या है। वह यह भी न देखता था कि बालक की विकास-स्थिति उस ज्ञान को समझने योग्य है या नहीं। आधुनिक शिक्षा-प्रणाली इन दोषों को दूर करने की चेष्टा करती है। अब यह समझा जाता है कि 'सीखना' केवल चुपचाप सुनकर 'स्वीकार' कर लेना नहीं है। जैसे घड़े में पानी डाल दिया जाता है, उसी प्रकार बालक के मस्तिष्क में ज्ञान नहीं डाला जा सकता, क्योंकि बालक क्रियाशील होता है। घड़े के समान वह जड़ पदार्थ नहीं। वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली में एक ऐसी लहर चल पड़ी है कि अब 'सीखने' में "बाल-क्रिया"[5] प्रधान मानी जाती है। अब जो कुछ पढ़ाया जाता है उसमें यह ध्यान रखा जाता है कि बालक के वर्त्तमान और भावी जीवन से उसका सम्बन्ध क्या हो सकता है। स्कूल के क्षेत्र के विवेचन में हम इस पर १४वें अध्याय में अच्छी तरह प्रकाश डाल चुके हैं। स्कूल के नये दृष्टिकोण से यह स्पष्ट है कि ज्ञान का तात्पर्य वास्तविक अनुभव से है। गत पृष्ठों में जो कुछ कहा गया है उसके आधार पर ज्ञान के विकास के कुछ साधारण नियमों का यहाँ उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा :—

---

1. Knowledge. 2. Skill. 3. Appreciation. 4. The Development of Knowledge. 5. Pupil-activity.

१—'ज्ञान सीखने की क्रिया' सीखने वाले की योग्यतानुसार होनी चाहिए।

२—सीखने की क्रिया का प्रकार शिक्षा के प्राथमिक और माध्यमिक स्तरों पर समान होता है। परन्तु मस्तिष्क के विकास के अनुसार उसकी गहनता तथा मात्रा में कुछ भेद आ जाता है।

३—सीखने में 'सरल या स्थूल' से 'गहन अथवा सूक्ष्म' की ओर जाना चाहिए।

४—ज्ञान का विकास क्रमशः होता है। अतः एक अवस्था का विकास दूसरे से भिन्न होगा।

५—सीखने में 'अंश'[1] का 'सम्पूर्ण'[2] से सम्बन्ध की अवहेलना न करनी चाहिए, अन्यथा सीखने वाला उसके महत्त्व को न समझ सकेगा।

उपर्युक्त बातों के स्वीकार कर लेने से आधुनिक शिक्षण-प्रणाली में पहले से बहुत अन्तर आ गया है। लगभग एक शताब्दी पूर्व शिक्षण-विधि कुछ और ही थी। तब पहले सिद्धान्त का उल्लेख कर दिया जाता था। इसके बाद पठन-पाठन की सारी क्रिया उस सिद्धान्त के समर्थन की ओर केन्द्रित की जाती थी। अब इस प्रणाली को सिद्धान्ततः मान्यता नहीं दी जाती। पर खेद है कि अब भी बहुत से ऐसे स्कूल हैं जहाँ परीक्षा के भार अथवा आवश्यक सहायक सामग्री के अभाव के कारण इसी प्रणाली का प्रयोग किया जाता है। मनोवैज्ञानिक आन्दोलन से ज्ञान के विकास में अब बालक के निजी अनुभव को ही प्रधानता दी जाती है। यदि बालक के निजी अनुभव पर सब जोर देकर शिक्षक उसके सीखे हुए ज्ञान को संगठित करने का प्रयत्न न करे तो बालक का मानसिक विकास सुसंगठित न हो सकेगा, और बालक विभिन्न सीखी हुई बातों में कोई सम्बन्ध न समझेगा। विभिन्न अनुभव उसके लिए रुचिकर भले ही हों, पर उसके मानसिक विकास में वे विशेष योग न दे सकेंगे। वस्तुतः हमारा उद्देश्य है बालक का मानसिक विकास इस प्रकार करना कि वह वातावरण से

1. Part. 2. Whole.

उत्पन्न परिस्थितियों का बुद्धिमानी से सामना कर अपना जीवन सुचारु रूप से चला सके। "उसके पास जो विचार आवे उसके सौन्दर्य और शक्ति को वह समझ सके और समय पर उसका सदुपयोग भी कर सके।"[1]

हम ऊपर 'सीखने' में बालक के "स्वानुभव" का उल्लेख कर चुके हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि शिक्षक का कार्य पहले से हल्का हो गया, वरन् पहले से उसका उत्तरदायित्व अब बढ़ गया है। उसे बालकों के सामने पाठ्य-वस्तु इस प्रकार रखनी है कि वे उसे सरलता से सीख सकें। इसलिए इतिहास, भूगोल तथा विज्ञान आदि विषयों के विभिन्न तत्वों को इस प्रकार बालकों के समक्ष उपस्थित करना है कि उनमें ज्ञान का विकास मनोवैज्ञानिक क्रम से हो। उसे बालकों की विभिन्न रुचियों, आवश्यकताओं और शक्तियों का ज्ञान रखना है, जिससे वह उनके विकास को उसी प्रकार सुचारु रूप से संचालित कर सके जैसे माली बाग के विभिन्न पौधों की उनकी आवश्यकतानुसार देख-रेख करता है। इस दृष्टि से शिक्षक का काम पहले से बहुत ही अधिक हो गया है।

"प्रो० ह्यूग्स का कहना है कि बालकों के सामने नया ज्ञान उपस्थित करने की दो विधियाँ हैं:— १—व्याख्या के आधार पर उनसे स्पष्ट कह देना, अथवा २—सारी बातें कह कर निष्कर्ष निकालने के लिए उन्हें उत्साहित करना। बालकों के दृष्टिकोण से ज्ञान या तो दूसरों से सीधे प्राप्त किया जा सकता है या अपने परिश्रम से उसे खोजना है[2]।" शिक्षा में इन दोनों प्रकार के अनुभवों का बहुत महत्व होता है और ज्ञान के विकास में परिस्थिति के अनुसार दोनों की आवश्यकता होती है। व्यक्ति का जीवन इतना छोटा होता है कि सब कुछ अन्वेषण द्वारा ही वह नहीं सीख सकता। दूसरों द्वारा सिद्ध की हुई अथवा कही हुई बातें उसे मान लेनी होंगी। हाँ, यह बात ठीक है कि जिसका स्वयं पता लगाया जाता है उसका प्रभाव स्थायी हो जाता है।

---

1. Whitehead, A. N : *The Aims of Education.*

2. Huges, A. G. and Hugles, E. H. : Learning and Teaching, p. 332.

हरबार्ट के नियमित पद[1]

ज्ञान सम्बन्धी पाठ में हम प्रधानतः प्रस्तावना,[2] विषय-प्रवेश,[3] आत्मीकरण,[4] सिद्धान्त-निरूपण[5] और प्रयोग[6] नामक विधियों का सहारा लेते हैं। हरबार्ट के अनुसार यही 'पाँच[7] नियमित पद' हैं। साहित्य अथवा भाषा के पाठ में सिद्धान्त-निरूपण के स्थान पर हम 'विचार-विश्लेषण'[8] रख लेते हैं। इतिहास अथवा भूगोल के पाठ में विचार-विश्लेषण न रख कर 'पुनरावृत्ति[9] और श्यामपट-संकेत' रख लेते हैं। पढ़ाई हुई बात लड़कों की समझ में आई कि नहीं इसकी परीक्षा करने के लिए प्रायः सभी प्रकार के पाठ में 'प्रयोग' के पहले पुनरावृत्ति विधि काम में लाई जाती है। नीचे हम उपर्युक्त प्रत्येक विधि पर अलग-अलग विचार करते हुये यह स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे कि ज्ञान-प्रधान पाठ का संचालन किस प्रकार करना चाहिये।

ज्ञान-प्रधान पाठ का संचालन

प्रस्तावना

ऊपर हम यह संकेत कर चुके हैं कि अध्यापन-कार्य प्रारम्भ करने के पहले शिक्षक को यह जान लेना आवश्यक है कि बालकों की पहुँच कितनी है, अर्थात उनका पूर्वज्ञान[10] क्या है। बिना इस ज्ञान के शिक्षक पाठ में बालकों की रुचि जाग्रत करने में समर्थ न होगा। जब तक उनकी रुचि जाग्रत न होगी वे कुछ सीख न सकेंगे। स्पष्ट है कि किसी पाठ की सफलता शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों के सहयोग पर निर्भर है। "वह क्रिया जिससे शिक्षक को यह पता लगता है कि शिक्षार्थी क्या जानता है और क्या नहीं जानता और जिसके फलस्वरूप शिक्षार्थी में आगे सीखने की इच्छा जाग्रत हो जाती है 'प्रस्तावना' कहते हैं[11]।

हम ऊपर कह चुके हैं कि पाठ्य-विषय का जीवन से दैनिक सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में शिक्षक को बालकों के पूर्व

1. The Formal steps of Herbart. 2. Preparation. 3. Presentation. 4. Association. 5. Generlization. 6. Application. 7. The Five Formal steps. 8. Thought Analysis. 9. Recapitulation and Black-board Summary. 10. Previous Knowledge. 11. Ryburn : The Principles of Teaching. Chap. 2.

अनुभव से भली-भाँति परिचित होना चाहिए। यह मानी हुई बात है कि प्रत्येक बालक का पूर्व अनुभव दूसरे से भिन्न होगा। पर शिक्षक को औसत रूप में कुछ ऐसा अवश्य अनुमान लगा लेना है जिसे लगभग प्रत्येक बालक जानता हो। जब तक शिक्षक यह न समझ लेगा वस्तु-स्थिति को पकड़ने में वह समर्थ न होगा। वह जो कुछ कहेगा बालकों की समझ में न आयेगा। हम यह जानते हैं कि कुछ सीखने के पहले बालक अपने पूर्व अनुभव से उसका सम्बन्ध जोड़ना चाहता है। यदि शिक्षक उसके पूर्व ज्ञान से परिचित न हुआ तो बालक यह सम्बन्ध न जोड़ सकेगा और उसकी समझ में कुछ भी न आयेगा।

बालकों के पूर्व ज्ञान से परिचय प्राप्त करने में बहुत अधिक समय लगाना मनोवैज्ञानिक न होगा। यदि प्रस्तुत पाठ पुराने विषय का ही एक अंग है तो दो-तीन प्रश्न ही बालकों में नये पाठ के लिए उत्सुकता पैदा कर देने के लिए पर्याप्त होंगे। अधिक प्रश्न से उनका मन ऊब सकता है। जो कुछ पढ़ाना है उसके प्रत्येक अंग से बालकों के पूर्व अनुभव का सम्बन्ध जोड़ना युक्तिसंगत न होगा। 'शिक्षक को बहुत ही संक्षेप में बालकों के पूर्व ज्ञान को जाग्रत करना चाहिए, जिससे वे प्रस्तुत पाठ के लिए शीघ्र तैयार हो जॉय। यदि शिक्षक अपनी कक्षा को जानता है तो वह इसे बड़ी सरलता और शीघ्रता से कर सकता है। कक्षा उसके लिए नई हो तो अपने दूसरे सहयोगियों से उसकी पूरी जानकारी उसे प्राप्त कर लेनी चाहिए। बालकों की स्थिति में अपने को डालकर शीघ्रता से पाठ को प्रारम्भ कर देना कुशल शिक्षक का चिह्न है। यह जानना कि विद्यार्थी कहाँ हैं और कहाँ पहुँचने के लिए उन्हें प्रयत्न करना चाहिए अच्छे अध्यापक के दो आवश्यक लक्षण हैं[1]।

प्रस्तुत पाठ की तैयारी कभी-कभी बहुत लम्बी हो सकती है। उसके लिए बाहर घूमने जाने अथवा कई दिन तक पढ़ाते रहना आवश्यक हो सकता है। जब तैयारी के लिए बाहर जाना हो तो शिक्षक को

1. Welton, J. : Principles and Methods of Teaching, Chap. 3, pp. 56–7.

विशेष सतर्कता से काम लेना चाहिए। किसी ऐतिहासिक वा भौगोलिक स्थान या फैक्टरी आदि का काम देखना निश्चय हो तो शिक्षक को पहले से ही यह जानना चाहिए कि वह किन-किन बातों की ओर बालकों का ध्यान आकर्षित करेगा। शिक्षक का यह सोच लेना कि वह सब कुछ जानता है और अवसर पर वह सब कह लेगा कदाचित् बुद्धमानी से खाली होगा।

प्रस्तावना से हम बालकों को यह बतलाना चाहते हैं कि उनके पूर्व अनुभव के किस भाग की प्रस्तुत पाठ में अधिक आवश्यकता होगी। आधी भूली हुई बातें प्रस्तावना से याद करा दी जाती है। कभी-कभी उनका परस्पर-सम्बन्ध भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। यदि शिक्षक उन्हें मनोवैज्ञानिक ढंग से जागृत कर सका तो नये पाठ के सीखने की आवश्यकता का महत्त्व भी उनकी समझ में आ जायगा। इसको समझ लेने से नये पाठ को सीखने के लिए वे उत्सुक हो जायेंगे। इस प्रकार शिक्षक को यह निश्चय हो जायगा कि परिश्रम का अधिक से अधिक फल मिलेगा।

उद्देश्य कथन[1]

प्रस्तावना समाप्त होने के बाद उद्देश्य का कहना आवश्यक है। शिक्षक को यह जानना चाहिए कि पाठ का मुख्य उद्देश्य क्या है। कौन सी नई बात वह बालकों को बतलाने जा रहा है। इससे उसका पूरा परिचय होना चाहिए। कुछ शिक्षकों को इसका ज्ञान नहीं रहता। वे केवल यही जानते हैं कि आधा, एक या दो पृष्ठ बालकों को पढ़ा देना है। अतः दो एक पृष्ठ पढ़ा देना ही उनका उद्देश्य होता है। इसका अर्थ यह है कि वे पाठ की तैयारी नहीं करते और अध्यापन-कार्य में उनकी रुचि नहीं। शिक्षक के सदृश् विद्यार्थी को भी पाठ का उद्देश्य जानना आवश्यक है। इसके ज्ञान से वे अपने परिश्रम को एक निश्चित उद्देश्य की ओर केन्द्रित करते हैं। उद्देश्य-कथन में कोई कठिनाई न होनी चाहिए। उद्देश्य तो प्रस्तावना के फलस्वरूप निकल आता है। अतः उसे स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर देना उतना ही आवश्यक है जितना कि प्रस्तावना।

1. Statement of the Aim.

कुछ ऐसे पाठ होते हैं जिनमें उद्देश्य का स्पष्ट शब्दों में कहना कठिन हो सकता है, क्योंकि उनमें बालकों को स्वयं कुछ बातों का पता लगाना होता है। पर यहाँ पर भी उन्हें यह जानना चाहिए कि वे किस बात का पता लगाने जा रहे हैं। रसानुभूति के पाठ में उनसे यह कहना मनोवैज्ञानिक नहीं कि वे किसी कविता अथवा चित्र के अध्ययन में क्या पायेंगे। ऐसा कह देने से उनकी रसानुभूति स्वतन्त्र न हो सकेगी। तब शिक्षक की भावनाओं के अनुसार ही बालकगण सोचने लगेंगे। पर उनसे इतना कह देना चाहिए कि उन्हें पता लगाना है कि कविता अथवा चित्र के बारे में उनके विचार क्या हैं। इसी प्रकार किसी विज्ञान के पाठ में बालकों को यह न जानना चाहिए कि किसी परीक्षण का उद्देश्य क्या होगा। फल तो उन्हें स्वयं परीक्षण करके ही देखना होगा।

विषय-प्रवेश और आत्मीकरण

एक प्रकार से 'विषय-प्रवेश' और 'आत्मीकरण' में विशेष अन्तर नहीं, क्योंकि विषय-प्रवेश का विस्तृत-रूप ही आत्मीकरण होता है। भाषा अथवा साहित्य के पाठ में दोनों में कुछ भेद आ जाता है। पर यह भेद केवल नाममात्र का है। शिक्षक द्वारा आदर्श पाठ कर देने को विषय-प्रवेश का नाम दे दिया जाता है, और उसके बाद जो विस्तृत व्याख्या की जाती है उसे आत्मीकरण कहा जाता है। शिक्षक को यह पहले से ही निश्चित कर लेना चाहिए कि एक बार वह कितने शब्द, या वाक्य पद लेगा। यदि इस निश्चय के अनुसार कार्य सुगमता से न चल सके तो परिस्थिति के अनुसार उसमें परिवर्त्तन करने की भी उसमें चतुरता होनी चाहिए।

आत्मीकरण के समय शिक्षक को यह न भूलना चाहिये कि पाठ छात्रों का है और उसका नहीं। इसे भूल जाने से वह बालकों की रुचियों की अवहेलना करके अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन में ही लग जायगा। ऐसा करना घातक होगा। शिक्षक का स्थान केवल पथ-प्रदर्शक[1] का है। छात्रों के असफल होने पर ही उसे सहायता देनी है। यदि कोई विचार बालकों को

---

1. Director.

सीधे देना आवश्यक हुआ तो 'निर्देश'[1] और 'सहानुभूति'[2] का आश्रय लेना होगा। "इसे प्यार करो और उसे घृणा"—ऐसा कहना मनोवैज्ञानिक नहीं। ऐसा कहने से बालकों का मानसिक विकास कुण्ठित हो जायगा। वे कही हुई बात को ही स्वीकार कर लेंगे और स्वयं कुछ न सोचेंगे।

यदि शिक्षक किसी भावना की छाप छात्रों को देना चाहता है तो उसे अपने व्याख्यान में उस भावना का स्वयं पूरे हृदय से अनुभव करना चाहिए। यदि शिक्षक किसी भावना का अनुभव करता है तो उसका प्रभाव बालकों पर निश्चय ही पड़ेगा। निर्देश मात्र से ही वांछित विचार बालकों के मस्तिष्क में घर कर लेंगे और बालक भी समझेंगे कि वे विचार उन्हीं के मस्तिष्क की उपज हैं। यदि ऐसी कल्पना देने में शिक्षक सफल हुआ तो बालकों में वे विचार स्थायी हो जायेंगे।

आत्मीकरण के स्थल पर शिक्षक को सदा यह ध्यान रखना चाहिए कि छात्र उसकी बात को कहाँ तक समझ रहे हैं। यदि इस बात का पता इसी स्थल पर चतुरता से लगा लिया जाय तो बाद में सिद्धान्त-निरूपण अथवा पुनरावृत्ति के अवसर पर विशेष कठिनाई न होगी। ऐसा न करने से कभी-कभी पुनरावृत्ति के समय शिक्षक यह देखेगा कि उसका सारा परिश्रम व्यर्थ गया। पर यह समझने की चेष्टा में पाठ का क्रम न टूटने पावे। अच्छा होगा कि कमजोर और असफल छात्रों से दूसरों द्वारा दिए गए कुछ ठीक उत्तर को ही दोहरवाया जाय।

सिद्धान्त-निरूपण[3]

"सिद्धान्त-निरूपण" का रूप कई प्रकार का हो सकता है, और प्रत्येक पाठ में इसका होना आवश्यक भी नहीं। उदाहरणार्थ; साहित्य, भाषा, भूगोल, आदि के पाठ में 'सिद्धान्त-निरूपण' न सम्भव ही है और न आवश्यक। 'सिद्धान्त-निरूपण' से यह ठीक-ठीक समझा जाता है कि पाठ्य-वस्तु को बालक कहाँ तक समझने में समर्थ हुये हैं। व्याकरण, तथा

---

1. Suggestion. 2. Sympathy. 3. Generalization.

गणित विज्ञान आदि के पाठ में सिद्धान्त-निरूपण सम्भव होता है। अतः इन पाठों में सिद्धान्त-निरूपण से बालकों की गलत धारणा ठीक हो जाती है। साहित्य, भूगोल और इतिहास के पाठ के अन्त में श्यामपट-संकेत अथवा साधारण व्याख्या द्वारा छात्रों के गलत विचारों को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। जैसे सिद्धान्त-निरूपण छात्रों की सहायता से किया जाता है उसी प्रकार व्याख्या अथवा श्यामपट्ट-संकेत भी उन्हीं का कार्य होना चाहिए।

प्रयोग[1]

शिक्षण में 'प्रयोग' का महत्त्व स्पष्ट है। सीखी हुई बातें यदि प्रयोग में नहीं लाई जा सकतीं तो उन्हें "सीखी हुई" कहना भ्रम है। प्रयोग से यह देखा जा सकता है कि निकला हुआ निष्कर्ष ठीक है वा नहीं। ज्ञान को स्थायी बनाने के लिए उसका प्रयोग करना आवश्यक है। अतः सीखी हुई बातों को प्रयोग में लाने के लिए बालकों को पूरा अवसर देना चाहिए। व्याकरण, गणित और विज्ञान में किये गए सिद्धान्त-निरूपण का प्रयोग द्वारा परीक्षा करना आवश्यक है। इस परीक्षा से मस्तिष्क में सीखी हुई बात ठीक-ठाक जम जाती है। भाषा में जो कुछ नये शब्द सीखे जाते हैं उनको प्रयोग करने का अवसर बालकों को देना चाहिए। भूगोल में जो नई बातें सीखी जाती हैं उनका मानचित्र पर भरना आवश्यक है। प्रयोग से बालकों का ज्ञान दृढ़ हो जाता है और आगे सीखने के लिए वे तैयार हो जाते हैं।

२—कौशल का विकास[2]

ज्ञान के पाठ में बालक को किसी विषय के बारे में कुछ 'सीखना' पड़ता है। कौशल के पाठ में उसे सीखने के साथ ही साथ कुछ करना भी होता है। उदाहरणार्थ; हस्तकला-सम्बन्धी सारे कार्य कौशल के हैं। लिखना, पढ़ना या नई भाषा का सीखना कौशल के अन्तर्गत आता है। कौशल के पाठ में बालक का एक निश्चित स्तर तक आना अपेक्षित होता

1. Application. 2. The Development of Skill.

है। इसमें उसे अपनी मनमानी करने की स्वतन्त्रता होती है। उदाहरणार्थ; उसे किसी शब्द को एक निश्चित ढंग से ही पढ़ना होगा। वह १, २, ३, ४, के स्थान में १, ३, ५, ७, आदि कह कर नहीं गिन सकता। इस दृष्टिकोण से बालक इस प्रकार के पाठों में अपनी मौलिकता नहीं दिखला सकता। परन्तु चित्रकला तथा लेख आदि जैसे पाठों में वह अपनी मौलिकता अवश्य दिखला सकता है। पर यह नहीं कहा जा सकता कि कोई बालक कितनी मौलिकता दिखला सकता है। इसमें वैयक्तिक भिन्नता और किसी विशिष्ट कौशल की बात आ जाती है।

प्रस्तावना

प्रस्तावना के महत्व पर पीछे हम प्रकाश डाल चुके हैं। कौशल के पाठ में भी इसका स्थान उतना ही महत्वपूर्ण है। कोई भी पाठ पढ़ाने के पहले शिक्षक को यह देख लेना चाहिए कि बालक नए अनुभव को सीखने के लिए तैयार हैं। अतः पाठ आरम्भ करने के पहले बालकों को अनुकूल शारीरिक और मानसिक स्थिति में कर लेना आवश्यक है, जिससे जो कुछ सिखाया जाय उसका अपेक्षित फल मिल सके। जब कोई नई बात सिखानी हो तो छात्रों को उसे सीखने की आवश्यकता भली-भाँति समझा देनी चाहिए। पूर्व ज्ञान से पाठ को इस प्रकार सम्बन्धित करना है कि छात्र नई बात के सीखने की आवश्यकता को समझ सकें, या उनके काम में कोई ऐसी कठिन समस्या उपस्थित कर देनी है जिसकी पूर्ति में वे नये कौशल को सीख लें। इन सब विधियों के प्रयोग में यह ध्यान रहे कि बालकों की रुचि के बाहर कोई बात न जाय।

उद्देश्य-कथन

प्रस्तावना के बाद शिक्षक को पाठ का उद्देश्य कह देना चाहिए जिससे छात्र जानते रहें कि उन्हें किस ओर परिश्रम करना है। इस बात के मनोवैज्ञानिक ढंग से कहने पर पाठ में छात्रों की रुचि अन्त तक बनी रहेगी।

विषय-प्रवेश

विषय-प्रवेश का रूप पाठ-पाठ के साथ भिन्न-भिन्न होगा। विज्ञान, अंकगणित, लेख, संगीत, तथा हस्तकला आदि प्रकार के पाठों के विकास में भिन्नता होगी। सर्वप्रथम बालकों को आवश्यक क्रिया दिखलाई जाती है। इस समय उन्हें उसे खूब ध्यानपूर्वक देखना अथवा सुनना होता है। इसके बाद देखे अथवा सुने हुए आदेश के अनुसार उन्हें स्वयं करना होता है। इस प्रकार शिक्षक का काम केवल आवश्यक उपकरणों का आयोजन कर देना है और थोड़ा सा रास्ता भर दिखला देना है। इसके बाद सारी क्रिया छात्रों को ही करनी है। कक्षा में सभी बालक समान योग्यता के नहीं होते। ऐसी स्थिति में शिक्षक का कार्य कुछ कठिन हो जाता है। उसे अपनी कक्षा का संगठन इस प्रकार करना चाहिए कि कमजोर छात्रों की ओर आवश्यकतानुसार वह कुछ विशेष ध्यान दे सके। जिन छात्रों को सहायता की विशेष आवश्यकता नहीं होती उन्हें उसी विषय-सम्बन्धी किसी दूसरे कार्य में लगा देना चाहिए। इस प्रकार कुछ बालकों को अलग करके कमजोर बालक पर बहुत अच्छी प्रकार ध्यान दिया जा सकता है।

अभ्यास[1]

जब कार्य करने की विधि छात्र की समझ में आ जाय तो उसमें उसे अभ्यास देना आवश्यक होगा। इस समय शिक्षक को यह देखना चाहिए कि छात्र ठीक अभ्यास कर रहा है। उदाहरणार्थ; यदि लिखने का अभ्यास हो रहा है तो यह जानना चाहिए कि छात्र ने कलम ठीक से पकड़ी है तथा पुस्तक और आँख में पर्याप्त दूरी रखी गई है। सस्वर-वाचन के अभ्यास में देखना होगा कि शब्दों का उच्चारण और विराम आदि पर छात्र उचित ध्यान दे रहा है। अभ्यास में सारा समय लगा देना ठीक नहीं। उचित समय-विभाजन पर भी शिक्षक को ध्यान देना चाहिए। मामूली सी बात पर बहुत अधिक अभ्यास देना व्यर्थ होगा। अभ्यास के समय शिक्षक का प्रधान कार्य निरीक्षण करना और आवश्यकतानुसार यहाँ-वहाँ छात्रों को सहायता देनी है।

---

1. Drill or Exercise.

कौशल के पाठ में छात्रों का यह जानना आवश्यक है कि उनकी कितनी उन्नति हो रही है। इस ज्ञान से उन्हें आगे बढ़ने में बड़ी प्रेरणा मिलेगी। इसलिए यह आवश्यक है कि उनकी शक्ति के अन्दर ही उनसे काम लिया जाय, जिससे उन्हें अपने परिश्रम से कुछ न कुछ सन्तोष मिलता रहे। यदि ऐसा न हुआ तो पाठ से उन्हें आनन्द न आयेगा। बिना समझे हुये अभ्यास कराना व्यर्थ होगा। कई बार दोहराते रहना अच्छा अभ्यास नहीं है। अभ्यास के समय विद्यार्थी की मानसिक अवस्था यदि अनुकूल नहीं है तो सब कुछ व्यर्थ जायगा। मानसिक अवस्था को अनुकूल रखने के लिए यह आवश्यक है कि विद्यार्थी जो कुछ करें उसके करने की आवश्यकता वे अनुभव करें। परिश्रम का उद्देश्य उनके सामने निश्चित रूप से स्पष्ट होना चाहिए।

त्रुटि-संशोधन[1]

अभ्यास के बाद त्रुटि-संशोधन की समस्या आती है। बहुत से शिक्षकों का अपने स्कूल-समय का काफी भाग विद्यार्थियों के लिखित कार्य को संशोधित करने में चला जाता है। कुछ अध्यापक तो इसे बड़ी ही ईमानदारी से करते हैं। पर इतना ध्यान देने पर भी कभी-कभी यह देखा जाता है कि एक ही गलती लड़के बार-बार करते हैं। फलतः यह सन्देह होने लगता है कि कदाचित् त्रुटि-संशोधन करना व्यर्थ है। पर ऐसा सोचना ठीक नहीं, क्योंकि त्रुटि-संशोधन से तत्काल सुधार अपेक्षित करना अपने को निराश करना है। सुधार न होने पर त्रुटि-संशोधन को छोड़ना ठीक नहीं। यदि मनोवैज्ञानिक क्षण[2] पर त्रुटि-संशोधित की गई तो उसका सुधार अवश्य होगा। मनोवैज्ञानिक क्षण में ठीक अवसर, और बालक की रुचि आदि सभी बातें आ जाती हैं। मॉन्तेसरी इसी मनोवैज्ञानिक क्षण की प्रतीक्षा करने के लिए शिक्षक से कहती है। उसका कहना है कि यदि बालक की समझ में कुछ न आये तो इसका अर्थ यह हुआ कि शिक्षक ने मनोवैज्ञानिक क्षण समझने में गलती की है; अर्थात् उसने बालक की रुचि, तात्कालिक मानसिक तैयारी और शक्ति की

1. Correction of mistakes. 2. Psychological moment.

उपेक्षा की है। अतः उसके परिश्रम का अपेक्षित फल नहीं मिला। स्पष्ट है कि अपने परिश्रम का अधिक से अधिक फल पाने के लिए शिक्षक को मनोवैज्ञानिक क्षण का सदा ध्यान रखना चाहिए।

त्रुटि पकड़ लेने पर जल्दी से जल्दी उसके संशोधन के लिए छात्रों से कहना चाहिए। लेख और अनुवाद की गलतियाँ छात्रों को यदि दो-तीन सप्ताह बाद सुधारने का अवसर दिया गया तो उससे कुछ लाभ होना सन्देहात्मक है। यदि त्रुटि-संशोधन को मौलिक अनुभव का ही एक अंग बना दिया जाय तो संशोधित बात बालक के मस्तिष्क में बड़ी जल्दी बैठ जायगी। इसका अर्थ यह हुआ कि अभ्यास के समय शिक्षक की उपस्थिति आवश्यक है, जिससे सभी गलतियों को संशोधित कर दिया जाय। यथा-सम्भव गलतियों का संशोधन बालकों से ही करवाना चाहिए। उनके असफल होने पर शिक्षक की सहायता आवश्यक है।

परस्पर की आलोचना को भी त्रुटि-संशोधन का अब एक अच्छा साधन माना जाता है। इस साधन का उपयोग लेख, सस्वर वाचन, उच्चारण तथा सगीत आदि के पाठ में किया जा सकता है। इससे आलोचित और आलोचक दोनों को लाभ होता है। आलोचक को यह समझना पड़ता है कि किसी कौशल के प्रदर्शन में किन-किन बातों पर ध्यान दिया जाता है। आलोचित यह जान जाता है कि उसने कहाँ गलती की है। इस प्रकार दोनों को ठीक वस्तु का ज्ञान हो जाता है। पर इस विधि का अधिक प्रयोग ठीक नहीं, क्योंकि इससे कुछ बालकों में आत्महीनता की भावना आ सकती है और कुछ डर के मारे अपनी अच्छी बातों को भी बतलाने में संकोच करेंगे। वस्तुतः शिक्षक ही सर्वश्रेष्ठ आलोचक कहा जा सकता है।

कौशल के पाठ में शिक्षक को ध्यान रखना चाहिए कि छात्र अभ्यास करने में बहुत थक न जाँय। 'सीखना क्रिया' केवल अभ्यास-काल तक ही सीमित नहीं रहती। कुछ लोगों की धारणा है कि सीखने की क्रिया के समाप्त हो जाने पर भी अनजान में व्यक्ति सीखी हुई बात को अपने मस्तिष्क में बैठाता रहता है। कुछ लोग इस धारणा के विपक्ष में हैं।

इन दो धारणाओं के मतभेद से अध्यापन और अभ्यास-क्रिया का विशेष सम्बन्ध नहीं। पर दोनों पक्षों का यह मत है कि अभ्यास-क्रिया के बाद विश्राम-काल सीखने में बड़ा ही सहायक होता है। विश्राम के बाद विद्यार्थी अपने पाठ को अधिक स्फूर्ति से सीखते हैं।

वैयक्तिक[1] भेद के कारण मनुष्य के सीखने के लिए कोई एक सामान्य नियम नहीं निर्धारित किया जा सकता। इस दृष्टि से शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बनाने के लिए गत शताब्दियों में जितने प्रयत्न किए गए विफल रहे। इसलिए ऊपर जो कुछ कहा गया है उस पर 'लकीर के फकीर' के समान चलना हानिकारक है। बालकों के वैयक्तिक भेद के अनुसार निर्धारित नियमों में परिवर्तन और सुधार करने की स्वतन्त्रता और क्षमता का शिक्षक में होना आवश्यक है। वैयक्तिक योग्यता के अनुसार ही बालकों को काम देना चाहिए। यह बात इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इस पर ऊपर कई बार संकेत किया गया है। यदि किसी बात के सीखने में कोई बालक दूसरों से अधिक समय लेता है तो उससे सहानुभूति दिखलाना आवश्यक है। उसकी हँसी उड़ाना या उसे हतोत्साह करना अमनोवैज्ञानिक है। इससे व्यक्तित्व-विकास कुण्ठित हो जाता है और बालक में आत्महीनता की भावना आ जाती है।

कौशल के पाठ में जिन बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए उनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है:—

१—कार्य को ठीक प्रकार प्रारम्भ करना बड़ा आवश्यक है। यदि आरम्भ अच्छा न हुआ तो बाद में बड़ी कठिनाई पड़ेगी। पहले गति[2] पर ध्यान न देकर रूप[3] पर ध्यान देना चाहिए। किसी बात को सीखने के लिए केवल अभ्यास ही पर्याप्त नहीं। अभ्यास के साथ यह भी देखना चाहिए कि उसकी विधि भी ठीक है, अन्यथा परिश्रम का समुचित फल न मिलेगा, और साथ ही कुछ गलत आदतों के पड़ने का भय भी रहेगा। उदाहरणार्थ, टाइप-राइटिङ्ग के पाठ में यदि प्रारम्भ ठीक न किया गया तो

1. Individual Difference. 2. Speed. 3. Form.

गलत आदत पड़ जायगी, और अँगुलियों को ठीक रास्ते पर लाना कठिन हो जायगा।

२—सीखने वाले की मनोवृत्ति का सीखने पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। पाठ में रुचि रहने से विद्यार्थी लगातार इस चेष्टा में रहता है कि दिन पर दिन उसकी उन्नति हो। कुछ-शिक्षकों की धारणा है कि रुचि के अभाव में भी अभ्यास से कोई चीज बहुत अच्छी तरह सीखी जा सकती है। इसके विपरीत कुछ का मत है कि रुचि ही प्रधान है और अभ्यास गौण है। वस्ततुः किसी एक ही पर बल देना अमनोवैज्ञानिक होगा। कोई भी चीज सीखने के लिए रुचि और अभ्यास के फलस्वरूप सफलता की भावना देकर शिक्षक पाठ में बालकों की रुचि उत्पन्न कर सकता है।

३—किसी कौशल के सीखने में अनावश्यक को छोड़ प्रधान गतियों पर ध्यान देना बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि कौशल के सीखने के लिए आवश्यक गतियों के छोड़ने पर विशेष ध्यान देना चाहिए, अथवा 'प्रधान' पर ध्यान केन्द्रित करने पर। वास्तव में प्रधान गतियों पर ही विशेष ध्यान देना ठीक होगा। ऐसा करते रहने से अनावश्यक गतियाँ स्वतः छूट जाँयगी। यदि साइकिल चढ़ने वाला खम्भे से न भिड़ने की बड़ी चेष्टा में रहता है तो वह प्रायः उससे भिड़ ही जाता है। इसके विपरीत ठीक रास्ते पर चलने पर ध्यान केन्द्रित करने से वह सफल हो जाता है। "गलती न हो जावे" ऐसा सोचते रहने से विरुद्ध-निर्देश[1] का फल होता है और जो न करना चाहिए वही हम बहुधा कर बैठते हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। अतः "क्या न करना चाहिए" न बता कर यदि छात्रों को यही बताया जाय कि "क्या करना चाहिए" तो अधिक लाभप्रद होगा। यदि बालक की कुछ बुरी आदत पड़ गई है तभी उससे यह कहा जा सकता है कि क्या न करना चाहिये क्यों कि बुरी आदत को छुड़ाने के लिए ऐसा कहना आवश्यक है।

४—यथासम्भव अभ्यास उसी परिस्थिति में करने की चेष्टा करनी चाहिए जिसमें आगे चलकर उस कौशल का उपयोग हो। इस सिद्धान्त की

1. Contra-suggestion

अवहेलना करने से बहुत समय और शक्ति का अपव्यय होता है। टुकड़े-टुकड़े में बहुत देर तक अभ्यास करते रहना अमनोवैज्ञानिक है, क्योंकि इससे मानसिक संगठन के बनने में बड़ी देर लगती है और कभी-कभी इसमें देर होने के कारण बालक की रुचि के भी लोप हो जाने का भय रहता है। सम्पूर्ण गति का भी अभ्यास अधिक देर तक न करना चाहिये। दिन में कई बार अभ्यास करना एक ही बार अधिक देर तक करते रहने की अपेक्षा कहीं अच्छा है।

३—रसानुभूति का पाठ[1]

ऊपर कहा जा चुका है कि रसानुभूति के पाठ में साहित्य, कला अथवा संगीत के कुछ भाग को समझने में बालक को समर्थ किया जाता है। पहले संगीतज्ञों और कवियों के प्रति जन साधारण का अच्छा रुख न था। वे पौरुषहीन कहे जाते थे। उनके प्रति लोगों की विचित्र धारणा थी। उन्हें लोग जीवन के साथ खेलने वाले जीव समझते थे। पर अब ऐसे मत में एकदम परिवर्त्तन आ गया है। अब उनके कार्य के मानवी गुण को लोग समझने की चेष्टा करते हैं और मानव जीवन के उत्थान में उनका भी एक हाथ माना जाता है। अब सौन्दर्य-प्रेम दिखलाना पौरुषहीनता नहीं समझा जाता। अतः आज शिक्षा-क्षेत्र में भी इसे एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है और यह विषय विचारणीय हो जाता है कि बालकों में साहित्य, कला और संगीत के प्रति कैसे प्रेम करना उत्पन्न किया जाय कि कोमल भावनाओं के प्रति उनका अनुराग हो। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार बालकों को रसानुभूति करने के योग्य बनाने के लिए कोई विशेष विधि नहीं। तथापि कुछ ऐसी विधियों का उल्लेख अवश्य किया गया है। इनमें कुछ तो अपना कार्य कर जाती हैं और कुछ का फल उलटा ही होता है। इसलिए रसानुभूति के पाठ में शिक्षक का स्थान बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। शिक्षक के व्यक्तित्व के कारण एक ही विधि सफल और असफल दोनों हो सकती है। स्पष्ट है कि रसानुभूति का पाठ सभी पाठों से क्लिष्ट है। इसका संचालन अनुभवी अध्यापक ही कर सकता है। गणित अथवा

1. Appreciation Lesson.

इतिहास के पाठ की तरह "रस" नहीं पढ़ाया जा सकता। इसमें तो सारा कार्य इस प्रकार संचालित करना है कि छात्र "रस" का अनुभव स्वयं करें। यह तो स्वतः प्रेरणा की वस्तु है। इस प्रेरणा को जाग्रत करने के लिए हमें उसमें कुछ संवेगात्मक[1] शक्तियों का विकास करना होगा।

रसानुभूति में वातावरण का प्रभाव

बालक के विकास में वातावरण का बड़ा भारी हाथ होता है। वातावरण के ही कारण कुछ बालकों में दूसरों की अपेक्षा संगीत, साहित्य और कला के प्रति अधिक प्रेम दिखलाई पड़ता है। उचित वातावरण के उपस्थित करने में शिक्षक काफी योग दे सकता है। हर एक काम सुन्दर ढंग से करने के लिए कहना भी बालकों को सौन्दर्य-प्रेम की ओर कुछ झुका सकता है। ऊपर कहा जा चुका है कि शिक्षक को न भूलना चाहिये कि वह भी वातावरण का एक अङ्ग ही है। वह अपने रहन-सहन और ढंग से बालकों में ऐसी आदत डालने में समर्थ हो सकता है जो उनमें सौन्दर्य-प्रेम उत्पन्न करने में सहायक हो सकती है। शिक्षक का ढंग ऐसा हो कि बालक अनजान में ही उसकी अच्छी आदतों को ग्रहण कर ले। इसमें अप्रत्यक्ष निर्देश बड़ा सहायक होता है। प्रत्यक्ष निर्देश देने में कभी-कभी विरुद्ध-निर्देश का फल हो जाता है और बालक की क्रिया वांछित दिशा के प्रतिकूल होती है। बालकों में किसी वस्तु के लिए अनुराग उत्पन्न करना बड़ा ही कठिन काम है। इसमें बालकों के स्वभाव और रुचि का पूरा ज्ञान आवश्यक है।

शिक्षक को यह जानना चाहिए कि शोर मचाना बालकों का स्वभाव है और खेल के मैदान अथवा कक्षा में अवसर पाने पर वे इससे न चूकेंगे। इससे शिक्षकों को चिढ़ना न चाहिये। थोड़ी सी चेतना आ जाने से ही बालक भद्दे और सुन्दर के प्रति अपनी मुख-मुद्रा अथवा शब्द से उसके प्रति अपने भाव प्रकट कर देते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि बालकों में सौन्दर्य-प्रेम का बीज वर्तमान रहता है। उचित वातावरण के आयोजन से हमें उस बीज को अंकुरित करने और बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए।

1. Emotional Forces.

इसके लिए यह आवश्यक है कि बालकों के ऊपर कोई विचार बरबस न लादा जाय। ऐसे विचारों का उन पर कुछ भी प्रभाव न पड़ेगा। अपना विचार देते समय शिक्षक को यह कह देना चाहिए कि वे उसके विचार हैं। बालकों को अच्छी तरह समझा देना उचित है कि भली-भाँति समीक्षा कर लेने पर ही उन्हें किसी विचार को स्वीकार करना चाहिए। शिक्षक को यह ध्यान रहे कि जिन बातों में उसका विश्वास न हो अथवा जिन्हें उसने स्वयं अच्छी प्रकार न समझ लिया हो, उनका उल्लेख वह बालकों के सामने न करे अन्यथा विरुद्ध-निर्देश के प्रभावस्वरूप बालकों में उनके प्रति अरुचि पैदा हो जायगी। इस प्रकार उपर्युक्त बातों पर ध्यान देने से रसानुभूति के अनुकूल वातावरण का सृजन किया जा सकता है।

रसानुभूति के पाठ का ठीक संचालन आनन्द और खेल की मुद्रा में होता है। अतः इसे अन्य पाठों की तरह हरबार्ट के नियमित पदों के अन्दर हम ठीक बाँध नहीं सकते, तथापि प्रस्तावना, विषय-प्रवेश, अभ्यास और पुनरावृत्ति का उल्लेख इसमें भी किया जा सकता है। इन्हीं सब पदों पर नीचे हम अलग-अलग विचार करेंगे।

प्रस्तावना

जिस पाठ की रसानुभूति शिक्षक बालकों से कराना चाहता है—उसका स्वयं उसे पूरा ज्ञान होना आवश्यक है। कभी-कभी विषय-ज्ञान होते हुए भी शिक्षक अपनी किसी विशिष्ट रुचि के कारण बालकों को उसकी रसानुभूति नहीं करा सकता। ऐसी स्थिति में शिक्षक को उस पाठ का संचालन न करना चाहिए, क्योंकि वह बालकों को रसानुभूति के पथ पर लाने में समर्थ न हो सकेगा। रसानुभूति-पाठ के संचालन के पूर्व शिक्षक को उसके लिए समुचित वातावरण का आयोजन कर लेना आवश्यक है। वाह्य वस्तुओं से बालकों का ध्यान इधर-उधर डिग न जाय इसका भी शिक्षक को ध्यान रखना है। अतः उसे हर समय विभिन्न सरस रुचियों के आधार पर बालकों का ध्यान पाठ की ही ओर आकर्षित करते रहना है। इसके लिए, जैसा ऊपर कहा गया है, शिक्षक को निर्देश-शक्ति का सहारा लेना होगा।

शिक्षक को छात्रों की शक्तियों और कमजोरियों का ज्ञान होना चाहिए जिससे वह समझ सके कि छात्र कैसे पाठ का रसानुभूति कर सकते हैं। स्पष्ट है कि प्रस्तुत पाठ का सम्बन्ध बालक के पूर्व ज्ञान से इस प्रकार जोड़ना है कि वह उनके लिए एकदम नया न मालूम हो। यथा-सम्भव जीवन के अनुभव से सम्बन्धित बातों का उल्लेख समयानुसार करते रहना चाहिए। ऐसा करने से प्रस्तुत विषय को बालक अच्छी प्रकार समझते जाँयगे। पाठ में आये हुये कठिन शब्द और अलंकार आदि का अर्थ एक दिन पहले हो बतला दिया जाय तो अच्छा है, क्योंकि शब्दार्थ और रसानुभूति साथ ही साथ नहीं चल सकते। रसानुभूति के पाठ में शब्दों का अर्थ नहीं बताया जाता, वरन् उनमें छिपे हुये भाव की ओर संकेत किया जाता है। शब्दार्थ बतलाने की धुनि में रसानुभूति गौण पड़ जायगी। जिस पद में बहुत कठिन शब्द हों उसे रसानुभूति के पाठ में रखना ही गलत है। जिस पद में सरल-सरल शब्द होते हैं उन्हीं की मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रसानुभूति कराई जा सकती है। उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह हुआ कि रसानुभूति के पाठ में हमें दो बातों पर ध्यान देना है— १–छात्रों को रसानुभूति के लिए तैयार होना चाहिए; और, २–पाठ का संचालन इस प्रकार किया जाय कि छात्र उसका आनन्द ले सकें।

रसानुभूति के पाठ में 'प्रस्तावना' का स्थान सबसे महत्वपूर्ण है। ऊपर हम अनुकूल वातावरण का उल्लेख कर चुके हैं। वातावरण के अन्तर्गत कक्षा की स्थिति और बालकों की मुद्रा का भी तात्पर्य समझ लेना चाहिये। यदि कमरा बहुत गर्म है अथवा अधिक ठण्डा है; या लड़के यदि बहुत थके हुये हैं तो रसानुभूति का पाठ सफल न हो सकेगा। क्या ही अच्छा होता यदि कक्षा का वातावरण ही निर्देशात्मक[1] हो। इसीलिए तो नाट्यशाला और सिनेमाघरों में भाँति-भाँति के सुन्दर चित्र बने और टँगे रहते हैं।

यदि प्राकृतिक शोभा से सम्बन्धित पाठ हुआ तो उसे तत्सम्बन्धी वातावरण अर्थात् बाग, नदी, मैदान आदि के समीप बालकों को ले जाकर उन्हें आवश्यक आनन्द और अनुभूति की प्रेरणा देनी चाहिए।

1. Suggestive.

इस प्रेरणा से उनका मानसिक विकास वांछित दिशा की ओर अग्रसर होगा। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। यह ठीक है कि ऐसा सदा सम्भव नहीं। पर यहाँ आदर्श की ओर संकेत कर देना अनुपयुक्त न होगा। बाग आदि के स्वाभाविक वातावरण का कुछ आभास देने के बहाने कक्षा में फूलों और डालियों आदि का सुन्दर ढंग से सजा देना भी कुछ सहायक हो सकता है। ऐसे ही कुछ चित्रों को भी लाकर उपस्थित करना अमनोवैज्ञानिक न होगा। पर यह ध्यान रहे कि इन फूलों, डालियों और चित्रों से कक्षा का वातावरण इतना कृत्रिम न हो जाय कि बालक पाठ की ओर ध्यान न देकर उन चित्रों की ही ओर आकर्षित होता रहे। उपर्युक्त ढंग के अनुसार वातावरण की तैयारी बालकों को मूक शब्दों में बतलायेगी कि कुछ प्रासंगिक बात होने वाली है। इस प्रकार पाठ के लिए वे उत्सुक हो जायेंगे।

वातावरण को इस प्रकार उपयुक्त बनाने के अतिरिक्त शिक्षक अपनी वाणी द्वारा भी बालकों में पाठ के लिए अनुकूल मनोवृत्ति उत्पन्न कर सकता है। किसी स्थल पर उसे अन्तर्निहित कथा की ओर संकेत करना होगा, कहीं उसे अपने ही अनुभव का विवरण देना आवश्यक हो सकता है, तो कहीं पर प्रश्नों द्वारा बालकों के पूर्वज्ञान को ही जागृत करना अनुकूल दिखलाई पड़ सकता है। इस प्रकार विविध ढंगों से शिक्षक को रसानुभूति के पाठ की तैयारी करनी होगी।

विषय-प्रवेश

प्रस्तावना के बाद विषय-प्रवेश की समस्या आती है। यथा-सम्भव विषय-प्रवेश का ढंग कलात्मक हो। इस स्थल पर शिक्षक को लेखक अथवा कवि के भावों का सफल अभिनय करना चाहिए। इसके लिए लम्बे-लम्बे वक्तव्य देना आवश्यक है। यदि शिक्षक लेखक की बात को समझता है और प्रकाशित भावों का स्वयं अनुभव करता है तो उनका बालकों पर वांछित प्रभाव पड़े बिना न रहेगा। यह बात विस्तृत व्याख्या के समय ही लागू नहीं, वरन् आदर्श पाठ के समय भी यह अक्षरशः सत्य है। यदि कवि के भावों के प्रति सहानुभूति अथवा तादात्म्य का अनुभव करते हुए आदर्श पाठ किया गया तो आधी विजय वहीं हो जाती है। एक वाता-

वरण उपस्थित हो जाता है, बालकों के कान खड़े हो जाते हैं, और उनकी रुचि पाठ के अन्त तक बनी रहती है।

आदर्श पाठ के बाद विस्तृत व्याख्या का नम्बर आता है। वस्तुतः यह भी विषय-प्रवेश का ही एक अंग है। यदि ऊपर कही हुई बातों के अनुसार कक्षा का वातावरण अनुकूल हुआ तो प्रस्तुत विषय पर लड़के अपनी सम्मति देने में नहीं हिचकेंगे। शिक्षक की बात पर वे आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे। बालकों को अपने भाव-प्रदर्शन के लिए पर्याप्त अवसर देना रसानुभूति पाठ का प्राण है। यदि इसमें शिक्षक उन्हें उत्साहित कर सका तो बालक अवश्य ही रसानुभूति में सफल होंगे। यदि बालक भाव-प्रकाशन में संकोच दिखा रहा है तो उसके लिए उसे विवश करना अमनोवैज्ञानिक होगा। सहानुभूति दिखलाने से ऐसे बालक भविष्य में भाव-प्रकाशन सरलता से कर सकते हैं।

लेखकों और कवियों का तुलनात्मक अध्ययन भी रसानुभूति में सहायक होता है। कभी-कभी दूसरी भाषा के लेखकों और कवियों का उदाहरण भी अप्रासंगिक न होगा। पाठ का सञ्चालन इस प्रकार करना है कि बालक अपनी सम्मति पक्ष या विपक्ष में शिक्षक के भावों से प्रभावित होकर न दें। उन्हें अपने भाव-प्रकाशन अपनी अनुभूति के आधार पर करना है। शिक्षक की बातों को दोहरा देने से तो अच्छा यह है वे एकदम चुप रह जाँय या यह कह दें कि उनको समझ में कुछ नहीं आता। "आनन्द तो अपनी मानसिक अनुभूति की वस्तु है। यह शिक्षक की आज्ञा का फल नहीं हो सकता। बालकों की मुद्रा का अध्ययन आवश्यक है। उनकी मुद्रा से जिसका आभास नहीं मिलता उसके प्रकाशन के लिए प्रश्नों का सहारा लेना भ्रम है। इससे पाठ में बालकों की सारी रुचि लुप्त हो जाती है और बालकों में थकान आ जाती है। कुछ बालक अपने भाव-प्रकाशन में बड़ा संकोच करते हैं। बालक कुछ नहीं कहता तो इसका अर्थ यह नहीं कि उसे कुछ नहीं आता। रसानुभूति उस कोमल पौधे के समान है जिसके लिए बड़ी सहानुभूति और सतर्कता की आवश्यकता है।"[1]

---

1. Pincent : *The Principles of Teaching Method*, p. 349.

छोटे बालकों के साथ विशेषकर संवेगात्मक भावनाओं का ही सम्बन्ध रखना ठीक होगा। पर कुछ बड़े बालकों के साथ बौद्धिक विषयों की भी चर्चा छेड़ी जा सकती है। लेखक, कवि अथवा संगीतज्ञ की शैली और छन्द पर विवेचना करना उनके लिए अनुपयुक्त न होगा।

अभ्यास

कुछ लोगों की धारणा है कि जो लोग स्वयं कविता करते, लिखते अथवा चित्र बनाते हैं वे औरों की अपेक्षाकृत पद्यांश, गद्यांश अथवा चित्र का रसास्वादन अधिक सरलता से कर पाते हैं। यह बात कुछ हद तक ठीक भी है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि दूसरे रसास्वादन में असफल रहते हैं। तथापि अच्छा होगा यदि बालकों को गद्य, पद्य तथा चित्र की रचना करने के लिये उत्साहित किया जाय। इसमें कुछ सफलता मिल जाने से बालक निश्चय ही किसी कला की रसानुभूति शीघ्र कर सकेंगे। छोटे और बड़े सभी बालकों को उनकी शक्ति के अनुसार इसके लिए उत्साहित किया जा सकता है। बालक का प्रयत्न कितना ही बुरा क्यों न हो, पर शिक्षा-दृष्टि से उसका महत्त्व बड़ा भारी है। वह उसकी सहानुभूति में अवश्य ही सहायक होगा।

पुनरावृत्ति

अब पुनरावृत्ति की बारी आती है। प्रायः सभी पाठों में इसकी आवश्यकता होती है। इससे शिक्षक को अपनी सफलता का कुछ अनुमान मिल जाता है। दूसरे, इससे पाठ के आवश्यक अंगों पर बालकों का ध्यान फिर आकर्षित हो जाता है। इस प्रकार स्मृति में भी इससे कुछ सहायता मिलती है।

रसानुभूति के पाठ में भी पुनरावृत्ति का यही उद्देश्य होगा। यहाँ पर कुछ ऐसे प्रश्न पूछे जा सकते हैं जिनसे यह पता चल जाय कि विषय को बालक कहाँ तक समझ सके हैं।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

१—कुछ साधारण बातें

विभिन्न विधियाँ एक ही साध्य के साधन।

बालक के स्वभाव पर ध्यान देना, बालक 'करने' से सीखता है।

पुराने अनुभव का आधार, बालक बिना सोचे समझे कुछ नहीं करता,

नये विषय को मूलप्रवृत्त्यात्मक इच्छा का अंग बनाना।

पाठ का उद्देश्य बता देना आवश्यक।

पाठ्य-क्रम अच्छी प्रकार जानना।

ज्ञान, कौशल, और रसानुभूति-सम्बन्धी पाठ।

ज्ञान का विकास

सीखने में 'बाल-क्रिया' प्रधान, पढ़ने का वर्त्तमान और भावी जीवन से सम्बन्ध।

बालक के ज्ञान और अनुभव को सुसंगठित करना।

शिक्षक का उत्तरदायित्व पहले से भारी।

दूसरों के अनुभव से तथा स्वयं परिश्रम करके सीखना।

प्रस्तावना

शिक्षक का बालक के पूर्व अनुभव से परिचित होना आवश्यक, पूर्व-ज्ञान को जाग्रत करना, बालक की परिस्थिति में अपने को डालना।

यह जानना कि बालक का ध्यान किन-किन बातों की ओर आकर्षित करना है।

पूर्व अनुभव को मनोवैज्ञानिक ढंग से जाग्रत करना।

उद्देश्य कथन

शिक्षक और छात्र दोनों के लिए उद्देश्य जानना आवश्यक।

शिक्षक अपना पाण्डित्य-प्रदर्शन न करे, पाठ छात्रों का है, शिक्षक केवल पथ-प्रदर्शक।

विषय-प्रवेश और आत्मीकरण

इस पर ध्यान रखना कि छात्र कहाँ तक समझ रहे हैं।

सिद्धान्त निरूपण

सदा सम्भव नहीं, छात्रों की सहायता द्वारा।

प्रयोग

इसमें ज्ञान दृढ़।

२—कौशल का विकास

कौशल के पाठ में कुछ 'करना'।

प्रस्तावना

अनुकूल शारीरिक और मानसिक स्थिति में करना।

उद्देश्य-कथन

विषय-प्रवेश

आवश्यक उपकरणों का आयोजन कर रास्ता दिखा देना, व्यक्तिगत ध्यान देना अधिक आवश्यक।

अभ्यास

व्यक्तिगत आवश्यकतानुसार सहायता देना।

उन्नति का ज्ञान, 'करने' की आवश्यकता का अनुभव करना।

त्रुटि-संशोधन

तात्कालिक सुधार सदा सम्भव नहीं, मनोवैज्ञानिक क्षण पर ध्यान, त्रुटि-संशोधन को मौलिक अनुभव आ अंग बनाना।

परस्पर-आलोचना का अधिक प्रयोग, शिक्षक सर्वश्रेष्ठ आलोचक।

विश्राम-काल की उपयोगिता।

वैयक्तिक भेद के अनुसार सीखने का नियम बनाना कठिन, निर्धारित नियमों में परिवर्तन करने की शिक्षक में क्षमता।

ठीक प्रारम्भ, पहले रूप पर ध्यान, ठीक विधि।

रुचि और अभ्यास दोनों आवश्यक।

'प्रधान गतियों' पर ध्यान देना।

टुकड़े-टुकड़े पर बहुत देर तक अभ्यास न करना, दिन में कई बार अभ्यास करना।

३—रसानुभूति का पाठ

संगीत, साहित्य और कला का मान, शिक्षक का स्थान महत्त्वपूर्ण, संवेगात्मक शक्तियों का विकास।

रसानुभूति में वातावरण का प्रभाव

वातावरण का स्थान, अप्रत्यक्ष निर्देश, बालकों में सौन्दर्य-प्रेम का बीज वर्तमान, अनुभूति की ही बातें कहना।

प्रस्तावना

समुचित वातावरण उपस्थित करना, जीवन से सम्बन्धित बातों का उल्लेख, छिपे भाव की ओर संकेत करना।

कक्षा की स्थिति और बालकों की मुद्रा, अनुकूल वातावरण।

शिक्षक का भाग।

विषय-प्रवेश

कवि के भावों के प्रति शिक्षक की सहानुभूति और तादात्म्य, आदर्श पाठ, बालकों को अपने भाव-प्रदर्शन के लिए पर्याप्त समय देना, तुलनात्मक अध्ययन, अपनी मानसिक अनुभूति।

विकास अवस्था पर ध्यान।

अभ्यास

स्वय रचना करने के लिये छात्रों को उत्साहित करना।

पुनरावृत्ति

सहायक पुस्तकें

१—जे० एच० पैन्टन—माडर्न टीचिङ्ग प्रैक्टिस ऐण्ड टेकनिक, अध्याय ५-६।

२—विदरिङ्गटन, एच० सी०—द प्रिन्सीपुल्स आव् टीचिङ्ग ।
३—बर्टन, विलियम एच०—द गाइडेन्स आव् लर्निङ्ग एक्टीविटीज़, अध्याय ३ ।
४—लैन्सेलॉट—परमानेन्ट लर्निङ्ग, अध्याय २, ६ ।
५—डेविस, राबर्ट ए०—साइकॉलॉजी आव् लर्निङ्ग, अध्याय ६ ।
६—स्ट्रक, एफ़० थ्योडोर—क्रिएटिव् टीचिङ्ग ।
७—किंग्सले हावर्ड एल०—द नेचर ऐण्ड कण्डीशन आव् लर्निङ्ग, अध्याय ६ ।
८—ओपडाइकजार्ज हावर्ड—आर्ट एण्ड नेचर आव् एप्रीसिएशन ।
९—प्रेसकॉट, डी० ए०—इमोशन एण्ड द एडूकेटिव् प्रोसेस ।
१०—स्मिथ, रीड—द टीचिङ्ग आव् लिटरेचर इन हाई स्कूल, अध्याय १० ।
११—डब्लू एम० राइबर्न—द प्रिन्सीपुल्स आव् टीचिङ्ग, पृष्ठ २४-४२ ।

कुछ शिक्षण-सूत्र-वाक्य और विधियाँ[1]

(क) कुछ शिक्षण-सूत्र-वाक्य

शिक्षण-शास्त्र में कुछ सूत्र बड़े प्रचलित दिखलाई पड़ते हैं। उदाहरणार्थ सरल से जटिल की ओर[2], ज्ञात से अज्ञात की ओर[3], विशिष्ट से सामान्य की ओर[4], स्थूल से सूक्ष्म की ओर[5], विश्लेषण से संश्लेषण की ओर[6], सम्पूर्ण से अश की ओर[7], तथा मनोवैज्ञानिक हो तार्किक नहीं[8] आदि सूत्रों का उल्लेख किया जाता है। ये सूत्र शिक्षण-कार्य में सहायक होते हैं। वस्तुतः जान या अनजान में सभी शिक्षक इन्हीं सूत्रों में से किसी के आधार पर समय-समय पर अपना कार्य करते हैं। अतः इनका थोड़ा विस्तारपूर्वक यहाँ विवेचन कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

१—सरल से जटिल की ओर

गत पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि बालकों को किसी बात के सिखलाने के पूर्व हमें उनके पूर्व अनुभव का अच्छी प्रकार अनुमान लगा लेना है। इस सिद्धान्त से यह संकेत मिलता है कि शिक्षा देने में हमें बालक की रुचि पर ध्यान रखना है। यदि उसकी रुचि के अनुसार पाठ का संचालन

1. Some Maxims and Methods of Teaching. 2. From Simple to Complex. 3. From Known to Unknown. 4. From Particular to General. 5. From Concrete to Abstract. 6. From Analysis to Synthesis. 7. From Whole to the Parts. 8. Psychological—not Logical.

किया जा सका तो उसका विकास-क्रम अविरल गति से चलता रहेगा। इसके लिए यह आवश्यक है कि बालक के सामने सबसे पहले जटिल वस्तु को न उपस्थित कर दिया जाय। बालकों को सफलता की भावना देना आवश्यक है। उनकी आत्म-गौरव अथवा आत्म[1]-प्रदर्शन की मूलप्रवृत्ति विशेष रूप से जाग्रत रहती है। वे दूसरों को दिखलाना चाहते हैं कि कुछ कर दिखाने में वे भी समर्थ हैं। यदि इस स्वाभाविक इच्छा की पूर्ति न की गई तो उन्हें गहरी ठेस लगेगी। इसकी पूर्ति उनके सामने सरल वस्तु के उपस्थित करने से ही हो सकती है। यदि यकायक उन्हें कोई जटिल प्रश्न करना हुआ तो वे हिम्मत हार बैठेंगे और किसी काम में उनका मन न लगेगा। अतः उनके सामने पहले सरल वस्तु को ही रखना चाहिए, जिससे उनमें सन्तोष और सफलता की भावना आ जाय।

परन्तु सरल और जटिल वस्तु का निर्णय कैसे किया जाय? जो एक के लिए सरल है वही दूसरे के लिए कठिन हो सकता है। जो एक समय कठिन है वही दूसरे समय सरल जान पड़ता है। बचपन में हमें जो बातें बहुत जटिल मालूम होती थीं अब वे सरल दिखलाई पड़ती हैं। किसी व्याकरण-शास्त्री के लिए वर्ण सरलतम ध्वनि होती है और उसके बाद शब्द और वाक्य का नम्बर आता है। पर बालक के लिए निरर्थक ध्वनि से कोई प्रयोजन नहीं। वह उसमें रुचि नहीं दिखला सकता। अतः सरल और जटिल का निर्णय करते समय हमें बालक के पूर्व अनुभव और मानसिक स्थिति का पूरा ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। शिक्षक को यह न भूलना चाहिए कि जो उसे सरल दिखलाई पड़ता है वही बालकों के लिए कठिन हो सकता है। बालकों के लिए सरल क्या है इसका पता कुछ प्रश्नों से चल सकता है। विकास-अवस्था से भी इसका कुछ ज्ञान हो जाता है। कभी-कभी पाठ का प्रारम्भ बहुत जटिल विचारों अथवा शब्दों से किया जा सकता है, यदि वे विचार या शब्द बालकों की समझ के भीतर हों। अतः "सरल से जटिल की ओर" बढ़ने का तात्पर्य सरलतर से कुछ कठिनतर की ओर बढ़ना ।

1. Self-display.

२—ज्ञात से अज्ञात की ओर[1]

बालकों को जो मालूम है उसकी स्मृति उन्हें बड़ी जल्दी आ जाती है। पर उसके रुचिकर होने में सन्देह हो सकता है। सुनी हुई बात अथवा कथा को दुबारा सुनने में वह आनन्द नहीं आता जो नई में आता है। इसलिए शिक्षक कभी-कभी एक दम नए विषय से भी अपना पाठ प्रारम्भ कर सकता है। पर उस नए विषय का बालक के पूर्व अनुभव से यदि सम्बन्ध न हुआ तो प्रस्तावना रोचक न हो सकेगी। नए विषय की थोड़ी सी झाँकी देने के बाद शिक्षक को बालक के पूर्व ज्ञान से ही पाठ प्रारम्भ करना चाहिए। अज्ञात विषय का ज्ञात से सम्बन्ध स्थापित कर देना शिक्षक की कुशलता का द्योतक है। वस्तुतः शिक्षक का सारा परिश्रम इसी उद्देश्य की पूर्ति की ओर केन्द्रित होना चाहिए। ज्ञात विषय को ही बार-बार दोहराना अरुचिकर और व्यर्थ है और अज्ञात विषय को पूर्व ज्ञान से अलग कर उपस्थित करना उसको और भी कठिन बनाना है। इसलिए ज्ञात और अज्ञात का सम्बन्ध स्थापित करते हुए बालकों का मानसिक विकास करना ही शिक्षण का उद्देश्य कहा जा सकता है।

३—विशिष्ट से सामान्य की ओर[2]

हमारा सामान्य ज्ञान विशिष्ट ज्ञान से ही उत्पन्न होता है। सामान्य तो विशिष्ट ज्ञान का ही निचोड़ है। अतः विशिष्ट ज्ञान के बिना सामान्य ज्ञान नहीं बन सकता। इस सूत्र में हमें परिणामात्मक प्रणाली का आभास मिलता है। यदि पहले बालक के सामने सामान्य को ही रखा जाय तो वह दूसरों की बात को झट स्वीकार कर लेगा। उसे अपनी तर्क-शक्ति से काम लेने की आवश्यकता न होगी। इसका फल यह होगा कि बात उसकी समझ में न आयेगी। पढ़ाते समय भले ही उसकी समझ में कुछ आ जाय, पर वह उसके मानसिक संगठन का स्थायी अंग न हो सकेगा। अतः विशिष्ट से सामान्य की ओर चलना मनोवैज्ञानिक होगा। बालक के लिए विशिष्ट और सामान्य क्या है इसका पता लगाने के लिए उसके मानसिक विकास और पूर्व ज्ञान से पूरा परिचय प्राप्त करना होगा।

---

1. From Known to Unknown. 2. From Particular to General.

४—स्थूल से सूक्ष्म की ओर[1]

बालक सूक्ष्म को समझ सके और उसकी कल्पना उसी से भरी हो इसीलिए उसे शिक्षा दी जाती है। जिसका जितना अधिक मानसिक विकास होता है वह उतना ही सूक्ष्म को सोच और समझ सकता है। सूक्ष्म को समझने की शक्ति का विकास धीरे-धीरे होता है। प्रारम्भ में बालक केवल स्थूल को ही समझने में समर्थ होता है। खिलौना, कुर्सी, मकान, माता-पिता आदि का बोध उसे शीघ्र हो जाता है, क्योंकि वह उन्हें छू और देख सकता है। सूक्ष्म को समझने की शक्ति यकायक किसी एक दिन नहीं आ जाती। इसका विकास तो क्रमशः होता है। जब बालक सूक्ष्म को समझने लगता है तो हमारी प्रसन्नता की सीमा नहीं रहती। हम चाहते हैं कि ईमानदारी, न्याय-प्रियता, दयालुता तथा सत्यता आदि सूक्ष्म भावों को बालक समझने लगे। इसको समझने के लिए इनकी परिभाषा का सहारा लेना मनोवैज्ञानिक न होगा, क्योंकि बालक पहले स्थूल को ही समझता है। उदाहरणार्थ; बालक पहले लाल वस्तु को देखता है। कई प्रकार की लाल वस्तुएँ देखते-देखते उसे "लाल रंग" अर्थात् एक "सूक्ष्म भाव" का बोध हो जाता है। लाल रंग के समझ लेने का आधार लाल रंग वाली स्थूल वस्तु ही है। इसी प्रकार 'सत्यता'—सूक्ष्म भाव को समझाने के लिये उसका ध्यान किसी सत्य बोलने वाले व्यक्ति की ओर खींचना चाहिए। अतः सत्यता के प्रति उसमें प्रेम उत्पन्न करने के लिए शिक्षक को किसी व्यक्ति अर्थात् "स्थूल वस्तु" का ही आधार मानना चाहिए। सत्य बोलने वाले लड़के अथवा हरिश्चन्द्र और युधिष्टर आदि महापुरुषों अर्थात् स्थूल प्रमाणों से उसे 'सत्यता' सूक्ष्म भाव का ज्ञान तथा उसके प्रति प्रेम और स्थायीभाव बालक में उत्पन्न किया जा सकता है।

स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ने का बड़ा भारी महत्त्व है। मनुष्य सूक्ष्म की ओर बढ़ सकता है, इसीलिए वह पशुओं की श्रेणी से ऊपर है। वास्तविक ज्ञान का अर्थ ही 'सूक्ष्म' ज्ञान का प्राप्त करना है। जिसे जितना ही इसका ज्ञान रहता है वह उतना ही श्रेष्ठ माना जाता है। अतः शिक्षक

1. From Concrete to Abstract.

का यह प्रयत्न होना चाहिए कि बालक सूक्ष्म के आधार पर कल्पना और तर्क कर सके। पर ऊपर संकेत किया जा चुका है कि इसका विकास क्रमशः प्रयत्न करने पर होता है। हम सभी लोगों का यह अनुभव है कि पहले सूक्ष्म बात कह देने से बालक की समझ में कुछ नहीं आता। किन्तु स्थूल के आधार पर उसे समझाया जाय तो सूक्ष्म को वह झट पकड़ लेता है। ज्यामिति अथवा विज्ञान के पाठ में स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलने का पग-पग पर उदाहरण है। यदि इनमें स्थूल का सहारा न लिया जाय तो काम न बनेगा। यही बात किसी भी पाठ में स्पष्ट देखी जा सकती है।

५—विश्लेषण से संश्लेषण की ओर[1]

बालक के पूर्वज्ञान का विश्लेषण करके ही शिक्षक को उसे नए ज्ञान देने का आयोजन करना चाहिए। उदाहरणार्थ; भूगोल का कोई ज्ञान देने के लिए बालक के वातावरण में तत्सम्बन्धी प्राप्त वस्तुओं के विश्लेषण से पाठ का प्रारम्भ करना चाहिए। पर यह ध्यान रहे कि केवल विश्लेषण से ही काम नहीं चल सकता। विश्लेषण के बाद ज्ञान के विभिन्न अंगों का संश्लेषण भी बालकों के सामने रखना होगा। तभी वे कुछ निश्चित विचार ग्रहण कर सकेंगे। विश्लेषित विभिन्न अंगों में सामञ्जस्य दिखलाना आवश्यक है। कभी-कभी तो सबसे पहले संश्लेषित रूप की ही झाँकी दे देनी आवश्यक होती है। तत्पश्चात् विभिन्न अंगों का विश्लेषण कर एक निष्कर्ष पर पहुँच जाता है। उदाहरणार्थ; बालक को पहले पृथ्वी का गोला दिखाकर, समुद्र और जमीन आदि का साधारण ज्ञान देना आवश्यक प्रतीत होता है, उसके बाद विभिन्न अङ्गों का ज्ञान देना मनोवैज्ञानिक होगा। यही विधि अन्य विषयों में भी काम में लाई जाती है। व्याकरण में पहले पूरे वाक्य को सामने रखा जाता है। इसके बाद उसके विभिन्न अङ्गों का विश्लेषण कर एक सामान्य नियम का निर्माण किया जाता है। इस प्रकार सबसे पहले हम अविश्लेषित सम्पूर्ण को रखते हैं; तब विश्लेषण या संश्लेषण पर पहुँचते हैं। इससे हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि पढ़ाने

1. From Analysis to Synthesis.

की विधि विश्लेषण या संश्लेषण ठीक नहीं। डा० लॉरी के अनुसार दोनों का सम्मिश्रण विश्लेषण-संश्लेषण विधि ही ठीक होगी।[1]

६—सम्पूर्ण से अंश की ओर[2]

कुछ लोगों का कहना है कि शिक्षक को सम्पूर्ण से प्रारम्भ कर उसके विभिन्न अंशों की ओर बढ़ना चाहिए। पर यहाँ सम्पूर्ण का अर्थ उस "सम्पूर्ण" से है जिसे बालक जानता है। ऐसा अर्थ न करने पर यह सूत्र पाठन-विधि में कुछ भी सहायक न होगा। उदाहरणार्थ; यदि गुलाब पर कोई पाठ देना है तो गुलाब के वृक्ष से हमें प्रारम्भ करना चाहिए, क्योंकि बालक इस वृक्ष से परिचित होते हैं। तत्पश्चात् इसके विभिन्न अंशों पर प्रकाश डाला जा सकता है।

७—मनोवैज्ञानिक हो, तार्किक नहीं[3]

उपर्युक्त पाठन-सूत्रों के विवेचन में हम वस्तुतः वैज्ञानिक विधि का ही उल्लेख करते रहे हैं। अब हमारे सामने प्रश्न यह है कि शिक्षण में "बालक की रुचि" ध्यान और ग्रहण-प्रक्रिया अर्थात् मनोवैज्ञानिक विधि पर भी ध्यान चाहिए या विषय की केवल तार्किक शिक्षण पद्धति पर ही ?" सर्व प्रथम मनोवैज्ञानिक विधि पर ही ध्यान रखना उपयुक्त होगा। उदाहरणार्थ; तार्किक दृष्टिकोण से भाषा के अध्यापन में सर्व प्रथम ध्वनि और वर्ण से ही प्रारम्भ करना चाहिए। परन्तु मनोवैज्ञानिक बतलाता है कि बालक की रुचि निरर्थक ध्वनियों और वर्णों में नहीं होती। उसका प्रेम सार्थक वस्तु से होता है। इसलिए उसके सामने सर्व प्रथम वाक्य ही रखना ठीक होगा, क्योंकि उसमें उसे कुछ सार्थकता दिखलाई पड़ती है। ऐसे ही इतिहास के अध्यापन में ऐतिहासिक काल के प्रारम्भ से चलकर वर्त्तमान काल तक आना तार्किक होगा। पर बालक की पुरानी बातों में रुचि नहीं। उसे तो वर्त्तमान से प्रेम होता है। मनोवैज्ञानिक की यही माँग है। बालक-सम्बन्धी हमारा नित्य का अनुभव भी यही बतलाता है। अतः

1. Raymont, T., *The Principles of Teaching*, p. 164.

2. From the Whole to the Parts. 3. Psychological, not logical.

उसकी शिक्षा में हमें उसकी रुचि और मानसिक विकास अवस्था पर ध्यान देना है। पर एक तरह से देखा जाय तो तार्किक विधि भी अमनोवैज्ञानिक नहीं ठहरती, क्योंकि उपर्युक्त विवरण में यथास्थान हम बालकों की रुचि, ध्यान-प्रक्रिया और विकास-अवस्था पर उचित ध्यान देने की आवश्यकता पर जोर देते हैं। वस्तुतः वह विधि तार्किक नहीं जो कि अमनोवैज्ञानिक है।

(ख) कुछ शिक्षण-विधियाँ

उपर्युक्त पाठ-सूत्रों के आधार-भूत कई शिक्षण-विधियाँ निकल पड़ी हैं। यद्यपि सब एक ही साध्य के विभिन्न साधन हैं, पर सबका महत्व समान नहीं। किसी की एकदम निन्दा कर त्याग देना भी युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि अवसर के अनुसार हमें प्रायः सभी विधियों की आवश्यकता होती है। शुद्ध रूप से किसी एक विधि से ही काम चलाना कठिन है। हमें दूसरों की भी सहायता लेनी पड़ती है। अतः अच्छा होगा यदि नीचे कुछ महत्वपूर्ण विधियों पर संक्षेप में विचार कर लिया जाय।

१—सुकराती विधि[1]

सुकरात[2] एथेन्स का एक बहुत बड़ा महात्मा आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले हो चुका है। उसका यह विश्वास था कि किसी को हठात् ज्ञान देना एकदम व्यर्थ है, क्योंकि इससे व्यक्ति कुछ सीखता नहीं। उसकी धारणा थी कि जान अथवा अनजान में ज्ञान का पुञ्ज सबके मस्तिष्क में पड़ा रहता है। सुन, देख और पढ़कर सभी लोग कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। पर सब उसे अपने मानसिक संगठन का व्यवस्थित अंग नहीं बना पाते। सुकरात अपनी इस धारणा के आधार पर लोगों के अव्यवस्थित ज्ञान को व्यवस्थित बनाना चाहता था। इसके लिए उसने 'प्रश्न-विधि'[3] का सहारा लिया। उसने अपनी इस विधि का इतना सफल प्रयोग किया कि वह सुकराती विधि से ही प्रसिद्ध हो गई है।

सुकरात राह चलते किसी भी स्थान पर लोगों को छेड़ दिया करता

1. Socratic Method. 2. Socrates. 3. Questioning Technique.

था और अपने वैज्ञानिक प्रश्नों द्वारा लोगों के विचारों को सुव्यवस्थित और ठीक बनाने का प्रयत्न करता था। इस प्रकार सबको ठीक रास्ते पर लाना उसने अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य बना लिया था। वह अपने प्रश्नों के आधार पर ही दूसरों को ठीक ज्ञान देना चाहता था, जिससे व्यक्ति यह समझे कि पाया हुआ ज्ञान उसी का है और किसी ने हठात् स्वीकार करने को उसे बाध्य नहीं किया है। इस विश्वास के आ जाने पर व्यक्ति तदनुसार चलने के लिए स्वभावतः बाध्य हो जायगा—ऐसा सुकरात का विश्वास था। सुकरात की प्रणाली बड़ी मनोवैज्ञानिक है। इसीलिए तो जिज्ञासुओं की उसके पास सदा भीड़ लगी रहती थी।

सुकरात विशेषतः धर्म, नीति, आचार-शास्त्र और राजनीति पर प्रश्न किया करता था। सर्वप्रथम वह युवक के ज्ञात विषय पर ही पहली चोट मारता था। युवक के उत्तर पर वह दूसरी शंका उपस्थित कर प्रश्न पर प्रश्न किये जाता था। इस प्रकार प्रश्न के उत्तर में अन्ततः युवक वांछित ज्ञान पर आ जाता था और उसे इसका सच्चा बोध भी हो जाता था। सुकरात अपने को मस्तिष्क-रूपी शिशु जनाने वाला पुरुषदाई कहा करता था। दाई माँ के पेट में बाहर से कोई बच्चा डाल नहीं देती। वह केवल पेट में उपस्थित बच्चे को बाहर निकल आने में सहायक मात्र होती है। यही सुकरात की शिक्षा का आदर्श था। वह व्यक्ति के मस्तिष्क में बाहर के ज्ञान को नहीं ठूँसना चाहता था। वह वहाँ उपस्थित ज्ञान को ही ठीक से व्यवस्थित और पल्लवित होने में दाई के समान सहायता देना चाहता था। सुकरात अपने विद्यार्थी को किसी परीक्षा में उत्तीर्ण करने के हेतु परिश्रम नहीं करता था, वह तो अपने विद्यार्थी में केवल जिज्ञासा जगा देना चाहता था, जिससे वह उसकी तुष्टि के लिए आगे परिश्रम करे।

आजकल सुकराती-विधि का काफी प्रयोग किया जाता है। शिक्षक अपने पाठ के संचालन में हर पद पर प्रश्नों का सहारा लेता है। प्रस्तावना के स्थल पर वह प्रश्नों द्वारा बालकों को आवश्यक पूर्व-ज्ञान की याद दिलाता है। सिद्धान्त-निरूपण प्रश्नों के आधार पर ही बनता है। समझ[1]

1. Understanding.

और धारणा[1] की शक्तियों की परीक्षा प्रश्नों द्वारा ही की जाती है। यह सब सुकराती विधि ही है। पर बहुत से प्रश्नों की झड़ी लगा देना भी ठीक नहीं। प्रश्न उपयुक्त ही हों। उनमें विध्वंसक आलोचना का आभास न मिले। ऐसे प्रश्न बालकों से न पूछना चाहिये, और न उन्हें इसके लिए उत्साहित ही करना चाहिए।

२—अगमन-विधि[2]

किसी बात को बालकों को सीधे न बताकर उदाहरणों द्वारा उन्हीं से सिद्धान्त का निरूपण करना अगमन-विधि का काम है। चतुर्भुज की परिभाषा देने के पहले विभिन्न प्रकार के चतुर्भुज सामने रखकर उनके साधारण गुणों की बालकों से व्याख्या कराकर चतुर्भुज की परिभाषा का निर्माण करना अगमन-विधि के अनुसार चलना है। इस विधि को अगमन-विधि कहते हैं, क्योंकि इसमें विद्यार्थी विशिष्ट से सामान्य की ओर बढ़ता है। पहले विशिष्ट बातों का विश्लेषण के आधार पर अध्ययन किया जाता है। तत्पश्चात् एक सामान्य बात का निर्माण किया जाता है। इसीलिये इसको कुछ लोग विश्लेषण-विधि भी कहते हैं। अगमन-विधि मनोवैज्ञानिक मालूम होती है। इससे बालकों पर जोर नहीं पड़ता। उनका मस्तिष्क थकता नहीं, क्योंकि सरल प्रश्नों के आधार पर वे सारी बातें समझते जाते हैं और वे सन्तोष और सफलता का अनुभव करते हैं। अतः यह विधि उन्हें बड़ी सरल लगती है। शिक्षकों का यह अनुभव होगा कि कभी-कभी बालक इस विधि के सहारे यकायक बहुत जल्दी ही सामान्य नियम की ओर संकेत कर बैठते हैं। ऐसे अवसर पर उन्हें कितनी प्रसन्नता होती होगी। इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं, क्योंकि सभी को इसका किसी न किसी अवसर पर कुछ व्यक्तिगत अनुभव होगा। इस विधि में बालक की उत्सुकता प्रारम्भ से अन्त तक बनी रहती है।

अगमन-विधि के प्रयोग के समय उदाहरण देने में शिक्षक को विशेष सतर्क रहने की आवश्यकता है। उपस्थित की हुई वस्तुओं की समानता

1. Retention. 2. Inductive Method.

और भिन्नता की ओर बालकों का ध्यान ठीक-ठीक आकर्षित करना आवश्यक है। सिद्धान्त-निरूपण में कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। समानता और भिन्नता के ही सहारे विशिष्ट से सामान्य की ओर आना होता है। चतुर्भुज का ज्ञान देने में शिक्षक कई चतुर्भुजों का आकार बालकों के सामने रखता है। विभिन्न आकार के चतुर्भुजों में समानता और भिन्नता दोनों हैं। अतः बालक का पथ-प्रदर्शन इस प्रकार करना है कि वे गलत निष्कर्ष पर न पहुँच जाँय।

३—निगमन-विधि[1]

निगमन-विधि अगमन का एकदम उलटा है। अगमन-विधि में हम विशिष्ट से सामान्य की ओर चलते हैं और निगमन में सामान्य से विशिष्ट की ओर चला जाता है। निरूपित सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न बातों की सत्यता की परीक्षा करना निगमन-विधि का काम है। उदाहरणार्थ; पहले बालकों को यह बता दिया जाता है कि एक त्रिभुज के तीनों कोण दो समकोण के बराबर होते हैं। बालक विभिन्न प्रकार के त्रिभुजों के कोणों को नाप कर इस सामान्य नियम की सत्यता पहचान कर तदनुसार और आगे बढ़ते हैं। इस प्रकार समान्य नियम इसमें पहले दिया जाता है। परन्तु सामान्य नियम का पहले देना घोड़े के आगे गाड़ी का रखना है। त्रिभुज का ठीक-ठीक ज्ञान करने के लिए सबसे पहले बालक को एक ही त्रिभुज का समझना आवश्यक है। ऐसा न करने से वह परिभाषा रट कर काम निकालने का प्रयत्न करेगा और उसका मानसिक विकास ठीक न होगा। इस प्रकार निगमन-विधि अमनोवैज्ञानिक मालूम पड़ती है। इसमें बिना उदाहरण दिये बालक कुछ न समझ सकेगा। पर हमें बालक का पथ-प्रदर्शन इस प्रकार करना है कि निष्कर्ष पर वह स्वयं पहुँच जाय। अंकगणित, विज्ञान और ज्यामिति की परिभाषा उसे अपने मानसिक परिश्रम से स्वयं निकालनी चाहिए।

अगमन और निगमन में भेद

—इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अगमन-विधि शिक्षा देने का साधन

---

1. Deductive Method.

है और निगमन-विधि आदेश[1] देने का। अगमन में देरी अवश्य लगती है पर शिक्षा-क्रिया शीघ्र नहीं पूरी हो सकती। मानसिक विकास की गति भी तो धीमी होती है। अतः अगमन-विधि ही सच्ची शिक्षा-विधि है। निगमन में शीघ्रता अवश्य होती है। पर इसमें यह जानना कि बालक किसी विषय को समझते हुए आगे बढ़ रहे हैं कठिन है, क्योंकि बहुत से ऐसे नियम होते हैं जिन्हें बिना स्वयं परीक्षा किये वे नहीं समझ सकते। अगमन 'निगमन' से अधिक स्वाभाविक है, क्योंकि इसमें किसी निर्णय पर पहुँचने के पहले व्यक्ति स्वयं सब कुछ सोच-समझ लेता है। अगमन से आत्मनिर्भरता बढ़ती है और निगमन से दूसरों पर निर्भर रहने की आदत पड़ जाती है।

४—वास्तविक शिक्षण-विधि 'अगमन-निगमन'[2]

उपर्युक्त विवरण से मालूम होता है कि अगमन और निगमन विधियाँ परस्पर-विरोधी हैं। पर बात ऐसी नहीं। वस्तुतः दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं। एक का काम दूसरे के बिना नहीं चल सकता। शिक्षा में केवल एक ही से सफलता नहीं प्राप्त हो सकती। शिक्षक को दोनों विधियों की आवश्यकता होती है। कभी-कभी शिक्षक दोनों विधियों का एक ही साथ प्रयोग करता है। अगमन-विधि के प्रयोग में शिक्षक यह मान लेता है कि अपने पूर्व ज्ञान के आधार पर बालक दिये हुये उदाहरणों को समझ लेगा। इस प्रकार शिक्षक यह कल्पना कर बैठता है कि बालक कुछ साधारण नियमों का ज्ञान रखता है। यह सत्य भी है, क्योंकि जैसा पहले ही कहा जा चुका है कि बालक का मस्तिष्क कोरी पटिया की तरह रिक्त नहीं होता। कुछ उदाहरणों को बालक के सामने रख कर शिक्षक उसे निगमन-विधि के अनुसार कार्य करने को प्रेरित करता है। इस प्रकार जिसे हम अगमन कहते हैं वही बालकों की दृष्टि से निगमन है। इसी प्रकार निगमन विधि के अनुसार शिक्षक जब किसी सिद्धान्त का उल्लेख करता हैं तो बालक उसे अगमन-विधि के अनुसार ही समझता है। इसके

1 Instruction. 2. The real teaching method is Inductive-Deductive.

आधार पर बहुत से शिक्षा-शास्त्रियों का कहना है कि वास्तविक शिक्षण-विधि अगमन और निगमन का मिश्रण है। यदि अगमन-विधि से शिक्षक कोई सिद्धान्त-निरूपण करवाता है तो निगमन-विधि से उसे सिद्धान्त की पुष्टि कराना आवश्यक है। सिद्धान्त-निरूपण पर ही आकर रुक जाना गलत होगा। विशेष उदाहरणों द्वारा बालकों से उसकी परीक्षा कराना उसके बोध के लिए अति आवश्यक है।

५—ह्यूरिस्टिक (अन्वेषण) विधि[1]

"बालकों से कम से कम कहा जाय तो अच्छा है। यथा-सम्भव उन्हें स्वयं अन्वेषण कर सत्य को पहिचानने के लिए प्रेरित करना चाहिए"—ह्यूरिस्टिक विधि की यही माँग है। इस प्रकार ह्यूरिस्टिक विधि अन्वेषण की पद्धति है। यह वही पद्धति है जिसका रूसो ने अपने 'एमील' ग्रन्थ में प्रतिपादन किया है। इस विधि के समर्थकों का कहना है कि इससे बालकों की तार्किक शक्ति का विकास होता है। अतः सबको इसी विधि से पढ़ाना चाहिए; अर्थात् प्रत्येक बालक को अनुसन्धानकर्त्ता अथवा आविष्कारक बना देना है। इस विधि के प्रवर्तन का विशेष श्रेय आर्मस्ट्रॉङ्ग[2] को दिया जाता है। ह्यूरिस्टिक शब्द ग्रीक भाषा के 'ह्यूरिस्टिको' शब्द से निकला है। हयूरिस्टिको का अर्थ "मैं मालूम करता हूँ" होता है। आर्मस्ट्रॉङ्ग का विश्वास है कि सत्य की स्वयं खोज करने में बालक को आनन्द आता है। अतः सत्य का कुछ विवरण देकर उसे खोजने के लिए बालक को उत्साहित करना चाहिए। दिन पर दिन अब स्कूल को ऐसा स्थान माना जाने लगा है जहाँ व्यक्ति वैज्ञानिक विधि से देखना, सोचना और बोलना सीखता है। अतः स्व-शिक्षा[3] का महत्व अब सबकी समझ में पहले से अधिक आने लगा है। बालक में अन्वेषण और आविष्कार की प्रवृत्ति देनी है। हयूरिस्टिक विधि का यही अभिप्राय है। इस विधि से हम कुछ हद तक बालक को उसकी उन्नत्ति के लिए स्वयं उत्तरदायी बना देते हैं। हयूरिस्टिक और अगमन-विधि में काफी समानता दिखलाई पड़ती है।

---

1. Heuristic Method. 2. Armstrong 3. Self-Teaching.

उपर्युक्त विवरण से ह्यूरिस्टिक और विधि मनोवैज्ञानिक प्रतीत होती है। इसका उद्देश्य बालक की जिज्ञासा और विधायकता-मूलप्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना है। बालक स्वभावतः स्फूर्तिपूर्ण होते हैं। अतः इसके अनुकूल भी ह्यूरिस्टिक विधि दिखलाई पड़ती है। पर प्रत्येक बात के लिए बालक को खोजने के लिए प्रेरित करना युक्तिसंगत नहीं। हमारा जीवन इतना छोटा है कि सब कुछ हम स्वयं खोजकर नहीं सीख सकते। दूसरे के परिश्रम का फल हमें स्वीकार करना ही होगा। जो बात सिद्ध की जा चुकी है उसे स्वीकार कर लेना ही उचित है। दूसरे, सभी लोगों में अन्वेषक व आविष्कारक बनने की शक्ति भी नहीं होती। यह शक्ति तो केवल थोड़ों में ही होती है। आविष्कारक का मस्तिष्क परिपक्व रहता है। वह किसी समस्या के सभी पहलू पर सन्तोष-जनक रूप में विचार कर सकता है। बालक का मस्तिष्क अबोध रहता है। वह किसी समस्या को सभी दृष्टिकोण से देखने में समर्थ नहीं हो सकता। जब तक उसके सामने आवश्यक उपकरणों का वैज्ञानिक आयोजन रखकर उसे उचित प्रेरणा न दी जायगी वह कुछ सार्थक करने में सफल न हो सकेगा। यह सत्य है कि प्रत्येक बालक में कुछ मौलिकता होती है, पर वह उसके केवल खेल ही तक सीमित रहती है। यदि सब कुछ बालक पर ही छोड़ दिया जाय तो उतावलेपन में गलत निष्कर्ष पर चले आना उसके लिए कठिन न होगा। पर इसका यह अर्थ नहीं कि ह्यूरिस्टक विधि की उपयोगिता नहीं। उपर्युक्त विवरण का उद्देश्य केवल इतना ही है कि इस विधि को बहुत दूर तक खींच ले जाने में अर्थ का अनर्थ हो जाने का भय है।

वस्तुतः ह्यूरिस्टिक विधि सर्वश्रेष्ठ विधियों में से है। यथासम्भव इसका प्रयोग बड़ा ही लाभदायक सिद्ध होगा। इस विधि का तात्पर्य शिक्षक को यह समझना चाहिए कि किसी समस्या का स्पष्टीकरण यकायक बालकों के सामने नहीं कर देना है। उनकी योग्यतानुसार समस्या का विभिन्न अङ्गों में आवश्यक विभाजन कर उन्हें अगमन-विधि से निराककरण पर पहुँचाना है। इस प्रकार विश्लेषण, अगमन और ह्यूरिस्टक में बड़ी समानता दिखलाई पड़ती है। अगमन और विश्लेषण-विधि में सर्वप्रथम बालकों के

सामने विभिन्न प्रकार के उदाहरण रखे जाते हैं, जिससे सत्य पर वे अपने आप पहुँच जाँय। ऐसा करने में उनके पूर्व ज्ञान और विकास-अवस्था पर पूरा ध्यान रखा जाता है। शिक्षक केवल पथ-प्रदर्शन का काम करता है। ह्यूरिस्टिक-विधि में भी उसकी यही चेष्टा होती है। अतः इन प्रणालियों में परस्पर कोई विरोध नहीं दिखलाई पड़ता।

यदि अपने पूर्व ज्ञान के आधार पर बालकों को कुछ नया ज्ञान सीखना है तो ह्यूरिस्टिक-विधि सहायक हो सकती है। यहाँ ह्यूरिस्टिक विधि और निगमन में मेल दिखलाई पड़ता है। निगमन में ज्ञात सिद्धान्तों के आधार पर कुछ बातों को समझने की चेष्टा की जाती है। नये प्रश्नों को हल करने के लिए बालकों को उनके पूर्व ज्ञान के आधार पर उत्साहित किया जा सकता है। गणित में ऐसे अवसर बहुत आते हैं। कभी-कभी एक ही प्रकार के कई प्रश्नों को बालकों के सामने किया जाता है और इस प्रकार साधारण नियम पर बालकों को स्वतः लाया जाता है। पर यह सदा सम्भव नहीं होता। शिक्षक को कभी-कभी स्वयं नियम बतला देना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार ह्यूरिस्टिक विधि बड़ी लाभदायक प्रतीत होती है और इससे अन्य विधियों से कुछ मेल भी दिखलाई पड़ता है। पर इसे बहुत दूर तक खींचना उतना ही बुद्धिमानी से खाली होगा जितना कि इसे पूरा छोड़ देना। प्रत्येक विषय मे इस विधि का प्रयोग सम्भव नहीं। गणित और विज्ञान में इसका प्रयोग कुछ सम्भव भी है, पर साहित्य, राजनीति और इतिहास आदि विषयों में इसका प्रयोग कैसे किया जाय? कुछ लोगों का मत है कि ऐसे विषयों में इनका प्रयोग नहीं किया जा सकता। पर क्या किसी पद्य के सौन्दर्य का पता लगाना, किसी घटना के फल पर अपने विचार प्रकट करना या किसी घटना के कारणों की खोज करना ह्यूरिस्टिक विधि की ओर संकेत नहीं करता?

आपने ऊपर क्या पढ़ा?

कुछ शिक्षण-सूत्र-वाक्य और विधियाँ

(क) कुछ शिक्षण-सूत्र-वाक्य

शिक्षण में सहायक।

१—सरल से जटिल की ओर

पहले जटिल उपस्थित करने से सफलता की सम्भावना नहीं, सरल और जटिल का निर्णय कठिन।

२—ज्ञात से अज्ञात की ओर

ज्ञात और अज्ञात में सम्बन्ध स्थापित करना।

३—विशिष्ट से सामान्य की ओर

परिणामात्मक प्रणाली का आभास।

४—स्थूल से सूक्ष्म की ओर

सूक्ष्म के समझने योग्य बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य, स्थूल के आधार पर सूक्ष्म का ज्ञान सम्भव

५—विश्लेषण से संश्लेषण की ओर

दोनों का सम्मिश्रण 'विश्लेषण-संश्लेषण' ही ठीक विधि।

६—सम्पूर्ण से अंश की ओर

वह सम्पूर्ण जिसे बालक जानता हो।

७—मनोवैज्ञानिक हो, तार्किक नहीं

'बालक की रुचि' ध्यान और ग्रहण-प्रक्रिया पर ध्यान; मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक विधि एक दूसरे पर निर्भर।

(ख) कुछ शिक्षण विधियाँ

१—सुकराती विधि

जबर्दस्ती ज्ञान देना व्यर्थ।

प्रश्नों के आधार पर व्यक्ति के ज्ञान को सुव्यवस्थित करना। ज्ञान इस प्रकार देना कि वह बाहर से आया न ज्ञात हो। छात्र में जिज्ञासा जगा देना।

सुकराती-विधि का बहुत प्रयोग।

२—अगमन विधि

उदाहरण द्वारा सिद्धान्त का निरूपण करना, बालक की उत्सुकता जीवित।

उदाहरण देने में विशेष सतर्कता।

३—निगमन-विधि

सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न बातों की परीक्षा करना।

अगमान और निगमन में भेद

अगमन शिक्षा के लिए और निगमन आदेश लिए।

४—वास्तविक शिक्षण-विधि 'अगमन-निगमन'

दोनों एक दूसरे पर निर्भर, दोनों विधियों की आवश्यकता।

५—ह्यूरिस्टिक विधि

स्वयं अन्वेषण के लिए बालक को प्रेरित करना।

जिज्ञासा और विधायकता-मूलप्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना, बालक सब कुछ स्वयं नहीं खोज सकता, इस विधि को बहुत दूर तक न खींचना।

अगमन-विधि से निराकरण पर पहुँचाना।

ह्यूरिस्टिक विधि का अन्य विधियों से मेल, प्रत्येक विषय में इसका प्रयोग सरल नहीं।

सहायक पुस्तकें

१—टी० रेमान्ट—द प्रिन्सीपुल्स ऑव् एडूकेशन, अध्याय ८।
२—जे० वेल्टन—लॉजीकल बेसिस ऑव् एडूकेशन।
३—स्पेन्सर—एडूकेशन।
४—सली—टीचर्स हैण्डबुक ऑव् साइकॉलॉजी।
५—डीवी—द स्कूल ऐण्ड सोसाइटी।

६—एच० एस० पौरा—द साइकॉलॉजी ऑव् लर्निङ्ग ऐण्ड टीचिङ्ग ।
७—ए० डी० उडरफ—द साइकॉलॉजी ऑव् टीचिङ्ग ।
८—डब्लू० एम० राइबर्न—द प्रिन्सीपुल्स ऑव् टीचिङ्ग, अध्याय २ ।
९—सहाय, राबर्टसन ऐण्ड जॉग—द साइन्स एण्ड आर्ट ऑव् टीचिङ्ग
अध्याय, ४, ५ ।

२९

प्रश्न और उत्तर[1]

(क) प्रश्न

१—कुछ साधारण बातें

बालकों में जिज्ञासा मूलप्रवृत्ति विशेषतः उग्र अवस्था में रहती है। अतः वे प्रश्न बहुत पूछा करते हैं। प्रश्न के ही आधार पर वे वातावरण पर कुछ नियन्त्रण प्राप्त कर अपना मानसिक विकास करते हैं। स्कूल में आने की अवस्था प्राप्त करने के पहले भी वे बहुत से प्रश्न किया करते हैं। स्कूल में आने के समय उनके प्रश्नों की मात्रा कुछ कम हो हो जाती है, क्योंकि उस काल तक उनका मानसिक विकास वातावरण की साधारण वस्तुओं के समझने योग्य हो जाता है। तथापि प्रश्न पूछने की प्रवृत्ति उनमें होती ही है। वे प्रश्न पूछना चाहते हैं; पर स्कूल वातावरण की कृत्रिमता उनकी इस इच्छा-पूर्ति में बाधक होती है। इसी लिए तो बालक घर में अपने माता-पिता और भाई-बहिन से अधिक प्रश्न पूछते हैं। स्कूल में प्रश्न पूछने की इच्छा रखते हुए भी डर वश वे चुप रहते हैं। गत पृष्ठों में हम कई बार कह चुके हैं कि स्कूल का वातावरण कृत्रिम न हो। कृत्रिमता बालकों के मानसिक विकास में बाधक होती है, क्योंकि इससे प्रश्न पूछ कर अपनी जिज्ञासा प्रवृत्ति को वे तृप्त नहीं कर पाते। स्पष्ट है कि उनकी शिक्षा अथवा विकास-क्रम में "प्रश्न" का बड़ा भारी महत्त्व है।

1. Questions and Answers.

जिस शिक्षक की कक्षा में जितने ही अधिक प्रश्न किये जाते हैं उसका अध्यापन उतना ही सफल मानना चाहिए। योग्य शिक्षक प्रश्न पूछने के लिए बालकों को उत्साहित करता है। वह बीच-बीच में रुककर विद्यार्थियों को प्रश्न पूछने को प्रेरित करता है। यह ठीक-ठीक कहना कठिन है कि उनके प्रश्नों का किस रूप में उत्तर देना चाहिये। यह तो वैयक्तिक प्रश्नों की कोटि पर ही निर्भर करेगा। कुछ प्रश्न मूर्खतापूर्ण हो सकते हैं और बालकों को उनके प्रश्नों की गलतियों की ओर संकेत कर देना उचित होगा। कुछ प्रश्नों में विचारहीनता दिखलाई पड़ती है। ऐसे प्रश्नों का उत्तर स्वयं प्रश्नकर्ता से ही पूछना चाहिये, जिससे उसे अपनी गलती का पता लग जाय। कुछ प्रश्नों से ऐसा पता चल सकता है कि बालकों ने पाठ को एकदम समझा ही नहीं है। ऐसी दशा में पाठ को फिर से दोहराना आवश्यक होगा। यदि किसी प्रश्न के उत्तर में सारी कक्षा की रुचि न हो तो उसका उत्तर अलग ही देना चाहिए, जिससे कुछ के लिए सबका समय नष्ट न हो। कुछ प्रश्न आगे आने वाली बात की ओर संकेत कर सकते हैं। ऐसे प्रश्नकर्ता की प्रशंसा अवश्य कर देनी चाहिये, परन्तु उत्तर प्रसंग आने पर ही देना चाहिये। कुछ प्रश्नों का उत्तर प्रश्नकर्ता से दो-तीन प्रश्न पूछ लेने पर ही निकल आता है। इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि बालकों की शंका का समाधान यथासम्भव शीघ्र ही करना चाहिये।

जब बालकों को जिज्ञासा का सहानुभूतिपूर्वक निराकरण नहीं होता तो वे प्रश्न पूछने में डरने लगते हैं। अतः शिक्षक को इस विषय में बड़ी सतर्कता दिखलानी है, जिससे बालकों की जिज्ञासा कुण्ठित न हो जाय। बहुत सम्भव है कि शिक्षक बालक के किसी प्रश्न का उत्तर न दे पावे। ऐसे अवसर पर स्पष्ट शब्दों में अपनी असमर्थता प्रकट कर देना ही उचित है। टाल-मटोल अथवा गलत उत्तर देना अक्षम्य अपराध है। इस ओर हम ऊपर भी संकेत कर चुके हैं। जो शिक्षक बालकों को प्रश्न करने के लिए उत्साहित करते हैं उन्हें अवश्य ही कुछ ऐसे प्रश्नों का सामना करना पड़ेगा जिनका उत्तर अवसर पर तत्परता से देना कठिन

हो सकता है। ऐसे समय शिक्षकों का घबड़ाना ठीक नहीं। ऐसे प्रश्नों में सच्ची रुचि दिखलाकर शिक्षकों को उन्हें लिखकर दूसरे दिन उनका ठीक उत्तर देने का प्रयत्न करना चाहिए। कुछ प्रश्न ऐसे भी हो सकते हैं जिनका पूरा उत्तर बालकों की समझ में ही नहीं आ सकता। ऐसे प्रश्नों का उतना ही उत्तर देना चाहिए जितना कि वे समझ सकें। शेष को आगामी पाठ में सम्मिलित कर लेना मनोवैज्ञानिक होगा।[1]

बालकों के प्रश्न-प्रकार का हम संक्षेप में विवेचन कर चुके। अध्यापन में शिक्षकों को भी प्रश्न पूछने पड़ते हैं और इन प्रश्नों का बालकों के प्रश्न से कम महत्व नहीं। अध्यापन की सफलता शिक्षक के प्रश्न पूछने की कला पर बहुत हद तक निर्भर है, क्योंकि सभी अध्यापन-प्रणालियों में प्रश्न का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण होता है। प्रश्न की अनेक उपयोगितायें हैं। पर ठीक-ठीक उनका यहाँ विवरण देना सरल नहीं। तथापि उनकी उपयोगिताओं का संक्षेप में हम नीचे उल्लेख करते हैं :—

२—प्रश्न करने के उद्देश्य

१—विद्यार्थियों की सफलता का अनुमान लगाना।
२—उन्हें आगे के लिये आवश्यक प्रेरणा देना।
३—यह जानना कि दिये हुए काम को वे कहाँ तक कर सके हैं।
४—वैयक्तिक कमजोरियों का पता लगाना।
५—अभ्यास देना।
६—कल्पना-शक्ति का विकास करना।
७—बालकों की रुचियों का पता लगाना।

उपर्युक्त उद्देश्यों को दृष्टि में रख कर यह कहा जा सकता है कि प्रश्न करने की एक कला होती है और सफल शिक्षक होने के लिए उस कला का सीखना आवश्यक है। शिक्षक को यह जानना चाहिए कि प्रश्न करने में किन-किन बातों पर ध्यान अपेक्षित है। इन्हीं सब बातों पर नीचे

1. Hughes—*Learning and Teaching*, Chap. 19.

सूत्र-रूप में संकेत किया जा रहा है, क्योंकि उनके विस्तृत व्याख्या की विशेष आवश्यकता नहीं।

३—अच्छे प्रश्नों के लक्षण

१—प्रश्न पाठ के उद्देश्य के अनुसार होने चाहिए। शिक्षक को भी अपने उद्देश्य का ठीक-ठीक पता होना चाहिए। प्रश्न ऐसे हों कि वे एक निश्चित उद्देश्य की ओर संकेत करें।

२—प्रश्न ऐसे हों कि पाठ्य-ज्ञान विद्यार्थियों से ही निकल आवे और शिक्षक उपदेशक न होकर पथ-प्रदर्शक ही बना रहे।

३—जिन प्रश्नों से कल्पना-विकास में सहायता नहीं मिलती वे निम्नकोटि के होते हैं। जिन प्रश्नों से छात्रों में चेतना और एकाग्रता आती है वे ही प्रश्न अच्छे होते हैं।

४—प्रश्न की शब्दावली, सरल, स्पष्ट और निश्चित हो। कम अनुभवी शिक्षक व्यर्थ के लम्बे-लम्बे प्रश्न पूछा करते हैं। उदाहरणार्थ "*तुम लोगों में से कौन बता सकता है कि* पानीपत की लड़ाई किन-किन में हुई" "*हाँ तो अब कह जाओ* कि वह कैसे विजयी हुआ?" "*क्या तुम्हें मालूम है कि* ओस क्यों पड़ती है?"—ऐसे शब्दावलियों के प्रश्नों का पूछना समय नष्ट करना है। इन प्रश्नों में तिरछे अंश एकदम व्यर्थ हैं।

५—प्रश्न बालकों के अनुभव और योग्यता के अनुसार हों। कभी-कभी कुछ कठिन प्रश्न भी विद्यार्थियों से पूछे जा सकते हैं, यदि उनके उत्तर सभी विद्यार्थियों की समझ में आ जाँय। इस प्रकार कुशाग्र-बुद्धि बालकों की विचार-शक्ति का कमजोर भी कुछ लाभ उठा सकेंगे। कमजोर विद्यार्थियों से अत्यन्त कठिन प्रश्न पूछना समय का खोना है।

६—प्रश्नों की भाषा में भिन्नता का होना आवश्यक है।

७—प्रश्न ऐसे हों कि उनका एक ही उत्तर हो, क्योंकि ऐसे प्रश्नों के उत्तर देने में बालकों को कठिनाई नहीं होती। एक उत्तर के अनुपयुक्त होने पर तुरन्त ही वे दूसरा उत्तर दे देते हैं:—जैसे "स्टेशन पर हम क्या

देखते हैं"—इस प्रश्न के कई उत्तर हो सकते हैं। प्रश्नों का एक ही विचार से सम्बन्ध होना आवश्यक है। जिस प्रश्न के बड़े लम्बे उत्तर होते हैं उनके उत्तर में बालक रुचि नहीं लेते। जिन प्रश्नों के लम्बे उत्तर अपेक्षित हों उन्हें कई भागों में बाँट देना मनोवैज्ञानिक होगा।

८—प्रश्न की शब्दावली पाठ्य-पुस्तकों की न हो, अन्यथा बालक भी अपने वाक्यों का प्रयोग न कर पुस्तक के ही शब्दों को याद कर उत्तर देने की चेष्टा करेगा। ऐसी स्थिति में यह जानना कठिन हो जायगा कि उसने प्रस्तुत विषय को समझा है या नहीं। अतः शिक्षक को अपनी ही भाषा में प्रश्नों को पूछना चाहिए। इससे बालक भी अपने वाक्यों में उत्तर देने का प्रयत्न करेंगे।

९—जिन प्रश्नों के उत्तर "हाँ" या "नहीं" में आ जाते हैं उन्हें पूछना ठीक नहीं, क्योंकि उनसे विचार-शक्ति के विकास में सहायता नहीं मिलती; जैसे, क्या सिनेमा देखना अच्छा है ?

पर कभी-कभी यह देखा जाता है कि ऐसे प्रश्नों के पूछने की आवश्यकता हो जाती है। स्वीकृति मात्र के लिए जो प्रश्न पूछे जाते हैं उनके उत्तर "हाँ" या "नहीं" में ही आते हैं। किसी विषय का वर्णन करते समय बीच में कभी-कभी स्वीकृति लेने के लिए ऐसे प्रश्न पूछने पड़ते हैं। पर यदि गम्भीरतापूर्वक सोचने के बाद ही 'हाँ' या 'नहीं' उत्तर आता है तो ऐसे प्रश्नों का पूछना अमनोवैज्ञानिक नहीं। कभी-कभी बालकों में कुतूहल जाग्रत करने अथवा उन्हें सोचने को विवश करने के लिए भी ऐसे प्रश्न पूछे जा सकते हैं।

१०—अध्यापक को प्रत्येक बात को साधिकार कहने की चेष्टा करनी चाहिये। उसे छात्रों के समर्थन की अपेक्षा न होनी चाहिये। जो ऐसी आशा करते हैं वे सफल शिक्षक नहीं होते। छात्रों से कुछ कहने के बाद "ठीक है न, है न !" आदि पूछना ठीक नहीं।

११—सभी प्रश्नों का एक दूसरे से सम्बन्ध होना चाहिये। ऐसा न होने से शिक्षा का उद्देश्य नष्ट हो जाता है। परन्तु ऐसा तभी सम्भव है

जब प्रश्नों में सार्थकता हो। पूर्व ज्ञान की परीक्षा में छात्रों से छुटपुट प्रश्न भी पूछे जा सकते हैं ऐसे प्रश्नों में परस्पर-सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं।

१२—प्रश्न पूछने का स्वर बहुत मीठा हो। घुड़क कर बहुत कर्कश ध्वनि में प्रश्न पूछना ठीक नहीं। प्रसन्न मुद्रा से प्रश्न पूछने से बालकों में उत्साह बढ़ता है और वे अपनी कठिनाइयाँ शिक्षकों के सामने रखने में हिचकते नहीं।

१३—प्रश्न पूरी कक्षा से पूछने के बाद किसी बालक को उत्तर के लिए सम्बोधित करना चाहिए। प्रश्नों का वितरण ऐसा हो कि यथासम्भव अधिक से अधिक बालकों को उत्तर देने का अवसर मिल सके। तेज बालक से ही बार-बार प्रश्न पूँछ कर कमजोर की अवहेलना करना अनुचित है। वस्तुतः शिक्षक की सफलता तो कमजोर बालक से उत्तर निकलवाने में है। उत्तर जानने वाले छात्रों से हाथ उठाने का आदेश दिया जा सकता है। इससे उनमें कुछ क्रियाशीलता आ जाती है।

१४—प्रश्नों को दोहराना ठीक नहीं। उन्हें दोहराने से बालकों में पहली बार ध्यान से न सुनने की आदत पड़ जाती है, और इससे कुछ बालकों की विचार-प्रक्रिया में भी विघ्न पड़ता है।

४—प्रश्नों के प्रकार[1]

प्रश्नों के उद्देश्य और उनके करने की विधि का विवेचन कर लेने पर उनके प्रकार पर दृष्टिपात करना समीचीन होगा। प्रश्नों का वर्गीकरण उनके उद्देश्य तथा उनसे सम्बन्धित मानसिक-प्रक्रिया के आधार पर किया जा सकता है। इस तरह का वर्गीकरण ठीक दिखलाई पड़ता है, क्योंकि जो प्रश्न अभ्यासात्मक होंगे उन्हें विचारात्मक कहना उपयुक्त न होगा। अभ्यासात्मक प्रश्नों में तो विशेषकर स्मृति की परीक्षा होती है। शिक्षण के विषय को रोचक बनाने के लिए कई प्रकार के प्रश्न पूछने चाहिए। अतः प्रश्नों के प्रकार का पता लगाना आवश्यक है।

रिस्क[2] के अनुसार स्वरूप की दृष्टि से प्रश्नों के दो प्रकार हो

1. Kinds of Questions, 2. Risk.

सकते हैं :—(१) स्मृत्यात्मक[1] और (२) विचारात्मक[2]। स्मृत्यात्मक प्रश्नों में पिछली याद की हुई बातों को दोहराना होता है, पर विचारात्मक प्रश्नों में उपस्थित विषय पर अपनी कल्पना द्वारा किसी नई बात का सृजन करके उत्तर देना पड़ता है। इनका उद्देश्य कल्पना-शक्ति को जागृत करना होता है। कभी-कभी बालकों के सामने एक नई समस्या रख दी जाती है। इससे यह जाना जाता है कि पठित वस्तु को अच्छी प्रकार समझकर छात्रों ने उस पर विचार किया है कि नहीं अथवा उसका वे प्रयोग कर सकते हैं या नहीं। नीचे कुछ प्रश्नों का उदाहरण दिया जाता है :—

(१) कारण पूछने वाले प्रश्न[3]

१—चन्द्रग्रहण किसी अन्य तिथि को न लगकर पूर्णिमा के ही दिन क्यों लगता है ?

२—पानीपत की पहली लड़ाई में हिन्दुओं की क्यों हार हुई ?

३—तुलसीदासजी ने भरत के लिए क्यों कहा है कि—"भरत महा महिमा जल रासी, मुनि मत ठाढ़ि तीर अबलासी"।

४—पद्य गद्य से क्यों अधिक प्रभावशाली होता है।

५—मोड़ पर रेल की पटरियाँ एक दूसरे से ऊँची-नीची क्यों रखी जाती हैं।

(२) सम्बन्ध बतलाने वाले[4]

१—भोजन का स्वास्थ्य से क्या सम्बन्ध है ?

२—विज्ञान के अध्ययन में गणित की अधिक आवश्यकता क्यों पड़ती है ?

(३) निर्णयात्मक[5]

१—भगतसिंह और सुभाषचन्द्र बोस में तुम किसको अधिक प्यार करते हो ?

---

1. Pertaining to memory. 2. Pertaining to thought. 3. Questions eliciting causes. 4. Relationship. 5. Decision.

२—लिखित और मौखिक परीक्षा में तुम्हें अधिक अच्छी कौन लगती है ?

(४) **विश्लेषणात्मक**[1]

१—किन-किन गुणों के कारण तुलसीदास हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं।

(५) **तुलनात्मक**[2]

१—अशोक और अकबर की शासक की दृष्टि से तुलना करो।

(६) **वर्गीकरणात्मक**[3]

१—चमगादड़ पशु है कि पक्षी ?

(७) **वर्णनात्मक**[4]

१—महात्मा गांधी की अहिंसा नीति की व्याख्या करो।

२—भक्ति-काल के कवियों की प्रधान विशेषताओं की ओर संकेत करो।

(८) **आलोचनात्मक**[5]

किसी पद्य अथवा गद्य खण्ड या किसी छात्र के कथन की आलोचना के लिए कहना।

(९) **विवेचनात्मक**[6]

इन प्रश्नों का उद्देश्य मस्तिष्क को कुशल बनाने का है। इससे विचार-शैली के व्यवस्थित और नियमित होने में बड़ा योग मिलता है। इससे छात्रों में उचित-अनुचित, शुद्ध-अशुद्ध का सतर्क निर्णय करने की शक्ति उत्पन्न होती है। ऐसे प्रश्नों से बालक स्वयं कल्पना और तुलना करके परिणाम निकालता है, और अपने विचारों को इस प्रकार अङ्कित करने का प्रयत्न करता है कि लोगों पर उसकी शैली का वांछित प्रभाव

---

1. Analytic. 2. Comparison. 3. Classification. 4. Description. 5. Criticism. 6. Developing.

पड़े। ऐसे प्रश्नों की रचना शिक्षक को ऐसी सतर्कता से करनी चाहिए कि बालकों को खूब सोचना पड़े। उदाहरणार्थ;

१—बिजली से मनुष्य को अधिक लाभ या हानि हुई है ?

२—भौगोलिक दृष्टि से इङ्गलैण्ड और जापान की तुलना करो।

(१०) आवृत्यात्मक[1]

ऐसे प्रश्नों में, जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, स्मृति की परीक्षा होती है। इससे पठित पाठ की परीक्षा की जाती है। उदाहरणार्थ;

१—किसी स्थान का जलवायु किन-किन बातों पर निर्भर करता है ?

२—सन् १८५७ के ई० स्वतंत्रता संग्राम के क्या-क्या कारण थे ?

३—गाने की कितनी शैलियाँ हैं ?

(११) प्रस्तावनात्मक[2]

ऐसे प्रश्नों से पूर्व-ज्ञान की परीक्षा कर यह जानने का प्रयत्न किया जाता है कि विद्यार्थी आगे पढ़ने के लिए तैयार है अथवा नहीं। ऐसे प्रश्नों का क्रमिक होना आवश्यक है। ऐसा मालूम हो कि एक प्रश्न दूसरे से निकल रहा है।

(ख) उत्तर

१—उत्तर निकलवाना

जिस प्रकार प्रश्न करने की एक कला होती है वैसे ही उसी से सम्बन्धित उत्तर निकलवाने की भी एक कला मान ली जाय तो अनुपयुक्त न होगा। ट्रेनिङ्ग कॉलेज के विद्यार्थी कभी-कभी बड़ी-बड़ी आशायें लेकर पढ़ाने जाते हैं, पर जहाँ उनका मनचाहा उत्तर न आया, या गलत उत्तर आया तो उनका सारा मनसौदा बिगड़ जाता है और उनके मुख पर असफलता की रेखा स्पष्ट खिंच जाती है। ऐसी स्थिति में वे किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। कभी-कभी छात्रों से ऐसे उत्तर आते हैं कि शिक्षक हतबुद्धि सा हो जाता है। एक प्रसंग का उल्लेख यहाँ कर देना असंगत न होगा।

1. Revisional. 2. Preparatory.

एक छात्राध्यापक महोदय 'शेर और खरगोश' की कहनी पढ़ाने के लिए एक चित्र कक्षा में ले गये। उनके पूछने पर कि 'यह किसका चित्र है ?" लड़कों ने कहा "आपका"। ऐसे उत्तर पर अध्यापक की मुद्रा ऐसी बिगड़ी कि सभी लड़के हँस पड़े और उनका उस दिन का पाठ चौपट हो गया। परिस्थिति को सँभालने के लिये हँसमुख मुद्रा और धैर्य के साथ शिक्षक को दुबारा पूछना चाहिये था कि "इसमें किन-किन जानवरों का चित्र है" ?, "अथवा इसमें तुम किसका चित्र देखते हो" यदि ऐसे ही अवसरों पर शिक्षक सावधानी और धीरता दिखलाए तो बालकों के उदण्ड उत्तर को भी किसी न किसी प्रकार वह एक व्यवस्थित ढंग पर ला सकता है। हाँ, यह सत्य है कि उत्तर देना बालकों के अधीन है। पर शिक्षक के कौशल का प्रमाण यह है कि छात्रों के उत्तर से वह अपना अभीष्ट सिद्ध करे। यहाँ शिक्षक में अधिक चतुरता अपेक्षित है। स्पष्ट है कि प्रश्न करने से उत्तर निकलवाने की कला कम महत्त्वपूर्ण नहीं, यद्यपि उत्तर प्रश्न पर ही अवलम्बित होता है।

हम ऊपर कह आये हैं कि प्रश्न पूरी कक्षा से पूछ कर एक लड़के को उसके उत्तर के लिए सम्बोधित करना चाहिए। पर वह एक लड़का कौन हो ? इसका निर्णय किस आधार पर किया जाय ? प्रश्न करने पर कभी-कभी बहुत से छात्र उत्तर देने के लिये उत्सुक हो जाते हैं। उनकी यह उत्सुकता विनय-व्यवस्था में भी गड़बड़ी मचा देती है। कुछ लड़के बिना पूछे ही एक साथ उत्तर दे बैठते हैं। कुछ हाथ ऊपर उठाकर इस प्रकार हिलाने लगते हैं कि बहुत ही बुरा लगता है। यह आवश्यक नहीं कि उत्सुक दीखने वाले छात्र से ही उत्तर लिया जाय और दूसरों की अवहेलना की जाय। यथासम्भव प्रत्येक को अवसर देना चाहिए। अच्छा होगा कि शिक्षक कक्षा को पार्श्वों में बाँट ले और बारी-बारी से लड़कों से प्रश्न करे। उत्तर लेने के लोभ में तेज बालकों से ही प्रश्न पूछते रहना बड़ा ही अमनोवैज्ञानिक है। इससे अन्य छात्र उदास हो जाते हैं और कुछ ऊँघने भी लगते हैं। अतः प्रश्नों का वितरण ऐसा हो कि यथासम्भव प्रत्येक छात्र में क्रियाशीलता आ जाय।

यदि छात्र बहुत कमजोर हुआ तो उसे दूसरों द्वारा दिये हुये ठीक उत्तर को ही दोहराने के लिए कहना चाहिए। यदि उत्तर देने में कुछ गलती हो रही हो तो छात्र को डाँटकर बैठा देना अमनोवैज्ञानिक होगा। ऐसे समय शिक्षक को बीच-बीच में सहानुभूतिपूर्वक कुछ सहारा दे देना चाहिए, अर्थात् बीच-बीच में आवश्यक शब्द उसे कह देना चाहिए। यदि उत्तर का कुछ भी अंश ठीक हो तो उसके लिए छात्र की थोड़ी प्रशंसा अवश्य दे देनी चाहिए। पर प्रशंसा ऐसी न हो कि वह अपनी योग्यता का गलत अनुमान लगा ले।

बार-बार शाबाशी देने की सकुनतक्रिया भी बड़ी बुरी लगती है। शिक्षक को बारी-बारी से इस प्रकार प्रश्न पूछने चाहिए कि सारी कक्षा उसके प्रभाव से आक्रान्त रहे। यदि पहली बार किसी आगे बैठे हुए छात्र से प्रश्न किया जाता है तो दूसरी बार किसी कोने या बीच में बैठे हुए छात्र से पूछना ठीक होगा। प्रश्न पूछ लेने के बाद तुरन्त उत्तर की अपेक्षा न करनी चाहिए। छात्रों को उत्तर सोचने के लिए कुछ समय देना आवश्यक है। कुछ शिक्षक प्रश्न पूछने के बाद "तुम बताओ" इतने झटके से कहते हैं कि लड़का चौंक उठता है। प्रश्न का उत्तर बड़ी सरलता से माँगना चाहिए। तर्जनी अंगुली से इंगित करते हुये नाम पुकार कर प्रश्न करना बड़ा मनोवैज्ञानिक है। अपना नाम सबको बड़ा प्यारा होता है। जब छात्र शिक्षक के मुख से अपना नाम सुनते हैं तो वे बड़े प्रसन्न होते हैं। वे इस बात की गुरुता अनुभव करते हैं कि "मास्टर साहब को मेरा भी नाम याद है।" इसलिए शिक्षकों को अपने छात्रों का नाम अवश्य याद कर लेना चाहिए। छात्रों को नाम लेकर पुकारने से विनय-स्थापन में भी कुछ सहायता मिलती है।

बहुधा देखा जाता है कि बहुत से शिक्षक महोदय बालक का नाम जानते हुए भी इस बात का अभिनय करते हैं कि मानो वे उसके नाम से अनभिज्ञ हैं, ऐसा करने में वे एक प्रकार का बड़प्पन अनुभव करने का थोथा प्रयास करते हैं और ऐसी मुख-मुद्रा बनाते हैं मानो बालक का नाम लेना उनके महत्व और गौरव के प्रतिकूल है और उससे अनभिज्ञता

प्रकट करना किसी ऊँचे पदाधिकारी की सी गम्भीरता और महत्ता रखता है। वास्तव में शिक्षक को न केवल नाम ही जानना चाहिए, अपितु बालक के विषय में सम्पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। शिक्षक के द्वारा किसी प्रकार का कृत्रिम दम्भ करना बालक को मार्मिक आघात पहुँचा सकता है और उसकी जान-बूझ कर की गई अवहेलना के समकक्ष है, तथा उसके व्यक्तित्व की अस्वीकृति और निरादर है। शिक्षक को यह ध्यान रहे कि निर्देशक[1] अथवा रोलर से प्रश्न पूछते समय बालकों की ओर संकेत करना अच्छा नहीं। इससे छोटे-छोटे बालक दण्ड पाने के लिए भय से आती हुई बात भी भूल जाते हैं, और बड़े छात्रों को भी यह बहुत ही बुरा लगता है, क्योंकि इसमें कुछ अनादर का भाव छिपा रहता है।

सम्बोधित करते समय छात्रों को 'तुम' ही का प्रयोग करना चाहिए। इसका यह तात्पर्य नहीं कि उन्हें अनादर की दृष्टि से देखना चाहिए। "आप" शब्द के प्रयोग से छात्रों के मन में शिक्षक के दब्बूपन की भावना आ जाती है और कभी-कभी वे शिक्षक के सर पर चढ़ने के लिये तैयार हो जाते हैं। यही कारण है कि "आप" कह कर सम्बोधित करने वाले अध्यापक की कक्षा में बहुधा विनय-व्यवस्था ढीली दिखलाई पड़ती है। 'तुम' शब्द के प्रयोग में आत्मीयता झलकती है। इसीलिये तो माँ को बहुधा तुम ही कह कर सम्बोधित किया जाता है।

शिक्षक को ध्यान रहे कि प्रश्न पूछने पर सम्बोधित विद्यार्थी अपने स्थान पर शीघ्र खड़ा होकर उत्तर के लिये तैयार हो जाय। बड़े विद्यार्थियों की कक्षा में इसमें बड़ा आलस्य दिखलाई पड़ता है। कुछ लड़के अँगड़ाइयाँ लेते हुये उठते हैं। कुछ इतने टेढ़े खड़े होते हैं कि अष्टावक्र का चित्र सा खिच जाता है। कुछ मेज पर झुक कर खड़े होते हैं। कुछ बेंच पर एक पैर रखकर खड़े होते हैं। खड़े होने के इन सब आसनों[2] और उत्तर देने की क्रिया में घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि हमारे शरीर से तत्परता की मुद्रा नहीं झलकती तो किसी काम में हमारा मन एकाग्र

1. Pointer. 2. Postures.

नहीं हो सकता। इसलिये यह आवश्यक है कि उत्तर देते समय छात्र ठीक से खड़े हों। छात्रों का उत्तर देने के समय ठीक से खड़ा होना विनय-व्यवस्था के ही अन्तर्गत आता है। छोटे विद्यार्थियों की कक्षा के नन्हें-नन्हें बालक तत्परता से 'सावधान' के आसन में सैनिकों की तरह खड़े होने में बड़ा आनन्द लेते हैं। अतः ऐसे विद्यार्थियों को तो विशेषतः सैनिकों की भाँति खड़े होने की शिक्षा देनी चाहिए।

शिक्षक को यह समझ लेना चाहिए कि जिस विद्यार्थी को प्रश्न का उत्तर नहीं आता वह बड़ी ढ़िलाई से खड़ा होता है। ऐसे विद्यार्थियों पर प्रारम्भ में ही बहुत समय नष्ट कर देना ठीक नहीं होगा। यदि उत्तर देने में बालक बिलकुल असमर्थ हो तो शिक्षक को दूसरे से उत्तर माँगना चाहिए। असफल विद्यार्थियों को बैठने की आज्ञा ठीक उत्तर की आवृत्ति कर लेने के बाद ही देनी चाहिए। यदि कोई बालक औसत से बहुत नीचे हुआ और किसी उत्तर के दोहराने में निरा असफल होता हो तो उसे कक्षा के बाहर ही आवश्यक बात समझा देनी चाहिए। यह ध्यान रहे कि किसी न किसी प्रकार उसके प्रति भी सहानुभूति दिखलानी आवश्यक है। जो शिक्षक यथाशक्ति प्रत्येक के आवश्यकतानुसार सहानुभूति दिखलाने की चेष्टा करता है वह बालकों में बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता है।

उत्तर न मिलने पर किसी छात्र को डाँटना और फटकारना बड़ा अमनोवैज्ञानिक है। कुछ शिक्षक तो बड़े-बड़े विशेषण तक दे जाते हैं। इसकी जितनी निन्दा की जाय थोड़ी है। हम ऊपर बार-बार कह चुके हैं कि बालकों के विकास में बड़ों की सहानुभूति बड़ी सहायक होती है। शिक्षक की सहानुभूति न पाने पर बालक अपने को निरा निकम्मा समझने लगता है और उसका विकास कठिन हो जाता है।

यह प्रश्न विचारणीय है कि प्रश्न का उत्तर पूरे वाक्य में ही स्वीकार किया जाय या कुछ शब्दों में भी। कुछ लोग पूरे वाक्य का ही समर्थन करते हैं। पर यह सदा ठीक नहीं। यदि कुछ ही शब्दों से प्रश्न का पूरा उत्तर निकल आता है तो पूरा वाक्य बोलने के लिये बालक को बाध्य

करना आवश्यक नहीं। भूगोल, इतिहास, विज्ञान, मातृभाषा तथा गणित आदि जैसे पाठों में यह नियम मान लेने में कोई हानि नहीं। पर यदि पाठ का उद्देश्य भाषा-शक्ति का विकास करना हो तो पूरा वाक्य बोलने के लिए बालक को उत्साहित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ; अंग्रेजी जैसी विदेशी भाषा अथवा संस्कृत के पाठ में विशेषतः पूरे वाक्य में ही उत्तर माँगना बुरा न होगा। परन्तु इन पाठों में भी कहीं-कहीं प्रसंगानुसार छूट देनी आवश्यक हो सकती है।

२—उत्तर का रूप कैसा हो ?

अब हमें यह देखना चाहिये कि उत्तर किस रूप में स्वीकार किया जाय। शिक्षा-शास्त्रियों ने आदर्श उत्तर के निम्नलिखित गुणों की ओर संकेत किया है :—

१—व्याकरण और भाषा की दृष्टि से शुद्ध[1]
२—उचित[2]
३—प्रासंगिक[3]
४—तार्किक[4]
५—सार्थक[5]
६—आवश्यक[6]

यद्यपि यह सब गुण इतने स्पष्ट हैं कि इनकी व्याख्या आवश्यक नहीं, पर नीचे कुछ उदाहरणों का दे देना अप्रासंगिक न होगा।

शिक्षक का यह समझना ठीक नहीं कि भाषा की शुद्धता पर ध्यान केवल भाषा तथा साहित्य के पाठ में ही देना चाहिए। गणित, विज्ञान, भूगोल तथा इतिहास आदि सभी प्रकार के पाठों में भी भाषा की शुद्धता पर ध्यान देना आवश्यक है। भाषा ही एक ऐसा साधन है जिससे व्यक्ति अपने भावों का प्रकाशन करता है। इस साधन के अभाव में विषय-ज्ञान रखता हुआ भी व्यक्ति कुछ कहने में असमर्थ होता है। इसी साधन के सहारे प्रत्येक विषय में पुस्तकों की रचना की जाती है। प्रायः सभी का

---

1. Grammatically Correct. 2. Proper. 3. Relevant. 4. Logical. 5. Meaningful. 6. Necessary.

यह अनुभव होगा कि भाषा-शक्ति के सहारे साधारण सी बात का भी इस प्रकार वर्णन किया जाता है कि मुख से बरबस "वाह ! वाह !" निकल पड़ता है। भाषा की शुद्धि में केवल व्याकरण-सम्बन्धी ही गलतियों पर ध्यान देना अपेक्षित नहीं। यह भी ध्यान देना आवश्यक होगा कि बालक प्रधानतः एक ही भाषा का प्रयोग कर रहा है। हिन्दी और अँग्रेजी की खिचड़ी भाषा का प्रयोग करना अथवा तत्सम संस्कृत और फारसी के शब्दों का प्रयोग करना ठीक नहीं। ऐसी गड़बड़ी प्रायः हिन्दी-भाषी विद्यार्थियों में अधिक होती है; क्योंकि अभी सर्वमान्य रूप से यह निश्चित नहीं किया जा सका कि हिन्दी में किन संस्कृत, फारसी या उर्दू के शब्दों को स्वीकृत किया जाय। दूसरे, अँग्रेजी भाषा की अब तक इतनी प्रधानता रही है कि हम बिना दो एक अँग्रेजी शब्द का प्रयोग किये अपने भावों का प्रकाशन कर ही नहीं पाते। हमारा यह तात्पर्य नहीं कि अँग्रेजी भाषा का प्रयोग करना पाप है। अभिप्राय केवल इतना ही कि बालकों में भाषा-शक्ति के विकास के लिए यथासम्भव एक ही भाषा की शब्दावलियों पर निर्भर रहना ठीक होगा। यदि इस बात पर हम प्रारम्भ ही से ध्यान दें तो बालकों अर्थात् भावी नवयुवकों से खिचड़ी भाषा का प्रयोग निकालना कठिन न होगा।

उत्तर के औचित्य पर ध्यान देने का अर्थ यह है कि विद्यार्थी भद्दे शब्दों का प्रयोग न कर बैठें। कुछ ऐसे शब्द होते हैं जिनका प्रयोग घरेलू अथवा 'लँगोटिया-यारी-मण्डली' में ही होता है। सभ्य समाज में उनका प्रयोग बड़ा भद्दा लगता है। उदाहरणार्थ, कक्षा में यह कहना कि 'पण्डितजी ने आज खूब लड्डू और पूड़ी भोरी" ठीक न होगा। "भोरी" शब्द का प्रयोग वीभत्स है। कक्षा में इसके स्थान पर "खाई" शब्द का ही प्रयोग करना ठीक होगा। ऐसे ही अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। उचित उत्तर का सम्बन्ध बालकों की मानसिक अवस्था से भी है। उनकी अवस्थानुसार एक ही प्रश्न का उत्तर थोड़े में अथवा विस्तारपूर्वक लिया जा सकता है। उदाहरणार्थ, "अकबर के शासन प्रबन्ध" के वर्णन में पाँचवीं और दसवीं कक्षा के विद्यार्थियों के उत्तर में बड़ी भिन्नता होगी।

प्रासंगिक उत्तर का अर्थ यह है कि जितना पूछा जाय उतना ही उत्तर भी दिया जाय। कभी-कभी विद्यार्थी प्रश्न का ठीक अर्थ न समझने से अथवा जितना आता है सब दिखलाने की उत्कट इच्छावश आवश्यकता से अधिक बातें कह और लिख जाता है। बालकों से स्पष्ट शब्दों में कह देना चाहिए कि उत्तर देने के पहले वे प्रश्न की माँग को भली-भाँति समझ लें और सब कुछ आते हुये ज्ञान को प्रदर्शित कर देने के लोभ का वे संवरण करें।

तार्किक उत्तर का अर्थ यह है कि प्रश्न की माँग और पूर्ति में संगति दिखलाई पड़े। उदाहरणार्थ; "तुम्हारे पास कितनी भैंसे हैं?" का उत्तर "मेरे पास चार गायें हैं" असंगत है, क्योंकि प्रश्न भैंस की संख्या की माँग करता है, गाय की नहीं।

सार्थक उत्तर का अर्थ है कि उसमें निरर्थक बातें न हों और कहने का तात्पर्य तथा प्रश्न का उद्देश्य पूरा हो। उदाहरणार्थ; महात्मा बुद्ध कौन थे?—इस प्रश्न का यह उत्तर कि शुद्धोधन के पुत्र—सार्थक नहीं। वस्तुतः शुद्धोधन के पुत्र राजकुमार सिद्धार्थ थे, न कि गौतम बुद्ध। 'गौतम बुद्ध' से बौद्ध धर्म के प्रवर्त्तक महात्मा बुद्ध का ही संकेत होना चाहिए।

आवश्यक उत्तर का तात्पर्य यह है कि उसमें व्यर्थ का शब्दाडम्बर न हो। प्रायः लड़के परीक्षाओं में कई कापियाँ रंग आते हैं, पर उन्हें अंक बहुत कम मिलते हैं। यह भ्रान्ति सी फैल गई है कि पृष्ट भरने से अधिक नम्बर मिलते हैं। उदाहरणार्थ; महाराणा प्रताप कौन थे?—इस प्रश्न के उत्तर में "राजपूत-कुल-कमल-दिवाकर, भारत गौरव, प्रातः स्मरणीय, देश-भक्त तथा स्वतन्त्रता देवी के पुजारी श्रीमान् महाराणा प्रताप को कौन नहीं जानता? वे राणा साँगा के पौत्र और राणा उदयसिंह के पुत्र थे।" इस उत्तर में बहुत से विशेषणों का शब्द-जाल बड़ा ही बुरा और अनावश्यक है।

(३) अशुद्ध उत्तरों को कैसे ठीक किया जाय?

ऊपर हम कह आये हैं कि गलत उत्तर देने पर बालकों को डाँटना

और फटकारना अमनोवैज्ञानिक है। ऐसा करने से बालक उत्साहहीन हो जाता है, और सही उत्तर भी देने में गलती के भय से हिचकिचाता है। उत्तर में दो प्रकार की गलती होती है १—भाषा और २—तथ्य की। बालकों के गलती करने पर यथासम्भव शीघ्रातिशीघ्र शुद्ध शब्द की ओर उनका ध्यान आकर्षित करना चाहिए। यदि किसी वाक्य को शुद्ध करने के लिए उसे श्यामपट्ट पर लिखना आवश्यक हुआ तो उसे वहाँ अधिक देर तक न रहने देना चाहिये। गलतियों के अधिक देर तक सामने रहने से उनका प्रभाव बुरा पड़ता है। उच्चारण, व्याकरण अथवा भाषा-सम्बन्धी गलतियाँ जल्दी से जल्दी ठीक करना आवश्यक है। गलती ठीक करने के लिए पहले किसी दूसरे बालक से ही कहना चाहिए। पूरी कक्षा के असफल होने पर ही शिक्षक की सहायता अपेक्षित है। इसका अर्थ यह नहीं कि "तुम बताओ, तुम बताओ" की प्रत्येक बालक पर आवृत्ति की जाय। तीन-चार बालकों से पूछने के बाद "कौन बता सकता है?" इतना कह देने से ही पूरी कक्षा से पूछने का अभिप्राय हो जाता है।

ट्रेनिङ्ग कालेज के विद्यार्थियों को यह प्रश्न बहुत तंग किया करता है कि "बालकों की गलतियों का सुधार कब किया जाय।" इस सम्बन्ध में कोई बड़ा नियम नहीं बनाया जा सकता। शीघ्रातिशीघ्र गलती का परि-मार्जन कर देना ही अधिक मनोवैज्ञानिक दीख पड़ता है, क्योंकि तभी बालक अच्छी तरह सीख सकता है। परन्तु इस नियम में एक छूट भी दी जा सकती है। उदाहरणार्थ; बालक का स्वरवाचन यदि बहुत अच्छा हो रहा है और बीच में एकाध बार कोई गलती होती है तो उसके वाचन में विघ्न डालना ठीक न होगा। वाचन समाप्त होने के बाद ही उससे कहना उचित है। पर ऐसे उदाहरण बिरले ही होते हैं।

भाषा, भूगोल, इतिहास, गणित तथा विज्ञान आदि के पाठ में उत्तर की त्रुटि को तत्काल ही शुद्ध करना ठीक है। स्पष्ट है कि त्रुटि-संशोधन की समस्या ऐसी है कि उस विषय में शिक्षक ही निर्णय कर सकता है। परिस्थिति के अनुसार उसे किसी गलती को तुरन्त या बाद में ठीक करने की स्वतन्त्रता है; पर यह याद रहे कि किसी भी गलती की अवहेलना न

हो। बालकों के सामने कोई गलत उदाहरण न आवे। इसके लिए कुछ शिक्षा-शास्त्रियों का तो कहना है कि पहले ठीक उत्तर देने वाले छात्रों से ही पूछना चाहिए और उसके बाद उसकी आवृत्ति कमजोर छात्रों से करा लेनी चाहिए। पर यह सिद्धान्त ठीक नहीं मालूम होता। इनसे कुछ छात्रों में मानसिक आलस्य और उदासीनता आ जायगी और अपना काम दूसरे के उत्तर की आवृत्ति करने तक ही वे सीमित समझेंगे।

कुछ अध्यापकों में बालकों के उत्तर दोहरा देने की आदत पड़ जाती है। यह निन्दनीय है, क्योंकि इससे समय नष्ट होता है और बालकों में ध्यानपूर्वक बात सुनने की आदत नहीं पड़ती। वे सोचते हैं कि 'मास्टर साहब' तो एक बार आवृत्ति अवश्य ही करेंगे। यह ठीक है कि बालकों के उत्तर को दोहराना शिक्षक के लिए कभी-कभी आवश्यक हो जाता है, पर इसकी आदत न पड़े तो अच्छा है।

शिक्षक को यह ध्यान रखना चाहिये कि प्रश्न की तरह उत्तर पर भी इतना जोर दिया जाय कि कक्षा के सभी छात्र उसे भली-भाँति सुन लें। कुछ छात्रों में बड़े धीरे से बोलने की आदत होती है और कुछ इतने जोर से बोलते हैं कि उद्दण्डता सी जान पड़ती है। धीरे से बोलने वाले छात्रों को मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से उत्साहित करना चाहिए। "आज खाया नहीं क्या रे?"—अथवा "बुड्ढा हो गया क्या रे?" इत्यादि कहकर छात्रों को लज्जित करना उचित नहीं। मीठे और गम्भीर स्वर में उन्हें बोलना सिखलाने के लिए आवश्यक है कि शिक्षक भी वैसा ही व्यवहार करे।

यद्यपि छात्रों के ठीक उत्तर देने पर उनकी प्रशंसा का संकेत कर देना मनोवैज्ञानिक है; पर 'शाबाश', 'ठीक' या 'बहुत ठीक' इत्यादि शब्दों की झड़ी लगा देना बड़ा ही बुरा है। कुछ शिक्षकों को इन शब्दों के प्रयोग करने की इतनी आदत पड़ जाती है कि छात्र उनका 'उपनाम' ही "शाबाश" और "ठीक" इत्यादि रख देते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि शिक्षक को बहुत संभल कर व्यवहार करना चाहिए।

कभी-कभी उत्तर निकलवाने में शिक्षक को बड़ी कठिनाई का सामना

करना पड़ता है, क्योंकि छात्रगण उसके प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाते। ट्रेनिङ्ग कॉलेज के विद्यार्थी तो इसे अपनी बड़ी भारी असफलता समझते हैं और निरुत्साह में अपना सारा पाठ बिगाड़ बैठते हैं। प्रश्न का यथोचित उत्तर न आने पर शिक्षक को अपने प्रश्न के रूप पर दृष्टिपात करना चाहिए; क्योंकि कभी-कभी प्रश्न की विषमता ही इसमें बाधक होती है। ऐसी स्थिति में विश्लेषण कर प्रश्न को कई अंगों में बाँट देना चाहिए। उत्तर देते समय बीच-बीच में छात्रों को दो एक शब्द या विचार का सहारा दे देना चाहिए। इससे उनका लाभ होता है। छात्र उत्तर देने में सफल होकर सन्तोष का अनुभव करते हैं।

कुछ शिक्षा-शास्त्रियों के अनुसार कभी-कभी छात्रों को भी प्रश्न पूछने का अवसर देना चाहिए। पठित-विषय की कठिनाई को समझने के लिये छात्रों को प्रश्न पूछने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इस प्रकार बिना विचार-विनिमय हुए पाठ के आवश्यक अंगों पर सभी छात्रों का ध्यान सरलता से न जायगा। शिक्षक को उचित है कि छात्र के प्रश्न का आदर्श रूप से उत्तर दे, जिससे वे उत्तर देने की कला सीख सकें और अपनी भाषा सुसंगठित और संयत बना सकें। पर छात्रों को किसी भी प्रकार के विषयान्तरित प्रश्न करने की स्वतन्त्रता दे देना मूर्खता का द्योतक होगा। आजकल कुछ ऐसी हवा उड़ी है कि कुछ छात्र अध्यापकों का मजाक उड़ाने की ताक में रहा करते हैं। ऐसी स्वतन्त्रता मिलने पर वे ऐसे मनगढ़न्त प्रश्न पूछने लगेंगे जो अध्यापक के सामर्थ्य के बाहर हो सकते हैं। कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता। इसलिये "मुझे नहीं आता" यह कहकर शिक्षक सत्य की रक्षा भले ही कर ले। पर इससे उसकी अल्पज्ञता का प्रकाश बालकों को मिल ही जाता है। फलतः उनका अज्ञात मन शिक्षक का आदर नहीं करता। अज्ञातमन सदा भोला और सच्चा होता है। वह अपनी इच्छा की पूर्ति व्यक्ति के अनजान में भी कर लेता है। शिक्षक के कुछ अच्छी बात कहने पर भी छात्र उसकी उपेक्षा कर सकते हैं। इस प्रकार शिक्षक का आधा अस्तित्त्व ही नष्ट हो जाता है। अतः छात्रों को विषयान्तरित प्रश्न करने की स्वतन्त्रता न देनी चाहिए।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

प्रश्न और उत्तर

(क) प्रश्न

१—कुछ साधारण बातें

बालकों में प्रश्न पूछने की आदत।

ठीक प्रश्न पूछने के लिये बालक को उत्साहित करना, उत्तर देने में सावधानी, शंका का समाधान शीघ्र।

२—प्रश्न करने के उद्देश्य

शिक्षक के प्रश्न कम महत्वपूर्ण नहीं।

३—अच्छे प्रश्नों के लक्षण

प्रश्न करने के उद्देश्य

अच्छे प्रश्नों के लक्षण

४—प्रश्नों के प्रकार

प्रश्नों का वर्गीकरण मानसिक प्रक्रिया के आधार पर।

स्मृत्यात्मक और विचारात्मक !

(१) कारण पूछने वाले प्रश्न
(२) सम्बन्ध बतलाने वाले
(३) निर्णयात्मक
(४) विश्लेषणात्मक
(५) तुलनात्मक
(६) वर्गीकरणात्मक
(७) वर्णनात्मक
(८) आलोचनात्मक
(९) विवेचनात्मक
(१०) आवृत्यात्मक
(११) प्रस्तावनात्मक

(ख) उत्तर

१—उत्तर निकलवाना

शिक्षक में धैर्य और सतर्कता आवश्यक

यथासम्भव प्रत्येक को अवसर देना, कमजोर छात्रों से ठीक उत्तर दोहरवाना, सहानुभूतिपूर्वक उत्तर निकलवाना, उत्तर सोचने के लिए समय देना, छात्र को उसके नाम से सम्बोधित करना।

छात्र से समीपता स्थापित करने के लिए "तुम" शब्द का प्रयोग।

उत्तर देने के समय छात्रों का ठीक से खड़ा होना, असमर्थ विद्यार्थी पर अधिक समय देना ठीक नहीं।

उत्तर न मिलने पर डाँटना ठीक नहीं।

उत्तर पूरे वाक्य में या कुछ ही शब्दों में।

२—उत्तर का रूप कैसा हो ?

भाषा की शुद्धता पर प्रत्येक विषय में ध्यान।

भद्दे शब्द का प्रयोग नहीं, मानसिक अवस्था विकास के अनुसार।

केवल आवश्यक बातें ही बतलाना।

माँग और पूर्ति में संगति।

प्रश्न के उद्देश्य की पूर्ति।

शब्दाडम्बर न हो।

३—अशुद्ध उत्तरों को कैसे ठीक किया जाय ?

शुद्ध शब्द की ओर शीघ्रातिशीघ्र ध्यान आकर्षित करना, सबके असफल होने पर ही शिक्षक की सहायता।

छात्रों के उत्तर को न दोहराना।

जोर से उत्तर निकलवाना।

बहुत से प्रशंसा-सूचक शब्दों का प्रयोग ठीक नहीं।

ठिन प्रश्नों का विश्लेषण और उनके उत्तर में बीच-बीच में .ा।

छात्रों को भी प्रश्न पूछने की आवश्यक सुविधा, विषयान्तरित प्रश्न पूछने की स्वतन्त्रता नहीं।

सहायक पुस्तकें

१—रिस्क—प्रिन्सीपुल्स ऐण्ड प्रैक्टीसेज् ऑव् टीचिङ्ग इन सेकण्डरी स्कूल्स, अध्याय २३।

२—बॉसिङ्ग, नेलसन एल०—प्रोग्रेसिव् मेथड ऑव् टीचिङ्ग इन सेकण्डरी स्कूल्स, अध्याय १०।

३—हीर, एमॉस एल०—स्टेप्स टु बेटर टीचिङ्ग, अध्याय १६।

४—स्ट्रक, एफ० थ्योडोर—क्रिएटिव टीचिङ्ग, अध्याय ६।

५—लैन्सलॉट, डब्लू० एच—परमानेण्ट लर्निङ्ग, अध्याय १७।

६—उडरफ़, एसेहेल डी०—द साइकॉलॉजी ऑव् टीचिङ्ग।

७—चतुर्वेदी और रुद्र—अध्यापन कला, अध्याय ८, ६।

८—ह्यूग्स—लर्निङ्ग एण्ड टीचिङ्ग, अध्याय १६।

३०

शिक्षण के कुछ अन्य उपकरण[1]

१—शिक्षक द्वारा व्याख्या[2]

प्रश्न करने के अतिरिक्त कभी-कभी शिक्षक को अपनी व्याख्या-शक्ति के आधार पर भी बालकों को समझाना पड़ता है। अतः अब व्याख्या के ढंग तथा उनके अपेक्षित गुणों का उल्लेख करना आवश्यक दीख पड़ता है। अध्यापक को विषय का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है। सभी दृष्टिकोण से उसे अपने विषय पर पाण्डित्य होना चाहिए। उसमें बालकों के प्रति सहानुभूति का होना आवश्यक है। इसके बिना वह उनकी कठिनाइयों को न समझ सकेगा। व्याख्या देने के आवेश में शिक्षक को यह न भूलना चाहिए कि बालकों को व्याख्यान विशेष अच्छा नहीं लगता। उन्हें तो अपनी ही क्रियाशीलता में आनन्द आता है। ऊँची कक्षाओं में प्रश्नोत्तर-प्रणाली में विद्यार्थियों को जितना आनन्द आता है उतना शिक्षक की वाणी में नहीं। अतः शिक्षक को अपनी व्याख्या का प्रयोग मनोवैज्ञानिक रूप में उचित ढंग से करना चाहिए। शिक्षक को अपनी वाणी में भावानुसार आवश्यक उतार-चढ़ाव लाना आवश्यक है। इसके बिना उसका प्रभाव बहुत ही कम पड़ता है। ऐसी दशा में कक्षा में विद्यार्थी ऊँघते हुये देखे जाते हैं। उचित मुख मुद्रा और अंग-संचालन से व्याख्या की नीरसता कम हो जाती है। कथन को अधिक उपदेशात्मक बनाना ठीक नहीं, क्योंकि कोरे उपदेश बालकों को अच्छे

1. Some Other Aids to Teaching. 2. Explanation by the Teacher.

नहीं लगते। कथन का अधिक वैज्ञानिक और साहित्यिक होना भी रुचिकर नहीं होता। कथन के समय बालकों की सीमित योग्यता पर ध्यान देना आवश्यक है।

कथन को रोचक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षक को अपने विषय के अतिरिक्त कुछ अन्य साधारण रुचि के विषयों का ज्ञान हो, जिससे प्रसंगानुसार विषयान्तर में वह प्रस्तुत विषय का अन्य विषयों से सम्बन्ध की ओर भी संकेत कर सके। द भूगोल, इतिहास तथा साहित्य आदि पढ़ाते समय चित्रकला, संगीत, वैज्ञानिक आविष्कारों तथा राजनैतिक विषयों पर प्रसंगानुसार कुछ संकेत किया जा सका तो मानो सोने में सुगंध भी आ गई। इससे विद्यार्थियों में शिक्षक के प्रति श्रद्धा और प्रेम बढ़ जाता है और उसकी बात को वे ध्यानपूर्वक सुनते हैं। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि पाठ्य-विषय को छोड़ इन्हीं सब विषयों पर व्याख्यान दिया जाय।

शिक्षक को अपनी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए। कुछ शिक्षक अवसर पर अपने विषय में बातें करते नहीं थकते। इसका बालकों पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है। उनकी आलोचना-शक्ति बड़ी पैनी होती है। वे ऐसे अध्यापकों का लोहा कभी नहीं मानते। उनकी विद्वत्ता पर भी उनका विश्वास नहीं रहता जिस विषय से शिक्षक का परिचय न हो उस पर उसका न बोलना ही ठीक होगा।

अपने कथन में शिक्षक यदि तुलना का आधार ले तो वह विषय को बालकों के लिए सरलता से बोध-गम्य बना सकता है। तुलना, वैपरीत्य और समानता दोनों दिखला कर की जा सकती हैं। भूगोल के पाठ में जापान और ब्रिटिश द्वीप समूह की, इतिहास में अशोक और अकबर तथा साहित्य में तुलसी और सूर आदि की तुलना विषय को अधिक रोचक बना देगी। ज्ञात से तुलना करने पर अज्ञात का समझना कठिन नहीं, क्योंकि इससे भावों, विचारों और परिस्थितियों का ऐसा साहचर्य्य आ जाता है जो मानसिक प्रक्रिया में बड़ा सहायक होता है। इस विधि की सहायता से विद्यार्थी नये ज्ञान को अपने मन में सरलता से बैठा लेते हैं

और नये विषय के बारे में ठीक बातों का स्वयं अनुमान लगाने में वे सफल हो जाते हैं।

विरोधात्मक भावों के उपस्थित करने से भी आवश्यक बातें समझने में बड़ी सहायता मिलती है। साहित्य में क्लिष्ट शब्दों को उनके विरोधी शब्दों से विद्यार्थियों को सरलता से समझाया जा सकता है। जैसे "अनुपम" का अर्थ निकालने के लिए पूछा जा सकता है कि 'भद्दा का उलटा क्या है ?' उत्तर 'सुन्दर' आया। इस प्रकार अनुपम तथा अन्य क्लिष्ट शब्दों का अर्थ सरलता से समझाया जा सकता है। पर इस प्रकार की व्याख्या में शिक्षक को यह ध्यान रखना चाहिए कि बतलाया हुआ शब्द पहले का केवल पर्यायवाची ही न हो, वरन् समानार्थक भी हो, यदि यह सम्भव न हो तो कठिन शब्दों की व्याख्या परिभाषा से भी की जा सकती है। कभी-कभी इस विधि में अधिक सुविधा होती है। व्याख्या के समय शब्दों का विग्रह करना भी आवश्यक हो सकता है। भाव-स्पष्टता के लिए उपयुक्त वस्तु अथवा चित्र-प्रदर्शन में भी कोई हानि नहीं। क्रिया की ओर संकेत करने वाले शब्दों का स्पष्टीकरण उचित अभिनय द्वारा ही करना ठीक होगा। ऊँची कक्षाओं में शब्द की उत्पत्ति की ओर भी विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित किया जा सकता है।

किसी परिच्छेद की व्याख्या में शिक्षक को सर्वप्रथम कठिन शब्दों की ओर ध्यान देना चाहिए। इसके बाद पूरे परिच्छेद के भाव को बालकों से सरल भाषा में कहलवाना चाहिए। उनके असफल होने पर शिक्षक स्वयं व्याख्या दे। शिक्षक को यह ध्यान रहे कि उसकी व्याख्या लम्बी न हो और सरल शब्दों की व्याख्या में समय नष्ट न किया जाय। चतुर शिक्षक व्याख्या के समय भी बीच-बीच में बालकों से प्रश्न पूछा करते हैं।

भूगोल और इतिहास के पाठ में वर्णन का स्थान बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। वर्णन में शिक्षक को बड़ी सतर्कता से काम लेना है। बीच-बीच में बालकों के व्यक्तिगत अनुभव से सम्बन्धित कुछ प्रश्नों का पूछना बड़ा ही आवश्यक है। पाठ कितना ही क्लिष्ट क्यों न हो, किसी न किसी प्रकार उसमें बालकों के निजी अनुभव की ओर संकेत किया ही जा सकता है।

यह बात, विज्ञान गणित और नागरिक-शास्त्र आदि सभी विषयों में लागू है। शिक्षक को यह ध्यान रखना है कि वर्णन बहुत लम्बा न हो। वर्णन के पूरे कथानक को छोटी-छोटी अन्वितियों[1] में बाँट कर एक अन्विति के अन्त में बालकों से कुछ प्रश्न करना आवश्यक है। इससे उनमें क्रियाशीलता आ जाती है और यह पता चल जाता है कि अध्यापन को वे कहाँ तक समझ रहे हैं। भूगोल और इतिहास के शिक्षण में विशेषतः इन विधियों का अनुसरण किया जाता है। वर्णन करते समय यथास्थान चार्ट, चित्र, मान-चित्र और श्यामपट के प्रयोग की भी आवश्यकता होती है। इन सबों के उपयोग से वर्णन में सरसता आ जाती है, क्योंकि सदा वर्णन ही राम-बाण नहीं सिद्ध हो सकता।

२—प्रदर्शन-सामग्री[2]

चार्ट, मानचित्र और चित्र आदि जो दिखलाये जाँय उनका रुचिकर होना आवश्यक है। छोटे बच्चों की कक्षा में तो इस पर विशेष ध्यान देना चाहिए, क्योंकि उन्हें तड़क-भड़क से विशेष रुचि होती है। सूक्ष्म को वे सरलता से नहीं समझ सकते। इसलिए उनके सामने यथा-सम्भव स्थूल का ही रखना अधिक मनोवैज्ञानिक होगा। परन्तु प्रदर्शन-सामग्री इतनी आकर्षक न हो कि मुख्य विषय गौण हो जाय। इससे साधन का ही महत्त्व साध्य से बढ़ जाता है। कुछ नये-नये अध्यापक कक्षा में प्रदर्शन-सामग्री इतनी ले जाते हैं कि कभी-कभी उन्हें कई आदमियों के ढोने की आवश्यकता हो जाती है। फलतः उनका पाठ मदारी का खेल हो जाता है। शिक्षक को यह ध्यान रहे कि प्रदर्शन-वस्तु इतनी बड़ी हो कि उसे एक स्थान से ही सभी लड़के समझ सकें। यदि उसे दिखाने के लिए शिक्षक को एक कोने से दूसरे कोने जाना हुआ तो 'विनय-व्यवस्था' में गड़बड़ी होगी और समय भी नष्ट होगा। कोने-कोने जाकर दिखलाने में सभी बालकों को समान अवसर भी नहीं मिलता। अतः उनमें से कुछ अप्रसन्न और उदास हो जाते हैं। वे समझते है कि 'मास्टर साहब' की सहानुभूति उनकी ओर कम है।

---

1. Units. 2. Materials for exhibition.

प्रदर्शन-वस्तु का पाठ के अनुसार होना बड़ा ही आवश्यक है। पहाड़ी दृश्य को समझाने के लिए अनेक पहाड़ के चित्र दिखलाना युक्तिसंगत नहीं। एक ही का काफी लम्बा चित्र पर्याप्त होगा। प्रदर्शन-वस्तु को शीघ्र ही दिखलाकर दृष्टि से ओझल कर देना ठीक नहीं। वांछित प्रभाव के लिए उसे बालकों के सामने काफी देर तक रखना आवश्यक है। कुछ शिक्षा-शास्त्रियों के अनुसार प्रदर्शन-वस्तु को शीघ्र ही दृष्टि से परे कर देना चाहिए, नहीं तो बालक पाठ पर ध्यान न देकर उसी को देखते रहते हैं। किसी प्रदर्शन-वस्तु को कितनी देर तक बालकों को दिखलाया जाय इसका निर्णय शिक्षक ही कर सकता है। प्रसंगानुसार वही इस बात को समझ सकता है। पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि प्रदर्शन वस्तु का जरा सा दर्शन करा कर ढक देना न दिखलाने से भी बुरा है।

३—श्यामपट का प्रयोग[1]

अध्यापन में श्यामपट का प्रयोग बड़ा महत्त्वपूर्ण है। प्रायः आलसी शिक्षक ही श्यामपट के प्रयोग से डरते हैं; उन्हें मौखिक वर्णन ही अच्छा लगता है। ऐसे अध्यापक बालकों पर वांछित प्रभाव डालने में सफल नहीं होते। किसी प्रदर्शन-वस्तु के स्थान पर शिक्षक का श्यामपट पर रेखा-चित्र खींच देना पाठ में कभी-कभी अधिक सहायक होता है। एक तो, इसमें समय कम लगता है; दूसरे, बालक भी वैसा ही बनाने की चेष्टा कर सकते हैं, तीसरे, इससे शिक्षक की बड़ी धाक जम जाती है। अतः शिक्षक को रेखा और मान-चित्र बनाने में निपुण होना उतना ही आवश्यक है जितना कि व्याख्या अथवा वर्णन की शैली में। समय-समय पर श्यामपट पर कुछ लिखते रहने से शिक्षण-विधि में कुछ परिवर्त्तन आ जाता है। यह परिवर्त्तन बालक के लिए बड़ा ही रोचक और लाभदायक होता है। एक तो उनका ध्यान विषय की ओर अधिक आकर्षित हो जाता है, दूसरे ऊँघने वाले लड़कों में इससे कुछ अधिक स्फूर्ति आ जाती है।

श्यामपट पर किया हुआ काम इतना साफ और बड़ा हो कि कक्षा के सभी बालक उसे देख और समझ सकें। जो कागज पर अच्छा लिखते

1. The Use of the Black-board.

हैं उनका श्यामपट पर भी अच्छा लिख देना निश्चित नहीं। कभी-कभी कागज पर खराब लिखने वाले भी श्यामपट पर अच्छा लिख लेते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि श्यामपट पर अच्छा लिखने के लिए काफी अभ्यास की आवश्यकता है। श्यामपट पर सुन्दर लिखने का बालकों पर बड़ा मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। सुन्दर अक्षरों में लिखी हुई बात को वे सरलता से याद कर लेते हैं और वे भी वैसा ही सुन्दर लिखने का प्रयत्न करते हैं। यथासम्भव श्यामपट पर सीधा अक्षर लिखना चाहिए, क्योंकि इससे छात्रों की आँख पर जोर कम पड़ता है। शिक्षक को यह ध्यान रहे कि श्यामपट के कार्य में कुछ गलती न रह जाय। अतः उसे दोहरा लेना आवश्यक है। श्यामपट पर प्रायः लोग अक्षरों पर बिन्दियाँ देना भूल जाते हैं। कभी-कभी मात्राओं और संयुक्ताक्षरों में भी गलती हो जाती है। यदि शुद्ध शब्द को बतलाने के लिए कभी श्यामपट पर किसी अशुद्ध शब्द के लिखने की आवश्यकता हुई तो उसे शीघ्र ही मिटा देना चाहिए, नहीं तो कुछ लड़के अशुद्ध ही लिखना सीख लेते हैं।

जब शिक्षक श्यामपट पर लिखता रहता है तो पीछे बालकों के आपस में बातचीत करने का कुछ भय रहता है। इसके लिए शिक्षक को लिखे जाने वाले शब्दों को बोलते जाना चाहिए। इससे बालकों का ध्यान आकर्षित रहता है और शिक्षक के साथ वे भी लिखते जाते हैं। श्यामपट पर अक्षरों का समान आकार का होना आवश्यक है। अक्षरों को सीधी पंक्तियों में लिखना चाहिए। पंक्तियों को समान दूरी पर होना चाहिए। इन सब का यह मतलब नहीं कि कि लिखावट में ही बहुत समय लगा दिया जाय। प्रारम्भ में कुछ अधिक समय अवश्य लग जाता है, पर अभ्यास हो जाने पर शीघ्रता से लिखना आ जायेगा। खड़िया को खूब दबा कर लिखा जाय, जिससे अक्षर चमकीले बनें।

चित्र तथा मानचित्र आदि के श्यामपट पर खींचने में शिक्षक को यह ध्यान रहे कि वह अपने कला-प्रदर्शन की भावना में न रंग जाय। इससे समय अधिक लग जायगा और अनावश्यक चित्र भी खींच दिए जायेंगे। उदाहरणार्थ; घोड़े, गाय, बकरी से सभी छात्र परिचित हैं। अतः उनका

चित्र खींच कर दिखलाना व्यर्थ है। इतिहास, भूगोल ज्यामिति और विज्ञान के शिक्षण मे श्यामपट का काफी प्रयोग करना चाहिए। मानचित्र, युद्ध-स्थलों के मानचित्र, प्राकृतिक तथा उद्योग-धन्धे-सम्बन्धी मानचित्र, ज्यामिति के रेखाचित्र तथा विज्ञान के सभी प्रयोग-चित्रों को श्यामपट पर खींच कर दिखलाने में शिक्षक को समर्थ होना चाहिए। इन चित्रो को शुद्ध और स्पष्ट खींचने के लिए, यदि आवश्यक हो तो, पैमानों तथा अन्य उपकरणों का सहारा ले लेना ठीक होगा। वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली में श्यामपट के कुशल प्रयोग पर बड़ा जोर दिया जाता है। सफलतापूर्वक इसे प्रयोग करने वाला शिक्षक बड़ा ही अच्छा समझा जाता है।

श्यामपट सम्बन्धी कुछ अन्य ध्यान देने योग्य बातें

श्यामपट पर लिखते समय शिक्षक ऐसी जगह पर खड़ा हो कि बालक लिखी हुई बातें अच्छी प्रकार पढ़ सकें। कुछ शिक्षक श्यामपट को ऐसा घेर लेते हैं कि लड़कों को बड़ी असुविधा होती है। कभी-कभी वे श्यामपट के पास से हट जाने के लिए भी शिक्षक से प्रार्थना करते हैं। श्यामपट के बहुत ऊँचे अथवा नीचे होने के कारण उस पर लिखने मे शिक्षक को बड़ी असुविधा होती है। ऐसी स्थिति मे शिक्षक को उचित है कि जहाँ तक उसका हाथ सरलता से पहुँचे वहीं तक वे लिखें। एड़ी ऊँची कर, देह तोड़ कर अथवा पैर फैला कर लिखना बड़ा ही भद्दा और फूहड़ लगता है। शिक्षक की ऐसी मुद्रा पर लड़के मन ही मन कुढ़ते हैं। श्यामपट पर लिखते समय बीच-बीच में बालकों के कार्यों का निरीक्षण भी कभी-कभी कर लेना आवश्यक है।

जब लड़के पुस्तक आदि पढ़ रहे हों तो उस समय श्यामपट पर लिखना ठीक नहीं। अध्यापन प्रारम्भ करने के पहले श्यामपट को साफ कर लेना अधिक सुविधाजनक होता है। घण्टा समाप्त होने के बाद श्यामपट को साफ कर के जाना उचित है। इससे आगामी अध्यापक को बड़ी सुविधा मिलती है और बालकों को सीख मिलती है कि "वातावरण को गन्दा बना कर कभी नहीं छोड़ना चाहिए।"

मानचित्र आदि बनाने का अभ्यास न होने पर उसे श्यामपट पर

अशुद्ध बना देना ठीक नहीं। अशुद्ध बनाने से न बनाना ही अधिक उचित होगा। आवश्यकता आने पर ही श्यामपट पर लिखना ठीक है। कब क्या लिखना होगा यह शिक्षक को अपने विवेक से समझ लेना चाहिए। भूगोल, इतिहास, ज्यामिति तथा विज्ञान के पाठ में कभी रंगीन खड़िया का प्रयोग किया जा सकता है, अन्यथा सफेद का ही प्रयोग करना चाहिए। सफेद खड़िया से अक्षर चमकीले होते हैं और बालकों की आँखों पर अधिक जोर नहीं पड़ता।

४—पाठ्य पुस्तक

पहले कक्षा की पढ़ाई विशेष कर पाठ्य-पुस्तक पर ही अवलम्बित रहती थी। पुस्तक में लिखे हुए के अनुसार कार्य करना अथवा उसे याद कर सुना देना विद्यार्थी की योग्यता की पराकाष्ठा समझी जाती थी। इस प्रणाली के फलस्वरूप बालक की स्मरणशक्ति पर विशेष बल देकर अन्य मानसिक प्रक्रियाओं की अवहेलना की जाती थी। ठीक इसके विपरीत आवाज उठी। पाठ्य-पुस्तकों के आधार पर पढ़ाना निन्दनीय समझा जाने लगा। फलतः पाठ्य-पुस्तकों का स्थान शिक्षकों के व्याख्यान और लिखाये हुए संकेतों ने ले लिया। अति के कारण इसका भी वांछित फल न मिला। भला केवल मौखिक शिक्षा कितनी सफल हो सकती है! इस वस्तु-स्थिति का चित्रण रेमाएट के इन शब्दों में अच्छा मिलता है, "व्यंग में लोग कहा करते हैं कि विद्यार्थियों के स्थान को अब शिक्षकों ने ग्रहण कर लिया है। पहले विद्यार्थी ही पढ़ते, याद करते और सुनते थे। अब तो यह काम शिक्षक का ही हो गया है।"

वास्तव में पाठ्य-पुस्तक की हम उपेक्षा नहीं कर सकते। यदि अच्छी पाठ्य-पुस्तक हुई तो शिक्षक के हाथ में वह बड़ा भारी अस्त्र है। इससे उसके समय और शक्ति दोनों की बचत होती है और शिक्षक की अनुपस्थिति में बालकों के लिए वह कुछ हद तक शिक्षक का भी काम कर सकती है। स्पष्ट है कि पाठ्य-पुस्तक की आवश्यकता सन्देहास्पद नहीं। बिना पाठ्य-पुस्तक के सहारे बालकों को ठोस ज्ञान देना अत्यन्त कठिन है। केवल एक बार सुन और कह लेने से ही नया ज्ञान पक्का

नहीं हो जाता। उसके लिए समय-समय पर आवृत्ति की आवश्यकता होती है। पाठ्य-पुस्तक के होने पर बालक के लिए यह सब कठिन नहीं। अब प्रश्न यह है कि "पाठ्य-पुस्तक कैसी होनी चाहिए ?"—"उसके आवश्यक गुण क्या-क्या हैं ?" नीचे हम इन्हीं प्रश्नों पर विचार करेंगे। इन प्रश्नों के उत्तर की व्याख्या आवश्यक नहीं। अतः नीचे उन्हें सूत्र रूप में ही दिया जा रहा है :—

१—साल में किए जाने वाले काम की पाठ्य-पुस्तक में स्पष्ट रूप-रेखा होनी आवश्यक है। इससे शिक्षक को शिक्षण में बड़ी सरलता होती है। बालकों को आवश्यकतानुसार शिक्षण को व्यवस्थित करना आवश्यक है। इस व्यवस्था में पाठ्य-पुस्तक का सहायक होना अपेक्षित है। लकीर के फकीर की तरह पाठ्य-पुस्तक की लीक पर ही चलना शिक्षक के लिए वांछित नहीं। इसलिए अपने अनुभव के आधार पर पाठ्य-पुस्तक में आवश्यक संशोधन करने की शिक्षक को पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। वस्तुतः सफल शिक्षक ही पाठ्य-पुस्तक का आदर्श रचयिता हो सकता है और यह कार्य उसी को देना भी चाहिए।

२—पाठ्य-पुस्तक बालकों की विकास की अवस्था के अनुसार होनी चाहिए। यदि प्रारम्भिक कक्षा से अन्त तक पढ़ाई जाने वाली पुस्तकें एक ही क्रम में लिखी जाँय तो उनमें बालकों की विकास अवस्था पर अधिक ध्यान दिया जा सकेगा। उनमें शिक्षकों को शिक्षण-पद्धति का ज्ञान कराने के लिए टिप्पणियों का देना व्यर्थ है।

३—छोटी कक्षाओं वाली पाठ्य-पुस्तकें मोटे-मोटे अक्षरों में छपनी चाहिये। पंक्तियाँ भी दूर-दूर हों। ऊँची कक्षा वाली पुस्तक छोटे अक्षरों में छपी हों। छोटे बालकों के लिए आवश्यक चित्र भी होने चाहिए। पाठ्य-पुस्तक में इनको खूब समझ बूझ कर स्थान देना चाहिए। इनका आकर्षक और उपयुक्त होना आवश्यक है।

४—पुस्तक की जिल्द और कागज ऐसा हो कि शीघ्र ही फट न जाय। फटी हुई पुस्तक को बालक रुचि से नहीं पढ़ता।

५—पाठ्य-पुस्तक में विभिन्न विषयों का क्रम इस प्रकार हो कि महत्व-

पूर्ण बातों को बालक शीघ्र पहचान सके। उसमें कई प्रकार के विषयों का आना आवश्यक है, जिससे वह रोचक बनी रहे। पाठ्य-पुस्तक की रचना में ज्ञानार्जन और चरित्र-निर्माण दोनों उद्देश्यों का होना आवश्यक है।

६—शिक्षण-कार्य में सहायता तथा कक्षा की आवश्यकता के अनुसार प्रत्येक पाठ के अन्त में कुछ मनोवैज्ञानिक संकेत देना आवश्यक है।

विभिन्न विषयों में पाठ्य-पुस्तक का उद्देश्य भिन्न-भिन्न होता है। कुछ विषयों में तो केवल पाठ्य-पुस्तक पर ही निर्भर रहने से काम चल जाता है और कुछ में बाहरी पुस्तकें भी देखने की आवश्यकता होती है। बहुधा प्रारम्भिक कक्षाओं में तो पाठ्य-पुस्तक से ही काम चल जाता है। पर नवीं और दसवीं कक्षा के विद्यार्थियों को भाषा, साहित्य, इतिहास, भूगोल और विज्ञान आदि जैसे विषयों में कभी-कभी कुछ बाहरी पुस्तकें पढ़ना आवश्यक हो जाता है। शिक्षक को उचित है कि बड़े विद्यार्थियों की व्यक्तिगत आवश्यकतानुसार उन्हें बाहरी पुस्तकें पढ़ने का निर्देश दे। पाठ्य-पुस्तक में सदा सभी बातें नहीं हो सकतीं। कभी-कभी पाठ्य-पुस्तकें असामयिक भी हो जाती हैं। इसलिए सदा पाठ्य-पुस्तकों पर ही निर्भर रहना ठीक नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षण में पाठ्य-पुस्तकों का स्थान महत्वपूर्ण है। पर वे कभी वास्तविक स्थिति की अवहेलना भी कर सकती हैं; क्योंकि उनके रचयिता सदा वास्तविक स्थिति से सहमत नहीं हो सकते। इसीलिए स्कूल छोड़ देने के बाद बालकों को कभी-कभी आश्चर्यान्वित होना पड़ता है कि जो कुछ उन्हें पाठ्य-पुस्तकों के आधार पर पढ़ाया गया वह पूर्णरूपेण वस्तु-स्थिति पर आधारित न था।

यह न भूलना चाहिए कि पाठय-पुस्तक केवल पथ-प्रदर्शिका है। वह शिक्षक का स्थान नहीं ग्रहण कर सकती। अतः शिक्षक को केवल पाठय-पुस्तक पर ही निर्भर नहीं रहना है। उसे बालक के लिए पाठय-पुस्तक की कमी अपने ज्ञान से पूरी करनी है। अच्छा अध्यापक पाठ्य-पुस्तकों पर आश्रित न होकर उन्हें अपने अधीन कर लेता है। आजकल पुस्तकीय-ज्ञान की बड़ी निन्दा की जाती है और शिक्षा-शास्त्री स्कूल में क्रियाशीलता लाने

के पोषक हैं। वे बालकों को स्कूल के अधिकांश समय में पुस्तकें पढ़ने से वञ्चित रखना चाहते हैं। इस आधुनिक लहर का तात्पर्य केवल इतना ही है कि बालक एक ही पुस्तक के दास न बन जाँय, और आवश्यकता पड़ने पर वे विभिन्न पुस्तकों से ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न कर पढ़ते समय अपनी आलोचना-शक्ति से सत्य और असत्य का निराकरण कर सकें।

५—लिखित कार्य का संशोधन

बालकों के लिखित कार्य का संशोधन करना शिक्षक को बड़ा बुरा लगता है। कई बड़ी-बड़ी कक्षाओं में लिखित कार्य का वह कितना संशोधन करे? वस्तुतः यह कठिन कार्य है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि इससे मुख मोड़ लिया जाय। संशोधन करना बड़ा आवश्यक है। काम न कराने से बालकों के कार्य को बिना संशोधित छोड़ देना कहीं बुरा है। संशोधन से ही लड़के अपनी गलतियों का सुधार करते हैं। शिक्षक का मौखिक संशोधन बालकों में ठीक शब्द के लिए एक दृढ़ संस्कार उत्पन्न कर देने में सदा सफल नहीं होता। इसलिए उनके लिखित कार्य की ध्यानपूर्वक परीक्षण और संशोधन बड़ा ही आवश्यक है। शिक्षक के संशोधन-कार्य को कुछ हलका, तथा अधिक मनोवैज्ञानिक बनाने के लिए हम नीचे कुछ सुझाव दे रहे हैं।

यदि लिखित कार्य देने के पूर्व उसका मौखिक अभ्यास करा दिया जाय तो लड़के गलतियाँ कम करेंगे और अध्यापक का संशोधन-कार्य भी हलका हो जायगा। लड़के लिखने में अधिक गलती करते हैं, क्योंकि उन्हें पर्याप्त मौखिक अभ्यास नहीं दिया जाता। गलतियों को शीघ्रताशीघ्र सुधार देने से शुद्ध रूप मस्तिष्क में बड़ी जल्दी बैठ जाता है। इसलिए शिक्षक को इसमें बड़ी तत्परता दिखलानी चाहिये। सबसे अच्छा स्वसंशोधन होता है। अर्थात् बालक को स्वयं अपनी गलती जानने के लिए प्रेरित करना चाहिये। पर यह सदा सम्भव नहीं होता। बालक के असफल होने पर कुछ दूसरे बालकों से राय ली जा सकती है। सबके असफल होने पर ही शिक्षक की सहायता अपेक्षित है। श्रुतिलेख के अभ्यास में यदि बालकों के आपसी अदल-बदल से कुछ गलतियाँ निकलवा ली जाँय तो अमनोवैज्ञानिक नहीं। पर श्यामपट पर

पहले ही सम्भावित कठिन शब्दों को कुछ देर के लिए लिख देना आवश्यक होगा। यह भी ध्यान रहे कि ऐसे संशोधन के कारण विनय-व्यवस्था ढीली न पड़ जाय। अनुवाद तथा लेख आदि के कार्य में तो शिक्षक को ही कष्ट करना होगा। यथासम्भव बालकों के सामने ही गलतियाँ संशोधित की जाँय तो अच्छा है। पर यह सदा सम्भव नहीं। अतः स्कूल-समय में कभी इसका अवसर मिले तो उसका उचित उपयोग करना चाहिये। गलतियों पर संकेत हो जाने पर शिक्षक को यह देखना चाहिए कि विद्यार्थी उनका ठीक संशोधन कर लें। छोटी कक्षा में एक गलती के शुद्ध रूप की कई आवृत्ति के लिए बालक से कहा जा सकता है। उसकी विकास-अवस्था के अनुसार आवृत्ति में कमी भी की जा सकती है।

कभी-कभी शिक्षक यह देख कर हैरान हो जाते हैं कि बालक एक ही बात की बराबर गलती करते हैं। इसमें धैर्य खोना ठीक नहीं। गत पृष्ठों में हम कह चुके हैं कि संशोधन का उद्देश्य तात्कालिक फल-प्राप्ति नहीं होना चाहिए। संशोधन करते रहने से अन्त में वांछित फल मिल जाता है। एक ही साथ कई प्रकार की गलतियों को ओर संकेत कर देना मनोवैज्ञानिक नहीं। इससे कुछ भी लाभ नहीं होता। गलतियों की ओर संकेत करने में शिक्षक को बालक की विकास-अवस्था पर ध्यान देना चाहिए। जिन गलतियों पर नवीं कक्षा में ध्यान देना चाहिए उनकी ओर पाँचवीं ही कक्षा में संकेत कर देना व्यर्थ है। उदाहरणार्थ; भाषा और शैली की संयतता की ओर छोटी कक्षा में कुछ कम ध्यान दिया जा सकता है। अतः छोटी कक्षाओं में ऐसी गलती की अवहेलना कर देने में हानि नहीं। यदि शिक्षक को विकासावस्था का ठीक अनुमान होगा तो बालक के लिखित-कार्य में इतनी गलती न होगी कि उसकी अभ्यास पुस्तिका एक दम 'कटकुट' से भर जाय। शिक्षक को यह कभी न भूलना चाहिए कि बालक को कुछ सफलता की भावना देना बड़ा आवश्यक है। अतः अभ्यास के लिए दिया हुआ कार्य ऐसा हो कि सभी बालक कुछ न कुछ ठीक कर सकें।

प्रायः सभी बालकों से की जाने वाली गलतियाँ अधिकतर श्यामपट

की सहायता से ही संशोधित करनी चाहिये। यह अधिक सुविधाजनक होगा। सदा निषेधात्मक ही संकेत दे देना ठीक नहीं। उपयुक्त अवसर पर प्रशंसात्मक संकेत देना बड़ा उत्साहवर्द्धक होता है। शिक्षक की प्रशंसा पाकर बालक फूला नहीं समाता। अतः बालक को उचित और आवश्यक प्रशंसा देना शिक्षक का परम धर्म है।

उपर्युक्त सांकेतिक साधनों से शिक्षक का संशोधन-कार्य कुछ हलका अवश्य हो सकता है, पर उससे बचना सम्भव नहीं। उससे बचने का तात्पर्य अपने एक महत्वपूर्ण कर्त्तव्य की अवहेलना करना होगा। गलतियों का सुधार करना उतना ही आवश्यक और प्रधान है जितना कि शिक्षा देना। दोनों भिन्न-भिन्न बातें हैं। अतः दोनों कर्त्तव्यों का ठीक पालन करना शिक्षक को उचित है।

६—गृह-कार्य[1]

गृह-कार्य करना बालकों के लिए एक कठिन कार्य हो जाता है। पर इससे उनको छूट देना सम्भव नहीं। स्कूल-समय इतना पर्याप्त नहीं होता कि वहीं पर सब आवश्यक कार्य पूरा कर लिया जाय। अतः गणित, भूगोल, इतिहास, भाषा और साहित्य आदि में कुछ कार्य देना आवश्यक हो जाता है। कुछ शिक्षा-शास्त्री गृह-कार्य के विरुद्ध दिखलाई पड़ते हैं। उनका कहना है कि बालकों को गृह-कार्य देने का तात्पर्य स्कूल के कृत्रिम वातावरण को कुछ अंश में घर पर भी जमाना है। बालक स्कूल में प्रायः थक जाता है। घर पर उसे खेलने-कूदने का अवकाश होना चाहिए। यदि यहाँ भी वह स्कूल-कार्य पूरा करने में लगा रहे तो किताबी-कीड़ा बन कर वह स्वास्थ्य खो बैठेगा। आखिर, बालक को पढ़ने के अतिरिक्त कुछ और काम भी तो है। उसे अपने समाज में मिलना-जुलना तथा कुछ घरेलू-कार्यों में भी हाथ बटाना है। अतः गृह-कार्य देना ठीक नहीं। इस मत से हम शत प्रतिशत सहमत नहीं हो सकते। हमें एक मध्यम मार्ग अपनाना होगा। अर्थात् बालक को उतना ही कार्य देना चाहिए जितना घर पर

1. Home Work.

सरलता से करते हुए वह अपने सामाजिक जीवन तथा घरेलू-कार्य में भी भाग ले सके।

गृह-कार्य देने के पूर्व बालक की योग्यता का ठीक-ठीक अनुमान लगा लेना आवश्यक है। शक्ति के परे कार्य देना बड़ा अमनोवैज्ञानिक है। कभी-कभी कुछ गणित तथा विज्ञान की समस्याओं पर सोचने तथा कार्य करने के लिए उन्हें प्रश्न दिये जा सकते हैं। पर बहुधा गृहकार्य का उद्देश्य स्कूल पर सीखे हुए नियम अथवा बात की आवृत्ति ही होना चाहिए। यदि गृह-कार्य से बालक में सफलता की भावना न आई तो उसका देना व्यर्थ है। गणित और विज्ञान आदि के पाठों में वैयक्तिक भिन्नता पर बिना ध्यान दिये सब को समान रूप से गृह-कार्य देना ठीक नहीं। यहीं वैयक्तिक भिन्नता पर सरलता से ध्यान दिया जा सकता है। जो बालक कमजोर है उन्हें सरल और कम कार्य देना चाहिये। गृह-कार्य देने के पूर्व शिक्षक को बालक की पारिवारिक स्थिति का भी कुछ पता लगा लेना आवश्यक और उचित है। यदि घर में कोई अधिक बीमार हुआ या बालक को अपने माता-पिता के कार्य में हाथ बँटाना होता है तो उसके गृह-कार्य का भार कुछ अवश्य हल्का कर देना चाहिये। कुछ ऐसे भी बालक होते हैं जिन्हें घर पर कुछ अन्य शिक्षक[1] भी पढ़ाते हैं। ऐसे बालकों को भी स्कूल से दिये हुए गृह-कार्य के करने का समय नहीं मिलता। ऐसे बालकों का भी गृह कार्य बहुत हलका कर देना उचित है।

स्कूल आने पर गृह-कार्य का निरीक्षण करना बड़ा आवश्यक है। यदि यह न किया गया तो गृह-कार्य देना ही व्यर्थ है। अतः पाठ प्रारम्भ करने के पहले यथावसर उसका निरीक्षण अवश्य कर लेना चाहिये। गृह-कार्य दण्ड-स्वरूप देना बड़ा ही अमनोवैज्ञानिक है। कुछ शिक्षक क्रोध में अधिक गृह-कार्य दे दिया करते हैं। इसकी जितनी निन्दा की जाय थोड़ी है। इससे बालकों में पाठ्य-विषय के प्रति अरुचि हो जाती है और इस अरुचि के स्थायी हो जाने का बड़ा भय रहता है। बहुधा छोटी कक्षाओं

1. Tutor

में गृह-कार्य बहुत ही कम अथवा न दिया जाय तो अच्छा है। दस-बारह वर्ष के बालकों में खेलने की प्रवृत्ति अधिक रहती है। इस खेल के सहारे ही वे अपनी कई मूलप्रवृत्त्यात्मक इच्छाओं की पूर्ति कर पाते हैं। अतः इस आयु तक गृह-कार्य का न देना ही अच्छा होगा। किसी विशेष अवसर पर कुछ अभ्यास घर पर करने के लिए दे देना हानिकारक भी नहीं।

बहुधा यह देखा जाता है कि रविवार तथा किसी अन्य छुट्टी के अवसर पर बालकों को अधिक गृह-कार्य दे दिया जाता है। इससे छुट्टी का महत्व ही घट जाता है। यदि रविवार को भी स्कूल की ही तरह बालक घर पर भी पढ़ता रहा तो इस छुट्टी से विशेष लाभ नहीं। शारीरिक और मानसिक विकास के लिये परिवर्तन और विश्राम आवश्यक है। अतः छुट्टी के दिन कुछ मानसिक विश्राम दे देना मनोवैज्ञानिक होगा। अच्छा होता यदि अभ्यास देते समय शिक्षक यह जाँच ले कि बालक को दूसरे विषय में कितना गृह-कार्य दिया गया है, अन्यथा उसके अत्यधिक हो जाने का बड़ा भय है। बहुधा गणित में गृह-कार्य की विशेष आवश्यकता होती है। पर किस विषय में कितना गृह-कार्य दिया जाय इसका समझौता अध्यापकों को आपस में पहले ही कर लेना चाहिए। अपने विषय को विशेष महत्ता देने के उद्देश्य से अध्यापकों में गृह-कार्य विषयक स्पर्धा वांछित नहीं। इसका बालकों पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ सकता है।

७—पुस्तकालय[1]

बालकों की शिक्षा में पुस्तकालय का स्थान बड़ा ही आवश्यक है। कदाचित् ही कोई ऐसा माध्यमिक स्कूल होगा जिसमें किसी न किसी प्रकार का छोटा या बड़ा पुस्तकालय न हो। अध्यापकों के प्रवचन सुन लेने और पाठ्य-पुस्तक के पढ़ लेने से सफल जीवन बिताने के लिए बालकों को पर्याप्त ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए प्रत्येक स्कूल में पुस्तकालय भी व्यवस्था की जाती है। स्कूल-काल के बाद जब व्यक्ति जीवन के विभिन्न दायित्व को सँभालता है तो उसे पुस्तक से सीखी हुई

1. Library.

महत्वपूर्ण बातें ही अधिक याद आती हैं। अतः यह आवश्यक है कि पुस्तकालय का संगठन इस प्रकार किया जाय कि बालक उससे अधिक से अधिक लाभ उठा सकें। स्कूल-पुस्तकालय में बालकों की विकासावस्था तथा आवश्यकतानुसार किताबें रखनी चाहिए। बाजार में भली और बुरी दोनों प्रकार की पुस्तकें होती हैं। जब बालक पढ़ने योग्य हो जाते हैं तो उन्हें कोई न कोई नई पुस्तक पढ़ने की सदा इच्छा बनी रहती है। इसी इच्छा की पूर्ति के उद्देश्य की ओर स्कूल-पुस्तकालय में अच्छी-अच्छी पुस्तकों का संकलन होना आवश्यक है। पुस्तकें ऐसी हों कि वे बालकों में वांछित रुचि उत्पन्न कर सकें और यह रुचि ऐसी हो कि वह उनके उत्तर-जीवन की सफलता में सहायक हो सके। अतः स्कूल-पुस्तकालय में ज्ञान, उपदेश और मनोरंजन-सम्बन्धी पुस्तकों का संकलन होना चाहिए।

स्कूल जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के लिए बालकों को तैयार करने की चेष्टा करता है। पुस्तकालय को भी इसी उद्देश्य की पूर्ति में योग देना है। पुस्तकालय से ली हुई पुस्तकें बालकों को स्वयं पढ़नी पड़ती हैं। अतः उनकी योग्यता और रुचि अनुसार उनका सरल होना आवश्यक है। इससे बालकों में स्वतः ज्ञानार्जन करने की प्रेरणा आयेगी। कुछ स्कूलों में बालकों की आवश्यकता और रुचि पर बिना ध्यान दिए ही पुस्तकें खरीद ली जाती हैं। ये पुस्तकें परीक्षा देने वाले किसी शिक्षक के हित अथवा अन्य शिक्षकों की क्षणिक जिज्ञासा की पूर्ति के लिए होती हैं, क्योंकि देखा जाता है कि आजकल के अधिकांश स्कूल-शिक्षकों को पुस्तकालय से पुस्तकें लेने पर भी घर पर पढ़ने का अवकाश नहीं मिलता। लाख इच्छा रहने पर भी अपनी कुछ कौटुम्बिक और सामाजिक परिस्थितियों के कारण वे इतने दबे रहते हैं कि इसका सारा दोष उन्हीं पर मढ़ना अन्याय होगा (उनकी स्थिति सुधारने के लिए आवश्यक साधनों की ओर संकेत करना विषयान्तर होगा) ये पुस्तकें अपने विषय पर बड़ी अच्छी होती हैं; पर इतना निर्विवाद है कि वे बाल-पुस्तकें नहीं होतीं। बालकों की आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद ही इतनी ऊँची-ऊँची पुस्तकें मँगाना युक्तिसंगत है।

यदि पाठ्य-पुस्तक-सम्बन्धी किसी बात के स्पष्टीकरण हेतु बालक पुस्तकालय से किसी पुस्तक को पढ़ कर स्वयं समझ सकता है तो उसके आनन्द का ठिकाना नहीं। अतः पुस्तकों के संकलन में विभिन्न विषयों की पाठ्य-पुस्तकों के अन्तर्गत पाठों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। संकलन के बाद पुस्तकों के संगठन का प्रश्न आता है। पुस्तकों का संगठन इस प्रकार हो कि बालक यह समझ सके कि किस ज्ञान-प्राप्ति के लिए उसे कौन सी पुस्तक पढ़नी चाहिए, इसका प्रबन्ध करना कठिन नहीं। यदि इस प्रकार के संगठन का उत्तरदायित्व विषय-शिक्षक को दे दिया जाय तो यह सम्भव हो सकता है। शिक्षक को भी इस दायित्व का पालन प्रसन्न मन से करना चाहिए। इस प्रकार के संगठन के बाद पुस्तकों का वितरण इस प्रकार होना चाहिए कि बालक में सदा एक नई पुस्तक पढ़ने की रुचि रहे। बहुधा यह देखा जाता है कि स्कूल-पुस्तकालयों का बालक सदुपयोग नहीं कर पाते। इसके कई कारण हैं। एक तो उन्हें पुस्तकालय की पुस्तकें पढ़ने के लिए उत्साहित नहीं किया जाता। दूसरे, यदि वे कोई पुस्तक ले भी गये तो उसके पढ़ने की विधि-सम्बन्धी आवश्यक बातें उन्हें नहीं समझायी जातीं। ऐसी स्थिति में कुछ ऐसा करना आवश्यक है जिससे वे पुस्तकालय का सदुपयोग कर सकें। अच्छा होता यदि कक्षा और विषय के नाम पर पुस्तकों का संकलन किया जाय और साप्ताहिक, पाक्षिक या मासिक अवधि के आधार पर उनके वितरण का उत्तरदायित्व मॉनिटर अथवा अन्य योग्य बालकों को दिया जाय।

बालकों के पास एक ऐसी नोट-बुक होनी चाहिए जिसमें वे पुस्तक सम्बन्धी अपने विचार अंकित कर सकें। पुस्तक के सारांश अथवा किसी नायक के चरित्र-चित्रण लिखने के लिए भी उन्हें उत्साहित किया जा सकता है। इन सब कार्यों का शिक्षक कभी-कभी निरीक्षण कर ले तो अच्छा है। पुस्तकालय से नियमित रूप से पुस्तक पढ़ने की प्रेरणा देने के लिए प्रधानाध्यापक को एक फॉर्म छपा लेना चाहिये। इस फ़ार्म पर पुस्तक पढ़ने के बाद उसका नाम तथा तत्सम्बन्धी कुछ बातें लिखने के लिए बालक को उत्साहित करना आवश्यक है। साल के अन्त में कक्षा: तथा

स्कूल में ठीक रीति से सबसे अधिक पुस्तकें पढ़ने वाले विद्यार्थी को कुछ पुरस्कार देना मनोवैज्ञानिक प्रेरक होगा। बड़ा अच्छा होता यदि बालकों द्वारा पढ़ी जाने वाली पुस्तकों को शिक्षकगण किसी प्रकार पढ़ जाते, जिससे वे तत्सम्बन्धी बालकों की सम्मतियों को आँक सकें।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

शिक्षण के कुछ अन्य उपकरण

१—शिक्षक द्वारा व्याख्या

आवश्यकतानुसार कम से कम, उतार-चढ़ाव, उचित मुख-मुद्रा और अंग संचालन, अधिक उपदेशात्मक नहीं।

शिक्षक को अन्य विषयों का भी ज्ञान, उनकी ओर प्रसंगानुसार संकेत।

आत्म-प्रशंसा न हो।

तुलना का आधार।

विरोधी शब्दों, परिभाषा, विग्रह, वस्तु वा चित्र-प्रदर्शन, तथा अभिनय आदि की सहायता।

व्याख्या के बीच-बीच में प्रश्न।

वर्णन-प्रणाली; छात्रों के निजी अनुभव की ओर भी संकेत करना; यथास्थान चार्ट, चित्र और श्यामपट का उपयोग।

२—प्रदर्शन-सामग्री

रुचिकर, पर विशेष आकर्षक नहीं, प्रदर्शन-वस्तु का बहुत छोटा होना ठीक नहीं।

पाठ के अनुसार, बालकों के सामने काफी देर तक रखना।

३—श्यामपट का प्रयोग

श्यामपट के उचित प्रयोग में शिक्षक की पटुता।

श्यामपट पर सुन्दर लिखना अभ्यास से सम्भव; सुन्दर, बड़ा और शुद्ध

लिखना; लिखे जाने वाले शब्दों को बोलते रहना; समान आकार और सीधी पंक्तियाँ; चमकीले अक्षर।

आवश्यक चित्रों और मानचित्रों के खींचने में शिक्षक का समर्थ होना, श्यामपट का सफल प्रयोग बड़ा आवश्यक।

श्यामपट सम्बन्धी कुछ अन्य ध्यान देने योग्य बातें

श्यामपट को न ढकना, शरीर टेढ़ा करके न लिखना, लिखने के बाद कभी-कभी कक्षा का निरीक्षण करना, अध्यापन के पूर्व श्यामपट साफ़ कर लेना, अन्त में श्यामपट को साफ़ कर के जाना, अधिकतर सफ़ेद खड़िया का प्रयोग।

४—पाठ्यपुस्तक

पहले और आज की प्रणाली में भेद, पाठ्य-पुस्तक की उपेक्षा सम्भव नहीं।

आवश्यक बाहरी पुस्तकें पढ़ने के लिए आदेश, पाठय-पुस्तक केवल पथ-प्रदर्शिका, उसकी कमी को शिक्षक को अपने ज्ञान से पूरी करना।

५—लिखित कार्य का संशोधन

बड़ा आवश्यक।

पहले मौखिक अभ्यास करा देना, त्रुटि-संशोधन शीघ्र, स्व-संशोधन, संशोधन बालकों के सामने, शिक्षक द्वारा संशोधन सर्वश्रेष्ठ, त्रुटि के संशोधित रूप का निरीक्षण।

संशोधन का उद्देश्य तात्कालिक नहीं, कई प्रकार की गलतियों की ओर एक साथ ही संकेत नहीं—इसमें विकास-अवस्था पर ध्यान।

श्यामपट की सहायता, आवश्यक प्रशंसा।

६—गृह-कार्य

घर के लिए काम देना आवश्यक, पर थोड़ा ही।

गृहकार्य से स्कूल में सीखी हुई बात की आवृत्ति हो, सफलता की भावना आवश्यक, वैयक्तिक भिन्नता तथा पारिवारिक स्थिति पर ध्यान।

गृहकार्य का निरीक्षण, दण्ड स्वरूप गृहकार्य देना अनुचित, छोटे बालकों को बहुत कम कार्य देना।

छुट्टी के दिन अधिक गृहकार्य देना ठीक नहीं, देने के पहले अन्य शिक्षकों द्वारा दिये हुये कार्य का ज्ञान।

७—पुस्तकालय

विकास की अवस्था और आवश्यकतानुसार पुस्तकों का संकलन; ज्ञान, उपदेश और मनोरंजन सम्बन्धी पुस्तकें।

सरल पुस्तकें, बाल पुस्तकें।

पुस्तकों का संगठन, बालक आवश्यक पुस्तक को शीघ्र जान जाय, विषय-शिक्षक की सहायता, कक्षा व विषय के नाम पर पुस्तकों का संकलन, वितरण का दायित्व बालकों पर, पुस्तक सम्बन्धी अपने अनुभव अङ्कित करने के लिए उत्साहित करना, सबसे अधिक पुस्तक पढ़ने वाले को पुरस्कार देना।

सहायक पुस्तकें

१—स्टर्ट ऐण्ड ओकडेन—मैटर ऐण्ड मेथड इन एडूकेशन, पृष्ठ १२१, १३५, १५७, १७२।
२—जॉन ऐडम्स—एक्सपोज़ीशन ऐण्ड इलस्ट्रेशन इन टीचिङ्ग।
३—एम० डब्लू० कॉर्टिंग—सजेस्शन इन एडूकेशन।
४—डब्लू० एच० किलपैट्रिक—फाउण्डेशन्स ऑव् मेथड।
५—जे० जे० फिन्डले—प्रिन्सीपुल्स ऑव् क्लास टीचिंग।
६—चतुर्वेदी और रुद्र—अध्यापन-कला।
७—वार्ड ऐण्ड रॉस्कू—द अप्रोच टु टीचिंग, अध्याय ६, ७।
८—क्राफ़ोर्ड, सी० सी०—हाउ टु टीच, अध्याय १७।
९—हैमिल्टन—द टीचर ऑन द थ्रेशहोल्ड, अध्याय ९, १०।
१०—एच० एम० पेरेरा—द साइकॉलॉजी ऑव् लर्निंग ऐण्ड टीचिंग, अध्याय ४-८।



३१

शिक्षा-समन्वय[1]

१—आवश्यकता[2]

बालकों को विभिन्न विषयों को पढ़ाने का तात्पर्य उन्हें ज्ञान देना अथवा चरित्र और व्यक्तित्व का निर्माण करना है। इस प्रकार हमारा उद्देश्य केवल एक ही है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए जान अथवा अनजान में सभी शिक्षक चेष्टा किया करते हैं। अतः जो विषय अलग-अलग समझे जाते हैं वे एक ही ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के समान हैं। यदि उन विषयों में एक सम्बन्ध का अनुभव न किया जा सका तो शिक्षा-व्यवस्था का चलना कठिन हो जायगा। कुछ विषयों के विश्लेषण से मालूम होता है कि बहुत से अलग-अलग पढ़ाये जाने वाले विषय एक ही साथ अधिक सरलता और सफलता से पढ़ाये जा सकते हैं।

भाषा में 'पढ़ने' और 'लिखने' का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। अँग्रेजी में "केस" पढ़ाते समय हिन्दी के "कारक" का उल्लेख किया जा सकता है। ऐसा न करने से एक बार "कारक" पढ़ लेने पर भी उसी बात की आवृत्ति बहुत हद तक अंग्रेजी में करनी पड़ेगी। यही बात हिन्दी और अंग्रेजी व्याकरण के अन्य अङ्गों के साथ भी है। दोनों के व्याकरण में भिन्नता रहते हुए भी कहीं-कहीं काफी समानता है। अतः हिन्दी और अंग्रेजी पढ़ने वाले छात्रों का इन समानताओं की ओर प्रारम्भ में ही यथास्थान ध्यान आकर्षित कर देना चाहिए। इससे समय की बचत होगी और बात भी शीघ्र समझ में आयेगी। इसी प्रकार इतिहास के प्रारम्भिक पाठ में देश की भौगोलिक स्थिति का कुछ उल्लेख कर

1. Correlation of Studies. 2. Need.

दिया जाय तो बालकों को तत्सम्बन्धी ऐतिहासिक और भौगोलिक—दोनों ज्ञान प्राप्त होगा।

गणित को अङ्कगणित, बीजगणित और रेखागणित—तीन अङ्गों में बाँट दिया गया है। यदि अङ्कगणित के कुछ साधारण सिद्धान्तों के उल्लेख के समय बीजगणित के भी प्रारम्भिक नियमों को स्पष्ट कर दिया जाय तो उतने ही समय में दो काम बन जायेंगे। ड्राइङ्ग[1] के साथ यदि भूगोल और इतिहास के कुछ मानचित्र खिंचवाये जाँय तो एक ही साथ दो-तीन विषयों में कुछ जानकारी प्राप्त कर लेना कठिन नहीं। यह सोचा जाता है कि अंग्रेजी में व्याकरण, लेख[2] और अनुवाद[3] अलग-अलग पढ़ाये जाने चाहिए। परन्तु ऐसा सोचना गलत है। प्राथमिक कक्षाओं में व्याकरण में सीखे हुए नियमों को ही लेख और अनुवाद में कार्यान्वित करते हैं। इसी प्रकार मौखिक और लिखित अङ्कगणित को समन्वित किया जा सकता है।

आधुनिक शिक्षा-सिद्धान्त समन्वित विषयों पर विशेष जोर देता है और इस प्रकार विषयों की संख्या कम करना चाहता है। समन्वय पर समुचित ध्यान न देने से विभिन्न विषयों के अध्यापन में कुछ कृत्रिमता आ गई है और एक ही विषय को कभी-कभी दो बार पढ़ा कर बालकों की रुचियों और परिश्रम की अवहेलना की जाती है। विशेष शिक्षकों की नियुक्ति भी असमन्वित शिक्षा के चलने में योग देती है। यह सत्य है कि कभी-कभी विशेषज्ञों की बड़ी आवश्यकता होती है और उनके बिना हमारा शिक्षा-कार्य सफलता से सम्पादित नहीं हो सकता। पर विशेषज्ञों को अपने ही विषय की धुन में न रहना चाहिए। उन्हें यह समझना चाहिए कि उनका भी विषय "सामान्य ज्ञान"[4] का केवल एक अङ्ग ही है। अतः "सामान्य ज्ञान" के सम्बन्ध का पूरा ज्ञान होना विशेषज्ञ के लिए आवश्यक है। तभी वह बालकों में अपने विषय के प्रति विशेष रुचि उत्पन्न कर सकेगा। ऐसा करने से ही सब शिक्षक यह समझ सकेंगे कि उन सब का परिश्रम एक ही उद्देश्य की पूर्ति की ओर केन्द्रित हो

---

1. Drawing. 2. Composition. 3. Translation. 4. Common Knowledge.

रहा है। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि शिक्षा में समन्वय की बड़ी आवश्यकता है।

२—शिक्षा-समन्वय पर हरबार्ट का मत

हरबार्ट का कथन है कि शिक्षा का प्रधान उद्देश्य चरित्र का निर्माण करना है। उसके अनुसार इस चरित्र-निर्माण के लिए बालकों में बहु-रुचि[1] उत्पन्न करना आवश्यक है। बहु-रुचि का तात्पर्य बहुत से विषयों का फुटकर ज्ञान देना नहीं है। अतः विभिन्न विषयों का एक संगठन होना आवश्यक है। यह संगठन ऐसा हो कि सभी विषय एक ही ज्ञान के विभिन्न आवश्यक अङ्ग मालूम हों। विभिन्न रुचियों में एक समन्वय से ही यह सम्भव हो सकता है। हरबार्ट का विश्वास है कि बालक की रुचियों में समन्वय या सामञ्जस्य उत्पन्न करने के लिए उसकी किसी एक रुचि का पहले काफी विकास करना चाहिए। "प्रत्येक व्यक्ति को सभी विषयों से प्रेम होना चाहिए और प्रत्येक को किसी एक में निपुण।[2] हरबार्ट का कहना है कि विभिन्न विषयों की पाठ्य-वस्तुओं को बालकों के सामने इस प्रकार रखना है कि वे उन्हें 'एक ही विषय' समझ सकें। समन्वय से ही यह सम्भव हो सकता है। अतः प्रत्येक शिक्षक को यह जानना चाहिए कि विभिन्न विषयों में परस्पर-सम्बन्ध क्या है। इस सम्बन्ध के ज्ञान से ही वह बालकों में सामञ्जस्यपूर्ण बहु-रुचि उत्पन्न कर उनके चरित्र का आदर्श निर्माण कर सकेगा।

३—समन्वय रहित शिक्षा के कुछ दोष

समन्वय की आवश्यकता की चर्चा करते हुए ऊपर हम समन्वय रहित वर्त्तमान शिक्षा के दोषों की ओर कुछ संकेत कर चुके हैं। ऊपर हम कह चुके हैं कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हमारी शिक्षा के तीन अङ्ग होने चाहिए :—ज्ञानात्मक[3], रागात्मक[4] और क्रियात्मक[5] ये तीन हमारे मन के तीन पक्ष हैं। वर्त्तमान शिक्षा विशेषकर ज्ञानात्मक अङ्ग

1. Manysided Interests. 2. *Herbart*, Science of Pedagogy, Chap. 2. 3. Knowing. 4. Feeling. 5. Willing.

की ही ओर ध्यान देती है। कदाचित् यह समझा जाता है कि सामाजिक क्षेत्र तथा व्यावहारिक जीवन में उतरने से रागात्मक और क्रियात्मक अङ्ग की शिक्षा अपने आप हो जाती है। पर ऐसा समझना भ्रम है। जैसे बिना शिक्षा के ज्ञानात्मक अङ्ग का वांछित विकास नहीं हो सकता वैसे ही रागात्मक और क्रियात्मक अङ्ग का विकास बिना शिक्षा के अधूरा और अव्यवस्थित रह जाता है।

अब बहुत से शिक्षा-शास्त्री यह समझने लगे हैं कि समाज में जो कुछ बुराइयाँ दिखलाई पड़ती हैं वे व्यक्ति के विभिन्न राग से ही उत्पन्न होती हैं। यदि राग[1] की उपयुक्त शिक्षा होती तो यह भूलोक ही कदाचित् स्वर्ग बन जाता। आज बहुत से लोग यह सोचने में लगे हैं कि रागात्मक अंग की शिक्षा का संगठन किस प्रकार किया जाय। क्रियात्मक अंग की उपेक्षा इतनी अधिक की जाती है कि स्कूल और कालेज से निकलने के बाद विद्यार्थी यह निर्णय नहीं कर पाते कि अपने जीवन-यापन के लिए वे क्या करें। फलतः आजकल एकाङ्गी बौद्धिक शिक्षा का ही बोल-बाला है। जॉन ऐडम्स के शब्दों में "वर्त्तमान शिक्षा रूपी वस्त्र चिथड़ों और प्यौदों का पुञ्ज हो गया है।" यह स्थिति बड़ी ही सोचनीय है। इसके निवारणार्थ आवश्यक साधनों की ओर संकेत करना हमारे क्षेत्र के बाहर की बात है। इसके लिए तो एक अलग ही पुस्तक की आवश्यकता होगी। पर इन तीन अंगों को समन्वय की सहायता से कुछ सम्बद्ध किया जा सकता है, यद्यपि तीनों की शिक्षा का अलग-अलग ही प्रबन्ध होना आवश्यक है।

शिक्षा-समन्वय से हम विभिन्न विषयों में एकता स्थापित कर बालकों को यह समझाना चाहते हैं कि पढ़े जाने वाले विभिन्न विषय एक ही ज्ञान रूपी वृक्ष की शाखायें हैं। इस सिद्धान्त को मान लेने से शिक्षकों में भी यह दिखलाने की पारस्परिक स्पर्धा न रहेगी कि एक विषय दूसरे से श्रेष्ठ है। यह बड़े खेद की बात है कि गणित, विज्ञान तथा भूगोल का शिक्षक अपने को संगीत, हस्तकला, शारीरिक स्वास्थ्य तथा संस्कृत आदि के

---

1. Emotion.

अध्यापकों से श्रेष्ठ मानता है। उसकी इस धारणा का उत्तरदायित्व सरकारी शिक्षा-विभाग को भी हैं; क्योंकि वह सभी को समान वेतन देने का पक्षपाती नहीं। जब तक इस तरह का भेद हमारी शिक्षा-संस्थाओं से नहीं निकल जाता हमारे बालकों की शिक्षा की उचित व्यवस्था नहीं हो सकती। हमें विभिन्न विषयों की शिक्षा का संगठन इस प्रकार करना है कि उससे बालक, 'ज्ञान की एकता' का अनुभव करते हुए अपनी सन्तुलित[1] रुचियों का विकास करता रहे।

४—विषयों का केन्द्रीकरण[2]

शिक्षा समन्वय के लिए हरबार्ट ने केन्द्रीकरण का नियम बना रखा है। इसके अनुसार किसी एक ही विषय को प्रधान मान कर अन्य विषयों की शिक्षा उसी के इर्द-गिर्द संगठित करना चाहिए। हरबार्ट ने इस सम्बन्ध में इतिहास को श्रेष्ठता दी है। इतिहास को एक व्यापक विषय मानकर उसने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि साहित्य, चित्रकला, शिल्पकला, गणित, भूगोल तथा विज्ञान आदि विषय इतिहास से कैसे समन्वित किए जा सकते हैं। उसने यह दिखलाया है कि साहित्य पढ़ाने के लिए ऐतिहासिक नाटक, काव्य और उपन्यास चुने जा सकते हैं। बालकों के चरित्र-निर्माण के लिये ऐतिहासिक महापुरुषों के जीवन-चरित्र पढ़ाये जा सकते हैं। चित्रकला व शिल्पकला के सिखाने में ऐतिहासिक दुर्ग, भवन, रथ तथा कवच आदि बनाने की बालकों को शिक्षा दी जा सकती है। ऐतिहासिक आक्रमणों के उल्लेख के आधार पर कुछ प्रदेशों के भूगोल का भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। किसी ऐतिहासिक सेना और इमारत के व्यय-सम्बन्धी बातों के आधार पर गणित की भी शिक्षा दी जा सकती है।

हरबार्ट के अनुयायियों ने इतिहास से विज्ञान की शिक्षा का भी समन्वय करने का साहस किया है। उदाहरणार्थ; किसी सामुद्रिक युद्ध के वर्णन में हवाओं, तूफानों तथा कुतुबनुमा आदि का वैज्ञानिक ज्ञान

1. Balanced. 2. Concentration of studies.

देना कठिन न होगा। पर केन्द्रीकरण की इतनी दूर तक खींचा-तानी करना सम्भव नहीं। फलतः कुछ अमेरिकन शिक्षा-शास्त्रियों ने इतिहास का पक्ष छोड़ प्रकृति-विज्ञान[1] को केन्द्रीकरण का आधार माना है। उनका विश्वास है कि प्रकृति-विज्ञान इतना व्यापक है कि इसे चित्र-कला, मूर्तिनिर्माण, भाषा, काव्य, गणित, भूगोल तथा इतिहास आदि सभी विषयों के अध्ययन का आधार माना जा सकता है। 'प्रॉजेक्ट-मेथड'[2] में इस केन्द्रीकरण का विभिन्न रूप देखने को मिलता है। इसमें प्रकृति-विज्ञान के अतिरिक्त किसी हस्तकला (तथा अन्य विषय) को केन्द्रीकरण का आधार मान लिया जाता है।

५—समन्वय का व्यावहारिक रूप

उपर्युक्त विवरण से यह मालूम होता है कि केन्द्रीय विषय के चुनाव में लोग अपनी ही रुचि का ध्यान रखते हैं। हरबार्ट को इतिहास अधिक पसन्द था। पार्कर के लिए विज्ञान श्रेष्ठ है। डीवी के लिये हस्तकला सबसे उपयुक्त है। इस प्रकार इन सब विचारों में बालकों की रुचि की अवहेलना का भान होता है। हमें उदार भावना से प्रत्येक पाठ्य-विषय से सम्बन्धित अन्य विषयों की ओर संकेत करना चाहिए। पर किसी एक ही विषय को मान्यता दे देना दूसरों की अवांछित अवहेलना करनी होगी। हमें समन्वय से बालक को "ज्ञान की एकता" का अनुभव देना है। यदि यह ज्ञान उसको न दिया जा सका तो वह क्रम-बद्ध रूप में कुछ न सीख सकेगा। इस एकता का ज्ञान देने के लिए पाठ्य-क्रम को एक नये ढंग से संगठित करना होगा। विभिन्न विषयों में समान भागों का संगठन इस प्रकार होना चाहिये कि बालक को उसे बार-बार न पढ़ना पड़े। इससे समय की काफी बचत होगी। किसी विषय के पढ़ाने के समय उससे सहायक अन्य विषयों सम्बन्धी बातों का बालकों से उल्लेख कर देना आवश्यक है। इससे उनकी संकीर्णता चली जायगी।

पर यह ध्यान रहे कि विषयान्तर के बोझ से बातें उनकी कल्पना के

1. Nature Study. 2. Project Method (अध्याय २४).

बाहर की न हो जाय। विषयान्तर ऐसा हो कि वह मुख्य विषय के ही समझने में सहायक हो। वस्तुतः शिक्षक का उद्देश्य समन्वय करना नहीं है, वरन् किसी विषय को पढ़ाना है। समन्वय साधन है, साध्य नहीं। अतः यदि उसकी आवश्यकता न हो तो व्यर्थ की खींचा-तानी वांछित नहीं। उपर्युक्त विचारों को एक अमेरिकन लेखक इस प्रकार रखता है :—"वास्तविक केन्द्रीकरण विभिन्न विषयों का यान्त्रिक संगठन नहीं। इसमें तो पाठ्य-विषय सम्बन्धित उन सभी विषयों के अंशों को लेना है जिनका लेना आवश्यक मालूम हो।....यदि इस प्रकार किसी विषय को पढ़ाया जाय तो यह वास्तविक पढ़ाना हुआ।"[1]

छोटी कक्षाओं में समन्वय का रूप सबसे अधिक सन्तोषजनक दिखाई पड़ता है। कदाचित् समन्वय-सिद्धान्त की यह कमी न हो। पर इस सन्तोषजनक स्थिति का एक मनोवैज्ञानिक कारण है। प्रारम्भ में बालक की बुद्धि का विकास इतना नहीं हो पाता कि वह संसार की विभिन्न वस्तुओं की विशेषताओं को सरलता से समझ सके। उसे मनुष्य और प्रकृति में अन्तर नहीं दिखलाई पड़ता। अतः उसकी शक्ति और रुचि के अनुसार वातावरण का कोई भाग चुनकर उसकी शिक्षा प्रारम्भ कर देनी चाहिये। पहले बच्चों के सामने विशेषकर मानव-प्रधान-वातावरण का ही कोई अङ्ग रखना ठीक होगा। इस अङ्ग के विभिन्न रूप उसके सामने उपस्थित करने चाहिए। इस प्रकार उसकी शिक्षा का संचालन करने से पाठ्य-क्रम में सम्मिलित पढ़ना, लिखना, गणित, गाना, कहानी, ड्राइङ्ग और मिट्टी का काम आदि जैसे विषय वातावरण के एक ही अङ्ग से निकले हुये मालूम होंगे। बालक इस प्रकार उनके स्वाभाविक परस्पर-सम्बन्ध को समझ लेगा और संसार की विभिन्न वस्तुओं का स्पष्ट ज्ञान भी उसे धीरे-धीरे होने लगेगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शिक्षा में समन्वय का लाना सरल नहीं। पाठ्य-क्रम के विभिन्न विषयों का शिक्षक को जब तक पर्याप्त ज्ञान न होगा वह उनका परस्पर सम्बन्ध बालकों को नहीं समझा सकता। यदि

1. *Tompkins, A.* The Philosophy of Teaching, p. 261.

शिक्षक का ज्ञान गम्भीर है तो उसे समझने में देर न लगेगी कि भूगोल और प्रकृति विज्ञान के किसी अङ्ग का परस्पर सम्बन्ध क्या होगा। भाषा के पाठ में बहुत से ऐसे अवसर आयेंगे जब उसे इतिहास की ओर संकेत करना पड़ सकता है। योग्य अध्यापक यह शीघ्र समझ लेगा कि समन्वित शिक्षा से बालकों का नैतिक और बौद्धिक विकास कैसे किया जाय। शिक्षा का नैतिक उद्देश्य इतना व्यापक है कि इसी के आधार पर पाठ्य-क्रम के सभी विषयों में कुछ परस्पर सम्बन्ध देखा जा सकता है। अतः समन्वय के सम्बन्ध में कठिनाई के अनुभव करने पर शिक्षक को नैतिक उद्देश्य पर ध्यान देना चाहिए।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

शिक्षा-समन्वय

१—आवश्यकता

विभिन्न विषय एक ही ज्ञान की विभिन्न शाखायें, समन्वय से शक्ति और समय की बचत।

समन्वय के अभाव में कृत्रिमता, विशेषज्ञों का दायित्व।

२—शिक्षा-समन्वय पर हरबार्ट का मत

सामंजस्यपूर्ण बहुरुचि की उत्पत्ति से चरित्र-निर्माण।

३—समन्वय रहित शिक्षा के कुछ दोष

ज्ञानात्मक, रागात्मक और क्रियात्मक अङ्ग पर अलग-अलग समुचित ध्यान नहीं, एकांगी बौद्धिक शिक्षा।

ज्ञान की एकता और सन्तुलित रुचियों का विकास।

४—विषयों का केन्द्रीकरण

हरबार्ट के अनुसार 'इतिहास' केन्द्रीकरण का सर्वश्रेष्ठ साधन, वर्त्तमान शिक्षा-शास्त्रियों के अनुसार प्रकृति-विज्ञान और हस्तकला केन्द्रीकरण का साधन।

५—समन्वय का व्यावहारिक रूप

बालकों की रुचि की अवहेलना नहीं, विषयान्तर मुख्य विषय के समझने में सहायक हो, समन्वय साधन, व्यर्थ की खींचा-तानी ठीक नहीं।

छोटे बालकों की शिक्षा में समन्वय सरल, मानव-प्रधान वातावरण का ही अंग रखना।

शिक्षक को पाठ्य-क्रम का पूरा ज्ञान आवश्यक।

सहायक पुस्तकें

१—टी० रेमाएट—प्रिन्सांपुल्स ऑव् एडूकेशन, अध्याय १०।
२—एरनॉल्ड टाम्पकिन्स—द फ़िलासॉफ़ी ऑव् टीचिङ्ग।
३—मैकमरी—जनरल मेथड, अध्याय ४।
४—फ़िन्डले—प्रिन्सीपुल्स ऑव् क्लास टीचिङ्ग।

३२

कक्षा-शिक्षण और वैयक्तिक शिक्षण[1]

१—कक्षा शिक्षण के कुछ दोष[2]

आजकल वैयक्तिक शिक्षण को कक्षा-शिक्षण से श्रेष्ठतर समझा जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान के विकास से वैयक्तिक भिन्नता का रूप अब अधिक समझ में आ गया है। कक्षा-शिक्षण में बालकों की वैयक्तिक आवश्यकताओं पर समुचित ध्यान देना कठिन होता है, क्योंकि एक कक्षा में कई कोटि के बालक पाये जाते हैं। कोई बहुत जल्दी सीख लेता है और किसी को बड़ी देर लगती है। ऐसी स्थिति में तेज़ और कमज़ोर बालकों में समझौता करना कठिन हो जाता है। जब शिक्षक कमज़ोर बालक के समझाने में लग जाता है तो तेज़ बालक कुढ़ता है और पाठ्य-विषय से उसकी रुचि हट जाती है।

बहुत सी बातों में बालकों की आपसी असाम्यता से कक्षा-शिक्षण में शिक्षक को अपने परिश्रम का उचित फल नहीं मिलता। कभी-कभी कुछ बालकों की शक्ति, आवश्यकतायें और समस्यायें दूसरे से इतनी भिन्न होती हैं कि उन्हें कक्षा-शिक्षण विधि से पढ़ाना उनके विकास में रोड़े अटकाना है। थोड़ी-अधिक भिन्नता से कभी-कभी कुछ लाभ हो भी जाता है, क्योंकि उससे स्पर्धा-भावना के कारण व्यक्ति में विकास के लिए प्रेरणा आ जाती है। परन्तु अधिक भिन्नता वाले बालकों को ३५-४० बालकों की बड़ी कक्षा में पढ़ाने का कभी मनोवांछित फल नहीं मिल

1. Class Instruction and Individual Instruction. 2. Some Defects of class Instruction.

सकता। कमज़ोर विद्यार्थी सदा किसी न किसी बात में पिछड़ा ही रहता है। कक्षा में जो कुछ पढ़ा दिया जाता है उसे वे पचा नहीं पाते। सभी लड़कों के साथ पाठ्य-क्रम समाप्त कर लेने पर भी उनके मस्तिष्क में कुछ रह नहीं जाता। अध्यापक अपने चलने की चाहे जो गति अपनाये सभी बालकों के लिए वह एक सी लाभप्रद नहीं हो सकती। जो लड़के भाषा में कमज़ोर हैं उन्हें कक्षा-शिक्षण-व्यवस्था के अन्तर्गत कुछ अधिक समय नहीं दिया जा सकता, न उसमें विशिष्ट रुचि वाले छात्र के लिए कोई विशेष प्रबन्ध ही किया जा सकता है। इन सब दृष्टियों से कक्षा-शिक्षण दोषयुक्त दिखलाई पड़ता है।

ऊपर हम कई बार कह चुके हैं कि बालक के चरित्र-विकास में शिक्षक के व्यक्तित्व का प्रभाव बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। कक्षा-शिक्षण में शिक्षक बालकों के सम्पर्क में इतना नहीं आता कि वह उनका ठीक से नाम भी याद कर सके, तो समुचित रूप से प्रभावित करने की बात कहाँ तक की जाय। कुछ शिक्षा-शास्त्रियों के अनुसार कक्षा-शिक्षण अमनोवैज्ञानिक भी है। क्योंकि उसमें बालक के साधारण स्वभाव की अवहेलना की जाती है। चुपचाप बैठा रहना बालक को पसन्द नहीं। वह कुछ न कुछ करते रहना चाहता है। अध्यापकों के प्रवचन सुनने में उसकी रुचि नहीं। पर कक्षा में ऐसा सम्भव नहीं। इसीलिए तो छोटे लड़के कक्षा में बहुधा ऊधम मचाते हुए देखे जाते हैं।

२—कक्षा-शिक्षण के कुछ गुण[1]

कक्षा-शिक्षण के उपर्युक्त दोषों से तो ऐसा जान पड़ता है कि वह सर्वथा त्याज्य है। पर बात ऐसी नहीं। इसीलिए तो वैयक्तिक शिक्षण की कई विधियों के आविष्कार होने पर भी कक्षा-शिक्षण का महत्त्व एकदम अभी गया नहीं। वैयक्तिक-शिक्षण पूर्णतः सम्भव होता तो वह आदर्श की बात होती। पर इस आदर्श तक पहुँचना कठिन है। इतने अध्यापकों की व्यवस्था कैसे की जा सकती है? इसमें आर्थिक समस्या भी आ जाती

1. Some Merits of Class Instruction.

है। दूसरे, बालक में भी सामूहिकता[1] की मूलप्रवृत्ति काफी जाग्रत रहती है। वह अपनी उम्र और कोटि के बालकों के साथ रहना चाहता है। वह अपने इस समाज में रह कर नैतिकता तथा आचरण-सम्बन्धी अनेक पाठ सीखता है। उनका मानसिक विकास भी अपनी कोटि के बालकों में रहकर अधिक होता है; क्योंकि, स्पर्धा[2], अनुकरण[3], सहानुभूति[4] आदि प्रवृत्तियों के कारण वे एक दूसरे से बराबरी या बढ़ जाने की चेष्टा में रहते हैं। इस चेष्टा से उनमें कई गुणों का आ जाना सरल होता है।

कभी कभी यह देखा गया है कि वैयक्तिक-शिक्षण-व्यवस्था के अन्तर्गत बालक कक्षा-शिक्षण की भाँति नहीं सीख पाता, क्योंकि अकेले सीखने में प्रेरणा की कमी रहती है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे विषय होते हैं जिनमें सहानुभूति, संकेत और अनुकरण की अधिक आवश्यकता होती है। ऐसे पाठ्य-विषयों में बालकों की संख्या जितनी ही अधिक होगी शिक्षण उतना ही सफल होगा। श्रोतागण की संख्या जितनी ही अधिक होती है भाषण-वक्ता बहुधा उतना ही अच्छा व्याख्यान देता है। यही बात शिक्षक के सम्बन्ध में भी कुछ अवसरों पर कही जा सकती है। ऐसे अवसर जान ऐड्म्स के शब्दों में "साहित्य, धर्म, ज्ञान, कला, संगीत, इतिहास तथा भूगोल" के शिक्षण में आते हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि कक्षा-शिक्षण में कमजोर विद्यार्थियों के कारण एक ही बात के बार-बार दोहराने से केवल उन्हीं का लाभ नहीं होता, वरन् तेज छात्रों के मस्तिष्क में भी बात बड़ी अच्छी तरह बैठ जाती है। इन्हीं सब कारणों से मॉन्तेसरी, प्राजेक्ट मेथड, 'डाल्टन प्लान' आदि पद्धतियाँ विरोधी होने हुए भी कक्षा-शिक्षण की उपयोगिता को अस्वीकार नहीं करती और इन्हें भी समय-समय पर कक्षा-शिक्षण का आश्रय लेना पड़ता है। इससे यह जान पड़ता है कि हमें किसी मध्यम मार्ग का अनुसरण करना होगा।

कक्षा-शिक्षण और वैयक्तिक-शिक्षण के स्थान पर किस समन्वित मार्ग

1. Instinct of Gregariousness. 2. Emulation. 3. Imitation. 4. Sympathy.

को अपनाया जाय इसका भी एकमत से निश्चय नहीं किया जा सका है। आदर्श तो यह होगा कि वैयक्तिक-शिक्षण विधि के अन्तर्गत ही कोई ऐसा उपाय निकाला जाय जिससे कक्षा-शिक्षण वाले लाभ से छात्र वंचित न रह सकें। पर अभी तक किसी ऐसे मार्ग की सम्भावना नहीं दीख पड़ी है जो इस दृष्टिकोण से दोषमुक्त प्रतीत हो। अतः वर्तमान स्थिति में तो यही ठीक जान पड़ता है कि कक्षा-शिक्षण-व्यवस्था के अन्तर्गत ही छात्रों पर वैयक्तिक ध्यान देने का कुछ प्रबन्ध किया जाय। यह ठीक है कि ऐसे प्रबन्ध में शिक्षक का उत्तरदायित्व और परिश्रम बढ़ जायगा। पर क्या ऐसा करने में वह अपने कर्तव्य का ही पालन न करेगा ?

बालकों पर यदि वैयक्तिक ध्यान देना न हुआ तो शिक्षक कक्षा में आकर मनमाना पढ़ा देने से ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ बालकों के विकास पर कुठाराघात करेगा। ऐसी स्थिति को हमें यथाशक्ति रोकना है और कुछ ऐसी विधियों का अवलम्बन लेना है जिनसे छात्रों की वैयक्तिक भिन्नता का शिक्षक को ज्ञान देकर यथासम्भव बालकों की आवश्यकतानुसार शिक्षण-कार्य को सगठित करना है। इस प्रयत्न में शिक्षक के भार को कुछ कम करने के लिए कक्षा में बालकों की संख्या ३५-४० से २०-२५ करनी होगी और स्कूल में शिक्षकों की संख्या को भी बढ़ाना होगा। सामान्य स्कूल-परिस्थिति के अन्तर्गत वैयक्तिक-शिक्षण की व्यवस्था के लिए कुछ पद्धतियों का निर्माण किया गया है। संक्षेप में नीचे हम इसका उल्लेख करते हैं:—

मैकमन की दो-दो की शिक्षण-विधि

मैकमन[1] का कहना है कि सम्पूर्ण कक्षा को यदि दो-दो बालकों की टोली में विभाजित कर पढ़ाया जाय तो यह कक्षा-शिक्षण से कहीं अधिक उपयोगी होगा, क्योंकि इसमें वैयक्तिक-शिक्षण और कक्षा-शिक्षण दोनों के गुण आ जाते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी इसका बालक पर बड़ा ही अच्छा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि इसमें वैयक्तिक स्वतन्त्रता अधिक होती है

1. MacMunn.

और आवश्यकता पर अध्यापक की सहायता भी मिल जाती है। इस प्रकार मैकमन शिक्षा में साझेदारी[1] की भावना का प्रवर्त्तक है। उसके ये विचार शिक्षण-कला के बड़े महत्त्वपूर्ण देनों में से माने जाते हैं। इस सिद्धान्त का प्रधान उद्देश्य यह है कि दिन के अधिकतम समय में बालक क्रियाशील रहे और यथासम्भव वह अपने प्रयत्न से सीखने की चेष्टा करे।

मैकमन ने यह समझ लिया था कि प्रचलित शिक्षण-विधि का प्रधान दोष यह है कि उसमें बालक की स्वाभाविक क्रियाशीलता की जागृति के लिये समुचित अवसर नहीं दिया जाता। जल्दी सिखा देने की धुन में सब कुछ शिक्षक अपने आप ही कह जाता है। जैसे छोटे बर्तन में बड़े मुँह वाले नल से वेगपूर्वक पानी गिरने से वर्तन भरता नहीं, प्रत्युत उसमें जो कुछ पानी रहता है उसका भी थोड़ा भाग बाहर गिर जाने का भय रहता है, वैसे ही शिक्षकों की वेगवती वाणी बालकों के मस्तिष्क में नहीं जमती। इसके फलस्वरूप उन्हें जो कुछ आता है उसे भी वे कभी-कभी भूल जाते हैं। अतः शिक्षक को अपनी वाणी पर नियन्त्रण रख बालकों को स्वयं सीखने के लिए उत्साहित करना है। औसत लगाकर देखा गया है कि कक्षा में शिक्षक और बालकों के बोलने के समय का अनुपात २० : १ का है अर्थात शिक्षक यदि ३० मिनट बोलता है तो बालक केवल १½ मिनट बोल पाता है। यह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के विरुद्ध है। इसीलिए तो शिक्षा में क्रियाशीलता[2] को इतनी आवाज उठाई गई और उठाई जा रही है।

मैकमन का कहना है कि कक्षा-समय में प्रत्येक बालक को क्रियाशील रहना है। आधे समय तक उसे सीखना है और आधे में उसे अपने साझी-दार के प्रश्न का उत्तर देना है। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये मैकमन ने कुछ पुस्तकों की रचना की जिन्हें अंग्रेजी में "डिफ़ेरेन्शियल[3] पार्टनरशिप बुक्स" कहते हैं। मैकमन का यह अनुभव रहा कि उन विषयों

1. Partnership. 2. Activtiy. 3. Differential Partnership Books.

को छोड़कर जिनमें शिक्षक की सहायता पग-पग पर आवश्यक होती है अन्य विषयों में इन पुस्तकों की सहायता से बालक बहुत कुछ अपने से ही सीखने में समर्थ हो जाते हैं। मैकमन की विधि में सर्व प्रथम शिक्षक बालकों को कार्य करने की पूरी विधि समझा देता है। इसके बाद लड़के दो-दो की टोलियों में बँट कर कार्य प्रारम्भ कर देते हैं। कुछ देर के बाद सभी एकत्रित होते हैं, जिससे शिक्षक उनकी गलतियों का सुधार कर सके। इस प्रकार इस विधि से लड़के अपने से अध्ययन करना सीख जाते हैं।

मैकमन शिक्षक की स्थिति की तुलना डाक्टर से करता है। डाक्टर रोगी की दवा इस प्रकार करता है कि फिर उसको देखने की आवश्यकता न हो। यदि डाक्टर की उपस्थिति नित्य आवश्यक है तो इसका अर्थ यह है कि वह अपने कर्त्तव्य-पालन में सफल न हुआ। इसी प्रकार बालक की शिक्षा का संचालन शिक्षक को इस प्रकार करना है कि उसे उसकी उपस्थिति आवश्यक न मालूम हो। जो बालक बिना शिक्षक की सहायता के नहीं सीख सकता उसकी शिक्षा का मनोवैज्ञानिक संचालन नहीं किया गया है।

४—निरीक्षित स्वाध्याय[1]

मैकमन की उपर्युक्त विधि से मिलती जुलती हॉलक्वेस्ट[2] ने एक दूसरी विधि का विकास किया है जिसे 'निरीक्षित स्वाध्याय' कहते हैं। इस विधि का ध्येय शिक्षक के निरीक्षण में बालक को अपनी शिक्षा के लिये उत्तरदायी बनाना है। इस प्रकार उसमें आत्म-निर्भरता आयेगी और उसके व्यक्तित्व का विकास मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से चलेगा। इस धारणा के आधार पर हालक्वेस्ट एक नये ढङ्ग से स्कूल का संगठन करना चाहते हैं। उदाहरणार्थ; किसी एक घण्टे के कार्य-क्रम का वे बारह और चौबीस-चौबीस मिनट के तीन भाग करते हैं। पहले बारह मिनट या कुल समय के ⅕ भाग में शिक्षक पिछले पाठ को दोहराते हुये छात्रों के पूर्व ज्ञान की परीक्षा करता है और आगामी पाठ के लिए उन्हें तैयार करता है। इस प्रथम भाग को प्रस्तावना[3] काल कहते हैं। दूसरे ⅖ भाग में शिक्षक बालकों की जिज्ञासा को जाग्रत करते हुए उनके सामने कुछ समस्यायें रखता है।

---

1. Supervised study. 2. Hall-Quest. 3. Review period.

इसको कार्यारोपण[1] कहते हैं। तीसरे भाग में छात्र समस्याओं के समाधान में व्यक्तिगत रूप से लग जाते हैं। कार्यारोपण में शिक्षक बालक की विलक्षणताओं पर विशेष ध्यान देता है। प्रखर, साधारण और मन्द छात्रों की विभिन्न योग्यता पर ध्यान देते हुये उसे उन्हें कार्य देना आवश्यक होगा अन्यथा निरीक्षित स्वाध्याय का उद्देश्य सफल न हो सकेगा।

कुछ आलोचकों का कहना है कि "निरीक्षित स्वाध्याय" से बालकों में आत्म-निर्भरता नहीं आती। वे सदा शिक्षक के ही निर्देश पर आश्रित रहते हैं। पर इसके समर्थकों का कहना है कि शिक्षक को पाठ का संगठन इस प्रकार करना हैं कि समस्यायें छात्रों के मस्तिष्क में स्वयं उत्पन्न हों और उनके समाधान का वे स्वतः उपाय सोचें। अन्त में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "निरीक्षित स्वाध्याय"—विधि कक्षा-शिक्षण और वैयक्तिक-शिक्षण का अच्छा समन्वय है। प्रथम दो भाग में सभी छात्र एक साथ ही कक्षा में बैठ कर शिक्षक की बातें सुनते हैं और तीसरे भाग में उन्हें अपनी व्यक्तिगत शक्तियों का प्रयोग करना पड़ता है।

५—गैरी पद्धति[2]

अमेरिका के इण्डियाना राज्य के डब्लू० ए० वर्ट[3] ने एक नई शिक्षा-विधि का निर्माण किया है, जिसे "गैरी पद्धति" कहते हैं। वर्ट का विश्वास है कि स्कूल ज्ञान देने का नहीं वरन् शिक्षा देने का स्थान है। उसके अनुसार 'कार्य', 'खेल' और 'अध्ययन' शिक्षा के तीन साधन हैं। अतः उसने एक ऐसे प्रकार के स्कूल के संगठित करने का प्रयत्न किया जहाँ बालकों के खेल और मनोरंजन का समुचित प्रबन्ध होते हुये भी 'ज्ञान' सीखने का भी पूरा अवसर मिलता रहे। इस प्रकार स्कूल अंशतः 'घर', 'मनोरंजन के स्थान' तथा 'ज्ञान सीखने के स्थान' हैं।

वर्ट कहता है कि जैसे घरों और बगीचों में बालकों के लिए कोई निश्चित स्थान नहीं होता और वे कहीं भी बैठ-उठ सकते हैं, उसी प्रकार

---

1. Assignment. 2, The Gary System "गैरी" नामक शहर में इस पद्धति के निर्माण होने के कारण इसका नामकरण गैरी कर दिया गया। 3. W. A. Wirt.

स्कूल में भी प्रत्येक बालक के लिए एक निश्चित स्थान का होना आवश्यक नहीं। जोड़-घटा कर वर्ट ने यह निष्कर्ष निकाला कि स्कूल में जितने कमरे होते हैं उनके आधे से ही काम निकल सकता है, क्योंकि जब कुछ लड़के बाहर काम करते हैं तो करीब आधे कमरे हर समय खाली पड़े रहते हैं। अतः उसने गैरी-स्कूल में बालकों की कुल संख्या के आधे ही के लिए बैठने की व्यवस्था की और आधे को बाहर मैदान में काम करने की। परन्तु गैरी-पद्धति को सफल बनाने के लिये आवश्यक है कि स्कूल में काम करने और खेलने के लिए और कमरों की व्यवस्था की जाय। कला-गृह, पुस्तकालय, मनोरंजन-स्थान, खेल मैदान, प्रयोगशाला, कार्य-स्थान आदि स्थानों का समुचित प्रबन्ध आवश्यक है।

वर्ट ने अपनी शिक्षा-पद्धति में दो नई बातों का समावेश किया है। (१) उसने स्कूल-समय को बड़ा बना दिया और स्कूल-कार्य को भी तदनुसार और बड़ा बनाना पड़ा। 'स्कूल' खेल, कार्य और अध्ययन करने का स्थान है इसलिए छुटियाँ देने की व्यवस्था ही नहीं की गई; क्योंकि स्कूल में रहते हुये भी अपने मनोरंजन द्वारा बालक छुटियाँ मना सकता है। इस विश्वास के कारण रविवार की तथा अन्य छुटियाँ काट दी गईं। स्कूल बारहों महीने और सप्ताह भर खुला रहता है। (२) अपने अवकाश के समय अभिभावकों को स्कूल में आने का आमन्त्रण सदा खुला रहता है। वे किसी भी समय आकर स्कूल में अपना कुछ मनोरंजन कर सकते हैं। इस प्रकार वर्ट ने स्कूल-अधिकारियों और अभिभावकों में एक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की है।

हम यहाँ 'गैरी पद्धति' के केवल उन्हीं अंशों पर दृष्टिपात करेंगे जिनसे शिक्षा में बालक को वैयक्तिक स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है और उसे अपने विकास के लिए उत्तरदायी बनाया जाता है। अन्य स्कूलों की अपेक्षा "गैरी-स्कूलों" के बालकों को अधिक स्वतन्त्रता होती है। ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि बालक को हर समय स्कूल में काम ही नहीं करना पड़ता और न शिक्षक को प्रवचन ही देना होता है। कुछ अध्यापकों का

१. बालकों की वैयक्तिक आवश्यकताओं का अध्ययन कर तदनुसार

उनके कार्य, मनोरंजन और अध्ययन की व्यवस्था करना ही होता है। वे बालकों को पाठ्य-वस्तु की ओर संकेत कर देते हैं और यह भी बतला देते हैं कि किस कक्षा में उनका बैठना आवश्यक होगा। इस प्रकार वैयक्तिक स्वतन्त्रता के आयोजन का कुछ मनोवैज्ञानिक प्रयत्न अवश्य किया जाता है। 'गैरी-पद्धति' में एक विशेषता यह है कि कभी-कभी दस-बारह कक्षाओं के बालकों को एक ही स्थान[1] पर एकत्रित किया जाता है और उन्हें एक ही अध्यापक कुछ देर तक कुछ पढ़ाता अथवा उनसे कोई काम कराता है। इस प्रकार कक्षा-शिक्षण का भी रूप इस पद्धति में दिखलाई पड़ता है। यद्यपि सभी स्कूलों में ऐसे योग्य अध्यापक नहीं मिलते जो इतनी बड़ी कक्षा का निरीक्षण करते हुये उसके अध्ययन में योग दें; पर कुछ तो ऐसे अवश्य ही हर अच्छे स्कूल में होते हैं।

प्रॉजेक्ट पद्धति की तरह 'गैरी-पद्धति' भी स्कूल और व्यक्ति के बाहरी जीवन में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना चाहती है। पर इसकी विधि कुछ भिन्न है। 'गैरी-पद्धति' में शिक्षक केवल पढ़ाता ही नहीं, वरन् साधारण नागरिकों के जीवन-यापनार्थ जो कार्य आवश्यक हैं उनके करने की विधि को भी वह बालकों को समझाता है। उदाहरणार्थ; रसायन-शास्त्र का अध्यापक उन प्राकृतिक वस्तुओं का विश्लेषण करना बालकों को सिखलाता है जिन्हें बाहर व्यवसाय के कार्य में लाया जाता है। ऐसे विश्लेषण में लड़के पूर्ण भाग लेते हैं। इस प्रकार गैरी-स्कूल केवल ज्ञान सीखने का ही नहीं, वरन् काम करने का भी स्थान है।

कुछ लोगों की धारणा है कि गैरी-स्कूल में कक्षा-शिक्षण पर बहुत कम ध्यान दिया जाता है और इस सम्बन्ध में वह अन्य साधारण स्कूलों से पीछे है। गैरी-स्कूल के इस दोष का कारण यह है कि इसमें अध्यापक अन्य स्कूल के अध्यापकों की तरह अपने को बालकों की उन्नति के लिये उत्तरदायी अनुभव नहीं करते, क्योंकि वे बालकों को काफी वैयक्तिक स्वतन्त्रता दे देते हैं। गैरी-स्कूल में कुछ "अप्लीकेशन-टीचर"[2] हुआ करते हैं। इनका कर्त्तव्य मन्द बालकों को व्यवसाय, व्यापार, उद्योग तथा नाग-

1. Audotorium. 2. Application Teacher.

रिकता आदि की बातें समझानी होती हैं, जिससे वे भविष्य में अच्छे नागरिक बन सकें। कुछ ऐसे अध्यापकों की उपस्थिति से स्कूल के अध्यापक अपने को इस उत्तरदायित्व से मुक्त समझते हैं। पर यह अच्छा लक्षण नहीं, क्योंकि अध्यापकों को बालकों के विकास के लिए एक सामूहिक उत्तरदायित्व का अनुभव करना चाहिए। इसलिए अब कुछ लोग 'गैरी-स्कूलों' मे 'अप्लीकेशन-टीचर' के कार्य क्षेत्र को बढाना चाहते हैं। सभी बालकों को वैयक्तिक आवश्यकताओं के अध्ययन की उससे अपेक्षा होनी चाहिए और बालकों की कुछ विशेष समस्याओं पर उसे अन्य अध्यापकों से भी विचार-विनिमय करना चाहिए। ऐसा न करने से स्कूल की एकता नष्ट हो जाती है और काम भी सन्तोषजनक नहीं हो पाता, क्योंकि सभी बालकों के विषय में "अप्लीकेशन-टीचर" का जानना सम्भव नहीं।

६—"मेसन-पद्धति"

इस पद्धति के निर्माता मिस मेसन हैं। इसके अनुसार बालकों को ज्ञानवर्द्धक अथवा साहित्यिक आदि विषय नहीं पढ़ाये जाते, वरन् उन्हें यह सिखलाया जाता है कि "क्या और कैसे पढ़ें।" "क्या और कैसे पढ़ें" का ज्ञान हो जाने पर बालक स्वतन्त्र अध्ययन में समर्थ हो सकेंगे। मेसन के अनुसार बालकों की पाठ्य-पुस्तकों में विविध प्रकार के विषयो का होना आवश्यक है, क्योंकि इससे उनकी रुचि बनी रहेगी। विषय ऐसे हों कि वे यथासम्भव उनके वैयक्तिक अनुभव की ओर सकेत कर सकें। ऐसा होने से वे उन्हें स्वतः समझ सकेंगे। विषय को एक बार बालक को पढ़ने के लिए देना चाहिए। तत्पश्चात् मौखिक और लिखित रीति से उसे व्यक्त करने के लिए उन्हें उत्साहित करना चाहिए।

इस प्रकार मेसन पद्धति में मौखिक और लिखित पुनरावृत्ति पर विशेष जोर दिया जाता है, क्योंकि मिस मेसन का विश्वास है कि बिना आवृत्ति के कोई ज्ञान स्थायी नहीं होता। पर यह ध्यान देने की बात है कि मेसन-पद्धति में ज्ञानार्जन के लिए बालक को एक ही बार पढ़ने पर जोर दिया जाता है, जिससे एक ही बार में वह अपना ध्यान एकाग्रित करना सीख ले। जहाँ कहीं भी इस पद्धति का प्रयोग किया गया वहाँ इसे

बड़ी सफलता मिली है। साधारण स्कूलों के छात्रों की अपेक्षा 'मेसन-पद्धति' पर चलने वाले स्कूलों के छात्र अधिक श्रम, उत्साह और संलग्नता से अपना विषय पढ़ते और याद करते हैं और उनका ज्ञानार्जन भी अधिक होता है। पर मेसन-पद्धति को कार्यान्वित करने के लिए उपयुक्त पुस्तकों का अभाव बड़ा बाधक दिखलाई पड़ता है।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

कक्षा-शिक्षण और वैयक्तिक शिक्षण

१—कक्षा शिक्षण के कुछ दोष

बालकों की असमानता से शिक्षण का वांछित फल नहीं, कमजोर का पिछड़ना और तेज के समय का नष्ट होना, वैयक्तिक भिन्नता पर ध्यान देना संभव नहीं।

शिक्षक के व्यक्तित्व से पूर्ण लाभ कक्षा-शिक्षण में सम्भव नहीं, बाल-स्वभाव की उपेक्षा।

२—कक्षा-शिक्षण के कुछ गुण

वैयक्तिक शिक्षण पूर्णतः सम्भव नहीं, कक्षा में आचरण का पाठ, अपनी उम्र के बालकों के साथ बालक की प्रवृत्तियों का विकास, अकेले सीखने में प्रेरणा की कमी।

नई शिक्षक-पद्धतियों को भी कक्षा-शिक्षण की आवश्यकता, कक्षा-शिक्षण के अन्तर्गत वैयक्तिक ध्यान देने का प्रबन्ध, कक्षा में बालकों की संख्या कम और स्कूल में अध्यापकों को बढ़ाना आवश्यक।

३—मैकमन की दो-दो की शिक्षण-विधि

वैयक्तिक और कक्षा शिक्षण दोनों के गुण, स्वयं सीखने के लिए उत्साहित करना।

शिक्षण की स्थिति डाक्टर की तरह।

४—निरीक्षित स्वाध्याय

शिक्षक के निरीक्षक में बालक अपनी शिक्षा के लिए उत्तरदायी, वैयक्तिक भिन्नता पर ध्यान देना।

कक्षा-शिक्षण और वैयक्तिक-शिक्षण का अच्छा समन्वय।

५—गैरी पद्धति

स्कूल ज्ञान देने का नहीं—वरन् शिक्षा देने का स्थान; 'कार्य' 'खेल' और 'अध्ययन' शिक्षा के तीन साधन।

स्कूल-समय और कार्य पहले से बड़ा, छुट्टी नहीं, स्कूल-अधिकारियों और अभिभावकों में घनिष्ट सम्बन्ध।

बालकों को अधिक स्वतन्त्रता, कक्षा-शिक्षण का भी रूप।

बाहरी और स्कूल के जीवन में सम्बन्ध।

कक्षा-शिक्षण पर ध्यान कम, अप्लीकेशन टीचर।

६—"मेसन पद्धति"

'क्या' और 'कैसे' पढ़ें, पाठ्य-पुस्तकों में विविध प्रकार के पाठ, मौखिक और लिखित पुनरावृत्ति पर जोर, उपयुक्त पुस्तकों का अभाव बाधक।

सहायक पुस्तकें

१—बॉसिङ्ग, नेलसन एल०—प्रोग्रेसिव् मेथड ऑव् टीचिङ्ग इन सेकण्डरी स्कूल्स।
२—बर्टन, विलियम ऐच०—द गाइडेन्स ऑव् लर्निङ्ग ऐक्टीविटीज़।
३—मेसन—एन एसे टुवर्ड्स ए फ़िलॉसफ़ी ऑव् एडूकेशन।
४—सी० डब्लू वाशबर्न—ऐडजस्टिङ्ग द स्कूल टु द चाइल्ड।
५—डब्लू जे० मैककालिस्टर—द ग्रोथ ऑव् फ़्रीडम इन एडूकेशन।
६—डब्लू सी० बैगले—एडूकेशनल वैलूज़।
७—स्टेवेन्सन—प्रॉजेक्ट मेथड इन टीचिङ्ग।
८—ई० डीवी—डाल्टन लेबोरेटरी प्लान।
९—हूगस—लर्निङ्ग एण्ड टीचिङ्ग, अध्याय २०।
१०—रिस्क—प्रिन्सीपुल्स ऐण्ड प्रैक्टिसेज़ ऑव् टीचिङ्ग, अध्याय २४।

३३

परीक्षा[1]

१—भूमिका

परीक्षा हमारी शिक्षा-प्रणाली का एक मुख्य अङ्ग है। अतः इस पर भी कुछ विचार करना उपयुक्त जान पड़ता है। परीक्षा बालकों की शिक्षा का माप-दण्ड हो गई है। उन्हें परीक्षा में पास होने के लिए ही पढ़ाया जाता है। शिक्षक के सामने भी मुख्य उद्देश्य अपने छात्रों को परीक्षा में शत प्रतिशत उत्तीर्ण करना ही रहता है। व्यक्तित्व के विकास का आदर्श शिक्षकों के सामने बहुत कम आता है। वास्तव में यह स्थिति बड़ी खेद-जनक है। हमारे कहने का तात्पर्य यह नहीं कि परीक्षा से हानि ही होती है, परन्तु हमें उसके गुण और अवगुण दोनों पर ध्यान देना चाहिए। पढ़ाया हुआ विषय विद्यार्थी ने कहाँ तक समझ लिया है तथा शिक्षक अपने अध्यापन-कार्य में कहाँ तक सफल हुआ है इसकी जाँच के लिये परीक्षा का अवलम्बन लेना अनिवार्य है। इसलिये छात्रों की समय समय पर परीक्षायें हुआ करती हैं। इनके अतिरिक्त शिक्षा-विभाग अथवा सरकार द्वारा भी कुछ परीक्षायें हुआ करती हैं। इनके फल पर प्रधान प्रमाण-पत्र दिया जाता है। पर वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली कुछ ऐसी हो गई है कि इससे विद्यार्थियों को बड़ा डर लगता है। परीक्षा के समय उन्हें खाने-पीने का अवकाश नहीं रहता। रात-रात भर जाग कर परिश्रम करने पर भी उन्हें परीक्षा का डर बना ही रहता है। नीचे हम परीक्षा के कुछ अन्य दोषों की ओर भी संकेत कर रहे हैं। उनकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं; इसलिए उन्हें हम सूत्र रूप में ही दे रहे हैं।

---

1. Examination.

२—वर्त्तमान परीक्षा-पणाली के कुछ दोष

१—एक ही उत्तर पर विभिन्न परीक्षकों द्वारा भिन्न-भिन्न अङ्क दिये जाते हैं। एक परीक्षक उसमें प्रथम श्रेणी देता है, तो दूसरा तृतीय और तीसरा फेल तक कर देता है। इस प्रकार परीक्षा का निर्णय परीक्षक की व्यक्तिगत झक पर बहुत निर्भर रहता है।

२—पाठ्य-क्रम की अपेक्षा प्रश्नों की संख्या कम होती है। इसलिये परीक्षार्थी महत्वपूर्ण प्रश्नों का अनुमान लगा कर पढ़ते हैं। यदि अनुमानित प्रश्न न आया तो उनकी बुरी दशा होती है।

३—प्रायः सभी प्रश्नों के लिए बराबर अङ्क रहते हैं। पर यह ठीक नहीं; क्योंकि सभी प्रश्नों की तैयारी में समान परिश्रम आवश्यक नहीं होता।

४—प्रत्येक क्षेत्र में छात्र की लेखन-शक्ति की ही विशेषकर परीक्षा होती है। इस शक्ति के अभाव में सारी बातों को जानते हुए भी परीक्षार्थी इच्छित सफलता नहीं पाता। उदाहरणार्थ; भूगोल या इतिहास जैसे विषयों में कुछ परीक्षार्थी अपनी लेखन-शक्ति के सहारे ऐसी भूमिका बाँध देते हैं कि मालूम होता है कि उन्हें बहुत आता है और दूसरे परीक्षार्थी इसके अभाव में सारी बातें जानते हुये भी अपने भावों का सफल प्रकाशन नहीं कर पाते। इस प्रकार परीक्षा द्वारा उनके इतिहास या भूगोल की उतनी परीक्षा नहीं होती जितनी कि लेखन-शक्ति की। इसमें परीक्षा के उद्देश्य की हार हो जाती है।

५—परीक्षा अविश्वास के वातावरण में ली जाती है। अध्यापक संतरी की तरह परीक्षा-भवन में नियुक्त कर दिए जाते हैं और वे अपने सूक्ष्म निरीक्षण के प्रमाण देने के एक अवसर को भी नहीं चूकते। परन्तु नकल करने वाले परीक्षार्थी किसी न किसी प्रकार अपने उद्देश्य की पूर्ति कर ही लेते हैं। कागज पर लिख कर इधर-उधर रख लेना अथवा अपने हाथ या पैर पर कुछ लिख लेना उन्हें कभी-कभी सहायक हो जाता है; यदि इस प्रकार नकल करते हुये वह पकड़ा गया तो उसे परीक्षाधिकारी मनमाना दण्ड दे डालते हैं।

६—परीक्षा से विद्यार्थी के वास्तविक ज्ञान की ठीक जाँच नहीं हो पाती। यह देखा जाता है कि कम बुद्धि और ज्ञान वाला छात्र कभी-कभी अपने से तेज विद्यार्थी से परीक्षा में आगे बढ़ जाता है। इसका कारण उपर्युक्त प्रथम दो पैराग्राफ में स्पष्ट है।

७—प्रश्नों का निश्चित और स्पष्ट उत्तर नहीं होता। विभिन्न परीक्षार्थी अपनी-अपनी विधि से उत्तर देते हैं। कोई तर्क शक्ति पर जोर देता है तो कोई स्मृति और बातों की क्रम-बद्धता पर। वस्तुतः परीक्षक इन तीनों बातों का एक ही में समन्वय चाहता है, पर एक ही उत्तर में विभिन्न मानसिक क्रियाओं का समन्वय सम्भव नहीं।

३—सुधार के लिए कुछ सुझाव

उपर्युक्त दोषों के निराकरण के लिए शिक्षा-शास्त्रियों ने मनोवैज्ञानिकों की सहायता से एक नई परीक्षा-प्रणाली का आविष्कार किया है जिसे 'अचीवमेण्ट टेस्ट[1] या न्यू टाइप-टेस्ट' अथवा 'ज्ञान-परीक्षा' कहते हैं। अचीवमेण्ट टेस्ट के गुण और अवगुण दोनों हैं। वर्तमान परीक्षा प्रणाली के बहुत से दोषों को उससे निःसन्देह दूर किया जा सकता है। परन्तु हमारे गरीब देश में, जहाँ कि साक्षरता की ही समस्या का सरल समाधान नहीं दिखलाई पड़ता उनका उपयोग धनाभाव के कारण सम्भव नहीं। "अचीवमेण्ट टेस्ट" की रचना के लिए हमें कुछ विशिष्ट अध्यापकों की ही आवश्यकता न होगी, वरन् उन्हें शिक्षा भी एक दूसरे ढंग से देनी पड़ेगी। पर हमारी वर्त्तमान शिक्षा-व्यवस्था 'अचीवमेण्ट टेस्ट के निर्माण तथा उपयोग के लिए अभी पूर्णतः तैयार नहीं। हम यहाँ 'अचीवमेण्ट टेस्ट' के गुणों और अवगुणों का विवेचन नहीं करेंगे। इसकी व्याख्या तो किसी एक अलग ही पुस्तक में सम्भव है। हम यहाँ केवल यही विचार करेंगे कि वर्तमान परीक्षा-प्रणाली में किन-कित बातों का सुधार कर दिया जाय कि वह काम चलाऊ हो जाय, क्योंकि सुधार का धीरे-धीरे लाना ही अधिक युक्तिसंगत और व्यावहारिक होता है।

---

1. Achievement Test or New Type Test.

ऊपर हम कह चुके हैं कि परीक्षा का होना आवश्यक है। हमे प्रयत्न यह करना है कि वह उपर्युक्त दोषों से मुक्त हो जाय। यथासम्भव परीक्षा स्वाभाविक वातावरण में लेनी चाहिये। उसका वातावरण कृत्रिम न हो, अन्यथा छात्रों के मन से उनके प्रति भय न जायगा। परीक्षा का रूप ऐसा हो कि वह छात्र के दैनिक शिक्षा-क्रम का ही आवश्यक अङ्ग मालूम हो। यदि उसे दैनिक शिक्षा-क्रम का साधारण अंग बनाया जा सका तो उसकी पूर्व सूचना आवश्यक न होगी। विषयों के अध्यापन की तरह अचानक एक दिन परीक्षा भी हो जायगी। यदि ऐसी स्थिति उत्पन्न की जाती तो वह आदर्श होता। इसस छात्रों में प्रतियोगिता की भावना न आयेगी। प्रतियोगता से शारीरिक और मानसिक शक्तियों का बडा ह्रास होता है। परीक्षा के पूर्व बालकों से स्पष्ट कह देना चाहिए कि बिना डर के उन्हें जो कुछ आता हो लिखें।

प्रश्न-पत्र के बनाने में अध्यापकों को कुछ बातों पर ध्यान देना चाहिए। कठिन-कठिन प्रश्न देना मनोवैज्ञानिक नहीं। प्रश्न इतने सरल हों कि अधिकांश छात्र अधिक से अधिक लिख सकें। प्रश्न पत्र का लम्बा होना भी ठीक नहीं। प्रश्नों की रचना में यह ध्यान रहे कि छात्रों की रुचि और योग्यता के अनुकूल कुछ प्रश्न अवश्य मिल जॉय। प्रश्न-पत्र एक ही बैठक में नहीं बनाने चाहिए। ऐसा करने से प्रायः उन्हीं प्रश्नों पर विशेप ध्यान दिया जाता है जो कि आसानी से बन जाते हैं और इस प्रकार पठित विषय का बहुत भाग छूट जाता है। प्रयत्न यह होना चाहिए कि प्रत्येक पाठ से कुछ न कुछ बातें पूछी जॉय। ऐसा करना असम्भव नहीं—पर प्रश्न-पत्र वनाने में अध्यापक को अधिक परिश्रम करना पड़ेगा। उदाहरणार्थ; भाषा के प्रश्न-पत्र में व्याख्या, शब्दार्थ, जीवन-चरित्र तथा शैली आदि सम्बन्धी प्रश्न विभिन्न पाठों से बनाये जा सकते हैं। अपनी दृष्टि से केवल महत्त्वपूर्ण पाठों से ही प्रश्नों को चुन देना ठीक नहीं। इसी प्रकार भूगोल, इतिहास, विज्ञान तथा गणित आदि विषयों में भी सभी पठित-विषयों से कुछ न कुछ प्रश्न बनाये जा सकते हैं। ऐसा करने से परीक्षार्थियों की अनुमान लगाने की आदत

धीरे-धीरे बहुत कम हो जायगी। प्रश्नों का रूप ऐसा हो कि छात्रों को अपनी ओर से भी कुछ कहने की स्वतन्त्रता हो। इससे उनके व्यावहारिक ज्ञान की वृद्धि होगी और परीक्षा का मूल्य भी बढ़ जायगा।

उपर्युक्त बातें तो विशेषकर स्कूल की आन्तरिक परीक्षाओं के सम्बन्ध में हुईं। पर इनके अतिरिक्त जैसा ऊपर कहा गया है, कुछ दूसरी परीक्षायें भी होती हैं जो शिक्षा-विभाग अथवा सरकार द्वारा आयोजित की जाती है। इन्हें सार्वजनिक परीक्षायें कह सकते हैं। इन परीक्षाओं के परीक्षकों को भी ऊपर कही हुई बातों पर यथासम्भव ध्यान देना चाहिए, क्योंकि उनका उत्तरदायित्व और अधिक बढ़ जाता है। परीक्षकों को सदा यह याद रखना चाहिए कि उनके प्रश्न-पत्र का प्रभाव शिक्षा-प्रणाली पर बड़ा गहरा पड़ता है। जैसे प्रश्न परीक्षा में पूछे जाते हैं उसी के अनुसार अध्यापक कक्षा में पढ़ाने का प्रयत्न करता है। स्पष्ट है कि यदि परीक्षक सावधानी से प्रश्न-पत्र बनाये तो शिक्षा प्रणाली और परीक्षा की बहुत कुछ बुराइयाँ दूर की जा सकतो हैं। जैसे अध्यापन एक कला है, उसी एकार परीक्षा भी एक कला है। इस कला को प्रत्येक परीक्षक को सीखना चाहिए। प्रश्न पत्र बनाने के समय परीक्षक को अपने मन में निम्नलिखित प्रश्न पूछने चाहिए :—

१—इस प्रश्न का शिक्षा प्रणाली पर क्या असर पड़ेगा।

२—क्या इससे छात्रों में रटने की आदत पड़ेगी ?

३—क्या प्रश्न उनके मानसिक विकास के अनुकूल हैं ?

४—इससे छात्र पुस्तकीय-ज्ञान के अतिरिक्त अपनी बुद्धि और ज्ञान का कहाँ तक प्रयोग करेंगे ?

५—क्या ये प्रश्न सम्पूर्ण पठित विषय का प्रतिनिधित्व करते हैं ?

६—क्या प्रश्नों की भाषा स्पष्ट है ? क्या इससे एक ही उत्तर की ओर सकेत हो रहा है ?

७—प्रश्न प्रधानतः एक ही मानसिक शक्ति के प्रयोग की ओर संकेत करता है या नहीं ?

इन प्रश्नों पर ध्यान रखने से परीक्षकों के पथभ्रष्ट होने का कम डर रहेगा।

प्रश्न-पत्र बनाने के पूर्व परीक्षक को पाठ्य-क्रम तथा पठित-विषयों का पूरा ज्ञान कर लेना चाहिए। यह आन्तरिक और बाह्य दोनों परीक्षकों के लिए आवश्यक है। इस ज्ञान का यह तात्पर्य नहीं कि पाठ्य-क्रम और पठित विषय का केवल शीर्षक भर देख लिया जाय। ऐसा करने से परीक्षक अपने कर्त्तव्य का उचित पालन न कर सकेगा। ऊपर कहा जा चुका है कि एक ही बार बैठ कर प्रश्न नहीं बनाने चाहिए। अध्यापक को पढ़ाने के क्रम में ही अवसर पर प्रश्न लिखते जाना चाहिए। इससे बड़े अच्छे प्रश्न बनते हैं और छात्रों की कठिनाई और आवश्यकता से वह पूर्ण रूपेण परिचित हो जाता है। परीक्षा के समय इन्हीं प्रश्नों में से प्रश्न-पत्र बना लेना चाहिए।

सार्वजनिक परीक्षाओं के परीक्षकों को पाठ्य-पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ना चाहिए। पढ़ने के क्रम में जो प्रश्न आएँ उनको अङ्कित करते रहना चाहिए और अन्त में इन्हीं प्रश्नों में से उसे बालक की मानसिक अवस्थानुसार प्रश्न-पत्र बनाने चाहिए। परीक्षकों को याद रखना चाहिये कि पाठ्य-विषय के सभी अंश परीक्षणीय नहीं होते। अपरीक्षणीय अंश को प्रश्न-पत्र में देना ठीक नहीं, क्योंकि इससे छात्रों में बिना समझे रटने की आदत पड़ती है। परीक्षणीय और अपरीक्षणीय विषयों का अन्तर समझना सरल नहीं। पहले लोगों की धारणा रही कि भूगोल और इतिहास में केवल रटना ही रटना रहता है। पर आधुनिक शिक्षा-शास्त्रियों ने यह सिद्ध कर दिया है कि मनोवैज्ञानिक ढंग से पढ़ने पर इनसे तर्क-शक्ति और निर्णय-शक्ति की वृद्धि की जा सकती है। पर किसी अंश का हानिकर अथवा लाभकर होना परीक्षक और परीक्षण-प्रणाली पर आश्रित होता है।

जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे मालूम होता है कि परीक्षक यदि स्कूल के अध्यापक ही हों तो बड़ा अच्छा है। सार्वजनिक परीक्षाओं के परीक्षक बहुधा कालेजों और विश्वविद्यालयों के अध्यापक नियुक्त कर दिये

जाते हैं, क्योंकि सरकारी शिक्षा-विभाग में उनका बड़ा जोर रहता है। परीक्षक चुनने में यह ध्यान नहीं रखा जाता कि निर्वाचित व्यक्ति बालकों के प्रति कहाँ तक सहानुभूति दिखला सकेगा, अथवा उसे स्कूल-अध्यापन-सम्बन्धी विभिन्न बातों का आवश्यक ज्ञान कहाँ तक है। बस, निर्वाचित परीक्षकों के यहाँ पाठ्य-क्रम के अनुसार कुछ पुस्तकें भेज दी जाती हैं। परीक्षक महोदय अपने काम से खाली हुये तो पुस्तक के पन्ने इधर-उधर उलट-पुलट कर कुछ प्रश्न बना देते हैं। इस प्रकार वे हज़ारों के भाग्य निर्माता होने के गर्व में मन ही मन प्रसन्न होते हैं। इस पद्धति की जितनी निन्दा की जाय थोड़ी है। कुछ लोगों का कहना है कि स्कूल-अध्यापक सार्वजनिक परीक्षाओं के परीक्षक होने योग्य नहीं, क्योंकि वे अपने प्रश्न-पत्रों का रहस्योद्‌घाटन कर सकते हैं। ऐसी भावना उच्चपदासीन शिक्षा-धिकारियों की धनलोलुपता का द्योतक है। प्रचलित परीक्षा-प्रणाली में भी प्रश्न-पत्रों का भण्डा फोड़ कितना हो चुका है यह बात किसी से छिपी नहीं है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि हमारे स्कूल के अध्यापक किसी से कम ईमानदार नहीं। दायित्व पाने पर वे इतनी सतर्कता से काम करेंगे कि ऐसी शंका के लिए कहीं स्थान भी न रहेगा।

अब उत्तर-पुस्तकों की परीक्षा की बात आती है। वस्तुतः इनकी परीक्षा करना प्रश्न-पत्र बनाने से कहीं कठिन है। हम ऊपर कह चुके हैं कि एक उत्तर पर विभिन्न परीक्षक भिन्न-भिन्न अंक देते हैं। इस दोष के सुधार के लिए दो प्रकार के सुझाव दिये गये हैं। कुछ लोगों का कहना है कि प्रश्न ऐसे पूछे जाँय जिनमें छात्र की लेखन-शक्ति की परीक्षा न हो, वरन् ज्ञान अर्थात् आवश्यक बातों की परीक्षा हो। यदि लेखन-शक्ति की परीक्षा आवश्यक हो तो उसमें बीस प्रतिशत से अधिक अङ्क न रखने चाहिए। उनका कहना है कि सात या आठ प्रश्न न पूछ कर सौ प्रश्नों के लगभग पूछने चाहिये। ये प्रश्न ऐसे हों कि प्रत्येक का उत्तर तीन-चार शब्दों में ही आ जाय। यह प्रणाली केवल भूगोल, इतिहास, विज्ञान और भाषा में ही नहीं, वरन् गणित में भी लागू हो सकती है। परीक्षा की यह प्रणाली मनोवैज्ञानिक बुद्धि-परीक्षा के लिए बनाये गये प्रश्न-प्रणाली से बहुत मिलती

है। इस प्रणाली में अङ्क देना परीक्षकों की झक पर नहीं निर्भर करेगा। इसमें पाठ्य-विषय का अधिकांश सम्मिलित किया जा सकता है।

कुछ दूसरे शिक्षा-शास्त्री उपर्युक्त विधि से पूर्णतः सहमत नहीं। उनका कहना है कि साहित्य और भाषा जैसे विषयों में उत्तर के विभिन्न सूत्रों का आपस में सम्बन्धित होना आवश्यक है। सम्बन्धित सूत्रों में अपने भाव को व्यक्त करने की शक्ति इतनी आवश्यक है कि इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। छात्रों में इस शक्ति के विकास के लिए उचित प्रेरणा देना आवश्यक है। उपर्युक्त दो परस्पर विरोधी मतों में समझौता करना आवश्यक है। हमें लेखन-शक्ति का भी विकास करना है और साथ ही साथ भी यह देखना है कि लेखन-शक्ति की परीक्षा दूसरी आवश्यक बातों को ढक न ले। हमें परीक्षक के झक के लिए कम से कम स्थान देना है। यह देखना है कि परीक्षा के लिये महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का छात्र अनुमान ही न लगावें, वरन् विषय के वास्तविक बोध की प्राप्ति की चेष्टा करें। सबसे अच्छी विधि यह मालूम होती है कि प्रश्न-पत्रों में बहुत से कई प्रकार के प्रश्न दिए जाँय। इनका उत्तर एक दो, तीन या चार शब्दों में एक वा दो-तीन वाक्य में, एक पैराग्राफ में अथवा तीन-चार पृष्ठों में आवश्यकतानुसार देना हो, अर्थात् प्रत्येक प्रश्न के उत्तर में लेखन-शक्ति के प्रयोग को बात न आवे, पर इसकी सर्वथा उपेक्षा करना भी वांछित नहीं।

उत्तरों की परीक्षा के लिये कुछ लोगों का कहना है कि आदर्श उत्तर के विभिन्न अंगों का विश्लेषण पहले कर लेना चाहिए और इन अंगों की तुलना में ही उत्तर-पुस्तकों का जाँचना ठीक होगा। कुछ दूसरे शीघ्रता से पढ़ने में बने हुये विचार के अनुसार ही उनके मूल्यांकन की राय देते हैं। कुछ लोग उत्तर के विचारों के विस्तार और प्रकार, शैली, बातों का ठीक और गलत होने तथा साधारण रूप पर मूल्यांकन करने को अधिक अच्छा समझते हैं। पर इस प्रकार उप-भाग करने में विभिन्न सूत्रों के समन्वय पर ध्यान देना कठिन है। कुछ दूसरों का कहना है कि इन उपभागों पर ध्यान रखते हुए शीघ्रता से पढ़कर ही मूल्यांकन करना

ठीक है। इन विभिन्न विधियों में सबसे अच्छी कौन है इसका बिना वैज्ञानिक अन्वेषण किये पता नहीं चल सकता।

परीक्षा की कितनी ही निन्दा क्यों न की जाय पर उससे पिण्ड छुड़ाना कठिन है। इसकी उत्पत्ति मानव सभ्यता के विकास-काल से ही है। परीक्षा में कुछ दोष अवश्य हैं, पर सर्वथा वह दोषपूर्ण नहीं; इसीलिये तो वह अभी तक चली आती है। वस्तुतः बालक परीक्षा से प्रायः डरते नहीं। परीक्षा में उनका ज्ञान परिष्कृत हो जाता है। पढ़ाई हुई बातें वे अच्छी तरह याद करने की चेष्टा करते हैं। परीक्षा से उनमें स्पर्धा आती है और वे एक दूसरे से बढ़ जाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार उनकी आत्मगौरव-प्रवृत्त्यात्मक इच्छा की पूर्ति होती है। शिक्षकों के दृष्टिकोण से भी परीक्षा की उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस पर हम प्रारम्भ में ही संकेत कर चुके हैं।

यह सत्य है कि बालकों की योग्यता-सम्बन्धी सभी बातें परीक्षा द्वारा नहीं जाँची जा सकतीं। कभी-कभी यह कहा जाता है कि शिक्षा की वास्तविक परीक्षा तो छात्र की विभिन्न रुचियों की गहराई और स्थायित्व पर निर्भर करती है, न कि इस पर कि वे पढ़ाई हुई बातें किस हद तक याद रखते हैं। यह कथन पूर्णतः सत्य नहीं क्योंकि रुचि और ज्ञान में विरोध नहीं है। रुचि के होने पर ही ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है—हाँ, यह ज्ञान रटी हुई बातों से एकदम भिन्न है। यदि चरित्र-निर्माण ही शिक्षा की वास्तविक परीक्षा समझी जाय तो यह स्वीकार ही करना पड़ेगा कि बौद्धिक ज्ञान चरित्र निर्माण में सहायक ही है क्योंकि परीक्षा से बौद्धिक ज्ञान की सीमा नापी जाती है। सत्य यह है कि शिक्षा के उद्देश्य और परीक्षा में सैद्धान्तिक विरोधी नहीं। हाँ, परीक्षा का ऐसा रूप न हो कि लड़कों के लिए वह हउआ हो जाय। यदि गत पृष्ठों में किये गये संकेतों के अनुसार चला जाय तो परीक्षा के बहुत कुछ दोष दूर किए जा सकते हैं और शिक्षा उद्देश्य की पूर्ति का मार्ग सरल हो सकता है।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

परीक्षा

१—भूमिका

परीक्षा माप-दण्ड, परीक्षा के लिए पढ़ाना।

२—वर्त्तमान परीक्षा-प्रणाली के कुछ दोष

३—सुधार के लिए कुछ सुझाव

अचीवमेण्ट टेस्ट्स के प्रयोग में कठिनाई; परीक्षा स्वाभाविक वातावरण में; परीक्षा दैनिक शिक्षा के अंग की तरह।

सरल प्रश्न, लम्बा नहीं, छात्रों की रुचि और योग्यता के अनुकूल, प्रश्न-पत्र एक ही बैठक में न बनाना, सभी पाठों के अंश, प्रश्न का रूप ऐसा हो कि छात्रों को अपनी ओर से कहने की स्वतन्त्रता।

सार्वजनिक परीक्षायें, इनका शिक्षा-प्रणाली पर बड़ा प्रभाव, परीक्षा एक कला।

परीक्षक को पाठ्य-क्रम और पठित विषय का पूरा ज्ञान होना, पढ़ाने के क्रम में ही समय-समय पर प्रश्न लिखते रहना, सार्वजनिक परीक्षाओं के परीक्षकों को भी पाठ्य-पुस्तक को खूब पढ़ना चाहिए, अपरीक्षणीय विषय को न देना।

स्कूल के अध्यापक का परीक्षक होना उत्तम।

उत्तर-पुस्तक देखना कठिन, मनोवैज्ञानिक बुद्धि-परीक्षा की तरह बहुत प्रश्नों का देना।

कई प्रकार के प्रश्नों का देना—उनका उत्तर छोटा और बड़ा दोनों होना, प्रत्येक प्रश्न के उत्तर में लेखन-शक्ति विशेष की परीक्षा नहीं।

आदर्श उत्तर का विश्लेषण, शीघ्रता से पढ़ कर मूल्यांकन करना, विभिन्न अंगों के अनुसार जाँचना, वैज्ञानिक अन्वेषण आवश्यक।

परीक्षा अनिवार्य, परीक्षा से ज्ञान परिष्कृत, स्पर्धा, बौद्धिक ज्ञान की सीमा मापना, शिक्षा के उद्देश्य और परीक्षा में सैद्धान्तिक विरोध नहीं।

सहायक पुस्तकें

१—ग्रीन एण्ड वर्कएनफ़—ए प्राइमर ऑव् टीचिङ्ग प्रोसेस अध्याय १३, १४।

२—टी० रेमाण्ट—माडर्न एडूकेशन, अध्याय ६।

३—बार्ड ऐण्ड रॉसक्यू—द अप्रोच टु टीचिङ्ग, अध्याय १३।

४—बैलर्ड—द न्यू एक्ज़ामिनर।

५—पी० जे० हार्टॉग—एक्ज़ामिनेशन ऐण्ड देयर रिलेशन टु कल्चर ऐण्ड एफ़ीसीएन्सी।

६—बी० सी० वालिस—द टेकनिक ऑव् एक्ज़ामिनिङ्ग चिल्ड्रेन।

७—सी० डब्लू वैलेनटाइन—द रिलायेबिलिटी ऑव् एक्ज़ामिनेशन्स।

८—स्टर्ट ऐण्ड ओकडेन—मैटर ऐण्ड मेथड इन एडूकेशन, पृष्ठ २०४–२४१।

९—सी० सी० क्राफ़ोर्ड—हाऊ टु टीच, अध्याय २५।

१०—बॉसिङ्ग, नेसनल एल०—प्रोग्रेसिव् मेथड ऑव् टीचिङ्ग इन सेकण्डरी स्कूल्स, अध्याय २०।

११—स्कीनर—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय १७ (१९४५)।

१२—ल्योनार्ड, जे० पॉल—ऐन इवैलुएशन ऑव् माडर्न एडूकेशन (१९४२)।

१३—रॉस सी० सी०—मेज़रमेण्ट इन टुडेज़ स्कूल्स (१९४१)।

पंचम खण्ड

कुछ शिक्षण पद्धतियाँ

३४—प्राजेक्ट पद्धति ।

३५—डाल्टन पद्धति ।

३६—खेल द्वारा शिक्षा ।

३७—किण्डरगार्टेन पद्धति ।

३८—मॉन्तेसरी पद्धति ।

३९—बेसिक शिक्षा ।

३४

प्रॉजेक्ट पद्धति[1]

प्रॉजेक्ट पद्धति अमेरिका के शिक्षा विशारदों द्वारा अनुप्राणित की गई है। इसमें डीवी और किलपैट्रिक का विशेष हाथ कहा जाता है। कृषि शिक्षा में किये गये प्रयोग के आधार पर प्रॉजेक्ट पद्धति का जन्म हुआ है। जब तक कृषि शिक्षा के लिये स्कूलों में खेत और क्यारियाँ आदि के रूप में समुचित संगठन नहीं किया गया बालक कृषि सम्बन्धी अपने प्रयोग घर पर ही एक वातावरण उत्पन्न करके करते थे। बालक के अनुभवों से शिक्षकों में जिज्ञासा उत्पन्न हुई और उसके आधार पर किलपैट्रिक के नेतृत्व में एक नई शिक्षा विधि का जन्म दिया गया। प्रॉजेक्ट पद्धति के मनोवैज्ञानिक आधार की ओर भी संकेत किया गया है।

१—मनोवैज्ञानिक आधार

मनुष्य वातावरण के सम्पर्क में आकर कई प्रकार का अनुभव करता है। वह समझता है कि उसका वातावरण पर प्रभाव पड़ता है और वह भी वातावरण द्वारा जान अथवा अनजान में प्रभावित होता है। इस प्रकार अपने तथा वातावरण के परस्पर आदान प्रदान पर उसके व्यक्तित्व का विकास बहुत हद तक निर्भर रहता है। व्यक्ति की सदा यह चेष्टा रहती है कि वह वातावरण में उपस्थित वस्तुओं तथा अपनी दैनिक इच्छाओं में शीघ्रातिशीघ्र एक सामंजस्य प्राप्त कर ले। जब तक वह इस सामंजस्य को नहीं पाता उसे चैन नहीं। इस सामंजस्य के पा लेने पर वह

1. Project Method.

कुछ देर के लिये शान्त हो जाता है। पर व्यक्ति की इच्छायें विभिन्न हुआ करती हैं। विकास के अनुसार इनका क्षेत्र दिन पर दिन बढ़ता ही जाता है। फलतः किसी न किसी सामजस्य प्राप्ति के लिये उसमें प्रेरणा और उत्साह बना ही रहता है। इस प्रेरणा और उत्साह के अभाव में वह जीते हुये भी मृतक के समान है। उसका जीवन पशुवत् हो जाता है।

सामञ्जस्यपूर्ण वातावरण में किसी विषमता के देखने से उसका व्यक्तित्व उत्तेजित हो उठता है और अपनी शक्ति के अनुसार सामञ्जस्य की प्राप्ति के लिए रास्ते ढूँढ़ने के चक्कर में वह लग जाता है। इस प्रकार के अनुभव से उसकी एक ऐसी आदत पड़ जाती है कि भविष्य में भी यथा अवसर उसमें पूर्व संस्कार उत्तेजित हो उठते हैं और वह आवश्यक क्रिया में अनायास लग जाता है। यदि शिक्षणीय विषय को बालक के सामने एक ऐसी समस्या के रूप में रखा जाय कि उसे वातावरण मे अपेक्षित सामञ्जस्य में विषमता दिखलाई पड़े तो उस समस्या की पूर्ति के लिए उसमें स्वभावतः प्रेरणा और उत्साह आ जायगा। इसी मनोवैज्ञानिक सत्य की नींव पर प्रॉजेक्ट पद्धति की कल्पना की गई है।

प्रॉजेक्ट-पद्धति में बालकों के सामने कुछ ऐसी समस्यायें रखी जाती है जिन्हें उन्हें यथासम्भव वास्तविक परिस्थिति के वातावरण में पूरी करनी होती हैं। स्कूल में बहुत से ऐसे कार्य कराये जाते हैं जिनका वास्तविक जीवन से सम्बन्ध बालकों को नहीं मालूम होता। अङ्कगणित के अभ्यासों में यह बात बहुधा देखी जाती है। भूगोल के पाठ में भी अनेक ऐसे स्थल आते हैं जो वास्तविक परिस्थिति के बहुत परे मालूम पड़ते हैं; क्योंकि बहुत सी बातें कल्पना के ही आधार पर माननी पड़ती हैं। उदाहरणार्थ; दो स्थानों की दूरी का अनुमान हम एक कल्पित माप-दण्ड के आधार पर लगा लेते हैं। किसी स्थान के जलवायु के बारे में कुछ बातों का अध्ययन कर अनुमान किया जाता है। प्रॉजेक्ट पद्धति ऐसी स्थिति की बड़ी कड़ी आलोचना करती है और स्कूल और वास्तविक जीवन में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने की पक्षपाती है।

प्रॉजेक्ट-पद्धति स्कूल को ज्ञान देने का केन्द्र न मान कर उसे कार्य

केन्द्र बनाना चाहती है। डा० स्टेवेन्सन के अनुसार प्रॉजेक्ट पद्धति वह विधि है जिससे किसी समस्यात्मक कार्य[1] को उसके स्वाभाविक वातावरण के अन्तर्गत पूरा करने का प्रयत्न किया जाता है। प्राजेक्ट पद्धति की यह विशेषता है कि बालक के सामने पाठ्य-विषय को इस प्रकार उपस्थित किया जाता है कि उससे किसी शिक्षाप्रद क्रिया का प्रारम्भ हो जाता है। प्रत्येक शिक्षात्मक[2] क्रिया का एक निश्चित उद्देश्य होना चाहिए। यह समझना भूल है कि प्राजेक्ट पद्धति केवल शारीरिक क्रिया को ही प्रश्रय देती है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति की सभी क्रियायों को लिया जा सकता है, चाहे उनका प्रधान सम्बन्ध शारीरिक श्रम से हो या मानसिक श्रम से।

प्रॉजेक्ट-पद्धति में बालकों के सामने तीन प्रकार का कार्य-क्रम रखा जाता है। पहले प्रकार में उन्हें आवश्यक उपकरण दे दिये जाते हैं और कुछ बातें भी बता दी जाती हैं। तदनुसार उन्हें कुछ ऐसी चीजें बनानी होती हैं जिनका व्यावहारिक महत्व होता है। उदाहरणार्थ; गाड़ी पुल तथा इन्जिन आदि का नमूना बनाना अथवा टोकरी, दरी और खिलौने इत्यादि दूसरे प्रकार के कार्यक्रम में शिक्षक आवश्यक साधनों का उल्लेख नहीं करता। वह केवल बनाई जाने वाली वस्तु का नाम बतला देता है और शेष बालकों को स्वयं ही सोचकर उद्देश्य की पूर्ति करनी होती है। तीसरे प्रकार के कार्यक्रम में सब कुछ बालकों को ही करना पड़ता है। अपना उद्देश्य भी वे ही निर्धारित करते हैं।

प्राजेक्ट पद्धति का अर्थ यह है कि शिक्षा उद्देश्यहीन न हो। बालकों को यह निश्चित रूप से जानना चाहिये कि वे किस उद्देश्य की पूर्ति की ओर परिश्रम कर रहे हैं। उद्देश्य का ज्ञान रहने से उनमें उत्साह सदा बना रहता है। शिक्षा-काल में बालकों को संसार की वास्तविक परिस्थिति से अनभिज्ञ रखना ठीक नहीं, अन्यथा वे कुशल नागरिक न हो सकेंगे। प्रॉजेक्ट पद्धति के अनुयायियों का मत है कि सब कुछ किसी व्यावहारिक क्रिया के आधार पर ही पढ़ाना चाहिए। बालकों को 'करने से सीखने'[3]

1. Problematic Act 2. Educative Act. 3. Learning by Doing.

के लिए उत्साहित करना चाहिए। जो ज्ञान स्वयं अपने परिश्रम से प्राप्त किया जाता है वह मस्तिष्क में सदा के लिए सुसंगठित हो जाता है। इस प्रकार पढ़ने से बालकों को अपनी विशेष रुचि का भी पता चल जाता है।

यह याद रखना होगा कि प्रॉजेक्ट का सम्बन्ध कृत्रिम वातावरण से न हो, अन्यथा वह प्रॉजेक्ट न होगा, चाहे वह एक समस्या भले ही हो जाय। बालकों को व्यावहारिक जीवन की गम्भीर समस्याओं के निराकरण करने की शिक्षा और शक्ति देने के लिये प्रॉजेक्ट पद्धति का आविष्कार किया गया है। काल्पनिक समस्याओं की पूर्ति से बालक व्यावहारिकता का पाठ नहीं सीख सकते। 'समस्यात्मक' कार्य को उसके प्राकृतिक वातावरण में सम्पादित करने पर जोर देने वाली प्रॉजेक्ट पद्धति का शुद्ध रूप से प्रयोग बहुत ही कम होता है।

प्रॉजेक्ट पद्धति पर चलने वाले स्कूल कुछ अन्य बातों का भी मिश्रण कर लेते हैं। इसमें किसी कक्षा के लिये पहले से ही निर्धारित कोई पाठ्य-क्रम नहीं रहता। सभी विषयों के शिक्षक मिलकर कुछ 'प्रॉजेक्ट' की सूची बना लेते हैं। अपनी विकास-अवस्था के अनुसार बारी-बारी से उनको पूरा करना होता है। उन्हें पूरा करने में छात्रों को कई प्रकार की बातों का ज्ञान आवश्यक होता है। ऐसे ही स्थल पर बालक किसी विषय को जानने की आवश्यकता समझता है। इस प्रकार उसे इतिहास, भूगोल, विज्ञान, गणित तथा भाषा आदि विषयों का ज्ञान आवश्यक जान पड़ता है। वस्तुतः इन सब विषयों के सीधे सीखने का कोई आयोजन नहीं रहता, वरन् उनके स्थान पर कुछ योजनाएँ रहती हैं। इनकी पूर्ति में उसे वांछित विषय का ज्ञान हो जाता है। प्रत्येक योजना में किसी न किसी प्रकार प्रायः सभी विषयों का कुछ ज्ञान आवश्यक रहता है। इस प्रकार उसके चारों ओर कई विषयों का समन्वय हो जाता है। जिन विषयों का समन्वय नहीं हो पाता उनका ज्ञान अलग से दे दिया जाता है। इस प्रकार 'शुद्ध प्राकृतिक वातावरण' के सिद्धान्त के साथ कुछ समझौता करना पड़ता है।

२—प्रॉजेक्ट पद्धति के कुछ गुण

हमारे देश के स्कूलों में व्यावहारिकता की छाप बहुत कम दिखलाई पड़ती है। छात्र स्कूलों में सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं पर उनका वे अपने व्यावहारिक जीवन में उपयोग नहीं कर पाते। प्रॉजेक्ट पद्धति इन दोषों से मुक्त दिखलाई पड़ती है। इससे बालक व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करता है। वह धीरे-धीरे सीख लेता है कि वास्तविक जीवन में उसे किस प्रकार के शारीरिक और मानसिक श्रम करने पड़ेंगे। प्रॉजेक्ट पद्धति में बालक को सदा यह भान होता है कि वह किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति में लगा हुआ है। इससे उसका उत्साह सदा बना रहता है। उसकी रुचि कभी ठण्डी नहीं पड़ती। किसी उद्देश्य को पूर्ति के लिये साधनों के ढूँढ़ने से बालकों में दूरदर्शिता, मौलिकता और आत्म-निर्भरता आदि गुणों का विकास होता है। प्रॉजेक्ट पद्धति में शिक्षा-समन्वय की समस्या अपने आप हल हो जाती है। किसी 'समस्यात्मक क्रिया' को करने में जिन विभिन्न विषयों का बालक ज्ञान पाता है वे उसे एक ही वृक्ष की विभिन्न शाखायें मालूम पड़ती हैं। कुछ प्रॉजेक्ट ऐसे होते हैं जिन्हें कई बालकों को मिल कर करना पड़ता है। इससे उनमें सहकारिता, विनय, नेतृत्व तथा उचित कार्य-वितरण आदि के गुण आ जाते हैं।

प्रॉजेक्ट पद्धति से बालकों में अन्वेषण शक्ति का विकास होता है, क्योंकि उन्हें कभी-कभी साधनों को भी खोजना पड़ता है। इस प्रकार उनमें कल्पना-शक्ति बढ़ती है। बालकों में हर समय क्रियाशीलता दिखलाई पड़ती है। अपने से 'करके सीखना' मनोवैज्ञानिक भी है, इससे बालकों के ज्ञान और व्यवहार में सामंजस्य आ जाता है। प्रॉजेक्ट पद्धति में श्रम का दुरुपयोग बहुत कम होता है, क्योंकि अनुभव की हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ही ज्ञानार्जन करने का प्रयत्न किया जाता है। प्रॉजेक्ट पद्धति से बालकों में कुछ निश्चित आदतों और कौशल का विकास हो जाता है, क्योंकि वे यह शीघ्र अनुभव कर लेते हैं कि उनमें किन-किन बातों की कमी है। इस अनुभव के वश क्रियाशील रहने में उन्हें बड़ी प्रेरणा मिलती है। यदि प्रॉजेक्ट पद्धति से बालक को कृषि शास्त्र पढ़ाया गया है

तो ठीक ठीक अपने ज्ञान को कार्यान्वित कर खेत के बहाने वह कुछ पैदा भी कर सकता है।

३—प्रॉजेक्ट पद्धति के कुछ अवगुण

उपर्युक्त गुणों के होते हुए भी प्रॉजेक्ट पद्धति में कुछ ऐसे दोष हैं जिनसे उसे पूर्णरूपेण कार्यान्वित करना सरल नहीं दिखलाई पड़ता। कुछ अध्यापकों का कहना है कि इस प्रणाली के अनुसार काम करने में शिक्षा में कोई क्रम न रह जायगा। किसी प्रॉजेक्ट के चारों ओर समन्वित कर कुछ विषयों के कुछ अंश को अवश्य पढ़ाया जा सकता है। पर उनका पूर्ण ज्ञान बालकों को देना सम्भव नहीं, क्योंकि प्रॉजेक्ट चाहे जैसा भी हो उससे सभी विषयों का पूर्णरूपेण सम्बन्ध नहीं दिखलाया जा सकता। इस प्रकार शिक्षा अधूरी रह जायगी। कुछ लोगों की यह धारणा है कि प्रॉजेक्ट पद्धति से लड़कों का ज्ञान सुसंगठित नहीं होता। यदि वे केवल अनुभव की हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ही ज्ञानार्जन करते हैं तो उन्हें किसी भी विषय का पूर्णरूपेण ज्ञान नहीं हो सकेगा और बहुत सम्भव है कि उनकी यह अपूर्णता सदा बनी रहे।

प्रॉजेक्ट पद्धति में परीक्षा-सम्बन्धी भी एक कठिनाई दिखलाई पड़ती है। परीक्षा में सफलता के लिए एक निश्चित पाठ्य-क्रम का अभ्यास करना आवश्यक है। प्रॉजेक्ट पद्धति में यह सम्भव नहीं, जब तक कि पूरी शिक्षा और परीक्षा-प्रणाली को एकदम बदल न दिया जाय। स्कूल-कार्य को किसी उद्देश्य से नियन्त्रित करना बड़ा अच्छा मालूम होता है, परन्तु स्कूल में हम बड़े-बड़े प्रॉजेक्ट का आयोजन नहीं कर सकते, क्योंकि इसके लिए हमें बहुत अधिक अध्यापकों की आवश्यकता होगी और सारे स्कूल के कार्य-क्रम को तदनुसार परिवर्तित करना होगा। प्रॉजेक्ट को पूरा करने में स्कूल के सारे कार्य के अस्त-व्यस्त हो जाने का भय है, क्योंकि उसमें बहुत से छात्रों को बाहर आकर मैदान में काम करना पड़ेगा।

४—ऊपर की कुछ आपत्तियों के उत्तर

कुछ लोगों का कहना है कि ज्ञान का सुसंगठित रूप मस्तिष्क में कुछ दिन के बाद बनता है। ज्ञान का सुसंगठित रूप शिक्षा का प्रारम्भ नहीं है, वरन् अन्त है। अतः प्रारम्भ में ही बालक से इसकी आशा करना भ्रम है। पहले तो सभी ज्ञान असंगठित और अपर्याप्त होते हैं। विभिन्न समयों पर संचित ज्ञान को मस्तिष्क बाद में संगठित करता है। अतः संगठित ज्ञान देने के आधार पर प्रॉजेक्ट पद्धति की आलोचना करना ठीक नहीं, क्योंकि मस्तिष्क स्वयं यथासमय अपना ज्ञान संगठित कर लेता है। ऊपर हम देख चुके हैं कि कुछ लोगों का कहना है कि प्रॉजेक्ट पद्धति से सारा पाठ्य-क्रम गड़बड़ा जाता है। प्रॉजेक्ट पद्धति के समर्थकों के अनुसार ऐसी आलोचना तथ्यपूर्ण नहीं, क्योंकि प्रॉजेक्ट के पहले ही पाठ्य-क्रम की रचना कर देना गलत है। पाठ्य-क्रम बालक के लिए है, न कि बालक पाठ्य-क्रम के लिए। यदि प्रॉजेक्ट का आयोजन ठीक से किया जाय तो उससे स्वयं एक पाठ्य-क्रम की रूप रेखा निकल आयेगी और यह रूप रेखा ऐसी होगी कि उसके आधार पर सभी सामान्य विषय मनोवैज्ञानिक ढँग से समन्वित किए जा सकेंगे।

५—प्रॉजेक्ट पद्धति की सीमायें

गुण और अवगुण पर विचार कर लेने के बाद निष्पक्ष रूप से प्रॉजेक्ट पद्धति की सीमाओं की ओर संकेत कर देना उचित है। यदि स्कूल केवल प्रॉजेक्ट पद्धति पर ही आयोजित किया जाय तो उपर्युक्त दोषों का शिक्षा-क्रम में आ जाना असम्भव न होगा। प्रॉजेक्ट पद्धति में बालक का उद्देश्य ज्ञान ही प्राप्त करना नहीं है, वरन् उससे किसी स्थूल[1] वस्तु की प्राप्ति की भी उसे आशा रहती है, जैसे खिलौना, टोकरी, फर्श और दरी आदि। इसलिये इन चीजों को शीघ्र बना लेने की धुन में बालक जल्दबाजी भी कर सकते हैं और यह देखा भी गया है कि बहुत से लड़के जल्दी में बड़ी खराब चीज बनाते हैं। प्रॉजेक्ट पद्धति के अनुसार बालक जो शिक्षा पाता है उसे वह गौण मालूम होती है; प्रधान

---

1. Concrete thing.

तो उसे उस वस्तु विशेष का बनाना लगता है। यदि प्रॉजेक्ट-पद्धति के साथ कुछ अन्य विधियों की भी सहायता ली जाय तो उसकी कमी कुछ पूरी हो सकती है। पर प्रॉजेक्ट-पद्धति की पूरी उपेक्षा करना बालक को एक बड़े लाभ से वंचित करना होगा। अच्छा होगा कि बालकों के शिक्षा-क्रम में कुछ प्रॉजेक्ट रखते हुए अन्य प्रचलित विधियों से भी काम लिया जाय।

प्रॉजेक्ट पद्धति की प्रक्रिया के पद[1]

प्रॉजेक्ट छोटे से बड़े के अन्दर कई प्रकार के हो सकते हैं। अतः सभी प्रकार के प्रॉजेक्ट के लिए किसी समान पदों की चर्चा करना कठिन है। परन्तु साधारणतः यह कहा जा सकता है कि सभी प्रॉजेक्ट्स में कम से कम इन चार पदों की आवश्यकता होती है:—उद्देश्य[2]-निर्धारण, योजनाकरण[3], कार्यान्वित करना[4] तथा निर्णय करना[5]। इन चार पदों का और सूक्ष्म विश्लेषण किया जा सकता है, अर्थात इन चार प्रमुख पदों के कई अनुपदों[6] की चर्चा की जा सकती है। नीचे इन्हीं अनुपदों की ओर संक्षेप में संकेत किया जारहा है।

१—शैक्षिक मूल्य के प्राजेक्ट्स चुनना चाहिए। इसमें शिक्षक का निर्देशन अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि छात्रगण शैक्षिक मूल्य का निर्धारण नहीं कर सकते।

२—छात्रों को विकासावस्था तथा कक्षा के अनुसार प्रॉजेक्ट चुनना चाहिए क्योंकि विकास की अवस्था के अनुसार प्राजेक्ट के प्रकार में भेद का आना आवश्यक है।

३—चुने हुये प्राजेक्ट के लिए यथासम्भव प्रत्येक छात्र की स्वीकृति प्राप्त करना चाहिए। सबकी स्वीकृति की प्राप्ति के लिए एक कक्षा के छात्रों के लिए कई प्रॉजेक्ट आवश्यक हो सकते हैं।

४—प्रॉजेक्ट को प्रारम्भ करने के पूर्व आवश्यक[7] पदों और प्रक्रियाओं[8] के बारे में निर्णय कर लेना चाहिये।

---

1. Steps in the Project Method process. 2. Purposing. 3. Planning. 4. Executing. 5. Judging. 6. Sub-steps. 7. Steps. 8. Processes.

५—प्रॉजेक्ट को निर्धारित उद्देश्य से सदा सम्बन्धित रखना चाहिए, जिससे छात्रों को उद्देश्य का सदा ध्यान रहे और उनकी क्रियाशीलता में सदा एक उद्देश्य निहित रहे।

६—आवश्यक सहायक सामग्री के संकलन में छात्रों की आवश्यक सहायता करनी चाहिये, जिससे प्रॉजेक्ट के कार्यान्वित करने में आवश्यक देरी न हो।

७—छात्रों की प्रक्रियाओं का निरीक्षण करते रहना चाहिए, जिससे किसी व्यर्थ के काम में वे न लग जाँय और वे किसी दुर्घटना में न फँस जाय; परन्तु इस निरीक्षण का तात्पर्य यह न हो कि छात्रों की मौलिकता तथा क्रियाशीलता में बाधा पहुँचे।

८—योजना और प्रॉजेक्ट के सम्बन्ध को सदा समझते रहना चाहिये, और बीच-बीच में योजना में यदि किसी सुधार की आवश्यकता हो तो उसे तुरन्त कर देना चाहिए, जिससे समय नष्ट न हो।

९—प्रॉजेक्ट का मूल्याङ्कन सर्वप्रथम छात्रों को ही करना चाहिए, जिससे वे अपने कार्य के महत्व को स्वयं समझने की शक्ति पा सकें। शिक्षक को अपनी राय बाद में बतलानी चाहिए।

१०—प्रॉजेक्ट के फलस्वरूप रुचि, कौशल, मनोवृत्ति तथा ज्ञान आदि में जिस प्रकार का परिवर्तन या विकास आया हो उसकी चर्चा छात्रों को को ही करना चाहिये।

नीचे प्रॉजेक्ट के कुछ नमूने दिये जा रहे हैं।

प्रॉजेक्ट के कुछ नमूने[1]

भाषा में

१—एक कविता की रचना करना जिसे पूरी कक्षा गा सके।

२—कक्षा के खेलने के लिये एक एकांकी नाटक लिखना।

३—उपयुक्त आलोचना देते हुये कुछ कविताओं का संग्रह करना।

४—अन्य प्रदेशों के विद्यार्थियों से पत्रव्यवहार करना।

1. Some Specimen Projects.

५—स्थानीय समाचार-पत्रों को किसी राजनैतिक अथवा सामाजिक घटना पर अपने विचार भेजना। ,

संस्कृत में

१—किसी भाषा की पाठ्य-पुस्तक के उन शब्दों को रेखाङ्कित करना जो संस्कृत से निकले हैं।

२—कुछ सरल पद्यों का संस्कृत में अनुवाद करना और उन्हें गाना।

३—वर्तमान नाटककारों अथवा कवियों की संस्कृत के प्राचीन नाट्यकारों और कवियों से तुलना करना।

४—अपनी मातृभाषा तथा संस्कृत के व्याकरण की कुछ अंशों में तुलना करना तथा उनके भेद की ओर संकेत करना।

गणित में

१—ज्यामिति के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में किसी मन्दिर तथा भवन के आकार का अध्ययन करना।

२—अपने व्यक्तिगत आय-व्यय का लेखा रखना।

३—अंकों के विकास-क्रम का अध्ययन करना।

४—किसी कालेज, स्कूल अथवा जन[1]-शिक्षा के व्यय के महत्त्व का अध्ययन करना।

५—दैनिक जीवन में गणित की उपयोगिताओं की एक सूची बनाना।

संगीत में

१—वाद्य या गायन के लिये किसी राग, गत अथवा गीत की रचना करना।

२—किसी अच्छे संगीत की रसानुभूति करना।

३—सामूहिक संगीत उपस्थित करने की तैयारी करना।

४—किसी नये वाद्य पर संगीत दिखलाने का प्रयत्न करना।

---

1. Public Education.

५—किसी संगीतज्ञ के जीवन-चरित्र, किसी वाद्य के विकास अथवा संगीत के इतिहास की खोज करना।

कला में

१—आधुनिक कला को समझना और उसकी रसानुभूति करना।

२—किसी खेले जाने वाले नाटक के सम्बन्ध में विभिन्न कला-प्रकारों का ढाँचा बनाना।

३—स्कूल की घटनाओं के लिए विज्ञापन बनाना।

४—स्कूल-पुस्तकालय अथवा कक्षा के लिए कोई उपयुक्त चित्र अथवा नकशा बनाना।

५—पुस्तकों के जिल्द के लिये अच्छे-अच्छे ढाँचे बनाना।

वाणिज्य-शास्त्र सम्बन्धी विषयों में

१—गोरखपुर के चीनी के मिलों अथवा कानपुर के कपड़ों के मिलों का सभी दृष्टिकोण से अध्ययन करना।

२—किसी स्थानीय गाँव या मुहल्ले में किसी व्यापार के विकास की सम्भावना का अध्ययन करना।

३—व्यक्तिगत आय-व्यय का विश्वस्त लेखा रखना।

४—किसी दूकान अथवा स्कूल के सहकारी-समिति के हिसाब का निरीक्षण करना।

५—आधुनिक व्यापार की समस्याओं के प्रदर्शन के लिये किसी नाटक की रचना करना और उसे खेलना।

६—किसी आदर्श व्यापार-कार्यालय की योजना बनाना और विभिन्न छात्रों की सहायता से उस योजना को कार्यान्वित करना।

सामाजिक विज्ञानों में

१—किसी स्थानीय जन-समुदाय के विकास का इतिहास लिखना।

२—सन् १९४२ के स्वतन्त्रता संग्राम सम्बन्धी एक नाटक लिखना और उसे खेलना।

३—स्थानीय जनता के रहने के लिये मकानों का निरीक्षण करना और उनका विवरण देना।

४—किसी स्थान-सम्बन्धी पंचवर्षीय योजना में किये गये कार्यों का विवरण देना।

५—नगरपालिका के कार्यों का विवरण लिखना।

६—किसी ऐतिहासिक व्यक्ति अथवा घटना के बारे में सत्य का पता लगाना।

विज्ञान में

१—किसी स्थान के लोग अपने स्वास्थ्य की रक्षा के लिए जिन विधियों का सहारा लेते हैं उनका अध्ययन करना।

२—शरीर सौन्दर्य के लिए प्रयोग किये जाने वाले किसी पाउडर के अंशों का विश्लेषण करना।

३—पुल के एक नमूने का निर्माण करना और उसमें निहित सिद्धान्तों को समझना।

४—किसी बाग की विभिन्न वनस्पतियों का अध्ययन करना।

गृह-अर्थशास्त्र में

१—कुटुम्ब के लिए दो सप्ताह तक आवश्यक वस्तुओं का खरीदना और उसका लेखा रखना।

२—कक्षा के उन बालकों की देख-रेख करना जिनकी मातायें कहीं नौकरी करती हैं।

३—किसी नवविवाहित युवक और युवती के लिए आवश्यक कपड़ों की एक सूची बनाना।

४—लगभग एक महीने तक स्कूल से लौटे हुए किसी छोटे भाई बहिन की देख रेख के लिए एक योजना बनाना।

विदेशी भाषा में

१—इंगलैण्ड, फ्रान्स अथवा जर्मनी के किसी व्यक्ति से पत्र व्यवहार करना।

२—भारतीय जीवन के विविध अङ्गों पर—जैसे भाषा, साहित्य तथा रहन-सहन आदि पर अंग्रेजी प्रभाव का अध्ययन करना।

३—किसी अंग्रेजी अथवा फ्रेन्च नाटक का खेलना।

४—अंग्रेजी अथवा फ्रेन्च समाचार-पत्रों का पढ़ना और उनका मौखिक विवरण सुनाना।

५—किसी दूसरे देश की रहन-सहन के किसी भाग का विवरण लिखना।

प्रॉजेक्ट के एक नमूने को कार्यान्वित करने की विविध प्रक्रियाओं का विवरण अति संक्षेप में नीचे दिया जा रहा है।

प्रॉजेक्ट का एक उदाहरण : पशुशाला बनाना[1]

इस प्रॉजेक्ट से उत्पन्न होने वाले गुण

मान लीजिए, किसी कक्षा के छात्रों को पशुओं के रहने के लिए एक छोटा सा घर बनाना है। इस घर के बनाने में छात्रों को घर बनाने के सम्बन्ध में विविध बातों[2] का पता चलेगा, तथा उनमें कुछ अच्छी आदतों,[3] कौशल[4] तथा मनोवृत्तियों[5] का विकास होगा। नीचे इन विविध बातों, आदतों, कौशल और मनोवृत्तियों की ओर संकेत किया जा रहा है।

पशुशाला बनाने के क्रम में छात्रों को कम से कम यह ज्ञात हो जायगा कि किसी मकान के निर्माण के लिए किन-किन वस्तुओं की आवश्यकता होती है। हस्तकला-सम्बन्धी कुछ प्रक्रियाओं का भी उन्हें बोध हो जायगा। किसी मकान में कई कमरों की क्यों आवश्यकता होती है इसे भी वे समझ जायेंगे। सूर्य के प्रकाश तथा शुद्ध हवा का महत्त्व

1. An Example of a project: To Construct a Shed house for cattle. 2. Informations. 3. Habits. 4. Skills 5 Attitudes.

भी कुछ-कुछ उनकी समझ में आ जायगा। पशुशाला को सजाने में उन्हें कुछ रंगों के मिश्रण तथा उनके महत्व का ज्ञान हो जायगा। कार्य की योजना बनाने तथा विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न कार्यों को सौंपने में उन्हें साल, महीने, सप्ताह तथा दिन का बोध हो जायगा। कार्य को विभिन्न व्यक्तियों तथा समितियों में बाँटना होगा, इससे उन्हें समितियों तथा उनके कार्यकर्ताओं के कर्तव्यों का उन्हें कुछ बोध हो जायगा।

पशुओं के लिए घर बनाने के क्रम में छात्रों में पशुओं के लिए दया का विकास होगा। एक साथ काम करने से उनमें सहकारिता की भावना का प्रादुर्भाव होगा। साथ ही उनमें उत्तरदायित्व की भावना भी आयेगी। एक साथ काम करते रहने से उनमें एक दूसरे के लिए विनम्रता की भावना आयेगी। इस प्रकार दया, सहकारिता, उत्तरदायित्व तथा विनम्रता के अमूल्य गुण तथा मनोवृत्तियाँ उनमें आयेंगी।

प्रॉजेक्ट के कार्यान्वित करने के क्रम में उन्हें कुछ वस्तुओं के साथ काम करना पड़ेगा; इससे उनके उपयोग सम्बन्धी कौशल उनमें आयेगा। काम करने के कारण स्वास्थ्य-सम्बन्धी कुछ नियमों का भी उन्हें ज्ञान हो सकता है। प्रॉजेक्ट से शारीरिक परिश्रम के महत्व को छात्र समझेंगे। इससे स्कूल जीवन तथा जीवन की कुछ वास्तविकताओं में कुछ सम्बन्ध स्थापित हो जायगा। इस प्रकार छात्रों का जगत की आवश्यकताओं से परिचय होगा।

पशुशाला का बनाना

शिक्षक किसी एक परिस्थिति का निर्माण कैसे करे कि छात्र उपर्युक्त प्रॉजेक्ट अर्थात् पशुशाला के बनाने की आवश्यकता का अनुभव करें? शिक्षक देखता है कि कक्षा के कुछ छात्र अपना व्यवस्थापन नहीं कर पा रहे हैं, अर्थात् वे उचित रूप से कक्षा के कार्य में रुचि नहीं दिखला रहे हैं, और कुछ छात्र पर्याप्त रूप से क्रियाशील रहते हैं। शिक्षक छात्रों से उन खेलों के बारे में पूछता है जिन्हें वे घर पर बहुधा खेला करते हैं। वह उनकी खेल-सम्बन्धी रुचियों के बारे में भी पूछता है। इसी क्रम में वह पूछता है कि घर पर किनके किनके पास गाय, भैंस, बैल तथा

बकरियाँ आदि पाली जाती है। इस प्रकार पशुशाला के प्रॉजेक्ट की बात शिक्षक उठा सकता है, और बहुत से छात्र इस प्रॉजेक्ट को कार्यान्वित करने के लिए उत्साह भी दिखलायेंगे।

यदि कक्षा में छात्रों की संख्या अधिक है तो प्रॉजेक्ट को कार्यान्वित करने के लिए उन्हें कुछ टोलियों में बाँटा जा सकता है। जो छात्र दूसरे से कुछ चतुर जान पड़ता है उसे टोली का नेता बना देना अच्छा होगा। नेता में दूसरों की सेवा देने की भावना का और टोली के सदस्यों में एकता तथा सहकारिता की भावना का विकास होगा। नेता का नाम लिखकर उसके गले में लटका दिया जायगा। ऐसा कदाचित् अपने लिए दूसरे छात्र भी चाहें। इस प्रकार सभी छात्र एक दूसरे के नाम से शीघ्र अवगत हो जायेंगे। कुछ समय बाद गले में लटकते हुये कार्ड हटा दिये जायेंगे। शिक्षक नेता के उत्तरदायित्वों व कर्तव्यों की व्याख्या करेगा और साथ ही उनकी सरपंच तथा सभापति आदि के कर्तव्यों से तुलना भी करेगा।

टोली के बनाने में शिक्षक को यह देखना चाहिए कि सभी बड़े छात्र एक ही टोली में न रख दिये जाँय। छात्रों की तौल तथा ऊँचाई का प्रतिमाह में एक लेखा बनाना चाहिए। छात्रों के वर्गीकरण में यह लेखा बड़ा ही सहायक होगा और इस लेखे से माता-पिता को भी अपने बच्चों के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में आवश्यक उत्सुकता और रुचि उत्पन्न होगी।

अब समस्या यह है कि पशुशाला के लिए किसी उपयुक्त स्थान का चुनाव कैसे किया जाय। शिक्षक इस सम्बन्ध में छात्रों से पूछता है। कुछ छात्र स्कूल के हाते की ओर और कुछ खुले किसी बाहरी खेत की ओर संकेत करेंगे। शिक्षक बाहरी खेत तथा स्कूल के हाते की अनुपयुक्तता की ओर छात्रों का ध्यान आकर्षित करेगा। धूप तथा वर्षा की असुविधा और छाते की आवश्यकता छात्रों को समझाई जायगी। इस प्रकार शिक्षक किसी छायेदार बड़े वृक्ष के नीचे पशुशाला बनाने की राय छात्रों को देता है और उस स्थान के निरीक्षण के लिए वह उन्हें भेज देता है।

शिक्षक छात्रों से कहता है कि पशुशाला के लिए उस स्थान के उपयोग हेतु स्कूल के प्रिन्सीपल की आज्ञा चाहिये, क्योंकि दूसरे कक्षा के विद्यार्थी भी उसके लिए इच्छा प्रगट कर सकते हैं। इस प्रकार प्रिन्सीपल को एक आवेदन-पत्र भेजना आवश्यक समझा जाता है। शिक्षक छात्रों से कहता है कि घर जाने पर वे माता-पिता से पूछे कि आवेदन पत्र कैसे लिखा जाता है।

दूसरे दिन बच्चे स्कूल आते हैं अध्यापक बालकों द्वारा दिये गये सुझावों को श्यामपट पर लिख देता है और उन्हें प्रिंसीपल के नाम एक आवेदन-पत्र लिखने की अनुप्रेरणा देता है। बालक इस प्रकार एक आवेदनपत्र लिखते हैं—"महाशय, पीपल के पेड़ के नीचे एक पशुशाला बनाने के लिये हमें अनुमति प्रदान कीजिए।" कक्षा के बालक अपने-अपने हस्ताक्षर इस आवेदन-पत्र पर करते हैं। हस्ताक्षर करने के लिये प्रत्येक बालक अध्यापक की मेज के पास आता है और इसमें वह अपना गौरव समझता है। प्रिन्सीपल के यहाँ से स्वीकृति-पत्र आने पर अध्यापक उसे सभी बालकों को पढ़ने के लिए देता है। इस स्वीकृति-पत्र के पढ़ने से विद्यार्थी प्रिन्सीपल के नाम से अवगत हो जाते हैं। इस समय अध्यापक उनसे कहता है कि प्रिन्सीपल की इस दया के लिये उन्हें कृतज्ञ होना चाहिए। इस प्रकार बच्चे कृतज्ञता का पाठ सीखते हैं।

अब पशुशाला-सम्बन्धी विभिन्न बातों पर बालकगण विचार करते हैं। पशुशालायें बनाये जाने वाले विभिन्न कमरों के आकार के अनुमान के लिये बालक गज, फुट तथा इंच के उपयोग का तात्पर्य समझते हैं। इस प्रकार विभिन्न कमरों का आकार निश्चित किया जाता है। अध्यापक उन्हें यह समझाता है कि गाय, बकरी तथा बैल आदि के लिये अलग-अलग कमरों की क्यों आवश्यकता है। वह उन्हें किसी निकट स्थित गोशाला का निरीक्षण करने के लिये भेजता है।

गोशाला के निरीक्षण के लिए बालक उसके प्रबन्धक के यहाँ एक प्रार्थना-पत्र भेजते हैं। प्रबन्धक की स्वीकृति आ जाती है। अध्यापक बालकों को समझाता है कि रास्ते में उन्हें किस प्रकार व्यवहार करना

चाहिए। उन्हें यह बतलाया जाता है कि रास्ते में वे एक-दूसरे को धक्का न दें और सब साथ ही अध्यापक से प्रश्न न पूछें। गोशाला देख लेने के बाद बालकों से यह पूछा जाता है कि उन्हें कौन सी बातें अच्छी और कौन सी बुरी लगीं।

अब बालक पशुशाला बनाने के लिए विभिन्न वस्तुओं की तैयारी करते हैं। अध्यापक उन्हें समझाता है कि दीवालें ईंट की क्यों बनानी चाहिये। बालकों को ईंट बनाने की क्रिया समझाई जाती है। उन्हें उपयुक्त मिट्टी पहचानने और चुनने लिये कहा जाता है। ईंट बनाने के लिये लकड़ी के साँचे बनाना उन्हें समझाया जाता है। अध्यापक को यहाँ यह देखना चाहिये कि बालक से उनकी शक्ति के परे काम न लिया जाय।

पड़ोस में किसी बनते हुए घर को देखने के लिये बालकों से कहा जाता है। खिड़कियों की आवश्यकता उन्हें समझाई जाती है। कमरों और खिड़कियों का आकार निश्चित किया जाता है। बालकों से उनके घर तथा उनके पशुओं के रहने के स्थान के बारे में पूछा जाता है और तत्सम्बन्धी बुरी बातें उन्हें समझाई जाती हैं। इस प्रकार स्वास्थ्य-विज्ञान सम्बन्धी बहुत सी बातें उन्हें मालूम हो जाती हैं। बालकों को स्कूल की इमारत की छत का निरीक्षण करने के लिये कहा जाता है; और वे इस निरीक्षण से छत के लिये आवश्यक उपकरणों को समझ जाते हैं। इस प्रकार जो वस्तुएँ उन्हें बाजार से खरीदनी हैं उन्हें वे निश्चय कर लेते हैं। वस्तुओं के दाम के निर्धारण में बालकों को अंकगणित के कई नियमों और प्रश्नों से अपने को अवगत करना होता है। इस प्रकार उनका अंकगणित का ज्ञान भी बढ़ता है। वस्तुओं को खरीदने के लिये तथा हिसाब का पूरा लेखा रखने के लिये एक छोटी-सी समिति बना दी जाती है। इस प्रकार बालकगण सहयोग, सहकारिता, ईमानदारी तथा मित-व्ययता का पाठ सीखते हैं। जब पशुशाला बनकर तैयार हो जाती है तो उसे और सुन्दर बनाने के लिये अध्यापक उनसे कहता है। इस प्रकार बालकगण रंग तथा चित्रकारी का भी कुछ काम सीख लेते हैं।

पशुशाला के बन जाने पर उसके उद्घाटन समारोह की बारी आती है। इस समारोह में बालक अपने माता-पिता, मित्रगण तथा गाँव के कुछ अन्य लोगों को निमन्त्रित करने की इच्छा प्रगट करते हैं, क्योंकि पशुशाला के निर्माण-क्रम में इन व्यक्तियों से उनका किसी न किसी प्रकार का कार्य रहा है। यदि कार्य नहीं तो उसके विषय में उनसे उन्होंने बातचीत ही की है। अतः निमन्त्रण पत्र लिखना उन्हें सिखलाया जाता है। समारोह के कार्यक्रम के विषय में विचार-विनिमय किया जाता है। समारोह की तैयारी के लिये स्वागत-समिति, सामाजिक समिति तथा कार्यक्रम-समिति आदि का संगठन किया जाता है। समारोह की तैयारी में लगभग एक महीना लग सकता है। अतः इसमें शीघ्रता नहीं करनी चाहिये। मैत्रीभाव, सहकारिता, सहयोग तथा शारीरिक परिश्रम के प्रति सम्मान आदि भावनाओं से भरे गीतों तथा एकांकी नाटकों का आयोजन समारोह में किया जा सकता है। अभ्यागत के प्रति कर्तव्यों को बालकों को अच्छी प्रकार ज्ञान देना चाहिये। इस प्रकार पशुशाला के प्रॉजेक्ट के आधार पर बालकों में अनेक कौशल और गुणों का विकास होगा।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

प्रॉजेक्ट पद्धति

कृषि-सम्बन्धी प्रयोग से इसका जन्म।

१—मनोवैज्ञानिक आधार

सामञ्जस्यपूर्ण वातावरण में विषमता के कारण व्यक्ति में स्वाभाविक उत्तेजना—इस उत्तेजना की नींव पर प्रॉजेक्ट पद्धति की कल्पना।

स्कूल और वास्तविक जीवन में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना, स्कूल ज्ञान केन्द्र नहीं—वरन् कार्य-केन्द्र, समस्यात्मक कार्य को स्वाभाविक वातावरण में पूरा करना; सभी क्रियायें।

तीन प्रकार का कार्यक्रम।

शिक्षा उद्देश्य-पूर्ण, 'करने से सीखना'।

व्यावहारिक जीवन की गम्भीर समस्याओं का निराकरण, पूर्व निर्धारित पाठ्य-क्रम नहीं, विभिन्न विषयों का समन्वय।

२—प्रॉजेक्ट पद्धति के कुछ गुण

व्यावहारिकता का ज्ञान; दूरदर्शिता, मौलिकता, आत्म-निर्भरता, सहकारिता, विनय, नेतृत्व और 'उचित कार्य विवरण की शक्ति' का विकास।

अन्वेषण और कल्पना शक्ति, ज्ञान और व्यवहार में सामञ्जस्य, निश्चित आदत और कौशल का विकास।

३—प्रॉजेक्ट पद्धति के कुछ अवगुण

शिक्षा में क्रम का अभाव, विषय का अपूर्ण ज्ञान रहने की सम्भावना।

परीक्षा-सम्बन्धी कठिनाई, बड़े-बड़े प्रॉजेक्ट का आयोजन कठिन, स्कूल-कार्य अस्त-व्यस्त।

४—ऊपर की कुछ आपत्तियों के उत्तर

ज्ञान का सुसंगठित रूप देना प्रारम्भ में सम्भव नहीं, पाठ्य-क्रम की रचना पहले ही नहीं, पाठ्य-क्रम बालक के लिए।

५—प्रॉजेक्ट पद्धति की सीमायें

प्रॉजेक्ट पद्धति के साथ अन्य विधियों की भी सहायता आवश्यक।

प्रॉजेक्ट पद्धति की प्रक्रिया के पद

प्रॉजेक्ट के कुछ नमूने

भाषा में

संस्कृत में

गणित में

संगीत में

कला में

वाणिज्य-शास्त्र सम्बन्धी विषयों में

सामाजिक विज्ञानों में

विज्ञान में

गृह-अर्थशास्त्र में

विदेशी भाषा में

प्रॉजेक्ट का एक उदाहरण : पशुशाला बनाना

इस प्रॉजेक्ट से उत्पन्न होने वाले गुण

पशुशाला का बनाना

सहायक पुस्तकें

१—विलियम एच किलपैट्रिक—द प्रॉजेक्ट मेथड टीचर्स कॉलेज रेकर्ड, भाग १६।

२—डब्लू० डब्लू चार्टर्स—द लिमिटेशन्स ऑव् द प्रॉजेक्ट (द ऐड्रेस एण्ड प्रोसीडिंगज़ ऑव् द फ़िफ्टीनाइन्थ ऐनुवल मीटिङ्ग) भाग ५६, पृष्ठ ४२८-३०।

३—ल्योनार्ड जे० पॉल—ऐन इवैलुयेशन ऑव् एडूकेशन, अध्याय ३, ४।

४—पीटर्स, चार्ल्स सी०—द करीक्यूलम ऑव् डेमोक्रैटिक एडूकेशन।

५—स्कीनर—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय ११।

६—जे० ऐण्ड ई० ड्यूई—स्कूल्स ऑव् टुमॉरो।

७—टी० ब्लेविट—द माडर्न स्कूल्स हैण्डबुक।

३५

डाल्टन पद्धति[1]

१—स्वरूप

डाल्टन पद्धति की रचना अमेरिका की मिस पार्कहर्स्ट द्वारा की गई है। डाल्टन नगर में सबसे पहले इसका प्रारम्भ होने से इसका नाम डाल्टन प्लान दिया गया है। नवीन शिक्षा-पद्धति में डाल्टन पद्धति का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। मिस पार्कहर्स्ट को डा० मॉन्तेसरी के साथ सन् १६१५-१८ तक काम करने से यह ज्ञात हो गया था कि वैयक्तिक आधार पर शिक्षा देकर बालकों की विभिन्न नैसर्गिक शक्तियों का विकास कैसे किया जा सकता है। एक प्रकार से मॉन्तेसरी और डाल्टन पद्धति में बड़ी तार्किक समानता दिखलाई पड़ती है। मिस पार्कहर्स्ट पर डा० डीवी के शिक्षा-सिद्धान्तों का भी काफी प्रभाव पड़ा है।

अपने समय की अमेरिका की प्रचलित शिक्षा प्रणाली से मिस पार्कहर्स्ट को बड़ा असन्तोष हुआ। उन्होंने देखा कि प्रचलित शिक्षा से बालकों में नैतिक बल तथा आत्म-निर्भरता का आना बहुत कठिन है। बात-बात में बालकों का शिक्षक की सहायता पर निर्भर रहना उसे बड़ा खटकता था। वह शिक्षा का संगठन इस प्रकार चाहती थी कि बालक अपने प्रयत्नों से ही स्वतः व्यक्तित्व का विकास कर सके। मिस पार्कहर्स्ट स्कूल के शिक्षा-क्रम में सामाजिक जीवन का पुट भी ले आना चाहती थी। इसके अतिरिक्त वह स्कूल को एक ऐसी प्रयोगशाला बनाना चाहती थी

1. Dalton Plan.

जहाँ बालक विविध प्रयोग कर अपने ज्ञान और व्यक्तित्व का विकास करें।

२—डाल्टन पद्धति की कुछ विशेषतायें[1]

उपर्युक्त विवेचन से हमें डाल्टन पद्धति और प्रचलित शिक्षा-प्रणाली की तुलना में बहुत सी भिन्नताओं का भान होता है। डाल्टन पद्धति से शिक्षा में एक क्रान्ति सी आ गई है। प्रचलित शिक्षा में शिक्षक का महत्व अधिक दिखलाई पड़ता है; मानो उसके बिना शिक्षा की कोई भी क्रिया सम्भव नहीं। सभी बालकों को समान समझ कर उन्हें समान रूप से शिक्षा दी जाती है और इस प्रकार उनकी वैयक्तिक भिन्नता और आवश्यकताओं की उपेक्षा की जाती है पैंतीस-चालीस की कक्षा में शिक्षक आकर ४० मिनट तक मनमानी कर जाता है। अध्यापन से बालकों का कितना लाभ हुआ इस पर विचार करना उसके लिए सम्भव नहीं होता और कदाचित् अत्यधिक भार से लदे हुये अध्यापक को इसका अवकाश भी नहीं। इस प्रकार तेज और कमजोर सभी प्रकार के छात्र एक साथ ही चलते हैं। डाल्टन पद्धति में इस स्थिति का पूरा सुधार किया गया है।

डाल्टन पद्धति में एक सीमा के अन्तर्गत बालकों को पूरी स्वतन्त्रता दी जाती है। अपनी शिक्षा और विकास के लिए उनका दायित्व बहुत बढ़ा दिया जाता है। अपने विकास के लिए बालकों को ही स्वयं उत्तरदायी बना देने का श्रेय डाल्टन पद्धति को ही है। इसके पहले भी इसकी काफी चर्चा चल चुकी थी, पर कार्यान्वित करने में सबको कठिनाई मालूम होती थी। डाल्टन पद्धति में समय-सारिणी[2] आदि का बन्धन नहीं। रुचि होने पर कोई बालक अपनी इच्छानुसार चाहे जितनी देर तक किसी विषय के अध्ययन में लगा रह सकता है।

डाल्टन पद्धति के अन्तर्गत कक्षाओं के लिए अलग-अलग कमरे न होकर विभिन्न विषयों के लिए अलग-अलग प्रयोगशालायें[3] होती हैं। विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ इनमें स्कूल-समय तक बैठे रहते हैं, जिससे

1. Some characteristics of the Dalton Plan. 2. Time table. 3. Laboratories.

बालक अपनी इच्छानुसार चाहे जब आकर उनकी सहायता से लाभ उठा सके। पाठकार्यारोपण[1] करते समय बालक को उसके उद्देश्य का थोड़ा अनुमान दिया जाता है और तदनुसार उसके अध्ययन की सीमा भी निर्धारित कर दी जाती है। कभी-कभी कुछ आवश्यक साधनों की ओर संकेत भी कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ; इतिहास, साहित्य और विज्ञान के कार्यारोपण में उन्हें पढ़ने योग्य पुस्तकों के नाम बता दिये जाते हैं। छात्र को अपनी उन्नति का पूरा लेखा[2] रखना होता है। इसकी तीन प्रतियाँ होती हैं जिसमें से एक अध्यापक के पास चली जाती है। बालक की उन्नति का लेखा ग्राफ़ द्वारा अंकित किया जाता है। प्रत्येक बालक का अलग-अलग ग्राफ़ शिक्षक कक्षा में टाँगे रहता है। इससे उसे पूरा ज्ञान रहता है कि कौन सा बालक कितनी उन्नति कर रहा है। बालक अपने पास दो प्रकार का लेखा रखते हैं: १—विभिन्न विषयों का अलग-अलग, और २—सबका सामूहिक। इस प्रकार उन्हें अपने कार्य तथा सफलता का पूरा ज्ञान रहता है।

अलग-अलग काम करते हुये भी बालकों को कभी-कभी ऐसी कठिनाई होती है कि उनका काम रुक सा जाता है। ऐसे अवसर पर शिक्षक की सहायता अपेक्षित होती है। यदि कोई कठिनाई सभी लड़कों के साथ है तो उसका निराकरण कक्षा-शिक्षण की भाँति सामूहिक रूप में किया जाता है। कक्षा-शिक्षण के पक्षपाती अपने समर्थन में बहुधा कहा भी करते हैं कि कक्षा-शिक्षण का महत्त्व घट नहीं सकता, क्योंकि डाल्टन पद्धति को भी इसकी आवश्यकता होती है। सच है, रसानुभूति के पाठ में तो शिक्षक को कक्षा-शिक्षण के ही अवलम्बन से अधिक सफलता मिल सकती है।

डाल्टन पद्धति कोई नई शिक्षण-विधि नहीं। यह केवल एक नये शिक्षा-संगठन का रूप है। निर्धारित पाठ्य-क्रम को इसमें एक नये संगठन और विधि के रूप में पूरा करने का प्रयत्न किया जाता है। इसमें छात्रों का श्रेणी-विभाजन भी माना जाता है, परन्तु उस श्रेणी-

1. Assignment 2. Record.

विभाजन के लिए बालकों की विभिन्न योग्यता और रुचि की अवहेलना नहीं की जाती। श्रेणी-विभाजन के आधार पर कक्षा-शिक्षण में बालकों को इधर-उधर घूमने की स्वतन्त्रता नहीं रहती। बस, एक मेज और कुर्सी के सहारे हर समय बैठा रहना ही उनके विनय[1] का सबसे उत्तम लक्षण समझा जाता है। डाल्टन पद्धति में ऐसी स्थिति वांछनीय नहीं। इसमें छात्रों को इधर उधर घूमने, परामर्श करने और पारस्परिक सहायता की पूरी स्वतन्त्रता होती है। वस्तुतः उनमें सामाजिकता का ज्ञान देने का यह एक बड़ा भारी साधन माना जाता है।

डाल्टन पद्धति में कक्षा-शिक्षण के साथ-साथ आत्म शिक्षण[2] की भी व्यवस्था दिखलाई पड़ती है और यह आशा की जाती है कि इसके द्वारा शिक्षा पाने पर बालक अधिक योग्य व्यक्ति और नागरिक होगा। डाल्टन स्कूल का समय दो भागों में बँटा रहता है। १—पूर्वाह्न[3] और २—अपराह्न[4]। पूर्वाह्न बालकों के स्वतन्त्र रीति से काम करने के लिए और अपराह्न कक्षा-शिक्षण और खेल आदि के लिए होता है।

डाल्टन पद्धति में 'स्कूल' समाज का एक छोटा रूप माना जाता है और यह चेष्टा की जाती है कि सभी छात्र यह समझें कि वे इस समाज के महत्वपूर्ण सदस्य हैं। छात्रों को यह समझाने की चेष्टा की जाती है कि उनका स्कूल (अर्थात् समाज) एक स्वशासित[5] संस्था है और उसके अच्छे शासन के लिए वे स्वयं उत्तरदायी हैं। इस प्रकार कक्षा और पाठ्य-विषयों के पुनर्संगठन के आधार पर डाल्टन पद्धति एक नये सामाजिक पुनर्संगठन की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है। स्पष्ट है कि डाल्टन पद्धति से शिक्षा में एक अभूतपूर्व सामाजिक परिवर्तन का चित्र दिखलाई पड़ता है।

मौखिक पाठ[6]

बालकों की कठिनाइयों को दूर करने के लिए प्रति सप्ताह प्रति विषय के लिये एक मौखिक पाठ का आयोजन रहता है। इस प्रकार

1. Discipline. 2. Self-teaching. 3. Morning. 4. Afternoon. 5. Selfgoverned. 6. Oral lesson.

प्रतिदिन सभी छात्र एक बार एकत्रित हो जाते हैं। इस मौखिक पाठ में शिक्षक भाषणवक्ता और छात्र श्रोता नहीं होते। यह पाठ आपस की बातचीत की तरह होता है। बालकों को पाठ में अनुभव की हुई व्यक्तिगत कठिनाइयों के निराकरण में ही बहुधा सारा समय दिया जाता है।

विशेषज्ञ[1]

ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि प्रयोगशालाओं में विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ बैठे रहते हैं। डाल्टन पद्धति में विशेषज्ञों का महत्व बढ़ जाता है। उन्हें छात्रों की कठिनाइयों को दूर करने के लिए हर समय तैयार रहना होता है। इसलिए उनका ज्ञान बड़ा गहन और विस्तृत होना चाहिए। यह ध्यान देने की बात है कि डाल्टन पद्धति में विशेषज्ञों को अपने विषय में विशेष ट्रेनिङ्ग की आवश्यकता नहीं; अर्थात् भूगोल को पढ़ाने के लिए भूगोल-शिक्षण में विशेषज्ञता प्राप्त करना अपेक्षित नहीं। यदि स्कूल के सभी शिक्षक मिलकर एक-एक विषय के पढ़ने तथा उसमें छात्रों की सहायता करने के लिए आपस में निर्णय कर लें तो कुछ ही दिनों में प्रत्येक एक विषय में विशेषज्ञ हो जायगा और इससे स्कूल की आवश्यकता अच्छी प्रकार पूरी होगी।

३—पाठ-निर्देश[2]

डाल्टन पद्धति में प्रत्येक विषय के पूरे साल के कार्य-क्रम को छोटे-छोटे भागों में बाँट दिया जाता है। इस प्रकार बँटे हुए भाग को 'निर्देशित पाठ' अथवा पाठ-निर्देश [illegible] डाल्टन पद्धति का प्राण है। एक निश्चित अवधि के लिये व्यक्तिगत योग्यतानुसार प्रत्येक बालक के लिये कुछ पाठ निर्देशित[3] कर दिया जाता है। वैज्ञानिक रूप में इन पाठों का विभाजन और उप-विभाजन किया रहता है। साधारणतः किसी विषय के साल भर के लिये दिये हुये कार्य को ठेका (कॉनट्रैक्ट); एक महीने वाले

1. Specialist. 2. Lesson Assignment. 3. Assigned.

को पाठ-निर्देश एक सप्ताह वाले को अवधि (पीरियड) और एक दिन वाले को इकाई (यूनिट) कहते हैं। प्रत्येक ठेके को एक प्रति महीने के हिसाब से दस भागों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक पाठ-निर्देश को चार अवधियों, और प्रत्येक अवधि को पाँच इकाइयों में विभाजित कर दिया जाता है। एक 'इकाई' एक दिन का कार्य होता है। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक बालक प्रतिदिन हर विषय में एक इकाई पूरा करे। अपनी रुचि के अनुसार वह एक दिन में किसी विषय का पूरा या आधा ही निर्धारित कार्य कर सकता है। शिक्षक को केवल इतना ही देखना होता है कि महीने का निर्देशित पाठ उस महीने में पूरा हो जाता है।

बहुधा यह देखा जाता है कि ७५ प्रतिशत छात्र निर्देशित पाठ को उचित समय के भीतर ही पूरा कर लेते हैं। जो लड़के इसमें असफल होते हैं शिक्षक उनकी अपेक्षित सहायता करता है। सहायता के अन्तर्गत कठिनाइयों का दूर करना तथा प्रेरणा देना आता है। ऐसे अवसर पर शिक्षक का व्यापार बड़ा सहानुभूतिपूर्ण होना चाहिये। डाल्टन पद्धति के अनुसार पढ़ने से जिन बालकों की उन्नति कम दिखलाई पड़ती है उन्हें दूसरे स्कूलों में भेज दिया जाता है। पर ऐसा करने में बड़ी सावधानी रखनी चाहिये। कभी-कभी ऐसा होता है कि छात्र धीरे-धीरे काम करते हैं, पर अपना काम बहुत पक्का करते हैं। दूसरे जल्दी में निर्देशित पाठ को पूरा कर जाते हैं, पर उन्हें विशेष बोध नहीं होता। फलतः धीरे-धीरे काम करने वालों से परीक्षा में वे हार जाते हैं। अतः शिक्षक को केवल यही नहीं देखना है कि लड़के ने निर्देशित पाठ को पूरा कर लिया कि नहीं, वरन् उसे यह भी देखना है कि पाठ का ठीक अध्ययन किया है या नहीं। इसी की परीक्षा करने के लिये पीछे वर्णित ग्राफ़ की व्यभूतपूर्व स गई है।

यहाँ पाठ-निर्देश का एक नमूना दे देना संगत दिखलाई पड़ता है। अतः नीचे इतिहास-पाठ का एक नमूना दिया जाता है।

इतिहास का पाठ-निर्देश

(कक्षा ६ लिये, बालकों की आयु १३-१४ वर्ष)

क्रम संख्या १

प्रथम सप्ताह[1]

विषय—मुग़ल-कालीन सभ्यता तथा संस्कृति

तुमने मुगल साम्राज्य का विस्तृत अध्ययन कर लिया है। अब हमें यह देखना है कि इस काल की सभ्यता और संस्कृति कैसी थी। इसका पता लगाने के लिए हमें उस समय की शासन-व्यवस्था, वास्तुकला, चित्र-कला, संगीत-विद्या, साहित्य, सामाजिक जीवन, धार्मिक तथा आर्थिक स्थिति आदि का अध्ययन करना होगा।

खण्ड १ (यूनिट १) (एक दिन के लिए)

मुग़ल-राज्य फौजी न था, पर उसकी प्रतिष्ठा और शक्ति बहुधा सेना पर ही निर्भर थी। प्रजा के हित पर बराबर ध्यान रखा जाता था। टोडरमल, मानसिंह और बीरबल आदि के बारे में तुम लोग पढ़ ही चुके हो। इससे मालूम होता है कि हिन्दू और मुसलमानों आदि का समान आदर किया जाता था। टोडरमल द्वारा की हुई पैमाइश पर खेतों और किसानों का उचित प्रबन्ध किया गया था। पर सड़कें सुरक्षित न थीं। देहात में रहने वालों की रक्षा और न्याय का समुचित प्रबन्ध न था। इन सब का अध्ययन डा० ईश्वरी प्रसाद तथा डा० ताराचन्द्र के भारतवर्ष के इतिहास में क्रमशः पृष्ठः ४१४ से ४२५, तथा पृष्ठ ३१२-३२० में पढ़ो। इस पर दो पृष्ठ का एक निबन्ध लिखकर दिखलाना। (इसी प्रकार वास्तुकला व चित्रकला, संगीत व साहित्य, सामाजिक जीवन, धार्मिक तथा आर्थिक स्थिति आदि का एक-एक खण्ड बना कर विभिन्न दिनों के लिए दिया जा सकता है। प्रत्येक विषय पर पढ़ने के लिए पुस्तकों का नाम व पृष्ठ-संख्या दे देनी होगी। हर विषय पर एक छोटा निबन्ध लिखने के लिये दे देना चाहिये अथवा कुछ छोटे-छोटे प्रश्नों का संक्षेप में उत्तर लिखने के लिए भी दिया जा सकता है। इसी प्रकार अन्य विषयों में भी पाठ-निर्देश दिया जाता है।)

---

1. First Period.

क्रम-संख्या २

दूसरा सप्ताह[1]

विषय—भारतीय स्वतन्त्रता का प्रथम युद्ध १८५७

तुमने लार्ड डलहौजी के शासन-प्रबन्ध के बारे में अच्छी प्रकार पढ़ लिया है। तुमने देखा कि डलहौजी ने जो नई शक्तियाँ पैदा कीं उनसे भारत की दशा बदल गई। रेल और तार ने सारे देश को एक सूत्र में बाँध दिया। परन्तु डलहौजी की नीति सदा दोषमुक्त न थी। वह हर स्थान पर ब्रिटिश सत्ता को स्थापित करना चाहता था। देशी राजाओं को वह अंग्रेजों के कठिन नियन्त्रण में रखना चाहता था। भारतीय स्वतन्त्रता के प्रथम युद्ध-सम्बन्धी कारणों में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग डलहौजी की नीति को इसका प्रधान कारण मानते हैं। कुछ के अनुसार इसका कारण सैनिक था, और कुछ के अनुसार राजनीतिक और सामाजिक था। इसके कारणों को अच्छी तरह समझने के लिये निम्नलिखित लेखकों की पुस्तकों के संगत पृष्ठों को पढ़ो और नीचे दिये हुये प्रश्नों के उत्तर तैयार करो—

१—डा० ईश्वरी प्रसाद।

२—डा० ताराचन्द।

३—डा० विश्वेश्वर प्रसाद।

प्रश्न

१—भारतीय स्वतन्त्रता के प्रथम संग्राम के प्रधान कारणों को समझाओ।

२—इस संग्राम के प्रथम स्थल तथा मुख्य गतियों का विवरण दो।

३—इसके परिणाम की व्याख्या करो।

४—भारतवर्ष का एक मानचित्र खींचो और उसमें इस संग्राम के प्रधान स्थलों को दिखलाओ।

---

1. Second Period.

क्रम-संख्या ३
तीसरा सप्ताह[1]
विश्व का इतिहास
विषय—फ्रान्स की राजक्रान्ति

तुमने पढ़ा है कि इंगलैंड की सन् १६४२ और १६८८ की क्रान्तियाँ प्रधानतः राजनीतिक और धार्मिक थीं। अमेरिका की सन् १७७६ की क्रान्ति विशेषतः राजनीतिक थी। परन्तु फ्रान्स की १७८९ की क्रान्ति राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक थी। फ्रान्स की क्रान्ति की जड़ में ये बातें प्रधान थीं। (१) निरंकुश फ्रान्सीसी राजा अयोग्य थे; फ्रान्स के दार्शनिक विद्वान अन्य देशों के विचारकों की तुलना में अधिक प्रभावशाली थे; और (२) दूसरे देशों की जनता की अपेक्षा फ्रान्स की जनता अंग्रेजी तथा अमेरिकी क्रान्तियों से अधिक प्रभावित हुई। इसे समझने के लिये निम्नलिखित लेखकों की पुस्तकों के संगत पृष्ठों को पढ़ो और नीचे दिये हुये प्रश्नों के उत्तर तैयार करो।

१—पी० एल शर्मा।

२—एच० ए० डेवोज़।

३—एच० जी० वेल्स।

प्रश्न

१—फ्रान्स की क्रान्ति के मूल कारणों की व्याख्या करो।

२—फ्रान्स की क्रान्ति की प्रधान घटनाओं का संक्षेप में विवरण दो।

३—फ्रान्स की क्रान्ति के प्रभाव और महत्व पर प्रकाश डालो।

क्रम-संख्या ४
चौथा सप्ताह[2]
विश्व का इतिहास
विषय—रूस की क्रान्ति, १९१७

जारशाही से प्रजा अत्यन्त दुखी थी। कृषक बड़े ही सन्तप्त थे।

1. Third Period. 2. Fourth Period.

सारा देश आर्थिक व्यामोहों से विकल था। औद्योगिक क्रान्ति के फल-स्वरूप कल-कारखाने स्थापित किये गये, परन्तु उनके श्रमिक पूँजीपतियों के अमानुषिक व्यवहार से विचलित हो उठे। इन सबके अतिरिक्त राजकीय बन्धन अत्यन्त कठोर थे। सर्व साधारण धनिक वर्ग से द्वेष करता था। देश में शिक्षा का अभाव था। देश में असामाजिक दुर्वृत्तियाँ घेरे हुई थीं। नैतिकता बहुत कम देखने को मिलती थी। चारों ओर क्रान्तिकारी प्रवृत्तियाँ जोर पकड़ रही थीं। देश में एक क्रान्तिकारी दल उत्पन्न हो गया था जो चुपके-चुपके कार्यशील था। बम और पिस्तौल से राज्य-कर्मचारियों की हत्यायें होने लगी थीं। इन सब प्रवृत्तियों को बलवश दबाने की चेष्टा की जाती थी। पर यह कहाँ सम्भव था? फलतः क्रान्ति किसी से रोकी न जा सकी। इन सब बातों को समझने के लिए निम्नलिखित लेखकों की पुस्तकों के संगत पृष्ठों को पढ़ो और नीचे दिये हुये प्रश्नों के उत्तर तैयार करो।

१—पी० एल० शर्मा।
२—एच० जी० वेल्स।
३—एच० ए० डेवीज।

प्रश्न

१—रूस की क्रान्ति के कारण बतलाओ।
२—क्रान्ति के प्रारम्भ तथा विभिन्न दलों का विवरण दो।
३—रूस की क्रान्ति की देनों की व्याख्या करो।

४—डाल्टन पद्धति की आलोचना

कुछ लोगों का कहना है कि डाल्टन पद्धति में बालक को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता इतनी अधिक दे दी जाती है कि वह उसका दुरुपयोग कर सकता है। बालक यह सोच कर कभी-कभी घबड़ा भी सकता है कि वह निर्देशित कार्य स्वतः नहीं कर सकता। इस आपत्ति के उत्तर में दूसरे कहते हैं कि घबड़ाने वाले लड़के तो हर जगह घबड़ायेंगे। ऐसे लड़के की सहायता के लिए शिक्षक उपस्थित रहता ही है। कक्षा-शिक्षण में शिक्षक के घनिष्ट सम्पर्क से लाभ उठाने का बालकों को उतना सुअवसर नहीं

मिलता जितना के डाल्टन पद्धति में। डरने वाले लड़के कम होते हैं। उत्तरदायित्व से भागने की प्रवृत्ति उनमें नहीं होती। यदि ठीक परिस्थिति में रख दिया जाय तो वे अपना काम पूरा करके ही उठेंगे। बहुधा यह देखा भी जाता है कि बालक का स्वभाव ही बेकार बैठना नहीं है। यदि दोषपूर्ण शिक्षा से उसका यह स्वभाव न बिगड़ा तो पढ़ने और लिखने में उसकी रुचि सदा बनी रहेगी। प्रारम्भ में यह देखा भी जाता है कि छोटे-छोटे लड़के पढ़ने-लिखने का कितना स्वाङ्ग रचते हैं। डाल्टन-पद्धति में बालक के निरीक्षण के लिए अध्यापक सदा रहता है। बालक की स्वतन्त्रता सीमित है। जब चाहे तब वह घर नहीं जा सकता।

यह बात ठीक है कि डाल्टन पद्धति सामान्य बालकों की ही शिक्षा में सफल हो सकती है। असामान्य बालकों की शिक्षा इससे सन्तोषजनक नहीं होती। इसीलिए उन्हें दूसरे स्कूलों में भेज दिया जाता है।

कुछ लोगों का कहना है कि ग्राफ़ की सहायता से बालक की उन्नति का लेखा रखने की विधि इतनी विस्तृत है कि शिक्षकों में उनके दास होने की आदत पड़ सकती है। इस प्रकार डाल्टन पद्धति में एक ओर तो बालकों को स्वतन्त्रता दी जाती है और दूसरी ओर शिक्षक की स्वतन्त्रता छीन ली जाती है। पर यह ध्यान देने की बात है कि डाल्टन पद्धति में किसी नियम-पालन की बद्धता पर जोर नहीं दिया जाता। डाल्टन पद्धति तो वह प्रणाली है जिसे कार्यान्वित करने के लिए एक ही नियम के पालन की अपेक्षा नहीं की जाती। इसे सभी लोग अपनी-अपनी विधि के अनुसार उपयोग में ला सकते हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि डाल्टन पद्धति में मौखिक कार्य के अभ्यास के लिए पर्याप्त समय नहीं मिलता। मौखिक कार्य भाषा के सीखने में बड़ा आवश्यक है। इस प्रणाली को ठीक से कार्यान्वित करने के लिये उपयुक्त पुस्तकें और योग्य शिक्षकों की आवश्यकता है। उपयुक्त पुस्तकों के अभाव में बालक अपने से कुछ न कर सकेंगे। यदि शिक्षक योग्य न हुये तो वे पाठ-निर्देश अच्छा न बना सकेंगे। वे किसी न किसी प्रकार का पाठ बालकों को देकर केवल खाना पूर्ति कर देंगे। पाठ-निर्देश ऐसा

होना चाहिए कि बालकों की सारी मानसिक शक्ति उसमें लग जाय। तार्किक-क्रम से विषय का विवेचन करने वाली पुस्तकें बालकों के लिये विशेष उपयोगी नहीं होती। डाल्टन-पद्धति के लिए पाठ्य पुस्तकें कैसी हों इसका अभी कोई सर्वमान्य निर्णय नहीं किया जा सका है। पर बालकों के विकास पर पूरा ध्यान देकर ऐसी पाठ्य-पुस्तकों का लिखना आवश्यक है जिनमें उपयुक्त पाठ-निर्देश भी दिये हों। इसके अतिरिक्त डाल्टन स्कूल में प्रत्येक विषय के लिए अच्छी और आवश्यक पुस्तकों का संग्रह होना आवश्यक है। इसके बिना पाठ-निर्देश का कुछ तात्पर्य न होगा।

५—डाल्टन-पद्धति और हमारा देश

कुछ अध्यापकों को डाल्टन पद्धति अरुचिकर लगती है। क्योंकि उसमें उनके आत्म-गौरव-प्रदर्शन करने की इच्छा की विशेष पूर्ति नहीं होती। उनका स्थान गौण हो जाता है। डाल्टन पद्धति में सालाना तरक्की के सम्बन्ध में बड़े बड़े नियमों का पालन किया जाता है। भारतीय अभिभावक अभी उनके लिए तैयार नहीं। वे तो अपने बालक को हर साल आगे की कक्षा में देखना चाहते हैं। इस प्रकार अभिभावकों से सहानुभूति न मिलने से हमारे देश में डाल्टन पद्धति का सफल होना कठिन है। डाल्टन पद्धति में स्कूल-भवन ऐसा होना चाहिए कि उसमें विभिन्न विषयों के लिये प्रयोगशालायें बनाई जा सकें। जब कि हमारे देश के बहुत से स्कूल किसी प्रकार अपने को धूप और बरसात से बचाने के प्रबन्ध में हैं तो वे प्रयोगशालाओं के लिए बड़ी-बड़ी इमारतें कहाँ बनवा सकते हैं? स्पष्ट है कि डाल्टन पद्धति को भारतवर्ष में कार्यान्वित करने में सबसे बड़ी कठिनाई धन की है। धन होने पर योग्य शिक्षक, उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकें और आवश्यक इमारतें सभी उपलब्ध हो सकती हैं। परन्तु पूरा नहीं तो कुछ सिद्धान्तों को कार्यान्वित किया ही जा सकता है। डाल्टन पद्धति के प्रवर्त्तक के अनुसार कुछ ही सिद्धान्तों के पालन से बालकों का बहुत लाभ हो सकता है। अतः कुछ न कुछ प्रयत्न तो करना ही चाहिये।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

डाल्टन पद्धति

१—स्वरूप

मॉन्तेसरी पद्धति से तार्किक समानता, स्कूल ऐसी प्रयोगशाला जहाँ बालक अपने विकास के लिए स्वयं प्रयत्न कर सके।

२—डाल्टन पद्धति की कुछ विशेषतायें

व्यक्तिगत आवश्यकता पर पूरा ध्यान।

सीमा के अन्दर उचित स्वतन्त्रता, समय-सारिणी का बन्धन नहीं।

प्रयोगशालायें, पाठ निर्देश, उन्नति का लेखा।

सामान्य कठिनाई का निराकरण सामूहिक रूप में।

नई शिक्षण-विधि नहीं, नए शिक्षा-संगठन का एक रूप, श्रेणी विभाजन में व्यक्तिगत भिन्नता की उपेक्षा नहीं; पारस्परिक सहायता की पूरी स्वतन्त्रता, सामाजिकता का विकास।

आत्म-शिक्षण, पूर्वाह्न और अपराह्न।

स्कूल समाज का एक छोटा रूप।

मौखिक पाठ

विशेषज्ञ

३—पाठ-निर्देश

डाल्टन पद्धति का प्राण पाठ-निर्देश।

यह देखना कि पाठ-निर्देश का ठीक अध्ययन किया गया है या नहीं।

इतिहास का पाठ-निर्देश

(कक्षा ६ के लिए, बालकों की आयु १३-१४)

क्रम संख्या १

प्रथम सप्ताह

विषय—मुगल-कालीन सभ्यता तथा संस्कृति

खण्ड १ (यूनिट १) (एक दिन के लिए)

क्रम संख्या २

दूसरा सप्ताह

विषय—भारतीय स्वतन्त्रता का प्रथम युद्ध, १८५७

क्रम संख्या ३

तीसरा सप्ताह

विश्व का इतिहास

विषय—फ्रान्स की राजक्रान्ति

क्रम संख्या ४

चौथा सप्ताह

विश्व का इतिहास

विषय—रूस की क्रांति, १९१७

४—डाल्टन पद्धति की आलोचना

बालक मनमानी बात नहीं कर सकता, उसकी स्वतन्त्रता सीमित।

"सामान्य बालकों की ही शिक्षा"।

किसी एक नियम-पालन की बद्धता नहीं।

उपयुक्त पुस्तकें और योग्य शिक्षकों की आवश्यकता।

५—डाल्टन-पद्धति और हमारा देश

धन की कमी, सहानुभूति नहीं।

सहायक पुस्तकें

१—हेलेन पार्कहर्स्ट—एडूकेशन ऑन द डाल्टन प्लान।
२—इवेलिन ड्यूई—द डाल्टन लेबोरेटरी प्लान।
३—ए० जे० लिञ्च—द डाल्टन प्लान।
४—किमिन्स एण्ड रेनी—द ट्रम्फ ऑव् द डाल्टन प्लान।
५—ब्यायड—टुवर्ड्स ए न्यू एडूकेशन।
६—जे० ऐडमूस—माडर्न डेवलपमेण्ट इन एडूकेशनल प्रैक्टिस।
७—आर० आर० रस्क—रिसर्च इन एडूकेशन।
८—रग हेरोल्ड—डेमोक्रेसी एण्ड द करीक्यूलम।

३६

खेल द्वारा शिक्षा[1]

प्रायः सभी नवीन शिक्षा-प्रणालियों में 'खेल' द्वारा शिक्षा देने पर काफी जोर दिया जाता है। एक प्रकार से प्रॉजेक्ट मेथड और डाल्टन प्लान में भी बालक की खेल-प्रवृत्ति का कुछ न कुछ उपयोग किया जाता है। किण्डरगार्टेन और मॉन्तेसरी प्रणालियाँ तो प्रधानतः खेल पर ही आधारित हैं। अतः यहाँ खेल के स्वरूप तथा शिक्षा में उसके उपयोग पर संक्षेप में विचार कर लेना असंगत न होगा। खेल की मनोवैज्ञानिक व्याख्या तथा उसके विभिन्न सिद्धान्तों का उल्लेख यहाँ न किया जायगा।[2]

१—खेल का स्वरूप[3]

खेल का स्वरूप ठीक-ठीक समझने के लिए 'कार्य' से उसकी तुलना कर लेना युक्तिसंगत जान पड़ता है। खेल और कार्य में सैद्धान्तिक विरोध दिखलाई पड़ता है, क्योंकि दोनों के उद्देश्य भिन्न-भिन्न होते हैं। कार्य से व्यक्ति किसी उद्देश्य की पूर्ति करना चाहता है। उदाहरणार्थ; बढ़ई लकड़ी पर काम करता है जिससे मेज और कुर्सियाँ तैयार हो जाँय। अन्न पैदा करने के लिए किसान खेत में काम करता है। परीक्षा में

---

1. Play way in Education.

2. लेखक द्वारा रचित "मनोविज्ञान और शिक्षा" द्वि० सं०, पृष्ठ २२५-२४६, प्रकाशक लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, १९५६। 'खेल का मनोवैज्ञानिक व्याख्या और सिद्धान्त' के लिये पढ़िये।

3. Nature of Play.

उत्तीर्ण होने के लिए विद्यार्थी कमरे में बैठ कर घण्टों पढ़ता रहता है— यह उसका कार्य हुआ। डाक्टर का काम धनोपार्जन के लिए रोगियों को देखने यहाँ-वहाँ जाना है या अस्पताल में ही बैठे उनकी चिकित्सा करना है। अपने-अपने काम पूरे हो जाने पर बढ़ई, किसान, विद्यार्थी और डाक्टर सन्तोष का अनुभव करते हैं। 'खेल' की बात इससे एकदम निराली है। खेल में व्यक्ति खेल के परे किसी अन्य उद्देश्य की पूर्ति नहीं चाहता। वस्तुतः खेल खेलना ही उसका ध्येय होता है। खिलाड़ी को वास्तविक आनन्द का अनुभव खेल-क्रिया ही में होता है। इसके विपरीत कार्य करने वाले को आनन्द का अनुभव कार्य के सफलतापूर्वक सम्पादित हो जाने पर होता है।

यहाँ एक आदर्श की ओर संकेत कर देना अप्रासंगिक न होगा। ऊपर हम कह चुके हैं कि खेल और कार्य में सैद्धान्तिक विरोध है। पर आदर्श की दृष्टि से ऐसी बात नहीं। यदि कार्य अर्थात् कर्त्तव्य को हम खेल की मुद्रा में कर डालें तो कितनी बड़ी बात हो! वस्तुतः व्यक्तित्व के आदर्श विकास की यही माँग है। तभी तो कर्तव्य-पालन कृष्ण और राम के लिए खेल ही था। कदाचित् इसी भावनावश हमारे पूर्वजों ने 'कृष्णलीला' और 'रामलीला' का नामकरण किया है। 'लीला' का अर्थ खेल ही है। विषय की अधिक खींचा-तानी करनी न होगी यदि हम कहें कि कर्त्तव्य-पालन में हम बालक को खेल की ही मुद्रा देना चाहते हैं, जिससे वह अपना कार्य प्रसन्नचित्त होकर करे। खेलने में उसे जो आनन्द आता है वही आनन्द उसे अपने काम में भी आना चाहिए। हमारा भी यह अनुभव है कि जो काम हम बड़े आनन्द से करते हैं उसका फल बड़ा ही मनोहर होता है।

शिक्षक को बालक का पथ-प्रदर्शन इस प्रकार करना है कि वह वर्त्तमान और भावी जीवन में प्रस्तुत कार्य को हँसते-हँसते कर ले। इसी वांछित आदत की ओर 'खेल द्वारा शिक्षा' का आन्दोलन संकेत करता है। मानव समाज के लिए वह दिन बड़े आनन्द का होगा जबकि प्रत्येक नागरिक अपने अपने काम को हँसते-हँसाते करता जाय। ऐसा होने

पर ही समाज की विभिन्न कुरीतियाँ दूर हो सकती हैं और भावी महा-युद्धों से हम मुक्त हो सकते हैं। आइए, हम आशा करें कि वह दिन बहुत दूर नहीं। हम शिक्षकों को तो आशा के ही आधार पर अपने कर्तव्यों का पालन करते जाना है। हमारा यह आदर्श बालकों के लिए बड़ा भारी उदाहरण होगा।

भावावेश में ऊपर हम बहुत दूर तक चले गये। खेल और काम के कुछ अन्य भेदों पर भी अभी दृष्टिपात करना शेष है। खेल हमारी इच्छा पर निर्भर होता है, पर कार्य नहीं। अपनी रोटी कमाने अथवा अपने ध्येय को पूरा करने के लिए काम करने को हम बाध्य हो जाते हैं। किसान खेत में काम न करेगा तो क्या खायेगा? डाक्टर रोगियों की चिकित्सा नहीं करेगा तो पैसा कैसे पायेगा? अर्थात् ऐसे कार्यों के बिना उसका काम नहीं चल सकता। खेल के विषय में ऐसी बात नहीं। वह तो व्यक्ति के झक पर निर्भर है। मन किया तो रैकेट लेकर टैनिस खेलने मैदान में पहुँच गए। इच्छा हुई तो सिनेमा देखने चले गए, नहीं तो सो ही गए, अर्थात् खेल में बाहरी कोई दबाव नहीं।

कार्य में हमें दूसरों के द्वारा कुछ निर्धारित नियमों का पालन करना होता है। कार्य से और वास्तविक जीवन की घटनाओं से पक्का सम्बन्ध है। खेल में अपने ही बनाये हुये नियमों का पालन करना होता है और उनके पालन में आनन्द आता है। खेल में हम वास्तविक जीवन से दूर होकर काल्पनिक संसार के क्षेत्र में विचरते हैं। बचपन में न्यायाधीश, पुलिस और वकील आदि का मनमाना अभिनय किसने नहीं किया है? पुल, रेल और महल बनाने का स्वाङ्ग किसने नहीं रचा है? काल्पनिक संसार में विचरने की स्वतन्त्रता खेल प्रवृत्ति का प्राण है। इसी को छीन लीजिए तो साधारण व्यक्ति के लिये वही खेल 'कार्य' हो जायगा। यदि निरीक्षण-शक्ति की वृद्धि के लिये बालक पतंग उड़ाता है, रोटी कमाने के लिए पहलवान कुश्ती लड़ता है, टिकट पर धन कमाने के लिये खिलाड़ी हॉकी या फुटबॉल का खेल खेलता है तो 'पतंग उड़ाना', 'कुश्ती लड़ना' और 'हॉकी या फुटबॉल' आदि खेल 'कार्य' हो जायेंगे, क्योंकि उसमें खिलाड़ी की मनचाही स्वतन्त्रता छिन जाती है।

२—खेल द्वारा शिक्षा

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि खेल और कार्य में बहुत हद तक दृष्टिकोण का अन्तर है। दृष्टिकोण के परिवर्तन से खेल 'कार्य' और कार्य 'खेल' हो सकता है। शिक्षा में खेल की प्रवृत्ति के उपयोग से हम बालकों के दृष्टिकोण में ही वांछित परिवर्तन कर देना चाहते हैं। पाश्चात्य शिक्षा शास्त्री काल्डवेल कुक का कहना है कि खेल में बालक की सभी रचनात्मक प्रवृत्तियों का स्पष्ट आभास मिलता है। मनुष्य के स्वभाव को खेल द्वारा सरलता और ठीक से समझा जा सकता है। किसी ने सच कहा है कि 'किसी के स्वभाव का अध्ययन करना है तो उसके साथ कुछ देर तक खेल लो।' खेल में व्यक्ति भूलकर अपने वास्तविक स्वभाव को अनजान में स्पष्ट कर देता है। ऊपर हमने खेल और काम के भेद का स्पष्टीकरण किया है और उससे यह समझा जा सकता है कि कार्य से जी ऊब जाने पर व्यक्ति मनोरंजन के लिये खेल का आश्रय लेता है। यदि खेल का यही अर्थ लिया जाय तो 'खेल द्वारा शिक्षा' की बात उठाना ही भ्रम होगा। इसीलिये काल्डवेल कुक ने 'खेल' को बचपन की एक प्रधान क्रिया मानी है। कहना न होगा कि यह धारणा बिलकुल ठीक भी है। बाल-मन में ढिलाई नहीं होती। बालक की संसार के दृढ़ प्राणियों में गणना की जा सकती है। खेलने के समय बालक बड़ा एकाग्रचित्त और दृढ़ दिखलाई पड़ता है। खेलने के आवेश में वह खाना-पीना और सभी सामाजिक बन्धन भूल जाता है। दस वर्ष का बन्नू खेलने में इतना मग्न रहा कि बाबू जी के कई दिन पर बाहर से आने पर भी उसे उन्हें प्रणाम करने की सुधि न रही। खेल समाप्त होने पर वह अचानक बाबू जी को प्रणाम कर बैठा। खेल के मनोवैज्ञानिक आधार से अपरिचित व्यक्ति चौंक पड़े। सच है, खेल में बालक उतना ही दृष्टिप्रतिज्ञ रहता है जितना कि रणक्षेत्र में सेनापति। कदाचित् इसीलिये कुक का कहना है कि शिक्षा में खेल को लाने का तात्पर्य बालक को अध्ययन अथवा सीखने की क्रिया से वंचित कर उसका मनोरंजन मात्र नहीं करना है, वरन् उसे सीखने की ही क्रिया में संलग्न करना है; क्योंकि बालक के लिए 'खेलना' सीखने का

बड़ा भारी साधन है। 'खेल-प्रवृत्ति' के उपयोग से पढ़ने-लिखने में उसे आनन्द आने लगता है।

कुक के अनुसार स्वतन्त्रता,[1] उत्तरदायित्व[2] और रुचि[3] 'खेल द्वारा शिक्षा' के प्रधान लक्षण हैं; क्योंकि ये तीनों खेल के मुख्य गुण हैं। खेल में बालक पूरी स्वतन्त्रता का अनुभव करता है। इसके अभाव में खेल 'खेल' नहीं है। खेल के बुरे अथवा अच्छे फल का उत्तरदायित्व पूर्णतः खिलाड़ी पर ही होता है। खेल में गहरी चोट लग जाने पर भी बालक नहीं रोता। भारी से भारी हानि हो जाने पर भी वह चूँ नहीं बोलता, क्योंकि उसमें उसी का उत्तरदायित्व रहता है। खेल रुचि रहने तक ही चलता है। किसी के कहने पर बालक खेलना नहीं प्रारम्भ कर सकता। रुचि रहने पर ही वह खेलता है और न रहने पर घर चला आता है। घर-घरोंदा खेलते हुये बालक को यदि अभिनय के स्वाङ्ग रचने के लिए आदेश दिया जाय तो अपनी रुचि के विरुद्ध वह कुछ न करेगा। रुचि के अनुसार वह अपनी खेल-क्रिया का रूप बदला करता है, पर दूसरे की रुचि के अनुसार खेलना उसे स्वीकार नहीं हो सकता। खेल द्वारा शिक्षा में मनोवैज्ञानिक ढंग से हम कुछ अरुचिकर क्रियाओं को ही खेल के रूप में बालकों से करवाते हैं। बालकों की कुछ वस्तुओं में स्वभावतः रुचि होती है और कुछ मे अरुचि। "खेल द्वारा शिक्षा" में हम बालक की स्वभावतः रुचिकर और अरुचिकर वस्तुओं में एक स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। अतः बालकों की रुचिकर और अरुचिकर वस्तुओं में स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित करना "खेल द्वारा शिक्षा" का उद्देश्य है।

बालक की रुचिकर और अरुचिकर वस्तुओं का पता कैसे चलाया जाय? वस्तुतः हम उनका ठीक-ठीक वर्गीकरण नहीं कर सकते। जो चीज एक समय रुचिकर है वही दूसरे समय अरुचिकर हो सकती है। अपनी रुचि से किए जाने वाले कार्य को यदि किसी के दबाव के कारण हमें विवश होकर करना हुआ तो वही कार्य अरुचिकर हो जायगा।

1. Freedom. 2. Responsibility. 3. Interest.

बालक की रुचिकर और अरुचिकर वस्तुओं के विषय में भी यही कहा जा सकता है। गेंद खेलने में उसे बड़ा आनन्द आता है। पर यदि उसे गेंद खेलने के लिये बाध्य किया जाय तो वही काम उसके लिए अरुचिकर हो जायगा। पर यदि अरुचिकर को रुचिकर के साथ जोड़ दिया जाय तो वही रुचिकर जान पड़ेगा। एक मील पैदल चलना बालक के लिए अरुचिकर हो सकता है। पर कबड्डी या कुश्ती लड़ने के लिये इतने दूर पैदल जाना उसे रुचिकर मालूम होगा। बालक को यदि उसके कार्य का उद्देश्य बता दिया जाय तो वह उसे रुचि के साथ कर सकता है।

३—'खेल द्वारा शिक्षा' के विरोधियों का मत

'खेल द्वारा शिक्षा' प्रणाली से पूरी शिक्षा-पद्धति को रूपान्तरित किया जा सकता है। पर कुछ लोगों का कहना है कि खेल द्वारा सभी विषयों का पढ़ाना सम्भव नहीं। ऐसे लोग खेल का बहुत सीमित अर्थ लगाते हैं। वे हॉकी, फुटबाल, कबड्डी तथा नाटक आदि को ही खेल का प्रधान अङ्ग मानते हैं। वे कहते हैं कि केवल इन्हीं के आधार पर पाठ्य-क्रम के सभी विषयों को नहीं पढ़ाया जा सकता। साहित्य तथा इतिहास जैसे विषयों को भले ही किसी प्रकार अभिनय तथा खेल के द्वारा पढ़ा दिया जाय। पर गणित और विज्ञान आदि विषयों का खेल द्वारा पढ़ाना सम्भव नहीं। इस प्रकार 'खेल' का अन्धभक्त होकर सब कुछ खेल-प्रणाली के अनुसार पढ़ाना युक्ति संगत नहीं दिखलाई पड़ता। पर खेल-प्रणाली के उग्र समर्थक अपने विरोधियों के इस तर्क से चुप होने वाले नहीं। मिस फिनले जानसन और कुक की तो धारणा है कि प्रत्येक विषय खेल द्वारा पढ़ाया जा सकता है।

कुछ शिक्षा-शास्त्री खेल को शिक्षा का आधार मानना सिद्धान्ततः बुरा मानते हैं। उनका कहना है कि शिक्षा का तात्पर्य व्यक्ति को वास्तविक और व्यावहारिक जीवन के लिए तैयार करना है। जीवन में बहुत सी नीरस बातें अपनी इच्छा के विपरीत करनी होती हैं। अतः यह मान लेना कि सब कुछ बालक की रुचि के अनुसार ही बना कर पढ़ाना आवश्यक है एक बहुत बड़े सत्य की अवहेलना करनी है। शिक्षा तो इस

प्रकार की होनी चाहिये कि अरुचिकर कार्य की भी कर्त्तव्य भावना से, व्यक्ति करने को तैयार हो जाय। इस आदत के अभाव में उसे भविष्य में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है। अतः इन शिक्षा-शास्त्रियों के अनुसार जहाँ खेल का आधार लेना सम्भव भी हो वहाँ भी उसे न लेना चाहिए, क्योंकि इससे बालकों में केवल मनोरंजक कार्य करने की ही आदत पड़ेगी और अरुचिकर कार्य से डरने की प्रवृत्ति उनमें पैदा होगी। शिक्षा के प्रारम्भिक दिनों में कुछ खेलों के आधार पर थोड़ी शिक्षा-व्यवस्था भले ही कर ली जाय, पर बाद में तो अरुचिकर श्रम उसे करना ही पड़ेगा। अतः बालकों में एक बुरी आदत क्यों डाली जाय?

"खेल द्वारा शिक्षा" के विरोध में उपर्युक्त दो मतों के समर्थक एक भूल कर रहे हैं। वे समझते हैं कि शिक्षा में खेल के आधार को स्वीकार करने वाले बालक को परिश्रम तथा अरुचिकर कार्य से दूर हटाना चाहते हैं। ऐसा समझना भ्रम है; क्योंकि अरुचिकर वस्तु को रुचिकर बना कर पढ़ाने का यह तात्पर्य नहीं होता, वरन् अरुचिकर को इतना मनोरंजक बना देना है कि बालक अधिक परिश्रम कर सके। खेल का शिक्षा में प्रयोग का तात्पर्य एक मनोवृत्ति विशेष अथवा दृष्टिकोण से है। यदि बालक में शिक्षा के समय खेल की मनोवृत्ति उत्पन्न की जा सकी तो कठिन से कठिन कार्य भी उसे सरल मालूम होगा। सन्तोष की बात है कि खेल द्वारा शिक्षा के उपर्युक्त विरोध का कोई विशेष प्रभाव न पड़ा और यथा सम्भव खेल-मनोवृत्ति का बालकों की शिक्षा में सदुपयोग किया गया है। नीचे हम कुछ ऐसे उदाहरण देंगे जिनसे खेल द्वारा शिक्षा की प्रगति का पता चलेगा।

४—खेल द्वारा शिक्षा का क्रियात्मक रूप

आजकल शायद ही ऐसा कोई स्कूल होगा जहाँ बालचर संस्था की एक टोली न हो। बालचरों को खेल के द्वारा ही अनेक व्यावहारिक और वास्तविक बातों में शिक्षा दी जाती है। जिन नैतिक गुणों के प्रति

स्थायीभाव[1] उत्पन्न करने के लिये कक्षा में शिक्षक को बड़ी कठिनाई मालूम होती है उन्हें बालचर अपने खेलों के आधार पर अपना लेते हैं। बालचरों का भ्रातृत्व, लोकसेवा, जीवों के प्रति दया, दुःखियों के लिये सहानुभूति और सहायता, सहिष्णुता आदि नैतिक गुणों से सभी परिचित हैं। वस्तुतः बालचर संस्था तो इन्हीं गुणों पर आधारित है। स्कूल अथवा घर में व्यावहारिक जीवन की बातें सीखने के लिए काम करना बालकों को बड़ा अरुचिकर लगता है। पर बालचर संस्था में खेल के रूप में बहुत सी व्यावहारिक बातें वह हँसते-हँसते सीख लेता है। कैम्प में वह प्रसन्नचित्त चारों ओर की गन्दगी साफ कर डालता है, भोजन बनाता है और दूसरों की सेवा करता है। जाड़े की रात्रि में वह घण्टों पहरा देता रहता है। वह कर्त्तव्य परायण हो जाता है। बालचर संस्थायें बालकों के जीवन को आदर्श बनाने के लिये बहुत ही उपयुक्त हैं।

स्कूलों में कभी-कभी नाटक भी खेलने का आयोजन किया जाता है। इससे बालकों को इतिहास और साहित्य की अच्छी शिक्षा मिलती है। सिनेमा से भी उन्हें कई तरह की अच्छी शिक्षायें दी जाती हैं। सिनेमा का आधार खेल ही होता है। हॉकी, फुटबॉल, क्रिकेट और कबड्डी आदि खेलों से केवल शारीरिक स्वास्थ्य की ही वृद्धि नहीं होती, वरन् उनसे बालक, नेतृत्व, आत्मत्याग तथा सहिष्णुता आदि अनेक नैतिक गुण प्राप्त करता है।

संगीत, साहित्य और चित्रकला आदि में रसानुभूति-पाठों की आजकल चलन चल पड़ी है। इनमें यह प्रयत्न किया जाता है कि बालक संगीत, साहित्य, चित्रकला के कुछ सुन्दर अङ्गों को समझें और यदि सम्भव हो तो स्वयं वैसी रचना करने का प्रयत्न करें। इनमें 'खेल द्वारा शिक्षा' के सिद्धान्त की ही ओर सकेत मिलता है, क्योंकि इसमें बालक के सौन्दर्य-प्रेम के विचारात्मक और क्रियात्मक दोनों भावों का मेल दिखलाई पड़ता है।

---

1. Sentiment.

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

खेल द्वारा शिक्षा

१—खेल का स्वरूप

खेल और काम में सैद्धान्तिक विरोध, आदर्श की दृष्टि से दोनों में समानता।

खेल इच्छा पर निर्भर—पर काम नहीं।

काम में वास्तविक जीवन से सम्बन्ध, खेल में काल्पनिक जीवन।

२—खेल द्वारा शिक्षा

खेल और काम में दृष्टिकोण का अन्तर, खेल से व्यक्ति का स्वभाव पहचानना, खेल बचपन की प्रधान क्रिया और सीखने का साधन।

स्वतन्त्रता, उत्तरदायित्व और रुचि 'खेल द्वारा शिक्षा' के प्रधान लक्षण; रुचिकर और अरुचिकर वस्तुओं में सम्बन्ध स्थापित करना।

अरुचिकर को रुचिकर के साथ जोड़ना।

३—'खेल द्वारा शिक्षा' के विरोधियों का मत

प्रत्येक विषय खेल द्वारा नहीं पढ़ाया जा सकता।

खेल को शिक्षा का आधार बनाना सिद्धान्ततः गलत ?

'खेल द्वारा शिक्षा' का अर्थ परिश्रम से बालक को दूर हटाना नहीं।

४—खेल द्वारा शिक्षा का क्रियात्मक रूप

बालचर-संस्था।

नाटक, सिनेमा, हॉकी व फुटबॉल आदि खेल।

रसानुभूति-पाठ।

सहायक पुस्तकें

१—काल्डवेल कुक—प्ले-वे इन एडुकेशन।
२—रेनी—द प्लेस ऑव् प्ले इन एडुकेशन।
३—टी० पी० नन—एडुकेशन इट्स डेटा ऐण्ड फ़र्स्ट प्रिन्सीपुल्स, अध्याय ७–८।
४—लोवेनफ़ील्ड—प्ले इन चाइल्डहूड।

३७

किण्डरगार्टेन पद्धति[1]

स्कूल द्वारा शिक्षा देने का विस्तृत और क्रम-बद्ध रूप सबसे पहले जर्मनी के दार्शनिक शिक्षा विशेषज्ञ फ्राबेल[2] ने १६वीं शताब्दी में हमें दिया। १६वीं शताब्दी में स्कूल बालकों के लिए जेल के समान थे। उनको खेल पर आधारित करना शिक्षा में एक बड़ी भारी क्रान्ति लाना था। स्कूल एक अरुचिकर स्थान का द्योतक हो चला था। कदाचित् इसीलिए फ्रोबेल ने अपनी प्रणाली के नामकरण में 'स्कूल' शब्द का समावेश नहीं किया। वह स्कूल को बालकों के मनोरंजन का स्थान बनाना चाहता था। वह चाहता था कि बालक स्कूल वैसे ही प्रसन्न मन से जाँय जैसे वे खेल-मैदान में जाते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने खेल को छोटे बालकों की शिक्षा का आधार बनाया।

१—फ्रोबेल के दार्शनिक विचार पर शिक्षा की नींव

फ्रोबेल विकास के एक सार्वलौकिक नियम में विश्वास करता है। उसके शिक्षा-आदर्श में आध्यात्म-विद्या की छाप स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। उसके अनुसार आध्यात्मिक विकास के क्रम-बद्ध होने से ही शिक्षा सम्भव हो सकती है। "शिक्षा का उद्देश्य शरीर और आत्मा को बन्धन

---

1. Kindergarten System.

2. फ्रोबेल के गहन दार्शनिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों की विवेचना करना इस अध्याय का उद्देश्य नहीं। इसके लिए पाठक लेखक की "पाश्चात्य शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास" पढ़ें। यहाँ पर केवल 'किण्डरगार्टेन पद्धति' की रूप-रेखा पर ही अति संक्षेप में प्रकाश डाला जायगा।

से मुक्त करना है। वांछित दशायें सभी स्वस्थ बालकों में उपस्थित रहती हैं। शिक्षा द्वारा केवल वास्तविक वातावरण ही उपस्थित करना है।" फ्रोबेल कहता है कि इस संसार की समस्या शिक्षा है और समाधान निश्चित दैवी नियमानुसार ही हो सकता है। उसकी धारणा थी कि धर्म शिक्षा की सच्ची नींव है। शिक्षा ऐसी हो कि व्यक्ति अपने को प्रकृति, मानव जाति तथा ईश्वर को समझ सके। संसार की विभिन्न वस्तुओं में एकता का व्यक्ति को भान कराना शिक्षा का उद्देश्य है। "शिक्षा का उद्देश्य पवित्र, शुद्ध तथा श्रद्धापूर्ण जीवन की प्राप्ति है।"

फ्रोबेल अपने समय के काण्ट, फिशे तथा हीगेल आदि दार्शनिकों से बड़ा प्रभावित हुआ था। ये दार्शनिक प्रकृति और मनुष्य की सारभूत एकता में वास्तविकता और जीवन का कारण समझना चाहते थे। इस विचार का फ्रोबेल पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वह भी मनुष्य और प्रकृति का उद्गम स्थान स्वयंभू परमात्मा में देखता था। व्यक्ति की शिक्षा का संचालन इस प्रकार हो कि वह ईश्वर में स्थित विभिन्न वस्तुओं की एकता पहचान ले। फ्रोबेल के अनुसार विकास एक क्रम से होता है और यह क्रम स्वतः ईश्वरीय नियमों के अनुसार चलता रहता है। इसमें किसी प्रकार का वाह्य हस्तक्षेप हानिकर होता है। यहाँ हरबार्ट और फ्रोबेल में भिन्नता दिखलाई पड़ती है। हरबार्ट के अनुसार मस्तिष्क वातावरण के संघर्ष से उत्पन्न विचारों के फलस्वरूप बनता है। फ्रोबेल का विश्वास है कि इसका विकास भीतर से होता है। बालक जो कुछ भी होगा वह उसके भीतर ही है, चाहे उसका कितना हो कम संकेत क्यों न मिले।

२—विकास-क्रम

लीबनीज के सिद्धान्तों का भी फ्रोबेल पर काफी प्रभाव पड़ा था। लीबनीज की तरह फ्रोबेल का विश्वास था कि "बीज में वृक्ष का अथवा बालक में प्रौढ़ मनुष्य का सारा रूप सूक्ष्म में निहित रहता है।" उसके विभिन्न अङ्गों का विकास एक दूसरे पर निर्भर होता है। यह विकास स्वतः होता है। इसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप घातक होता है। शिक्षक

और अभिभावक बालक के विकास-क्रिया में किस प्रकार की सहायता दे सकते हैं ? विकास शक्तियों के अभ्यास अथवा स्वाभाविक क्रियाशीलता पर निर्भर होता है। जैसे विभिन्न अंगों को पुष्ट बनाने के लिए उनके उपयुक्त व्यायाम की आवश्यकता होती है, वैसे ही मानसिक शक्तियों के विकास लिये भी अभ्यास आवश्यक है।

यदि विकास एक सार्वलौकिक नियम के अनुसार चलता है और उसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप हानिकर होता है तो शिक्षा की आवश्यकता क्या ? फ्रोबेल कहता है कि बालक का वातावरण स्वाभाविक नहीं होता। जन्मते ही वह एक सामाजिक प्राणी हो जाता है और उस पर कृत्रिम वातावरण के विभिन्न प्रभाव पड़ने लगते हैं। इन प्रभावों के कारण उसका विकास स्वतन्त्र रूप से नहीं चल पाता। उसमें माता-पिता, तथा अन्य सम्बन्धियों द्वारा अनजान में ही हस्तक्षेप हो जाता है। इस प्रकार विकास के लिये आदर्श दशा नहीं रहती। इसलिए शिक्षा की आवश्यकता है। पर बालकों की शिक्षा के लिये फ्रोबेल एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। वह बालक की पौधे से उपमा देता है। इसी उपमा के आधार पर उसने बच्चों के स्कूल का नाम 'किण्डरगार्टेन' (बच्चों का बाग) रक्खा। पौधे के विकास में माली केवल योग देता है। उसके लिये अनुकूल वातावरण अर्थात् आवश्यक मिट्टी, खाद व पानी का वह प्रबन्ध भर कर देता है। वह निरीक्षण करता रहता है जिसमें पौधे को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे। माली के सभी प्रयत्नों के होते हुए भी विकास का काम पौधा ही करता है। माली केवल आवश्यक साधनों का आयोजन मात्र कर देता है। पौधे के विकास के लिए माली उतावला नहीं होता। वह उसकी जड़ खोद-खोद कर यह नहीं देखता कि उसका विकास कितना हुआ है। वह केवल अनुकूल वातावरण उपस्थित करके विकास क्रम का उत्तरदायित्व पौधे पर छोड़ देता है। फ्रोबेल का सिद्धान्त है कि बालक की शिक्षा में शिक्षक को भी एकदम यही करना है।

फ्रोबेल शिक्षक की उपमा माली से देता है। माली की तरह शिक्षक

को भी केवल अनुकूल वातावरण उपस्थित कर देना है। जिस प्रकार माली पौधे की स्वाभाविक क्रिया में योग देता है उसी प्रकार शिक्षक को भी अपने कर्त्तव्य का पालन करना है। बालक की स्वाभाविक क्रिया खेल है। खेल विभिन्न प्रकार के हुआ करते हैं। शिक्षक को बालक के खेल का ही मनोवैज्ञानिक आयोजन करना है। यदि यह आयोजन ठीक हुआ तो उसका विकास अपने आप होगा। इस प्रकार फ्रोबेल बालक के विकास में खेल को बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान देता है। खेल में फ्रोबेल को आध्यात्मिक महत्त्व दिखलाई पड़ता है। "व्यक्ति के विकास में बचपन बड़ा महत्त्वपूर्ण है। बचपन खेल के लिए है और किशोरावस्था कार्य के लिए। बालक ने जो पहले अपनी स्वाभाविक क्रियाशीलतावश किया उसे बड़ा लड़का एक निश्चित फल के लिए करेगा। क्रियाशीलता से बच्चे को आनन्द आता है और बड़े लड़के को कार्य से।"[1]

३—मानसिक विकास और शिक्षा का उद्देश्य

फ्रोबेल के अनुसार मानसिक क्रियायें तीन प्रकार की होती हैं:—जानना[2], अनुभव करना[3] और संकल्प[4] करना। इन तीनों क्रियाओं का विकास एक साथ ही होता रहता है। जैसे पौधे की शाखाओं और पत्तों के लिए माली एक साथ ही उद्योग करता है वैसे ही शिक्षक को इन सभी मानसिक-क्रियाओं के लिए एक साथ ही प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करने से ही मस्तिष्क का अनुरूप विकास हो सकता है—(एडूकेशन ऑव् मैन)। फ्रोबेल कहता है कि "सृष्टि, प्रकृति, ससार के क्रम तथा मानव जाति की उन्नति में ईश्वर ने हमें शिक्षा के वास्तविक रूप का आभास दिया है। सृष्टि और प्रकृति में हर समय हमें क्रियाशीलता दिखलाई पड़ती है। इसी क्रियाशीलता की ओर ईश्वर ने संकेत किया है। अतः शिक्षा का सच्चा रूप क्रियाशीलता है। 'चेतन रहना', 'क्रियाशील रहना' और 'विचारना' व्यक्ति के विकास के लिए नितान्त आवश्यक है। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति में इन्हीं गुणों का लाना है। ईश्वर से व्यक्ति

1. Education of Man, 949. 2. Knowing. 3. Feeling. 4. Willing.

को सदा सीखते रहना है। ईश्वर निरन्तर कार्य करता रहता है। परिश्रम और अध्यवसाय में हमें ईश्वर के समान होना है[1]।

बालकों की शिक्षा में फ्रोबेल उनकी रुचि पर विशेष ध्यान देता है। फ्रोबेल की धारणा है कि एक बार स्वाभाविक प्रवृत्ति के जागृत कर देने से बालक में रुचि अपने आप आ जाती है। स्वाभाविक प्रवृत्ति, रुचि और भावना का बच्चे की शिक्षा में क्या महत्व है इस ओर सर्वप्रथम फ्रोबेल ने ही हमारा ध्यान आकर्षित किया है। इसलिए उसकी गणना सर्वश्रेष्ठ शिक्षा सुधारकों में की जाती है। वर्त्तमान शिक्षा-प्रगति में हमें फ्रोबेल के इस विचार की छाप स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। फ्रोबेल का कहना है कि बालक की स्वाभाविक प्रवृत्ति और रुचि को समझने के लिए उसके खेलों का अध्ययन करना चाहिए। फ्रोबेल ने खेल को बालक की शिक्षा का सर्वोत्तम साधन माना है। अतः वह उनके खेलों में सामाजिकता लाकर एक निश्चित उद्देश्य डालना चाहता है। उसका विश्वास था कि यदि उनके खेलों में एक निश्चित उद्देश्य न हुआ तो उनका विकास-क्रम ठीक से न चलेगा।

फ्रोबेल कहता है कि प्रत्येक बालक का अपना अलग-अलग व्यक्तित्व होता है। इसीलिए एक साथ पढ़ते रहने पर भी सब का विकास एक समान नहीं होता। हमारे कहने से बालक कुछ नहीं करता। उसके मन में जो आता है वही करता है। फ्रोबेल बालकों की शिक्षा में शिक्षकों की इच्छा को स्थान देना नहीं चाहता। वह बालकों की ही इच्छा को प्रधान मानता है। फ्रोबेल का मत है कि आत्म-क्रिया[2] सबसे बड़ा शिक्षक है। आत्म-क्रिया से ही बालक अपने विभिन्न अंगों का विकास करते हुये विविध ज्ञान प्राप्त करता है। बालक हर समय क्रियाशील दिखलाई पड़ता है। उसे चुपचाप बैठना पसन्द नहीं। बड़े लोग उसकी क्रियाशीलता से तंग आकर उसे शान्त रखने के लिए बहुधा डाँटा करते हैं। फ्रोबेल का ...श्वास है कि उसकी क्रियाशीलता को ठीक पथ पर अनुशासित कर देना ...सकी शिक्षा का सबसे बड़ा साधन है। इस ओर हम ऊपर संकेत ...े हैं।

...ducation of Man, § 23. 2. Self-activity.

४—किण्डरगार्टेन की नई शिक्षा-प्रणाली

फ्रोबेल ने देखा कि 'गाना',[1] 'संकेत करना'[2] और 'कुछ[3] बनाना' बालकों की सरलतम स्वाभाविक क्रियायें हैं। इन्हीं के द्वारा वह अपने विचार प्रकट किया करता है। अतः उसके उचित पथ-प्रदर्शन के लिए इनका अध्ययन कर तदनुसार अपेक्षित उपकरणों का आयोजन करना नितान्त आवश्यक है। इसलिए फ्रोबेल बालकों की शिक्षा में 'गाना', 'संकेत' और 'बनाने' को महत्त्वपूर्ण स्थान देता है। बच्चों को इन्हीं साधनों से ज्ञान देना चाहिए। उनकी विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों का विकास उनकी स्वाभाविक क्रियाशीलता[4] में योग देने से किया जा सकता है। इस योग के लिए 'गाना', 'संकेत' और 'बनाना' बड़े अच्छे साधन हैं। उदाहरणार्थ; उसे किसी ऐतिहासिक घटना का ज्ञान, गाना, कहानी तथा नाटक के रूप में सरलता से दिया जा सकता है। कहानी इतनी सरल हो कि बालक अनुभव करे कि उसी के स्वभाव का वर्णन किया जा रहा है। गाना ऐसा हो कि वह भी उसमें भाग ले सके। कागज तथा मिट्टी की कुछ वस्तुएँ बनवाने से भी घटना की कुछ बातें उसे समझायी जा सकती हैं। इस प्रकार यथासम्भव बालक के सामने "वास्तविकता" का रूप उपस्थित करने की चेष्टा करनी चाहिए। इससे उसमें विचार-शक्ति का विकास होगा।

बच्चों की शिक्षा गाने, संकेत करने और बनाने तक ही सीमित नहीं। फ्रोबेल उनके लिए कुछ उपहार[5] और क्रियाओं[6] का भी प्रबन्ध करना चाहता है। बालकों की स्वाभाविक क्रियाशीलता को जाग्रत करने के लिए उन्हें लकड़ी तथा कागज आदि के कुछ खिलौने अर्थात् उपहार दिये जाते हैं। इन खिलौनों के साथ जो उन्हें खेल खेलने होते हैं वे ही उनकी क्रियायें हुईं। "उपहारों" का चुनाव फ्रोबेल एक सिद्धान्त के अनुसार करना चाहता है। ऊटपटाँग वस्तुओं का चुनाव उसे पसन्द नहीं। 'उप-हार' के चुनाव में बच्चे के विकास पर ध्यान देना आवश्यक है। हार

1. Singing. 2. Gesture. 3. Construction 4. Spontaneous Activity. 5. Gifts. 6. Occupations.

विकास-अवस्था के लिए चुने हुए 'उपहार' दूसरी विकास-अवस्था वाले से भिन्न हों। पहले उपहार के देखने से दूसरे उपहार का अनुमान लगा लेना कठिन न हो; अर्थात् उपहारों में पारस्परिक सम्बन्ध होना आवश्यक है। इस सम्बन्ध के निभाने से ही बालक के विकास में 'उपहार' कुछ योग दे सकता है। उपहारों का चुनाव फ्रोबेल अपनी दार्शनिक भित्ति पर करता है। उसे 'उपहार' और 'क्रिया' में जीवन और प्रकृति के नियम दिखलाई पड़ते हैं। फ्रोबेल का विश्वास था कि जीवन में सफलता लाने के लिए, मनुष्य का निरन्तर कार्य करते रहना चाहिए। पर यदि यह कार्य उसे विवश होकर करना हुआ तो उसका कुछ महत्त्व न रहेगा। इसलिए वह बालकों को खेल के रूप में ही कुछ कार्य कराना चाहता है, जिससे वह कार्य बालक को स्वाभाविक प्रतीत हो।

बालकों में सामाजिकता के विकास के लिए फ्रोबेल उन्हें कुछ सामूहिक खेल खेलाना चाहता है। गोलाकार खड़ा कर तथा परस्पर-स्पर्धा के आधार पर उत्साहित कर उन्हें खेल खेलाना चाहिए। इसमें उनमें सहानुभूति, अनुकरण तथा नेतृत्व आदि के गुण सरलता से आ सकते हैं।

स्कूल में बालकों से शारीरिक परिश्रम कराने का भी फ्रोबेल पक्षपाती है। "प्रत्येक बच्चा, बालक और युवक को, जीवन की चाहे जैसी स्थिति में, प्रतिदिन दो एक वस्तुएँ बनानी चाहिए। केवल पुस्तकीय शिक्षा से बालकों में क्रियाहीनता आ जाती है। इस प्रकार मानव शक्ति का एक बहुत बड़ा भाग अविकसित रह जाता है।[1] फ्रोबेल के शिक्षा-सिद्धान्त का इस प्रकार संक्षेप में उल्लेख कर लेने के बाद अब हम कुछ उपहारों की व्याख्या करेंगे। इससे किण्डरगार्टेन पद्धति ठीक-ठीक स्पष्ट हो जायगी।

पहला उपहार[2]

उपहारों में सबसे पहले रंग-बिरंगे ऊन के छः गेंद[3] दिये जाते हैं। गेंदों को इधर-उधर लुढ़काना उनके साथ की 'क्रिया' है। फ्रोबेल का विश्वास है कि गेदों की सहायता से बालक को रूप, रंग, और गति का

1. Education of Man, §23. 2. First gift. 3. Balls.

ज्ञान प्राप्त होगा। इसके अतिरिक्त गेंद के उपहार और तत्सम्बन्धी निहित दार्शनिक सिद्धान्त का भी बालक पर प्रभाव पड़े बिना न रहेगा। इससे उसके विकास में सहायता मिलेगी। गेंद सरलता से घूम सकता है, वह स्वयं ही स्थिर हो जाता है, लचीला, चमकदार और गरम है। फ्रोबेल सोचता है कि बालक समझ सकेगा कि उसके जीवन और गेंद में बड़ी समानता है। इस प्रकार उसे आत्मबोध[1] का कुछ आभास होगा। जिस प्रकार गेंद में उसे विभिन्न गुणों के समन्वय का ज्ञान होता है, वैसे ही बालक यह अनुमान कर सकेगा कि वे सब गुण उसमें भी निहित हैं।

दूसरा उपहार[2]

दूसरे उपहार में बालक को लकड़ी के बने हुये त्रिघात,[3] गोला[4] और नलाकार[5] दिये जाते हैं। फ्रोबेल समझता है कि इन वस्तुओं के साथ खेलने में बालक को ईश्वर की सृष्टि के नियम का कुछ आभास मिलेगा। त्रिघात प्रत्येक स्थिति में स्थिर रहता है। गोला अस्थिर रहता है और नलाकार एक स्थिति में स्थिर और दूसरी में अस्थिर रहता है। अतः इनके साथ खेलने में बालक यह समझ सकेगा कि स्थिरता और अस्थिरता-अर्थात् दो वस्तुओं का सामंजस्य एक ही वस्तु में कैसे मिल सकता है। इस प्रकार उसे अपने विभिन्न अवयवों और शक्तियों के विकास की एकता में विश्वास हो जायगा। यह समझना कठिन है कि अबोध बालक इन दार्शनिक विचारों को कैसे समझ सकेगा। वस्तुतः फ्रोबेल के विचार बड़े गूढ़ हैं उन्हें किसी भी व्यक्ति के लिए समझना कठिन है।

तीसरा, चौथा, पाँचवाँ और छठा उपहार

तीसरे उपहार में बालक को लकड़ी का एक बड़ा त्रिघात दिया जाता है जो आठ बराबर भागों में बँटा रहता है। इससे सम्बद्ध क्रिया उनसे बेंच, कुर्सी तथा सीढ़ी आदि बनाना होता है। इससे बालक सम्पूर्ण और उसके भाग के सम्बन्ध को समझ लेता है। चौथे, पाँचवें और छठे उपहार

---

1. Self-realization. 2. Second gift. 3. Cube. 4. Sphere. 5. Cylinder.

में टिकिया[1] छड़ी[2] और छोटी[3] कुण्डली दी जाती हैं। इनसे फ्रोबेल बच्चे को सतह,[4], रेखा[5] और बिन्दु[6] की धारणा देना चाहता है। उपहारों को देने से ही शिक्षक का उत्तरदायित्व समाप्त नहीं हो जाता। क्रिया की ओर उसे संकेत करना होता है और कभी-कभी उसे स्वयं करके दिखना भी पड़ता है, या वह उपहार-सम्बन्धी गीत गाने लगता है, जिससे तत्सम्बन्धी भाव बालक अपने मन में ला सकें।

५—आलोचना

फ्रोबेल ने लिखा है कि "मानव स्वभाव का रूप बचपन में जैसा हम देखते हैं और उसके लिये जैसी शिक्षा की आवश्यकता है उसके प्रति मेरे विचारों को संसार कदाचित् शताब्दियों बाद समझेगा। एफ० डब्लू पार्कर के अनुसार 'किण्डरगार्टेन' उन्नीसवीं शताब्दी का सबसे महत्वपूर्ण सुधार है। श्री कोर्टहोप के अनुसार "किण्डरगार्टेन बिना किण्डरगार्टेन के विचार के ही प्रयोग किया जा सकता है। वह बिना आत्मा के शरीर सा है। इसका ह्रास शीघ्र ही हो जायगा।" डा० जेम्सवार्ड कहते हैं कि "किण्डरगार्टेन को समझने वाले उससे प्रशंसनीय फल दिखला सकते हैं। पर यह निष्प्राण यन्त्र के समान लगता है। इसमें सभी खेल एक साथ ही बालकों को खेलने के लिये दे दिये जाते हैं।" आलोचकों के इन विचारों में कुछ सत्य अवश्य जान पड़ता है। पर फ्रोबेल की महत्ता में कदाचित् उन्हें भी सन्देह न होगा। फ्रोबेल के सभी निर्णय ठीक दिखलाई पड़ते हैं। पर अपने निर्णय का कारण जो वह बतलाता है वह सर्वमान्य नहीं। फ्रोबेल का दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक न होकर आध्यात्मिक है। परन्तु दार्शनिकों में उसकी गणना नहीं की जाती, क्योंकि वह अपने विचारों को क्रमबद्ध न कर सका। कुछ लोगों का कहना है कि फ्रोबेल ने जिन चित्रों और गानों के प्रयोग की राय दी है वे उपयुक्त नहीं हैं। पर फ्रोबेल का यह तात्पर्य नहीं कि आवश्यकतानुसार उनमें परिवर्त्तन न लाये जाँय।

---

1. Tablet. 2. Stick. 3. Ring. 4. Surface. 5. Line. 6. Point.

बालकों की रुचि पर ध्यान देने के लिए रूसो, पेस्तालॉज़्ज़ी और हरबार्ट ने भी जोर दिया था। पर आदर्श को मूर्तरूप देने का सफल प्रयास फ़्रोबेल के बारबर इन तीनों में से कोई न कर सका। वस्तुओं की सम्बद्धता और पारस्परिक निर्भरता की ओर संकेत कर फ़्रोबेल ने ही आधुनिक समन्वित शिक्षा का बीज बोया। कर्नल पार्कर और डीवी आदि के क्रियात्मक[1] प्रणालियों का उद्गम हमें फ़्रोबेल के आत्मक्रिया[2] वाले सिद्धान्त में दिखलाई पड़ता है। शिक्षा के सामाजिक दृष्टिकोण की ओर जो इतना ध्यान आजकल दिखलाई पड़ता है उसमें फ़्रोबेल की ही आत्मा मालूम पड़ती है।

फ़्रोबेल ने छोटे बालकों की शिक्षा की ओर लोगों का ध्यान पहले पहल आकर्षित किया। उसके पहले उनकी शिक्षा को इतना महत्त्व नहीं दिया जाता था। एक दृष्टि से मॉन्तेसरी प्रणाली को किण्डरगार्टेन का दत्तक-पुत्र ही मानना चाहिए। आजकल का युग बालकों का युग माना जाता है। इस कल्पना-धारा के निर्माण में फ़्रोबेल का उतना ही बड़ा हाथ है जितना कि मॉन्तिसरी का। हाँ, यह सत्य है कि फ़्रोबेल के बहुत से दार्शनिक सिद्धान्त हमें बोधगम्य नहीं होते। पर उसके बालक सम्बन्धी स्वतन्त्रता, आत्म-क्रिया, स्वाभाविक क्रियाशीलता और मनोरंजकता के सिद्धान्त हमारे लिए सदा नवीन बने रहेंगे। इन सिद्धान्तों के कार्यान्वित रूप में देश और काल के अनुसार कुछ परिवर्त्तन अवश्य होते रहेंगे, पर उनकी अन्तरात्मा शाश्वत है, अतः वह सदा समान रहेगी।

किण्डरगार्टेन पद्धति के विवेचन के बाद आधुनिक किण्डरगार्टेन स्कूल की रूप-रेखा पर संक्षेप में यहाँ संकेत कर देना असंगत न होगा। इस प्रयास में सम्भव है कि कुछ बातों का पृष्टिपेषण हो जाय, पर विचार स्पष्टता के लिए वह आवश्यक है।

६—किण्डरगार्टेन स्कूल

किण्डरगार्टेन स्कूल में प्रायः अध्यापिकायें नियुक्त की जाती हैं, क्योंकि

1. Activity Methods. 2. Self-activity.

छोटे बालकों के पढ़ानेकी उनमें अधिक क्षमता होती है। इस स्कूल में प्रत्येक पाठ बीस या पच्चीस मिनट का होता है। यथासम्भव शिक्षा स्थूल रूप में दी जाती है। मनोरंजकता के लिये पाठ का रूप बदलता रहता है। छोटी कक्षाओं में हाथ के कामों और खेलों पर अधिक जोर दिया जाता है। स्कूल प्रार्थना अथवा धार्मिक शिक्षा से बहुधा प्रारम्भ किया जाता है। धार्मिक शिक्षा का रूप बड़ा सरल रखा जाता है, जिससे बालक उसे सरलता से समझ सके।

स्कूल के प्रथम भाग में प्रायः अंकगणित और पढ़ना सिखलाया जाता है। इसके बाद कुछ जलपान और विश्राम के लिए अवकाश दिया जाता है। फिर खेल, ड्रिल और संगीत की बारी आती है। तत्पश्चात् क्रमशः लिखना, ड्राइङ्ग, प्रकृति-विज्ञान, वस्तु-पाठ, इतिहास अथवा भूगोल, मिट्टी का काम, सूई का काम, कागज का काम या चटाई बुनने का काम किया जाता है। अन्त में गाने के बाद घर जाने के लिये छुट्टी दी जाती है।

अब हम पाठ्य-क्रम के विविध विषयों की शिक्षा-विधि पर ध्यान देंगे। धार्मिक शिक्षा छोटी-छोटी मनोरंजक कहानियों के रूप में दी जाती है। मौखिक शिक्षा में यथासम्भव चित्रों का प्रयोग किया जाता है, जिससे बालकों की रुचि बनी रहे। यदि कोई विषय खेल द्वारा पढ़ाया जा सकता है तो उसको खेल ही द्वारा बालकों को समझाया जाता है। प्रारम्भिक कक्षा में वर्ण ज्ञान के लिए खिलौने के रूप में लकड़ी के ऐसे टुकड़े बने रहते हैं जिन्हें जोड़ने से वर्ण के विभिन्न अङ्ग अलग-अलग बनाये जाते हैं। तत्पश्चात् अङ्गों को जोड़ कर किसी वर्ण का रूप दिया जाता है। शिक्षक निरीक्षण के लिए उपस्थित रहता है। खेलते ही खेलते बालक यह जान लेता है कि उसे कुछ वर्णों का ज्ञान हो गया। अङ्कगणित पढ़ाने में यथासम्भव स्थूल वस्तुओं का ही आधार लिया जाता है। इन स्थूल वस्तुओं में गोलियाँ, पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़े तथा तीलियों आदि के नाम लिए जा सकते हैं। अङ्कों से परिचित कराने के लिए वर्णों जैसी ही विधि अपनाई जाती है। गिनती व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों रीति से समझायी जाती है।

लिखने का पाठ 'पढ़ने' से सम्बन्धित रक्खा जाता है। लिखने में श्यामपट तथा कापी की सहायता ली जाती है। उन्हें शब्दों की ध्वनि समझायी जाती है। प्रकृति और वस्तु पाठ में चित्रों की सहायता से बालकों से बातचीत की जाती है। बातचीत का विषय यथासम्भव बालकों का व्यक्तिगत अनुभव ही रखा जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ बागवानी की जाती है और पालतू पशु पाले जाते हैं। इससे प्राकृतिक वस्तुओं को बालक समझने लगते हैं। किण्डरगार्टेन स्कूलों में बालक की कल्पना शक्ति के विकास तथा उनमें सद्‌गुण के प्रति प्रेम उत्पन्न करने के लिए ऐतिहासिक कहानियाँ, परियों का वृतान्त तथा माहापुरुषों के जीवन-चरित्र सुनाये जाते हैं। नदी और पहाड़ आदि के विभिन्न नमूनों की सहायता से बालकों को उनकी विकास-अवस्था के अनुसार भौगोलिक शिक्षा दी जाती है। रूप, रंग और संस्था के ज्ञान के लिए बालकों को चटाई, कागज मोड़ना, मिट्टी आदि के खिलौने बनाना, रंगीन लकड़ी के टुकड़ों से विभिन्न प्रकार की आकर्षक वस्तुएँ बनाना आदि सिखलाया जाता है।

किण्डरगार्टेन स्कूलों में मार्चिङ्ग तथा ड्रिल आदि के आधार पर बालकों के शारीरिक स्वास्थ्य पर भी काफी ध्यान दिया जाता है। इसके लिए कुछ सामूहिक खेल भी खिलाये जाते हैं। इनसे उनमें सामाजिकता का विकास होता है।

किण्डरगार्टेन स्कूलों का सारा काम खेल द्वारा होता है। बच्चों को पूरी स्वतन्त्रता होती है। उन्हें शिक्षक का भय नहीं रहता। वे एक जगह से दूसरी जगह इच्छानुसार जा सकते हैं। बच्चों की रुचि पर ध्यान दिया जाता है। यथासम्भव सामूहिक रूप में ही बालकों से सारे काम कराये जाते हैं। बच्चों को खेलने के लिए शिक्षोपयोगी विभिन्न वस्तुएँ दी जाती हैं। इनके साथ खेलते-खेलते वे पढ़ना-लिखना और अङ्कगणित आदि का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

किण्डरगार्टेन पद्धति

फ्रोबेल का उद्देश्य ।

१—फ्रोबेल के दार्शनिक विचार पर शिक्षा की नींव

विकास का सार्वलौकिक नियम, आध्यात्मिक विकास का शिक्षा से सम्बन्ध, विभिन्न वस्तुओं में एकता का भान, विकास में वाह्य हस्तक्षेप हानिकर ।

२—विकास-क्रम

लीबनीज़ का फोबेल पर प्रभाव, विकास के लिए अभ्यास आवश्यक ।

विकास के लिए आदर्श अवस्था नहीं, अतः शिक्षा की आवश्यकता, शिक्षक माली की तरह अनुकूल वातावरण उपस्थित कर दे ।

३—मानसिक विकास और शिक्षा का उद्देश्य

सभी मानसिक क्रियाओं के विकास के लिए एक साथ ही प्रयत्न करना, क्रियाशीलता शिक्षा का सच्चा रूप ।

खेल में सामाजिकता लाकर एक निश्चत उद्देश्य डालना ।

शिक्षा में बालकों की ही इच्छा प्रधान, आत्म क्रिया सबसे बड़ा शिक्षक ।

४—किण्डरगार्टेन की नई शिक्षा-प्रणाली

गाना, संकेत करना, और बनाना बालक की स्वाभाविक क्रियायें ।

उपहार और क्रियायें ।

सामूहिक खेल ।

केवल पुस्तकीय शिक्षा नहीं ।

पहला उपहार

रंग बिरंगे ऊन के छः गेंद; रूप, रंग और जाति का ज्ञान; गेंद से बालक को आत्म ज्ञान का अभ्यास ।

दूसरा उपहार

त्रिघात, गोला, नलाकार ; विभिनता में सामञ्जस्य का ज्ञान ।

तीसरा, चौथा, पाँचवाँ और छठा उपहार

५—आलोचना

.फ्रोबेल के निर्णय ठीक, पर उनका कारण सर्वमान्य नहीं, .फ्रोबेल का दृष्टिकोण आध्यात्मिक ।

आधुनिक समन्वित शिक्षा का बीज, सामाजिक दृष्टिकोण .फ्रोबेल की देन, बालक का युग, सिद्धान्तों की अन्तरात्मा शाश्वत ।

६—किण्डरगार्टेन स्कूल

अध्यापिकायें, छोटा पाठ, धार्मिक शिक्षा, विभिन्न विषय ।

खेल के रूप में सब कुछ सीखना ।

क्रियाशीलता शिक्षा का आधार ।

स्वास्थ्य पर ध्यान ।

स्वतन्त्रता, शिक्षक का भय नहीं ।

सहायक पुस्तकें

१—रस्क—द डॉक्ट्रिन्स ऑव् ग्रेट एडूकेटर्स ।

२—.फ्रोबेल—एडूकेशन बाई डे.वेलपमेन्ट ।

३— ,, —द एडूकेशन ऑव् मैन ।

४—ह्यू ज़, जे० एल०—द एडूकेशनल थियोरीज़ ऑव् फ्रोबेल ऐण्ड हरबार्ट

———

३९

मॉन्तेसरी पद्धति[1]

मॉन्तेसरी पद्धति का नामकरण उसकी आविष्कर्त्री डा० मॉन्तेसरी के नाम पर ही किया गया है। आप का जन्म सन् १८७० ई० में इटली में हुआ। शिक्षा में बालकों के प्रति प्रेम और सहानुभूति उत्पन्न करने का विशेष श्रेय आप ही को दिया जा सकता है। अस्पताल में काम करते हुये मैडम मॉन्तेसरी को कुछ मन्द-बुद्धि के बालकों के सम्पर्क में आने का अवसर मिला। उनकी दुर्दशा देख उसका हृदय द्रवीभूत हो उठा। उनकी शिक्षा के लिये उसने एक नई प्रणाली बनाई और अपनी सफलता की परीक्षा के लिए उसने एक बालक पर उसका प्रयोग भी किया। मॉन्तेसरी को यह भान हुआ कि उचित शिक्षा पाने पर मन्द-बुद्धि बालक साधारण बालकों से बहुत पीछे न रहेंगे। भाग्यवश उन दिनों मनोविज्ञान पर काफी काम किया जा रहा था। प्रयोगात्मक मनोविज्ञान का भी जन्म हो चुका था। मॉन्तेसरी ने अपनी विधि की प्रयोगात्मक मनोविज्ञान की कसौटी पर परीक्षा की। उसने सेग्विन, लॉमब्रॉसो और सजाई आदि की प्रणालियों का भी सूक्ष्म अध्ययन किया। इस प्रकार अपनी शिक्षा-प्रणाली को पुष्ट करने में उसने यथा-शक्ति प्रयत्न किया।

१—मॉन्तेसरी का शिक्षा-सिद्धान्त

मॉन्तेसरी के शिक्षा-सिद्धान्त को समझने के प्रयत्न में उसकी फ्रोबेल से कुछ तुलना करना प्रासंगिक और युक्तिसंगत जान पड़ता है।

---

1. Montessori System.

फ्रोबेल और मॉन्तेसरी में काफी समानता दिखलाई देती है। दोनों ने छोटे बच्चों की शिक्षा-प्रणाली का निर्माण खेल के आधार पर किया है और एक प्रकार से यह कहा भी जा सकता है कि मॉन्तेसरी पद्धति किण्डरगार्टेन पद्धति का परिवर्द्धित रूप है। पर दोनों पद्धतियों में मौलिक भेद भी दिखलाई पड़ता है। मॉन्तेसरी फ्रोबेल के समान दार्शनिक नहीं। वह फ्रोबेल की तरह बच्चों के सामने कृत्रिम वातावरण नहीं उपस्थित करना चाहती। वह बच्चों को उपहार नहीं देती। वह स्वाभाविक वातावरण में ही उसकी शिक्षा के आयोजन करने की पक्षपाती है। निस्सन्देह मॉन्तेसरी प्रणाली अधिक वैज्ञानिक और उपयोगी जान पड़ती है। यद्यपि बालक की स्वतन्त्रता और रुचि पर मॉन्तेसरी भी फ्रोबेल के समान ध्यान देती है। पर किण्डरगार्टेन पद्धति में अध्यापक का स्थान अधिक महत्व-पूर्ण दिखलाई पड़ता है। उसे बालक को उपहारों के आधार पर कुछ विशिष्ट कार्यों में लगाना पड़ता है। मॉन्तेसरी पद्धति में बालक को अधिक स्वतन्त्रता होती है। प्राप्त उपकरणों के साथ वह इच्छानुसार खेल सकता है। मॉन्तेसरी पद्धति में वैयक्तिक क्रिया पर विशेष बल दिया जाता है। इसके लिए फ्रोबेल के 'उपहार' के आधार पर मॉन्तेसरी ने शिक्षोप-करणों[1] की रचना की है। शिक्षोपकरणों की रचना ही इस प्रकार की गई है कि बालक अपने से ही अधिक से अधिक कार्य कर सके। फ्रोबेल सामाजिकता को विशेष महत्व देता है। वह विभिन्नता में बालक को एकता का ज्ञान देने का इच्छुक है। वह बालक को आध्यात्मिकता का आभास देना चाहता है। मॉन्तेसरी इन सबके फेर में नहीं पड़ती। वह भौतिक क्रियाओं को ही विशेष महत्व देती है।

मॉन्तेसरी बालकों की शिक्षा में 'मनोवैज्ञानिक[2] क्षण' को विशेष महत्व देती है। रुचि और आवश्यकतानुसार बालक को शिक्षा देना ही "मनोवैज्ञानिक क्षण" का निर्वाह करना है। मॉन्तेसरी की धारणा है कि बिना "मनोवैज्ञानिक क्षण" पर ध्यान दिए कोई शिक्षा सफल नहीं हो सकती। यदि पढ़ाया हुआ विषय बालक की समझ में नहीं आया तो

1. Didactic Materials. 2. Psychological Moment.

इसका अर्थ यह हुआ कि शिक्षक ने 'मनोवैज्ञानिक क्षण' पर ध्यान नहीं दिया है अथवा उसे समझने में उसने भूल की है। 'मनोवैज्ञानिक क्षण' के अनुसार पढ़ाने में बालक को विषय का पूरा-पूरा बोध हो जाता है। 'मनोवैज्ञानिक क्षण' के अनुसार पढ़ाने का तात्पर्य यह है कि बालक की मानसिक स्थिति का शिक्षक को पूरा ज्ञान होना चाहिए और तदनुसार उसे उसकी शिक्षा के लिए आवश्यक उपकरणों का आयोजन कर देना है। मॉन्तेसरी का विश्वास है कि इस प्रकार पढ़ाने से बालकों में दम्भ नहीं आता। वे किसी कृत्रिम पुरस्कार के इच्छुक नहीं होते। गुण की प्राप्ति ही उनके लिए सबसे बड़ा पुरस्कार होता है। इसीलिए तो किसी चीज के बना लेने पर मॉन्तेसरी स्कूल का बालक चिल्ला उठता है "मास्साब! मास्साब! देखिए मैंने क्या बना दिया है।"

हम ऊपर संकेत कर चुके हैं कि मॉन्तेसरी बालक को पूर्ण स्वतन्त्रता देना चाहती है। उसका विश्वास है कि स्वतन्त्रता से ही बालक की नैसर्गिक शक्तियों का पूर्ण विकास होता है। अतः वह स्कूल का वातावरण स्वतन्त्रता-प्रधान बनाना चाहती है, जिससे बालक अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार अपने व्यक्तित्व के निर्माण में अग्रसर हो सकें। वह बालक की स्वाभाविक क्रिया में हस्तक्षेप नहीं करना चाहती। एक शिक्षक ने किसी बालक से पूछा "बेटा तेरे लिए मैं क्या करूँ?" बालक ने शीघ्र उत्तर दिया "जैसा मैं करता हूँ वैसा मुझे करने दो।" इन्हीं शब्दों में मॉन्तेसरी पद्धति की आत्मा की झलक है। नीचे हम मॉन्तेसरी स्कूल का संक्षेप में वर्णन कर रहे हैं। इससे मॉन्तेसरी सिद्धान्तों तथा पद्धति का कुछ और स्पष्टीकरण हो जायगा।

२—मॉन्तेसरी स्कूल में व्यावहारिक जीवन की शिक्षा

मॉन्तेसरी स्कूल में प्रायः ढाई से सात वर्ष के बच्चों की शिक्षा का आयोजन रहता है। बालकों को प्रायः दो प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं। पहले उन्हें व्यावहारिक जीवन में कुछ शिक्षा दी जाती है। हाथ, मुँह, नाक, दाँत, नेत्र तथा कपड़े आदि साफ रखना उन्हें सिखलाया जाता है। यदि आवश्यक हुआ तो अध्यापिका उनके शरीर की सफाई भी कर देती

है। वह "अरे! तुम्हारा मुँह तो बड़ा गन्दा है, छिः छिः तुम्हारी नाक और आँख तो बड़ी ही मैली है" न कह करके यह कहती है "बेटा! जरा मेरे पास आओ। मैं तुम्हारे मुँह नाक और आँख धो दूँ और तुम्हें सुन्दर बना दूँ।" भावना का कितना गहरा प्रभाव पड़ता है! बालक गद्गद् हो जाता है! उसे मालूम होता है कि मानो वह अपने घर में ही है और माता उसे बुला रही है! यदि मॉन्तेसरी स्कूल को "प्यार का घर" कहा जाय तो अनुपयुक्त न होगा। मालूम होता है इस भावना को अपनाने में मॉन्तेसरी को पेस्तालॉज़ी से प्रेरणा मिली है।

मॉन्तेसरी स्कूल में बालक को आत्मनिर्भरता और अध्यवसाय का पाठ सिखलाया जाता है। यदि सम्भव हुआ तो बालक को ही अपने कार्य कर लेने के लिए उत्साहित किया जाता है। उसके असफल होने पर अध्यापिका प्यार से उसका पथ-प्रदर्शन करती है। कपड़े पहनना तथा उन्हें उतार कर ठीक रखना बालक को सिखलाया जाता है। भोजन करना, सोना, बातचीत करना तथा हँसना आदि सभी बातों में उसे मनोवैज्ञानिक ढंग से शिक्षा दी जाती है। कमरे को सजाने की शिक्षा देने के लिए किसी कमरे की चीजें अस्त-व्यस्त कर दी जाती हैं और उन्हें ठीक करना बालकों को सिखलाया जाता है। इन सब व्यावहारिक शिक्षा में बालकों के विकास-अवस्था पर पूरा ध्यान रक्खा जाता है। जो बालक जिस कार्य के योग्य हुआ उसे उसी में शिक्षा दी जाती है। बालकों के स्वास्थ्य पर भी पूरा ध्यान दिया जाता है। बालकों को लय और ताल बड़े प्रिय होते हैं। अतः एक लय और ताल में उन सबों को कुछ शारीरिक व्यायाम कराया जाता है। इसमें उन्हें बड़ा आनन्द आता है।

३—शिक्षोपकरणों से ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा[1]

मॉन्तेसरी बालक की शिक्षा में अध्यापक द्वारा कम से कम हस्तक्षेप चाहती है। कदाचित् उसके शिक्षोपकरणों के आविष्कार का यह भी एक कारण है। इन्हीं शिक्षोपकरणों से बालक को विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा

---

1. Sense Training by Didactic Materials.

दी जाती है। पहली कक्षा में बालक की स्पर्श, दृष्टि और श्रवण-शक्ति बढ़ाने की चेष्टा की जाती है। उसे विभिन्न स्थूल वस्तुओं के आकार और रूप का ज्ञान दिया जाता है। उदाहरणार्थ: खिड़की, मेज, कुर्सी और दरवाजा आदि के सम्बन्ध में उसे कुछ काम दिया जाता है, जिससे वह उन्हें समझ ले। उन्हें झाड़ना-पोंछना तथा ठीक स्थान पर रखना ही उनके सम्बन्ध का काम होता है।

दूसरी कक्षा में लकड़ी के टुकड़े के टीले और सीढ़ियाँ आदि बनवा कर बालकों को लम्बाई और चौडाई का ज्ञान दिया जाता है। चौड़ी सीढ़ियों के बनाने में उन्हें लम्बे और पतले का ज्ञान होता है। कुछ वस्तुओं को इधर-उधर बिखेर दिया जाता है। उनके चुनने में बालकों को छोटे और बड़े का ज्ञान होता है। अपनी भूलों का स्वय सुधार करने में उन्हें बड़ा आनन्द आता है। वे सारा कार्य प्रायः अकेले ही करते हैं, पर कभी-कभी तीन-चार बालक मिलकर भी किसी काम को कर लेते हैं। रंग-ज्ञान के लिये विभिन्न रंग के चौसठ कार्ड उन्हें दिये जाते हैं। उन्हें रंग का नाम बतलाना पड़ता है और वस्तु का नाम भी याद करना होता है। स्पर्श-ज्ञान के लिये उन्हें गर्म, ठण्डा, कठोर और कोमल वस्तुओं को आँखें बाँधकर ऊँगलियों से छूना होता है। स्पर्श ज्ञान को मॉन्तेसरी प्राथमिक मानती है। इसलिये मानसिक विकास में इसे वह विशेष महत्त्व देती है। मॉन्तेसरी की धारणा है कि रंग-ज्ञान से नेत्रों की निर्णयात्मिका शक्ति का विकास होगा। इस शक्ति से लिखना और पढ़ना सीखने में सहायता मिलेगी।

तीसरी कक्षा में श्रवण-शक्ति के विकास के लिये बालू, पत्थर के टुकड़े, अनाज के दानों तथा सीटी से विभिन्न प्रकार की उत्पन्न ध्वनि को बालक को पहचानना होता है। विभिन्न तौल की समान रूप और आकार की तीन टिकियों से बालकों को तौल-ज्ञान दिया जाता है। बहुत से छेद वाले लकड़ी के टुकड़े में बालकों को कई तरह के छोटे-छोटे टुकड़े अपने-अपने स्थान पर बैठाने होते हैं।

चौथी कक्षा में बालकों के ज्ञानेन्द्रिय-ज्ञान को और पुष्ट किया जाता

है। इस अवस्था में व्यावहारिक जीवन की शिक्षा पर पहले से कुछ अधिक ध्यान दिया जाता है। कमरे की चीजें जानबूझ कर अस्त-व्यस्त कर दी जाती हैं और बालकों को उन्हें सजाना पड़ता है। मॉन्तेसरी छोटे बालकों की शिक्षा में ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा पर बड़ा जोर देती है। अपने "मॉन्तेसरी मेथड" नामक ग्रन्थ में वह कहती है; "ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा-सम्बन्धी क्रियाओं का यह ध्येय नहीं कि बालकों को विभिन्न वस्तुओं के रूप, वर्ण और गुण का ज्ञान हो जाय, वरन् उनसे हम उनकी ज्ञानेन्द्रियों को परिष्कृत करना चाहते हैं। इससे उनकी बुद्धि का भी विकास होता है। यदि इन अभ्यासों को विविध शिक्षोपकरणों द्वारा मनोवैज्ञानिक ढंग पर किया जाय तो उनसे बुद्धि के विकास में वैसे ही सहायता मिलेगी जैसे उपयुक्त व्यायाम से शरीर बनता है।"

४—लिखने पढ़ने की शिक्षा

शिक्षोपकरणों के साथ खेलते-खेलते बालक लिखना-पढ़ना बड़े जल्दी सीख लेता है। लिखने और पढ़ने की इस विधि के लिये मॉन्तेसरी पद्धति की विशेष प्रशसा की गई है। मॉन्तेसरी अध्यापिका बालक को वर्ण का नाम नहीं रटाती। वह पहले उसके रूप और ध्वनि में सम्बन्ध स्थापित करना चाहती है। जैसे बालक अन्य वस्तुओं को देख कर उनका नाम बतलाने पर उन्हें याद कर लेता है वैसे ही किसी वर्ण को दिखला कर अध्यापिका एक विशेष ध्वनि का उच्चारण करती है। बाद में उस ध्वनि के उच्चारण से बालक वर्ण को पहचान जाता है, या वर्ण को देख कर उसकी ध्वनि को वह स्वयं उच्चारित कर देता है। इस प्रकार बड़ी सरलता से उसे सब वर्णों का ज्ञान हो जाता है।

यह ध्यान देने को बात है कि मॉन्तेसरी पढ़ने के पहले लिखना सिखलाना चाहती है। उसका कहना है कि पढ़ना लिखने से कठिन है, क्योंकि उसमें बालक का उच्चारण, लय तथा गति आदि पर विशेष ध्यान देना होता है। लिखने में ऐसी बात नहीं। इससे बालक को सफलता की भावना बड़े जल्दी मिलती है। इससे उत्साहित होकर वह अधिक सीखने का प्रयत्न करता है। बालक की शिक्षा में सफलता की भावना

का बड़ा भारी महत्त्व है, क्योंकि इससे उसके आत्म-गौरव और विधायकता की मूल-प्रवृत्त्यात्मक इच्छाओं की पूर्ति होती है। शिक्षोपकरणों पर आधारित विभिन्न खेलों के आधार पर उन्हें लिखना इस प्रकार सिखलाया जाता है कि वे जान ही नहीं पाते कि उन्हें लिखने की शिक्षा दी जा रही है।

तीसरी कक्षा में बालकों को पढ़ना सिखलाया जाता है। पढ़ने से तात्पर्य 'समझते हुये पढ़ने' से है। यदि पढ़ी हुई बात को बालक समझने में असमर्थ है तो उसका पढ़ना पृष्ठ पर भूँकने के समान है। ज्ञात अक्षरों और शब्दों को पट्टियों अथवा कार्डबोर्ड पर लिख कर बालकों से पढ़वाया जाता है। इसी प्रकार परिचित वस्तु के सम्बन्ध में दो-तीन वाक्य लिख कर पढ़ने के लिए उन्हें उत्साहित किया जाता है।

चौथी कक्षा में पढ़ने लिखने का और आगे अभ्यास कराया जाता है। अब उन्हें कुछ अङ्कगणित का भी ज्ञान दिया जाता है। बालकों को इसका ज्ञान बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से कराया जाता है। वस्तुतः लिखने-पढ़ने और अङ्कगणित सिखाने की मनोवैज्ञानिक विधि के कारण मॉन्तेसरी विधि बड़ी प्रसिद्ध हो गई है। गोलियों या अन्य वस्तुओं की सहायता से खेल के रूप में बालकों को गिनना, जोड़ना और घटाना सिखलाया जाता है। मनोरंजनार्थ अध्यापिका बीच-बीच में कुछ पूछ दिया करती है। इस पूछने से उनका ज्ञान संयत होता जाता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मॉन्तेसरी का स्व-शिक्षा में बड़ा विश्वास है। वह बालक को अपनी उन्नति के लिए स्वयं उत्तरदायी बना देना चाहती है। इसी विश्वास पर वह बालकों के स्कूल में विनय भी स्थापित करना चाहती है मॉन्तेसरी का विश्वास है कि पूरी स्वतन्त्रता दे देने से विनय-समस्या का समाधान स्वतः हो जाता है। बालक स्वयं बड़ा विनयी होता है। वह अपना काम करना चाहता है। उसका ऊधम बड़ों के दृष्टिकोण से ऊधम हो सकता है, परन्तु बालक के लिए तो वह भी एक आवश्यक काम ही होता है। यह बात भी ठीक मालूम होती है। मॉन्तेसरी स्कूल में विनय-समस्या उठती ही नहीं। सभी बालक अपने-

अपने काम में मग्न रहते हैं। कोई गेंद से खेल रहा है, कोई कुर्सी-मेज उलट रहा है, कोई पेड़ पर चढ़ रहा है, तो कोई दो लड़के विनोदार्थ आपस में कुश्ती ही लड़ रहे हैं। इस प्रकार स्कूल में सर्वत्र सद्भावना और क्रियाशीलता का राज्य दिखलायी पड़ता है। कोई किसी के कार्य में बाधा डालता ही नहीं। किसी के अपराध करने पर उसे शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाता।

५—मॉन्तेसरी पद्धति की आलोचना

छोटे-छोटे बालकों की शिक्षा की एक नई प्रणाली का निर्माण कर मॉन्तेसरी ने बड़ा प्रशंसनीय कार्य किया है। लिखाने-पढ़ाने की बहुत सी जटिल समस्याओं का समाधान कर उसने शिक्षा-जगत का बड़ा कल्याण किया है; इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। पर इन गुणों के होते हुए भी मॉन्तेसरी प्रणाली दोष-मुक्त नहीं। ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि इस प्रणाली में सामूहिक खेलों को स्थान नहीं। इससे बालकों में सामाजिकता का विकास नहीं होता। व्यक्तिगत कार्यों पर ही जोर देने से बालकों का विकास एकांगी हो जाता है। बालकों को अभिनय और सामूहिक गानों में बड़ा आनन्द आता है। पर मॉन्तेसरी प्रणाली में इसका पूरा अभाव है। किलपैट्रिक महोदय ने इस दोष की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। मॉन्तेसरी पद्धति में आत्मनिर्भरता की शिक्षा के आयोजन की विलियम स्टर्न ने कड़ी आलोचना की है। मॉन्तेसरी के व्यक्तिगत कार्य करने की प्रणाली से बालक में अभिमान और स्वार्थ-भाव आने का बड़ा डर है। शिक्षोपकरणों द्वारा ज्ञानेन्द्रिय-शिक्षा की भी स्टर्न महोदय ने आलोचना की है। उनका कहना है कि इससे बौद्धिक विकास एकांगी होता है, क्योंकि रंग, रूप और ध्वनि पर अलग-अलग जोर देने का दूसरा परिणाम नहीं हो सकता। सर्जियस हैसेन के अनुसार मॉन्तेसरी के शिक्षोपकरण मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला की तरह हैं और उनमें बच्चों के खेल के वास्तविक सिद्धान्त की अवहेलना की गई है।

मॉन्तेसरी-पद्धति में काल्पनिक-शक्ति के विकास का क्षेत्र नहीं। यही बात शिक्षा-शास्त्रियों को सबसे अधिक खटकती है। मॉन्तेसरी का मत है

कि बालक स्वयं विभिन्न कल्पनाओं से भरा हुआ रहता है। अतः और काल्पनिक बनाना उसे वास्तविकता से बहुत दूर हटाना होगा। इसलिए काल्पनिक खेल और साहित्य को वह उनकी शिक्षा में कोई स्थान नहीं देना चाहती। परन्तु मॉन्तेसरी का ऐसा सोचना ठीक नहीं। कल्पना के सहारे बालक अपने अनेक मूलप्रवृत्त्यात्मक इच्छाओं की पूर्ति कर लेता है। इन इच्छाओं की पूर्ति के अभाव से उसमें नाना प्रकार की भावना-ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो कि उसके विकास पथ में रोड़े का काम करती हैं। लिखाने और पढ़ाने के लिए मॉन्तेसरी पद्धति वैज्ञानिक है, पर मनोवैज्ञानिक नहीं। मॉन्तेसरी वर्ण और शब्द से चलकर वाक्य तक पहुँचना चाहती है, पर आधुनिक मनोवैज्ञानिक वाक्य को ही सरलतम मानते हैं। मॉन्तेसरी ज्ञानेन्द्रियों को अलग-अलग करके उन्हें शिक्षित करने की पक्षपाती है। जेस्टाल्ट[1] मनोविज्ञान ने इसे गलत सिद्ध कर दिया है। जेस्टाल्ट मनोविज्ञान के अनुसार किसी वस्तु का ज्ञान उसके सम्पूर्ण आकार के बोध से होता है। चेहरे के ज्ञान से उसमें आँख, कान, मुँह तथा नाक आदि सभी अंग आ जाते हैं। एक को अलग-अलग देखने से सम्पूर्ण चेहरे का बोध नहीं हो सकता। अतः ज्ञानेन्द्रियों की अलग-अलग शिक्षा देना अमनोवैज्ञानिक है, क्योंकि मस्तिष्क तो एक सम्पूर्ण भाग की तरह विकसित होता है।

मन्द-बुद्धि के बालकों की शिक्षा में मॉन्तेसरी-पद्धति अधिक सफल हो सकती है, क्योंकि उनके एक ज्ञानेन्द्रिय की निर्बलता में दूसरे के प्रबल बनाने की आवश्यकता हो सकती है। वस्तुतः मॉन्तेसरी पद्धति का प्रारम्भ मन्द-बुद्धि के बालकों की शिक्षा के लिए किया गया था। साधारण बालकों की शिक्षा में बिना आवश्यक परिवर्त्तन किये मॉन्तेसरी पद्धति का प्रयोग करना ठीक न होगा। इस पद्धति को अधिक उपयोगी बनाने के लिए उसमें कुछ सामाजिक आदर्श का समावेश तथा ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा-सम्बन्धी आवश्यक सुधार कर लेना युक्ति संगत होगा।

1. Gestalt Psychology.

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

मॉन्तेसरी पद्धति

डा० मॉन्तेसरी।

१—मॉन्तेसरी का शिक्षा-सिद्धान्त

फ्रोबेल और मॉन्तेसरी।
मनोवैज्ञानिक क्षण का महत्व।
वातावरण स्वतन्त्रता प्रधान।

२—मॉन्तेसरी स्कूल में व्यावहारिक जीवन की शिक्षा

स्कूल प्यार का घर।
आत्मनिर्भरता और अध्यवसाय का पाठ।

३—शिक्षोपकरणों से ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा

स्पर्श, दृष्टि और श्रवण शक्ति को बढ़ाना।
दूसरी कक्षा।
तीसरी कक्षा।
ज्ञानेन्द्रियों को परिष्कृत करना।

४—लिखने पढ़ने की शिक्षा

खेल-खेल में इसका ज्ञान।
मॉन्तेसरी के अनुसार पढ़ने के पहले लिखना सिखलाना।
समझते हुये पढ़ना।
अङ्कगणित खेल द्वारा।
स्व-शिक्षा, विनय की समस्या नहीं।

५—मॉन्तेसरी पद्धति की आलोचना

सामूहिक खेलों को स्थान नहीं, अभिमान और स्वार्थ-भाव आने का डर, बौद्धिक विकास एकांगी।

काल्पनिक शक्ति का विकास नहीं, भावना-ग्रन्थियाँ, ज्ञानेन्द्रिय की अलग-अलग शिक्षा नहीं।

सहायक पुस्तकें

१—द मॉन्तेसरी मेथड—(एफ़ए० स्टोक्स क० न्यूयार्क, १६१२)।
२—हॉल्मस—द मॉन्तेसरी सिस्टम ऑव् एडूकेशन।
३—रस्क—द डाक्ट्रिन्स आव् द ग्रेट एडूकेटर्स, अध्याय, १२।
४—किलपैट्रिक—द मॉन्तेसरी सिस्टम एक्ज़ामिन्ड।
५—मॉन्तेसरी—द सीक्रेट ऑव् चाइल्डहुड।

———

३१

बेसिक शिक्षा[1]

१—भूमिका

बेसिक शिक्षा हमारे देश में शिक्षा के राष्ट्रीयकरण का प्रथम प्रयास है।

पर बेसिक शिक्षा को मौलिक नहीं कहा जा सकता। इसमें कई प्रणालियों से सहायता ली गई हैं। प्रॉजेक्ट पद्धति की छाप इसमें बहुत अधिक दिखलाई पड़ती है, पर यह 'प्रॉजेक्ट पद्धति' से बहुत भिन्न है। प्रॉजेक्ट पद्धति में एक प्रॉजेक्ट को मानकर उसके आधार पर आवश्यक विषयों की शिक्षा दी जाती है। बेसिक शिक्षा में एक ऐसे हस्तकला के आधार पर बालक को शिक्षा दी जाती है जिसे वह भविष्य में अपने जीविकोपार्जन का साधन बना सके। प्रॉजेक्ट पद्धति एक शिक्षण-विधि है और प्रॉजेक्ट शिक्षा देने का एक साधन है। बेसिक शिक्षा में हस्तकला साधन और साध्य दोनों मानी जाती है। वस्तुतः उसके साध्य होने पर अधिक जोर दिया जाता है, क्योंकि विभिन्न विषयों को पढ़ाते समय हस्तकला को गौण नहीं समझा जाता। इसीलिए बालक का किसी हस्तकला विशेष से प्रेम हो जाता है, क्योंकि उसका लक्ष्य सदा उसमें कौशल प्राप्त करना होता है। प्रॉजेक्ट पद्धति में ऐसी बात नहीं। जो प्राजेक्ट साधन माना जाता है उसका महत्व स्थायी नहीं होता। एक प्रॉजेक्ट के पूरा होने पर उसके प्रति बालक का प्रेम रुक जाता है और अपनी क्रियात्मक वृत्ति को सन्तुष्ट करने के लिए वह दूसरे प्रॉजेक्ट पर काम करने लगता है। इस प्रकार तात्कालिक लक्ष्य की प्राप्ति के बाद प्रॉजेक्ट निरर्थक होता जाता है। इस

1. Basic Education.

प्रकार बेसिक शिक्षा और प्रॉजेक्ट पद्धति में बहुत समानता होते हुये भी दोनों में मौलिक भेद है।

डेनमार्क के ग्रामीण स्कूल की शिक्षा-प्रणाली और बेसिक शिक्षा में काफी समानता दिखलाई पड़ती है। डेनमार्क के बालकों को भूगोल, इतिहास और विज्ञान आदि विषय उसी हद तक पढ़ाये जाते हैं जहाँ तक वे उनके व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनैतिक जीवन में सहायक हो सकें। इन विषयों को उनके उद्योग-धन्धों से भी सम्बन्धित किया जाता है। इस प्रकार बेसिक शिक्षा के मौलिक सिद्धान्त दुनिया के किसी न किसी कोने में पहले ही से वर्त्तमान थे। बेसिक शिक्षा की विशेषता यह है कि उसे भारत की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल बना दिया गया है। बेसिक शिक्षा वर्धा शिक्षा-योजना से निकली है। सन् १९३७ ई० में कांग्रेस-मन्त्रिमण्डल के समय बालकों की शिक्षा के लिए महात्मा गांधी ने २२ व २३ अक्टूबर, १९३७ को वर्धा में शिक्षा-सम्मेलन किया। इस सम्मेलन में देश के शिक्षा-विशारदों ने विचार-विनिमय के बाद बालकों की शिक्षा के लिए वर्धा-शिक्षा-योजना नामक एक नई शिक्षा प्रणाली का आविष्कार किया। इस योजना का परिवर्धित रूप ही बेसिक शिक्षा है।

२—बेसिक शिक्षा के मूल सिद्धान्त

१—७ वर्ष की आयु से १४ वर्ष की आयु तक अनिवार्य शिक्षा।

२—मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम।

३—किसी हस्तकला को केन्द्र मानकर उसी के आधार पर अन्य विषयों की शिक्षा देना।

४—शिक्षा का स्वावलम्बी होना।

५—शिक्षा का वास्तविक जीवन से सम्बन्ध होना।

६—नागरिकता के आदर्श पर ध्यान देना।

नीचे हम इन सभी का अलग-अलग स्पष्टीकरण करेंगे।

(१) अनिवार्य शिक्षा

आजकल लोकतन्त्र का युग है। जनता को अपना नेता अर्थात् शासक

स्वयं चुनना पड़ता है। जब तक व्यक्ति को अपने देश और समाज की विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान न होगा वह देश की शासननीति के निर्माण में विशेष योग न दे सकेगा। लोकतन्त्र सफल हो इसके लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकार और कर्त्तव्यों को समझे। आज का समय पहले से बहुत भिन्न है। जैसे आज किसी को आत्महत्या करने नहीं दिया जा सकता, या जैसे किसी गाँव में हैज़ा व प्लेग फैलने पर वहाँ की उचित देख-रेख करना राज्य का कर्त्तव्य हो जाता है; उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षित बनाना भी राज्य का परम कर्त्तव्य मान लिया गया है। अशिक्षित व्यक्ति को अपने कर्त्तव्य और अधिकारों का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः सिद्धान्ततः यह ठीक जान पड़ता है कि एक निश्चित अवधि तक प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षित करने का दायित्व 'राज्य' अपने ऊपर ले ले। इस दृष्टिकोण से बेसिक शिक्षा की अनिवार्यता का सिद्धान्त सर्वथा ठीक है।

(२) मातृ-भाषा ही शिक्षा का माध्यम

"शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए"—इस सत्य को सभी शिक्षा-विशारद स्वीकार करते हैं। शिक्षा के विदेशी भाषा के माध्यम का कुफल भारत भोग चुका है। विदेशी भाषा के माध्यम-काल में विद्यार्थी को अँग्रेजी ही पढ़ने में बहुत अधिक समय दे देना पड़ता था और उसकी भाव-प्रकाशन-शक्ति सीमित ही रह जाती थी। व्यक्तित्व के विकास में भाव-प्रकाशन-शक्ति का बड़ा भारी महत्त्व है, क्योंकि भाव-प्रकाशन-साधन से विभिन्न विषयों के ज्ञान प्राप्त करने में बड़ी सहायता मिलती है। हर्ष की बात है कि अब मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम स्वीकार कर लिया गया है। 'मातृभाषा का शिक्षा में स्थान' की व्याख्या करते हुये जाकिर हुसेन कमेटी ने लिखा है :—"मातृभाषा ही को सम्पूर्ण शिक्षा का आधार होना चाहिए। सुलझे और स्पष्ट भाव और विचार उसी व्यक्ति के पास हो सकते हैं जो प्रभावशाली शब्दों में अपनी बात कह सकता है और जो सरलता से लिख-पढ़ सकता है। मातृभाषा ही एक ऐसा साधन है जिससे

अपनी जाति की परम्परा, संस्कृति और भावनाओं को ठीक से समझा जा सकता है। अतः यह सामाजिक शिक्षा का एक अमूल्य साधन हो सकती है और इससे सभी नैतिक और धार्मिक गुण प्राप्त हो सकते हैं। बच्चों की अभिव्यञ्जना शक्ति के प्रकाशन का मातृभाषा एक सर्वश्रेष्ठ साधन है। मातृभाषा के उचित अध्ययन से बालकों में साहित्य के प्रति तथा मौलिक रचना के लिए प्रेम उत्पन्न किया जा सकता है।" इस प्रकार मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम मानकर बेसिक शिक्षा ने एक बड़े सत्य की रक्षा की है।

(३) हस्तकला शिक्षा का केन्द्र

आधुनिक शिक्षा विशारदों की धारणा है कि हस्तकला द्वारा दी हुई शिक्षा बालक के लिए अधिक मनोवैज्ञानिक होती है, क्योंकि इससे उसके मानसिक, शारीरिक दोनों प्रकार के अनुभव संतुलित होते हैं। इससे हाथ और मस्तिष्क दोनों की शिक्षा होती है। बालक धीरे-धीरे किसी कला में प्रवीण होकर अपनी जीविका के लिए अपने पैरों पर खड़ा होने योग्य हो जाता है। इससे उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की शिक्षा होती है। वर्त्तमान शिक्षा में क्रियात्मक[1] प्रणालियों पर बहुत जोर दिया जाता है। "करके सीखना"[2] अब सर्वश्रेष्ठ शिक्षा-विधि मानी जाती है। ये डीवी के सूत्र हैं। बेसिक शिक्षा इस दृष्टिकोण से एक बड़े शिक्षा-सिद्धान्त का समर्थन करती है।

वर्धा-योजना के अनुसार बेसिक शिक्षा का आधार 'कृषि', 'कताई-बुनाई' अथवा 'लकड़ी का काम' होना चाहिए। बालकों के निजी वातावरण तथा भौगोलिक बातों के अनुसार इन तीनों हस्तकलाओं में से किसी एक को केन्द्र मानकर पाठ्य-क्रम के अन्य विषयों को उसके आधार पर पढ़ाना चाहिए। हस्तकला एक विषय-मात्र नहीं वरन् वह सब विषयों की अभिनेत्री होगी। बालकों को हस्तकला में कुशलता देने के लिए स्कूल के साढ़े पाँच घण्टे में से तीन घण्टा और बीस मिनट इसी कार्य के लिए रखा जाता है। हस्तकला में कुशलता का तात्पर्य उसके केवल व्यावहारिक

1. Activity method. 2. Learning by doing.

ज्ञान से ही नहीं है, वरन् उसका वैज्ञानिक और शास्त्रीय ज्ञान भी देना आवश्यक समझा जाता है। मानसिक विकास में हस्तकला के सहायक होने के लिए यह आवश्यक है। हस्तकला पर आधारित शिक्षा का केन्द्र पुस्तकें न होगीं। इसके लिए हस्तकला का चुनाव ऐसा हो कि पाठ्य-क्रम के अन्य विषय उस पर आधारित किए जा सकें।

बेसिक शिक्षा समन्वित शिक्षा है।

किसी हस्तकला के आधार पर शिक्षा देने का तात्पर्य शिक्षा को समन्वित करना है, अर्थात् पाठ्य-क्रम के सभी विषयों में शरीर के विभिन्न अवयवों की तरह एक स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित करना है। इस सम्बन्ध के स्थापन से शिक्षा का बालक के जीवन से भी घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है। बालक का प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण तथा हस्तकला बेसिक शिक्षा के तीन प्रधान स्तम्भ हैं। हस्तकला में प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण का समन्वय सहज हो जाता है, क्योंकि किसी हस्तकला की उत्पत्ति और विकास इन पर ही निर्भर होता है। विभिन्न विषयों के ज्ञान का हस्तकला से सम्बन्ध दिखाना आवश्यक है। उदाहरणार्थ; इतिहास और भूगोल के ज्ञान से हस्तकला के काम और उनके लाभ को अच्छी प्रकार बालकों को समझना चाहिए। बागवानी और कृषि बालकों को मनोविनोदार्थ नहीं बतलाया जायगा, वरन् उसके आधार पर उन्हें नित्य नए-नए अनुभव दिए जायेंगे। सामाजिक और साधारण विज्ञान के पाठ में बालकों को कुछ बातों को याद नहीं कराया जायगा। 'प्रत्युत विभिन्न विषयों से उनका सम्बन्ध उनको समझाना होगा। गणित की शिक्षा का वास्तविक जीवन से सम्बन्ध होना आवश्यक है। हस्तकला अथवा कृषि आदि का काम करते-करते जो गणित के प्रश्न बालकों के सामने आवें उन्हीं के साथ बालकों को जोड़, बाकी, गुणा और भाग आदि सिखा देना चाहिए। कृषि से उत्पन्न अनाज की नाप-जोख तथा हस्तकला से बनी हुई वस्तुओं की बिक्री-सम्बन्धी क्रियाओं के करने में बालकों को अंकगणित के प्रायः सभी नियम सिखलाये जा सकते हैं। इस प्रकार बेसिक शिक्षा बालकों की सर्वांगीण शिक्षा का अच्छा साधन जान पड़ती है।

(४) शिक्षा का स्वावलम्बी होना

'बेसिक शिक्षा' शिक्षकों को स्वावलम्बी बनाना चाहती है। किसी हस्तकला को शिक्षा का केन्द्र बनाने का एक यह भी तात्पर्य है। हस्तकला के साथ लड़कों को खेलना नहीं है, वरन् कुछ वस्तुएँ भी बनानी हैं। इन वस्तुओं के बेचने से जो धन प्राप्त होगा उससे स्कूल का कुछ खर्च चलाने का प्रयत्न किया जायगा। इस प्रकार स्कूल को स्वावलम्बी बनाने की योजना कहाँ तक सफल होगी इस पर हम आगे विचार करेंगे। पर स्वावलम्बी शिक्षा का एक दूसरा अर्थ भी यहाँ ले लिया जाय तो अनुपयुक्त न होगा। आधुनिक शिक्षा विद्यार्थी को आत्म-निर्भरता का पाठ नहीं पढ़ाती। शिक्षा समाप्त करने के बाद विद्यार्थी को अपने जीविकोपार्जन करने की समस्या आ घेरती है। वह अपने को किसी काम के लिए अयोग्य पाता है। बेसिक शिक्षा द्वारा वह एक ऐसी हस्तकला में प्रवीण हो जाता है जिसके सहारे आगे चलकर वह अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है।

(५) शिक्षा का वास्तविक जीवन से सम्बन्ध

वर्त्तमान शिक्षा और जीवन की वास्तविक परिस्थितियों में कम सम्बन्ध दिखलाई पड़ता है। इसके विपरीत बेसिक शिक्षा 'स्कूल' और वास्तविक जीवन में एक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना चाहती है। डीवी की तरह बेसिक शिक्षा भी स्कूल को समाज का एक प्रतिनिधि बनाना चाहती है। कदाचित् इसीलिए प्राकृतिक और सामाजिक वातवरण-सम्बन्धी किसी हस्तकला को शिक्षा का केन्द्र बनाया जाता है, जिससे बालकों को अपने वातावरण तथा भावी जीवन की मुख्य समस्याओं का कुछ ज्ञान हो जाय। बेसिक शिक्षा का कार्य-क्रम बालकों की स्वाभाविक वृत्तियों को ध्यान में रखकर रचा गया है। क्रियाशीलता बालकों का सरल स्वभाव है। हस्तकला का समावेश इस भावनावश भी किया गया है। बेसिक शिक्षा के अनुसार बालकों को जो कुछ सिखलाया जाता है उससे उनका मस्तिष्क असम्बद्ध ज्ञान का पिटारा नहीं बनेगा। इससे बालक वही ज्ञान प्राप्त करता है जिससे वह योग्य नागरिक हो सकेगा।

(६) नागरिकता का आदर्श

बेसिक शिक्षा में नागरिकता का आदर्श छिपा है। आज हमारे समाज में बौद्धिक और शारीरिक श्रम करने वालों को समान पद प्राप्त नहीं है, क्योंकि दोनों श्रम एक ही व्यक्ति नहीं करता। शारीरिक श्रम करने वाला दूसरे से हेय समझा जाता है। अभी तक हम शारीरिक श्रम का महत्त्व नहीं समझ सके हैं। बेसिक शिक्षा से शारीरिक और बौद्धिक परिश्रम करने वालों के बीच की खाई पट जाने की सम्भावना दिखलाई पड़ती है। बेसिक स्कूल के प्रत्येक छात्र को हस्तकला के रूप में अधिकांश समय तक शारीरिक श्रम करना पड़ता है। इससे उसमें श्रम के प्रति आदर उत्पन्न होता है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि आज के लोकतन्त्रात्मक युग में व्यक्ति को अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों का ज्ञान होना आवश्यक है। इसके लिए बेसिक शिक्षा में समाज-विज्ञान के पाठ्यक्रम को काफी स्थान दिया गया है। समाज-विज्ञान के आधार पर बालकों में आत्मसम्मान आत्म-सुधार, सहकारिता, समाज-सेवा तथा 'रूपरंग और जाति-भेद से ऊपर उठने की भावना' देने का प्रयत्न किया जाता है। बालकों में इन भावनाओं की जागृति के लिए नागरिकशास्त्र की सैद्धान्तिक और प्रायोगिक दोनों प्रकार की शिक्षा दी जाती है। इसकी शिक्षा बालकों को इस प्रकार दी जाती है कि अपने उत्तरदायित्व को सँभालने, दूसरे का नेतृत्व करने, अपने शरीर और बुद्धि पर भरोसा करने तथा समाजहित के आगे निजीहित को त्याग देने आदि का गुण उनमें आ जायँ। बेसिक शिक्षा-योजना में स्कूल का संगठन इस प्रकार करने की स्वन्त्रता है कि छात्रों को स्व-शासन का अनुभव हो। बेसिक शिक्षा-योजना के अनुसार छात्रों के वातावरण से ही उन्हें नागरिकता की शिक्षा देनी चाहिए। भूगोल की शिक्षा में उसे प्रकृति-निरीक्षण का अभ्यास कराया जाता है। भारत का भूगोल पढ़ाते समय अन्य देशों के भूगोल के सम्भावित समानता की ओर बालकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

इतिहास के पाठ में छात्रों को यह बतलाया जाता है कि विभिन्न

भौगलिक और सामाजिक अवस्थाओं के कारण मनुष्य के दिनचर्य्या तथा रहन-सहन में कैसे-कैसे परिवर्तन आ जाते हैं। इतिहास की शिक्षा आदि मनुष्य और प्राचीन सभ्यता की कहानियों से प्रारम्भ की जाती है, जिससे बालक यह समझ सके कि यह सारा मानव समाज एक ही है। बालक को यह बतलाने की चेष्टा की जाती है कि लोगों ने राजनैतिक और सांस्कृतिक दिशा की ओर कैसे उन्नति की है। बालकों के चरित्र-विकास लिये विभिन्न देशों के महापुरुषों के जीवन चरित्र पढ़ाये जाते हैं। इनसे उनमें अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास का भी उद्देश्य पूरा हो जाता है। प्राचीन इतिहास पढ़ाने में यह ध्यान दिया जाता है कि बालक में अतीत के प्रति ऐसा अन्ध प्रेम न पैदा हो जाय कि अन्य देशों से वह घृणा करने लगे। बालक में सद्गुण की उत्पत्ति के लिये ऐसे महापुरुषों की कहानियाँ पढ़ाई जाती हैं जिन्होंने मनुष्य को पाशविकता से मानवता की ओर बढ़ाया है। बेसिक शिक्षा में समाज-विज्ञान को भी एक ऊँचा स्थान दिया गया है। इसका समाज-विज्ञान के अध्यापन-विधि पर नीचे संकेत किया जायगा। समाज-विज्ञान का समावेश नागरिकता के गुण को बालकों में लाने के लिये ही किया गया है। समाज-विज्ञान के अन्तर्गत इतिहास, भूगोल और नागरिक-शास्त्र की शिक्षा बालक को इस प्रकार दी जाती है कि वह एक सच्चा नागरिक हो जाय। बेसिक शिक्षा-क्रम में नागरिक-शास्त्र समाज-विज्ञान को आत्मा माना जाता है।

३—बेसिक शिक्षा का पाठ्य-क्रम

उपर्युक्त विवेचन में हम देख चुके हैं कि बेसिक शिक्षा में कृषि, कताई, बुनाई और लकड़ी के काम वाले हस्तकला पर विशेष ध्यान दिया जाता है। बेसिक शिक्षा के प्रवर्त्तकों का कहना है कि केवल इन्हीं तीन हस्त-कलाओं पर शिक्षा को अवलम्बित करना सदा सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें कुछ वातावरण सम्बन्धी कठिनाइयाँ आ सकती हैं। अतः वातावरण के अनुसार फलों और तरकारियों के उद्योग तथा चमड़े और बाँस के काम आदि की तरह कुछ अन्य हस्तकलायें भी चुनी जा सकती

हैं। हस्तकला के आधार पर निम्नलिखित विषयों की शिक्षा के लिये भी बेसिक शिक्षा में आयोजन हैं:—

१—मातृभाषा।
२—गणित।
३—समाज-विज्ञान।
४—संगीत।
५—चित्रकला।
६—साधारण विज्ञान।
७—शरीर विज्ञान।

नीचे हम इन प्रत्येक पर संक्षेप में कुछ संकेत करेंगे।

(१) मातृभाषा

बेसिक शिक्षा मातृभाषा की शिक्षा पर विशेष जोर देती है। इस पर हम अध्याय के आरम्भ में ही संकेत कर चुके हैं। बहुत प्रारम्भ से ही यह चेष्टा की जाती है कि बालक अपने भावों का प्रकाशन निर्भय होकर कर सके। बेसिक स्कूलों में मातृभाषा पढ़ाने के निम्नलिखित उद्देश्य हैं:—

१—बालक, अपने वातावरण-सम्बन्धी साधारण वस्तुओं तथा अपनी घटनाओं का सरलता से वर्णन कर सके।

२—अपने काम के बारे में साफ़-साफ़ कह सके।

३—अपनी कक्षा की पुस्तक को ठीक से पढ़ सके।

४—पद्य को लय के साथ पढ़ कर आनन्द ले सके।

५—सुन्दर और शीघ्र लिखने का ऐसा अभ्यास हो कि लोग उसकी लिखावट को पढ़ सकें।

६—छोटा पत्र लिख सकें।

(२) गणित

बेसिक शिक्षा में गणित का व्यावहारिक ज्ञान दिया जाता है। अपने हस्तकला-सम्बन्धी जोड़, बाकी और गुणा आदि करने में बालक समर्थ

बना दिया जाता है। इस प्रकार पढ़ने से गणित के ज्ञान की सार्थकता उसे स्पष्ट हो जाती है।

(३) समाज-विज्ञान

"नागरिकता का आदर्श" के उल्लेख में बेसिक शिक्षायोजना में समाज-विज्ञान के स्थान की ओर संकेत किया जा चुका है। पर स्पष्टीकरण के लिए कुछ अन्य बातों का भी उल्लेख कर देना ठीक जान पड़ता है। हमारी शिक्षा कुछ ऐसी दोषपूर्ण है कि शिक्षित युवक भी कुछ सामाजिक बातों से अनभिज्ञ दिखलाई पड़ता है। अभी कुछ ही दिनों की बात है कि एक २५ वर्ष का छात्र लेखक से पूछ बैठा कि क्या अमेरिका भी चिट्ठियाँ भेजी जा सकती हैं। इसमें छात्र का उतना दोष नहीं जितना कि हमारी शिक्षा प्रणाली का। बेसिक शिक्षा बालक को व्यावहारिक जीवन का समुचित ज्ञान देकर शिक्षा-प्रणाली के ऐसे दोषों को दूर करना चाहती है। ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि समाज विज्ञान के अन्तर्गत इतिहास, भूगोल और नागरिक-शास्त्र तीनों माने जाते हैं। बेसिक स्कूलों में नागरिक-शास्त्र की शिक्षा पहली ही कक्षा से प्रारम्भ कर दी जाती है। इतिहास और भूगोल की वास्तविक शिक्षा पुस्तकों के पढ़ने योग्य हो जाने पर ही आरम्भ की जाती है। नागरिक-शास्त्र का पाठ्य-क्रम बालकों की विकास-अवस्था के अनुसार रखा जाता है।

इतिहास और भूगोल को नागरिक शास्त्र से जोड़कर पढ़ाया जाता है। यह बेसिक-शिक्षा की एक विशेषता है। इतिहास मनुष्य के विभिन्न कार्यों का वर्णन है। भूगोल उस पृथ्वी का वर्णन है जहाँ मनुष्य काम करता है। अतः नायक रंगमंच से अलग नहीं किया जाता। मनुष्य के कार्यों पर भौगोलिक स्थिति की छाप पड़े बिना नहीं रहती। भूगोल से ही इतिहास की रूप-रेखा निर्धारित होती है। स्पष्ट है कि भूगोल और इतिहास का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिये बेसिक शिक्षा में दोनों को अलग नहीं किया जाता। भूगोल और इतिहास से निर्मित इस पृथ्वी पर नागरिक अपने कर्त्तव्य-पालन की चेष्टा करता है। अतः भूगोल, इतिहास और नागरिक-शास्त्र को समाज-विज्ञान का रूप दिया गया है।

(४) संगीत

बालक की सौन्दर्य-प्रियता, कलात्मक तथा कल्पनात्मक भावों के विकास के लिए बेसिक शिक्षा में चित्रकला और संगीत का समावेश किया गया है। लय और ताल की बालकों में एक सहज भावना होती है। इसमें उन्हें बड़ा आनन्द आता है। इसलिए उन्हें स्वर, लय और ताल के अनुकूल कुछ गाने सिखाये जाते हैं। ये गाने अच्छे-अच्छे भाव वाले और उत्साहवर्द्धक होते हैं। इनसे बालकों में राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय, दया तथा लोकसेवा के भाव की जागृति की जाती है।

(५) चित्रकला

चित्रकला से बालकों को रूप और रंग समझने के योग्य बानाया जाता है। इससे उनमें प्रकृति-कला के समझने की शक्ति आने की अपेक्षा की जाती है। विभिन्न आकृति का याद रखने में उनकी स्मरण-शक्ति का भी इससे अभ्यास हो जाता है। चित्रकला के समावेश से उनकी हस्तकला में अधिक सौन्दर्य आने की आशा की जाती है। इससे वे सुन्दर चीज़ें बनाने में समर्थ हो सकेंगे।

(६) साधारण-विज्ञान

आजकल विज्ञान का ही बोलबाला है। हमारे जीवन के प्रायः सभी अंगों में उससे सहायता सम्भव दिखलाई पड़ती है। वैज्ञानिक आविष्कारों के सदुपयोग से एक गरीब देश भी थोड़े ही दिनों में समृद्धिशाली हो सकता है। हमारे देश में विज्ञान की शिक्षा का स्कूलों के पाठ्य-क्रम में समुचित प्रबन्ध नहीं है। गाँवों के स्कूल तो इससे नितान्त वंचित दिखलाई पड़ते हैं। इस अभाव की पूर्ति के लिए बेसिक शिक्षा में साधारण विज्ञान के अध्ययन का समावेश कर दिया गया है। बेसिक शिक्षा के पाठ्य-क्रम में साधारण-विज्ञान का इतना अंश रख दिया गया है कि उसके ज्ञान से बालकों का अन्धविश्वास बहुत कुछ दूर हो सकता है। साधारण विज्ञान को बेसिक शिक्षा में समाज-विज्ञान की ही तरह महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। यदि साधारण-विज्ञान और समाज-विज्ञान को बेसिक शिक्षा के

दो पैर कहें तो अनुपयुक्त न होगा। विज्ञान की शिक्षा से बालकों में सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति पैदा करने की चेष्टा की जाती है। बालकों को यह समझा दिया जाता है कि दैनिक कार्यों में किन-किन वैज्ञानिक सिद्धान्तों का अनजान में प्रयोग किया जाता है। इससे उनमें अपने अनुभव की परीक्षा कर लेने की आदत पड़ जाती है। प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के जीवन चरित्र से बालकों को परिचित किया जाता है, जिससे वे उनकी तरह दृढ़प्रतिज्ञ, सत्य-प्रेमी और अध्यवसायी भी हों।

(७) शरीर-विज्ञान

शरीर-विज्ञान को भी बेसिक शिक्षा का एक प्रधान अङ्ग समझना चाहिए। इसका शास्त्रीय ज्ञान तो साधारण-विज्ञान के क्रम में दे दिया जाता है, क्योंकि उससे स्वास्थ्य-विज्ञान, भोजन और विश्राम की वैज्ञानिक बातें सरलता से समझायी जा सकती हैं। शरीर-विज्ञान समझाने का उद्देश्य बालकों का स्वास्थ्य बनाना है। अतः स्वास्थ्य बनाने के लिए सैद्धान्तिक बातों का प्रयोग खेल, कूद, तैरना, बागबानी तथा ड्रिल आदि द्वारा किया जाता है।

४—बेसिक शिक्षा की आलोचना

बेसिक शिक्षा की उपर्युक्त रूप-रेखा से मालूम होता है कि इसमें आधुनिक शिक्षा के सभी गुण आ गये हैं। क्रियात्मक प्रणाली का सहारा लेने में बेसिक शिक्षा से हमें डीवी की याद आती है। मातृभाषा का माध्यम, नागरिकता, साधारण-विज्ञान तथा स्वास्थ्य की शिक्षा और शारीरिक परिश्रम की अनिवार्यता से बेसिक शिक्षा ने देश में प्रचलित शिक्षा के दोषों के निराकरण के साधनों की ओर स्पष्ट संकेत किया है। आजकल समन्वित शिक्षा पर जोर दिया जाता है। बेसिक शिक्षा में इस पर भी पूरा ध्यान दिया गया है। पर इन सब बातों के होते हुए भी बेसिक शिक्षा के कुछ दोष खटकते हैं। अतः उनकी ओर संकेत करना प्रासंगिक जान पड़ता है।

(१) हस्तकला का केन्द्र होना सर्वमान्य नहीं

किसी कला को आधार मानकर बेसिक शिक्षा में बालकों की मानसिक शक्तियों का विकास किया जाता है। इसमें एक बड़ी कठिनाई दिखलाई पड़ती है। ऐसे किसी हस्तकला का मिलना कठिन है जिसके चारों ओर विभिन्न विषयों को केन्द्रित किया जा सके। कट्टरता से इस सिद्धान्त के समर्थन में बहुत से विषय छूट जा सकते हैं अथवा उनका अध्ययन केवल नाम-मात्र के लिए ही हो सकता है। वस्तुतः समन्वय सामयिक होना चाहिए। जबरदस्ती समन्वय ढूँढ़ना गेहूँ और चावल की खिचड़ी पकाने के समान हैं। कुछ लोगों का कहना है कि बेसिक शिक्षा ने बालक को शिक्षा का केन्द्र न मान कर हस्तकला को केन्द्र मनाने में एक बड़े मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का हनन किया है। शिक्षा में सर्वप्रथम बालक की रुचि पर ध्यान देना है। यदि प्रारम्भ से ही उन्हें किसी हस्तकला में प्रवीण कर जीविकोपार्जन का आदर्श उसके सामने रखा जाता है तो उनका विकास केवल भौतिक स्तर तक ही रह जायगा। वे आध्यात्मिकता से, जो कि भारतीय संस्कृति का प्राण है, बहुत दूर रह जायेंगे। कुछ का कहना है कि हस्तकला को केन्द्र बनाने का तात्पर्य शिक्षा को व्यावसायिक बना देना है; पर व्यावसायिक शिक्षा इतने शीघ्र नहीं प्रारम्भ की जा सकती। इन सब आक्षेपों में सत्य का अंश कहाँ तक है यह कहना कठिन है; पर बात कुछ तर्कसंगत जँचती है।

(२) धार्मिक शिक्षा का अभाव

बेसिक शिक्षा में धार्मिक शिक्षा का अभाव बहुत लोगों को खटकता है। बहुत लोगों को आश्चर्य होता है कि धर्म-प्रधान भारत में महात्मा गान्धी ऐसे धार्मिक व्यक्ति द्वारा अनुप्राणित शिक्षा-योजना में धार्मिक भावना का इस प्रकार अभाव कैसे है। संकेत करने पर महात्मा गान्धी ने इस प्रश्न को टाल दिया और कहा, "कौन कहता है कि बेसिक शिक्षा में धार्मिक शिक्षा का अभाव है? स्वावलम्बन से बढ़कर कौन धर्म है?" वस्तुतः धार्मिक शिक्षा को स्थान देने में एक बड़ी कठिनाई। भारत के

स्कूलों में विभिन्न धर्मावलम्बियों के बालक पढ़ने आते हैं। एक ही धर्म अथवा सब धर्मों की अलग-अलग शिक्षा देने से आपसी वैमनस्य बढ़ने का भय है। कदाचित् इसी भावनावश बेसिक योजना में धार्मिक शिक्षा को स्थान नहीं दिया गया। पर नैतिक शिक्षा के रूप में विभिन्न धर्मों की एकता, सदाचार, उदारता तथा सहिष्णुता आदि की शिक्षा दी जा सकती है। इस जड़वादी जगत को धार्मिक अथवा नैतिक शिक्षा की बड़ी आवश्यकता है। इस दृष्टिकोण से बेसिक शिक्षा योजना में सुधार करने की बड़ी आवश्यकता है।

(३) शिक्षा के स्वावलम्बी होने का सिद्धान्त अव्यावहारिक

बेसिक शिक्षा के स्वावलम्बी होने की योजना बहुत से लोगों को अव्यावहारिक जान पड़ती है। राज्य-शिक्षा-नीति की दृष्टि से यह ठीक मालूम होता है कि भारत ऐसे गरीब देश में अनिवार्य शिक्षा को कार्यान्वित करने के लिए स्कूल के बालकों से काम करा कर कुछ धन प्राप्त कर लिया जाय तो बड़ा अच्छा है। पर प्रश्न यह है कि इस प्रकार धन प्राप्त करना कहाँ तक सम्भव हो सकता है। प्रो० के० टी० शाह का कहना है कि धन कमाने की दृष्टि से दी हुई शिक्षा में उदारता का भाव न रहेगा। इससे शिक्षकों में यह होड़ लग जायगी कि किस कक्षा के छात्र सबसे अधिक धनोपार्जन का काम करते हैं। प्रत्येक छात्र कुशल हस्त-कलाकार नहीं हो सकता। इसलिये वह शिक्षक से प्यार पाने का अधिकारी नहीं समझा जायगा। स्कूल को स्वावलम्बी बनाने का तात्पर्य शिक्षालयों को उद्योग-धन्धों का केन्द्र बना देना होगा और किसी स्कूल की सफलता शिक्षा से नहीं, वरन् बेचने योग्य वस्तुओं के उत्पन्न करने से आँकी जायगी। स्कूलों में नौसिखिये बालकों द्वारा उत्पन्न की हुई चीजें बाहर के कुशल हस्तकलाकारों वाली चीजों से अच्छी न हो सकेंगी। इसलिए खरीदने वाले स्कूलों में बनी हुई चीजों को कम खरीदेंगे। इन्हीं सब कारणों से अभी तक स्वावलम्बी होने का सिद्धान्त कभी भी बेसिक स्कूल में कार्यान्वित नहीं किया जा सका है। यही कारण है कि अब बेसिक

शिक्षा-योजना के समर्थक वर्त्तमान स्थिति में स्कूल के स्वावलम्बी होने में कम विश्वास करते

(४) विशिष्ट अध्ययन का असामयिक चुनाव

बेसिक शिक्षा-योजना में बालक को अपने विशिष्ट अध्ययन का विषय बहुत पहले ही चुन लेना होता है। यह मनोवैज्ञानिक नहीं, क्योंकि उस समय उनकी विभिन्न शक्तियों का काफी विकास नहीं हुआ रहता। प्रारम्भ में उनकी रुचि का ठीक पता नहीं चलता। हस्तकला के सीखने में बहुत अधिक समय देना पड़ता है, इसलिये एक बार चुनी हुए हस्तकला को छोड़ देना सरल नहीं; और उसे बहुधा अन्त तक निबाहना ही होता है। इस कठिनाई के कारण बहुत से बालकों के व्यक्तित्व का विकास अपूर्ण रह जाने का डर है।

(५) वैयक्तिक भिन्नता के अनुसार शिक्षा-आयोजन सम्भव नहीं

बेसिक शिक्षा में वैयक्तिक भिन्नता पर ध्यान देना सरल नहीं। कुछ ही हस्तकलाओं को सभी बालकों को सीखना पड़ता है। यदि सभी की रुचि का ध्यान रखकर विभिन्न हस्तकला के सिखाने का प्रबन्ध किया जाय तो आर्थिक दृष्टि से यह बड़ा कठिन होगा। एक बात यह भी विचारणीय है कि व्यक्तिगत भेद पर ध्यान देने के लिए केवल किसी हस्तकला का ही अध्ययन पर्याप्त नहीं है। इसके लिये अन्य विशिष्ट विषयों पर भी विशेष ध्यान देने की आवश्यकता हो सकती है। बेसिक शिक्षा में इन सबके लिये स्थान नहीं। अधिकांश समय तो हस्तकला में ही दे देना होता है, तो अन्य विषयों पर उचित ध्यान देना कैसे सम्भव हो सकता है ?

(६) अध्यापकों की समस्या

बेसिक शिक्षा को सफल बनाने के लिये एक विशिष्ट कोटि के अध्यापकों की आवश्यकता है। पर इस आवश्यकता की पूर्ति करना बड़ा कठिन है। बेसिक शिक्षा-योजना में अध्यापकों का वेतन बहुत ही कम रखा गया है, पर उनका उत्तरदायित्व अपेक्षाकृत बहुत अधिक दिखलाई पड़ता है। उतने कम वेतन पर योग्य अध्यापकों का मिलना बड़ा कठिन

है। अध्यापकों को किसी एक कला में निपुण होते हुए पाठ्य-क्रम के अन्य विषयों में भी दक्ष होना चाहिये। ऐसे अध्यापकों का मिलना बड़ा कठिन है। इसके लिए उन्हें विशेष शिक्षा देनी होगी।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

बेसिक शिक्षा

१—भूमिका

मौलिक नहीं, प्रॉजेक्ट पद्धति और बेसिक शिक्षा।

२—बेसिक शिक्षा के मूल सिद्धान्त

(१) अनिवार्य शिक्षा

लोकतन्त्र के अनुकूल।

(२) मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम

इसके भाव-प्रकाशन की शक्ति।

(३) हस्तकला शिक्षा का केन्द्र

शारीरिक और मानसिक दोनों ज्ञान संतुलित ; कृषि, कताई-बुनाई और लकड़ी का काम, अधिकांश समय हस्तकला के लिए, बालक शिक्षा का केन्द्र।

बेसिक शिक्षा समन्वित शिक्षा है।

हस्तकला में प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण का समन्वय, हस्तकला के चारों ओर विभिन्न विषयों की समन्वित शिक्षा।

(४) शिक्षा का स्वावलम्बी होना

बालकों का उपयोगी वस्तुएँ बनाना, आत्म-निर्भरता का पाठ।

(५) शिक्षा का वास्तविक जीवन से सम्बन्ध

स्कूल समाज का प्रतिनिधि, भावी जीवन की कुछ समस्याओं का ज्ञान।

(६) नागरिकता का आदर्श

शारीरिक श्रम के प्रति आदर, नागरिक-शास्त्र की सैद्धान्तिक और प्रायोगिक शिक्षा, स्व-शासन का अनुभव।

मानव समाज की एकता का बोध महापुरुषों के जीवन चरित्र, अन्तर्राष्ट्रीय, समाज-विज्ञान।

३—बेसिक शिक्षा का पाठ्य-क्रम

वातावरण के अनुसार हस्तकलाओं का चुनाव।

(१) मातृभाषा

(२) गणित

व्यावहारिक ज्ञान।

(३) समाज-विज्ञान

इतिहास, भूगोल और नागरिकशास्त्र को साथ ही साथ पढ़ाना।

(४) संगीत

सौन्दर्यप्रियता, कलात्मक तथा कल्पनात्मक भावों का विकास।

(५) चित्रकला

रूप व रंग समझने योग्य।

(६) साधारण-विज्ञान

अन्ध विश्वास दूर करना, साधारण-विज्ञान और समाज-विज्ञान बेसिक शिक्षा के दो पैर।

(७) शरीर-विज्ञान

स्वास्थ्य का उद्देश्य।

४—बेसिक शिक्षा की आलोचना

बेसिक शिक्षा में आधुनिक शिक्षा के सभी गुण।

(१) हस्तकला का केन्द्र होना सर्वमान्य नहीं

सभी विषयों के समन्वय के योग्य कोई एक कला नहीं, समन्वय सामयिक हो, बालक की रुचि पर ध्यान नहीं, बालक आध्यात्मिकता से दूर।

(२) धार्मिक शिक्षा का अभाव

नैतिक शिक्षा सम्भव।

(३) शिक्षा के स्वावलम्बी होने का सिद्धान्त अव्यावहारिक

शिक्षा में उदारता का भाव नहीं, छात्रों और शिक्षकों में होड़, स्कूल उद्योग-केन्द्र नहीं, बाहरी कुशल हस्तकलाकार।

(४) विशिष्ट अध्ययन का असामयिक चुनाव

अमनोवैज्ञानिक।

(५) वैयक्तिक भिन्नता के अनुसार शिक्षा-आयोजन सम्भव नहीं

(६) अध्यापकों की समस्या

विशिष्ट कोटि के अध्यापकों की आवश्यकता।

सहायक पुस्तकें

१—ज़ाकिर हुसेन कमेटी रिपोर्ट।
२—प्रोग्रेस ऑव् एडूकेशन, जुलाई १६३८।
३—हरिजन—अक्टूबर ३०, दिसम्बर ११, १६३७।

अँग्रेजी से हिन्दी पारिभाषिक शब्दों की सूची

(List of Technical Terms from English to Hindi)

विषयों और लेखकों की अनुक्रमणिका

(Subjects' and Authors' Index)

विषयों और लेखकों की अनुक्रमणिका

अ

प

भ

म

य

र